Eastern Economy Edition

दुर्गा दास बसु

भारत का संविधान एक परिचय

166

तीसरा संस्करण

PHI

भारत का संविधान — एक परिचय

तीसरा संस्करण

डा. (न्यायमूर्ति) दुर्गा दास बसु

सरस्वती, विद्यावारिधि, प्रज्ञाभारती, न्यायरत्नाकर, नीतिभास्कर
एम.ए., एलएल.डी. (कलकत्ता), डी.लिट. (बर्दवान),
डी.लिट. (रवीन्द्र भारती)

भारत के राष्ट्रीय अनुसंधान आचार्य, 1986
सेवानिवृत्त न्यायाधीश, कलकत्ता उच्च न्यायालय
पूर्व सदस्य, विधि आयोग,
टैगोर ला प्रोफेसर, आशुतोष लेक्चरर, कलकत्ता विश्वविद्यालय
मानद आचार्य, काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
पद्मभूषण के राष्ट्रीय अलंकरण से विभूषित
राष्ट्रीय नागरिक सम्मान, 1991

अनुवादक

ब्रजकिशोर शर्मा

एलएल.एम., अधिवक्ता
पूर्व अपर सचिव, विधायी विभाग, भारत सरकार

प्रेंटिस-हाल आफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड

नई दिल्ली-110001

1993

Rs. 79.00

भारत का संविधान—एक परिचय, तीसरा संस्करण

दुर्गा दास बसु

PRENTICE-HALL INTERNATIONAL, INC., Englewood Cliffs.
PRENTICE-HALL INTERNATIONAL (UK) LIMITED, London.
PRENTICE-HALL OF AUSTRALIA PTY. LIMITED, Sydney.
PRENTICE-HALL CANADA, INC., Toronto.
PRENTICE-HALL HISPANOAMERICANA, S.A., Mexico.
PRENTICE-HALL OF JAPAN, INC., Tokyo.
SIMON & SCHUSTER ASIA PTE. LTD., Singapore.
EDITORA PRENTICE-HALL DO BRASIL, LTDA., Rio de Janeiro.

यह पुस्तक डा. दुर्गा दास बसु की पुस्तक *Introduction to the Constitution of India, 14th Ed.* का अनुवाद है । किंतु अंग्रेजी की पुस्तक के छपने के पश्चात् विधि में जो परिवर्तन हुए हैं या घटनाएं घटी हैं, उनका समावेश इसमें कर दिया गया है ।

ISBN-0-87692-788-6

Third Printing (Third Edition) . . . . . . January, 1993

Published by Prentice-Hall of India Private Limited, M-97, Connaught Circus, New Delhi-110001 and Printed by Syndicate Binders, B-167, ... New Delhi-110020

तीसरे संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का पहला हिंदी संस्करण 1989 के अंत में प्रकाशित हुआ और छह मास की अल्प अवधि में हाथोंहाथ बिक गया । दूसरा संस्करण 1991 में निकला । इसका भी पाठकों ने स्वागत किया । हिंदी माध्यम के विश्वविद्यालय के आचार्यों और विद्यार्थियों ने तथा अनेक अन्य विद्वानों ने इसकी भाषा और विषयवस्तु दोनों की सराहना की ।

पाठकों की प्रेरणा से यह तीसरा संस्करण उनके समक्ष प्रस्तुत है । इसमें विधिक स्थिति दिसम्बर, 1992 तक की है । तब तक संविधान में किए गए संशोधन और महत्वपूर्ण विनिश्चय, दोनों का ही इसमें समावेश है । सारणियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन करके उन्हें और अधिक उपयोगी बना दिया गया है । बहुत सी नई जानकारी सम्मिलित की गई है ।

इस संस्करण को अद्यतन करने और गुणता में सुधार करने का श्रेय बहुत कुछ श्री ब्रजकिशोर शर्मा को है जो इस पुस्तक के अनुवादक भी हैं ।

208 रासबिहारी एवेन्यू
कलकत्ता-700 029
जनवरी, 1993

— दुर्गा दास बसु

पहले संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का प्रथम अंग्रेजी संस्करण 1960 में प्रकाशित हुआ था । अब तक इसके 12 संस्करण निकल चुके हैं और भारत के लगभग डेढ़ लाख पाठकों ने इसे पढ़ा है ।

1986 में मास्को के "प्रोग्रेस पब्लिशर्स" ने इस पुस्तक का रूसी भाषा में रूपांतर प्रकाशित किया यद्यपि रूस और भारत की सांविधानिक प्रणालियां एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं ।

स्वतंत्रता के चालीस वर्ष पश्चात् बहुत से विश्वविद्यालयों और अन्य शैक्षिक संस्थाओं में जिनमें पहले अंग्रेजी की पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं अब हिंदी माध्यम हो जाने के कारण हिंदी में पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता बहुत बढ़ गई है । विद्यार्थियों की नई पीढ़ी में भी ऐसे बहुत से लोग हैं जिनको अंग्रेजी पाठ सही-सही समझने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान नहीं है । हिंदी भाषी क्षेत्रों की साधारण जनता में ऐसे बहुत से लोग हैं जो स्वतंत्र भारत के संविधान के उपबंधों में निहित आधारभूत सिद्धांतों से अवगत होने का महत्व समझने लगे हैं । जब तक जनता उन सिद्धांतों को नहीं जान पाएगी तब तक वह राजनीतिक नेताओं की नारेबाजी से भ्रम में पड़ती रहेगी ।

लेखक हिंदी संस्करण बहुत पहले प्रकाशित करना चाहता था, किंतु हिंदी में सक्षम अनुवादक न मिल पाने के कारण कार्य आगे न चल पाया । अब विधि मंत्रालय के अपर सचिव, श्री बी.के. शर्मा की बहुमूल्य सहायता प्राप्त करके यह कार्य सम्पन्न किया जा सका है ।

इस हिंदी संस्करण में, अनुवादक ने अंग्रेजी भाषा के बारहवें संस्करण की अन्तर्वस्तु का उपयोग किया है और उसमें आवश्यक सुधार करते हुए स्थान-स्थान पर उसे शुद्ध भी किया है ।

वर्तमान संस्करण में, 1987 के अंत तक के सभी अग्र निर्णयों के प्रभाव का समावेश कर लिया गया है । इसमें संविधान के इकसठवें संशोधन तक के सभी संशोधन सम्मिलित हैं । भारतीय लोकतंत्र के प्रत्येक नागरिक के लिए यह आवश्यक है कि उसे संविधान के विद्यमान उपबंधों की सही-सही जानकारी हो । आज सिखों, मुसलमानों, ईसाइयों, सीमांत की जनजातियों और अन्य पृथक्‌तावादी शक्तियों के दबाव के कारण संविधान पर गहरा आघात करने के प्रस्ताव सामने आ रहे हैं । लेखक ने इन पृथक्‌तावादी प्रस्तावों पर जो टिप्पणियां दी हैं वे आवश्यकतानुसार जनता को शिक्षित करने में समर्थ हैं । संविधान में देश की एकता और अखंडता को सुनिश्चित करने की बात कही गई है इसलिए यह चेतावनी आवश्यक है । इस पुस्तक का संयोजन इस प्रकार किया गया है कि उससे पाठक को अप्रैल, 1988 तक यथाविद्यमान संविधान का स्पष्ट चित्र तुरंत प्राप्त हो जाएगा । इसके समान कोई दूसरा प्रकाशन खोज पाना कठिन है ।

— लेखक

208, रासबिहारी एवेन्यू
कलकत्ता - 700 029
जून, 1989

विषय सूची

भाग 1
संविधान की प्रकृति

भाग 2

संघ का शासन

भाग 3

राज्यों का शासन

भाग 4

संघ राज्यक्षेत्र और विशेष क्षेत्रों का प्रशासन

भाग 5
न्यायपालिका

भाग 6

परिसंघ प्रणाली

भाग 7
प्रकीर्ण

भाग 1

संविधान की प्रकृति

1

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक सिंहावलोकन की उपयोगिता ।

भारतीय गणतंत्र का संविधान राजनैतिक क्रान्ति का परिणाम नहीं है । यह जनता के मान्य प्रतिनिधियों के निकाय के अनुसंधान और विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप जन्मा है । इस निकाय ने प्रशासन की विद्यमान पद्धति में सुधार लाने का प्रयत्न किया । अतएव संविधान को सही रूप से समझने के लिए सांविधानिक विकास पर दृष्टिपात करना अनिवार्य हो जाता है ।

1949 का संविधान[1] पिछली दो शताब्दियों की सांविधानिक दस्तावेजों से केवल एक बात में भिन्नता रखता है । वह यह कि अन्य दस्तावेजें साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा लादी गई थीं किन्तु गणतंत्र का संविधान लोगों ने प्रभुत्वसंपन्न संविधान सभा में समवेत अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से स्वयं बनाया । इससे इस नए विलेख की गरिमा और नैतिक मूल्य प्रकट होता है और इस बात का महत्व भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों पहले से विद्यमान प्रणाली में कुछ नए उपबन्ध जोड़े गए ।

भारत शासन अधिनियम, 1858 ।

हमारे वर्तमान प्रयोजनों के लिए हमें 1858 से पीछे जाने की आवश्यकता नहीं है । इस वर्ष ब्रिटिश सम्राट ने भारत की प्रभुसत्ता ईस्ट इंडिया कंपनी से लेकर अपने में निहित कर ली थी और ब्रिटिश पार्लमेंट ने ब्रिटेन की सरकार द्वारा सीधे शासन चलाने के लिए भारत के शासन का पहला कानून बनाया था — भारत शासन अधिनियम, 1858 (21 और 22 विक्टोरिया, अध्याय 106) । यह अधिनियम हमारे सर्वेक्षण का प्रारम्भिक स्थल है क्योंकि इसमें सम्राट के आत्यन्तिक नियंत्रण का सिद्धान्त प्रमुख था । इसमें देश के प्रशासन में जनता का कोई स्थान नहीं था । संविधान के बनने तक, इस अधिनियम के पश्चात् का इतिहास सम्राट के नियंत्रण के धीरे-धीरे शिथिलीकरण का और उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार के उत्क्रमण का इतिहास है । अधिनियम के लागू होने पर, सम्राट की शक्तियों का प्रयोग सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया द्वारा 15 सदस्यों की एक परिषद् की सहायता से (जो भारत परिषद् के नाम से ज्ञात थी) किया जाना था । यह परिषद् अनन्य रूप से इंग्लैंड के व्यक्तियों से मिलकर बनती थी जिनमें से कुछ सम्राट द्वारा नामनिर्देशित होते थे और कुछ ईस्ट इंडिया कम्पनी के निदेशकों के प्रतिनिधि होते थे । सेक्रेटरी आफ स्टेट, ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी होता था और गवर्नर-जनरल के माध्यम से भारत का शासन करता था । गवर्नर-जनरल कार्यकारी परिषद् की सहायता से कार्य करता था । इस कार्यकारी परिषद् में सरकार के उच्च अधिकारी होते थे ।

1858 के अधिनियम द्वारा प्रारंभ की गई प्रणाली के मुख्य लक्षण यह थे, —

(क) देश का प्रशासन न केवल ऐकिक था बल्कि कठोरता से केन्द्रीकृत भी था ।

राज्यक्षेत्र को प्रान्तों में बांटा गया था और प्रत्येक के शीर्ष पर एक गवर्नर या लेफ्टिनेंट गवर्नर था तथा उसकी सहायता के लिए कार्यकारी परिषद् थी । किन्तु ये प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार के अभिकरण मात्र थीं । उन्हें प्रान्त के शासन से सम्बन्धित सभी मामलों में गवर्नर-जनरल के अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण के अधीन काम करना पड़ता था ।[2]

(ख) कृत्यों का कोई पृथक्करण नहीं था । भारत के शासन के लिए सभी प्राधिकार — सिविल और सैनिक, कार्यपालक और विधायी — सपरिषद् गवर्नर-जनरल में निहित थे जो सेक्रेटरी आफ स्टेट के प्रति उत्तरदायी था ।[2]

(ग) भारत के प्रशासन पर सेक्रेटरी आफ स्टेट का आत्यन्तिक नियंत्रण था । इस अधिनियम द्वारा भारत के शासन या राजस्व से किसी भी प्रकार से सम्बन्धित सभी कार्यों, संक्रियाओं और बातों का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण सेक्रेटरी आफ स्टेट में निहित किया गया था । ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति अन्तिम रूप से उत्तरदायी रहते हुए वह अपने अभिकर्ता गवर्नर-जनरल के माध्यम से भारत का प्रशासन चलाता था । उसी का वाक्य अन्तिम होता था चाहे वह नीति के विषय में हो या अन्य ब्यौरों के विषय में ।[3]

(घ) प्रशासन का सम्पूर्ण तंत्र अधिकार तंत्र था, जिसका भारत की जनता की राय से कोई लेना देना नहीं था ।

भारतीय परिषद् अधिनियम, 1861 ।

भारतीय परिषद् अधिनियम, 1861 से लोक प्रतिनिधित्व के तत्व का चुटकीभर समावेश किया गया था । इसमें यह उपबन्ध किया गया था कि गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद् में, जो अभी तक अनन्य रूप से अधिकारियों से मिलकर बनती थी, उस समय जब परिषद् विधान परिषद् के रूप में विधायी कार्य करेगी, कुछ गैर सरकारी सदस्य भी सम्मिलित किए जाएंगे । यह विधान परिषद् किसी भी प्रकार से न तो लोक प्रतिनिधि थी और न ही इसमें विचार-विमर्श होता था । सदस्य नामनिर्दिष्ट किए जाते थे और उनका कार्य, गवर्नर-जनरल द्वारा उनके समक्ष रखे गए विधायी प्रस्तावों पर विचार करने तक ही सीमित था । वह प्राधिकारियों के प्रशासनिक कृत्यों या उनके आचरण की किसी भी रीति में आलोचना नहीं कर सकती थी । विधान के बारे में भी प्रभावी शक्तियां गवर्नर-जनरल के पास थीं, जैसे, — (क) कुछ विषयों के सम्बन्ध में विधेयक को पूर्वानुमोदन प्रदान करना जिसके बिना विधान परिषद् में उसे पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता था, (ख) जो विधेयक पारित किए गए उन्हें वीटो करना या सम्राट के विचार के लिए आरक्षित करना, (ग) अध्यादेश द्वारा विधायनः अध्यादेश का प्राधिकार विधान परिषद् द्वारा बनाए गए अधिनियमों के समान था ।

1861 के अधिनियम में इसी प्रकार के उपबन्ध प्रान्तों में विधान परिषदों के लिए भी थे । किन्तु इन प्रान्तीय परिषदों में कुछ मामलों की बाबत विधान प्रारम्भ करने के लिए भी गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी ।

भारतीय परिषद् अधिनियम, 1892 ।

भारतीय और प्रान्तीय विधान परिषदों के बारे में उल्लिखित स्थिति में दो सुधार भारतीय परिषद् अधिनियम, 1892 द्वारा किए गए । एक तो यह कि — (क) भारतीय विधान परिषद् में शासकीय सदस्यों का बहुमत रखा गया किन्तु गैर-सरकारी सदस्य बंगाल चैम्बर आफ कामर्स और प्रान्तीय विधान परिषद् द्वारा नामनिर्देशित होने लगे । प्रान्तीय परिषदों के गैर-सरकारी सदस्य कुछ स्थानीय निकायों द्वारा नामनिर्दिष्ट किए जाने लगे । ये स्थानीय निकाय थे विश्वविद्यालय, जिला बोर्ड, नगरपालिका आदि, (ख) परिषदों को राजस्व और

व्यय के वार्षिक कथन अर्थात् बजट पर विचार-विमर्श करने की और कार्यपालिका से प्रश्न पूछने की शक्ति दी गई । इस अधिनियम की विशेषता इसका उद्देश्य है जिसे भारत के लिए अंडर सेक्रेटरी आफ स्टेट ने इस प्रकार स्पष्ट किया था :

"(यह) भारत के शासन का आधार विस्तृत करने और उसके कृत्यों को बढ़ाने के लिए, और गैर-सरकारी तथा भारत के समाज के स्थानीय तत्वों को शासन के काम में भाग लेने का अवसर देने के लिए अधिनियम (है) ।"

मोरले-मिंटो सुधार और भारतीय परिषद् अधिनियम, 1909 ।

मोरले-मिंटो के सुधार द्वारा प्रातिनिधिक और निर्वाचित तत्व का समावेश करने का पहला प्रयत्न किया गया । यह नामकरण तत्कालीन भारत के लिए सेक्रेटरी आफ स्टेट (लार्ड मोरले) और वाइसराय (लार्ड मिंटो) के नाम से हुआ । इस सुधार को भारतीय परिषद् अधिनियम, 1909 से लागू किया गया ।

प्रान्तीय विधान परिषद् से सम्बन्धित परिवर्तन प्रगामी थे । इन परिषदों के आकार में वृद्धि की गई और उसमें कुछ निर्वाचित गैर-सरकारी सदस्य सम्मिलित किए गए जिससे शासकीय बहुमत समाप्त हो गया । केन्द्र की विधान परिषद् में भी निर्वाचन का समावेश हुआ किन्तु शासकीय बहुमत बना रहा ।

विधान परिषदों के विचार-विमर्श के कृत्यों में भी इस अधिनियम द्वारा वृद्धि हुई । इससे उन्हें यह अवसर दिया गया कि वे बजट या लोकहित के किसी विषय पर संकल्प प्रस्तावित करके प्रशासन की नीति पर प्रभाव डाल सकें । कुछ विनिर्दिष्ट विषय इसके बाहर थे जैसे सशस्त्र बल, विदेश कार्य और देशी रियासतें ।

1909 के अधिनियम द्वारा जो निर्वाचन की पद्धति अपनाई गई उसमें एक बहुत बड़ा दोष था । इसमें पहली बार मुस्लिम समुदाय के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व का उपबन्ध किया गया था । इसी से पृथक्तावाद का बीजारोपण हुआ[4] जिसकी परिणति इस देश के दुखद विभाजन में हुई । मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचक मंडल का विचार और राजनैतिक दल के रूप में मुस्लिम लीग की स्थापना एक ही समय में हुई (1906)[5] । इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

इसके पश्चात् भारत शासन अधिनियम, 1915 (5 और 6 जार्ज पंचम, अध्याय 61) पारित किया गया । इसका उद्देश्य पूर्ववर्ती भारत शासन अधिनियमों को समेकित करना था जिससे कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका से सम्बन्धित भारत शासन के सभी विद्यमान उपबन्ध एक ही अधिनियम में प्राप्त हो जाएं ।

मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन और भारत शासन अधिनियम, 1919 ।

भारत के सांविधानिक विकास में इसके बाद मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन का महत्वपूर्ण स्थान है । इसी कारण आगे चलकर भारत शासन अधिनियम, 1919 अधिनियमित किया गया । वास्तव में यह संशोधनकारी अधिनियम था किन्तु संशोधनों द्वारा विद्यमान पद्धति में अधिष्ठायी परिवर्तन किए गए ।

मोरले-मिंटो सुधार से भारत के राष्ट्रवादियों की आकांक्षाओं की तुष्टि नहीं हो सकी क्योंकि यह उद्देश्य नहीं था कि इन सुधारों से देश में शासन की संसदीय पद्धति स्थापित की जाए और सभी प्रश्नों पर अन्तिम विनिश्चय कार्यपालिका के हाथ में था जो किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं थी ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जिसकी स्थापना 1885 में हुई थी अभी तक नरम लोगों के नियंत्रण में थी । प्रथम विश्व युद्ध के दौरान वह अधिक सक्रिय हो गई और उसने स्वराज्य का अभियान प्रारम्भ किया (जिसे 'होम रूल' आंदोलन कहा गया) । इस लोकप्रिय

मांग के उत्तर में ब्रिटिश सरकार ने 20 अगस्त, 1917 को यह घोषणा की कि हिज़ मैजेस्टी की सरकार की नीति यह है —

"कि प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों को अधिकाधिक सम्मिलित किया जाए और धीरे-धीरे स्वतंत्र संस्थाओं का विकास किया जाए जिससे ब्रिटिश साम्राज्य के अविभाज्य भाग के रूप में ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जा सके ।"

भारत के लिए तत्कालीन सेक्रेटरी आफ स्टेट (श्री इ.एस. मोंटेग्यू) और गवर्नर-जनरल (लार्ड चेम्सफोर्ड) को उक्त नीति के क्रियान्वयन के लिए प्रस्ताव बनाने का कार्य सौंपा गया और भारत शासन अधिनियम, 1919 में उनकी सिफारिशों को एक विधिक रूप प्रदान किया गया ।

भारत शासन अधिनियम, 1919 द्वारा अपनाई गई प्रणाली के मुख्य लक्षण निम्नलिखित थे[6] :

1919 के अधिनियम द्वारा अपनाई गई प्रणाली के मुख्य लक्षण ।

(i) *प्रान्तों में द्वैध शासन* — प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना का प्रयत्न किया गया । साथ ही इस बात का ध्यान रखा गया कि प्रान्तों के प्रशासन के लिए गवर्नर का (गवर्नर-जनरल के माध्यम से) उत्तरदायित्व कम न हो । इसके लिए द्वैध शासन या द्विशासन की पद्धति का सहारा लिया गया । प्रशासन के विषयों को (अधिनियम के अधीन नियमों द्वारा) दो प्रवर्गों में बांटा गया — केन्द्रीय और प्रान्तीय । केन्द्रीय विषय वे थे जो केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में अनन्य रूप से रखे गए । प्रान्तीय विषयों को दो भागों में बांटा गया — अन्तरित और आरक्षित ।

प्रान्तों को सौंपे गए विषयों में से "अन्तरित विषयों" का प्रशासन गवर्नर द्वारा विधान परिषद् को उत्तरदायी मंत्रियों की सहायता से किया जाना था । विधान परिषद् में निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ाकर 70 प्रतिशत कर दिया गया । इस प्रकार उत्तरदायी सरकार की नींव अन्तरित विषयों के संकीर्ण क्षेत्र में डाली गई ।

दूसरी ओर, "आरक्षित विषयों" का प्रशासन गवर्नर और उसकी कार्यकारी परिषद् द्वारा किया जाना था । इसमें विधान मंडल के प्रति कोई उत्तरदायी नहीं था ।

(ii) *प्रान्तों पर केन्द्रीय नियंत्रण का शिथिलीकरण* — जैसा कि ऊपर कहा गया है भारत शासन अधिनियम, 1919 के अधीन बनाए गए नियमों ने जिन्हें न्यागमन नियम कहा जाता था प्रशासन के विषयों का दो प्रवर्गों में विभाजन किया — केन्द्रीय और प्रान्तीय । स्थूल रूप से, अखिल भारतीय महत्व के विषयों को "केन्द्रीय" प्रवर्ग में रखा गया और प्राथमिक रूप से प्रान्तों के प्रशासन से सम्बन्धित विषयों को "प्रान्तीय" वर्गीकरण में रखा गया । इसका अर्थ यह हुआ कि प्रान्तों पर पूर्ववर्ती केन्द्रीय नियंत्रण प्रशासनिक, विधायी और वित्तीय विषयों में शिथिल हो गया । राजस्व के स्रोतों का भी दो प्रवर्गों में विभाजन किया गया जिससे प्रान्त अपने द्वारा संगृहीत राजस्व की सहायता से अपना प्रशासन चला सकें । इस प्रयोजन के लिए प्रान्तीय बजट को भारत सरकार के बजट से अलग किया गया और प्रान्तीय विधान मंडल को यह शक्ति दी गई कि वह अपना बजट प्रस्तुत कर सके और प्रान्त के राजस्व के स्रोतों से संबंधित अपने कर उद्गृहीत कर सके ।

प्रान्तों को शक्तियों के न्यागमन को परिसंघ में शक्ति का वितरण समझना भूल होगी । 1919 के अधिनियम के अधीन प्रान्तों को शक्ति केन्द्र से प्रत्यायोजित होती थी । केन्द्रीय विधान मंडल को सम्पूर्ण भारत के लिए किसी भी विषय से सम्बन्धित विधान बनाने की शक्ति थी । केन्द्रीय विधान मंडल की इस परम शक्ति के अधीन रहते हुए

विधान मंडल को "देश में उस प्रान्त को गठित करने वाले राज्यक्षेत्रों की शान्ति और सुशासन के लिए विधि बनाने की शक्ति दी गई" ।

प्रान्तीय विधान पर गवर्नर-जनरल के नियंत्रण को बनाए रखने के लिए यह अधिकथित किया गया कि कोई भी प्रान्तीय विधेयक, चाहे उसे गवर्नर की अनुमति मिल गई हो तो भी, तब तक विधि नहीं बनेगा जब तक कि उसे गवर्नर-जनरल की अनुमति न मिल जाए । इसी उद्देश्य से गवर्नर को यह शक्ति दी गई कि वह, इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा इस निमित्त विनिर्दिष्ट विषयों से सम्बन्धित विधेयक को गवर्नर-जनरल के विचार के लिए आरक्षित कर सके ।

(iii) *भारतीय विधान मंडल को और अधिक प्रातिनिधिक बनाया गया* — केन्द्र में उत्तरदायित्व को स्थान नहीं दिया गया । सपरिषद् गवर्नर-जनरल भारत के लिए सेक्रेटरी आफ स्टेट के माध्यम से ब्रिटिश संसद् का उत्तरदायी बना रहा । फिर भी भारतीय विधान मंडल को अपेक्षाकृत अधिक प्रातिनिधिक बनाया गया और पहली बार विधान मंडल द्विसदनीय किया गया । उच्चतर सदन जिसे राज्य परिषद् का नाम दिया गया 60 सदस्यों से मिलकर बनती थी जिनमें से 34 निर्वाचित थे । निचले सदन में जिसे विधान सभा का नाम दिया गया 144 सदस्य थे जिनमें से 104 निर्वाचित थे । दोनों सदनों की शक्तियां समान थीं किन्तु प्रदाय के लिए मतदान की शक्ति अनन्य रूप से विधान सभा को दी गई थी । निर्वाचक मंडल जाति और भाग के आधार पर बनाया गया था । इस प्रकार मोरले-मिंटो युक्ति को आगे बढ़ाया गया ।

केन्द्रीय विधान मंडल की बाबत गवर्नर-जनरल की अध्यारोही शक्तियों को निम्नलिखित रूप में बनाए रखा गया : (i) कुछ विषयों से सम्बन्धित विधेयकों को पुरःस्थापित करने के लिए उसकी पूर्व अनुमति आवश्यक थी, (ii) उसे भारतीय विधान मंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को वीटो करने या सम्राट के विचार के लिए आरक्षित करने की शक्ति थी, (iii) उसे यह शक्ति थी कि विधान मंडल द्वारा नामंजूर किए गए या पारित न किए गए किसी विधेयक या अनुदान को प्रमाणित कर दे । ऐसे प्रमाणित करने पर उसका इस प्रकार प्रभाव होगा मानो विधान मंडल द्वारा पारित या प्रदत्त है, (iv) वह आपात की दशा में अध्यादेश बना सकता था जिनका अस्थायी अवधि के लिए विधि का बल होता था ।

1919 के अधिनियम की कमियां ।

1919 के सुधार भारत की जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सके और (महात्मा गांधी के नेतृत्व में) ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर असहयोग के माध्यम से स्वराज्य प्राप्ति के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । 1919 की पद्धति की मुख्य कमियां थीं, —

(i) प्रान्तों को पर्याप्त शक्तियां प्रदान करने के बाद भी संरचना ऐकिक और केन्द्रीकृत बनी रही । सपरिषद् गवर्नर-जनरल इस संपूर्ण सांविधानिक रचना का आधारस्तंभ था । सपरिषद् गवर्नर-जनरल के माध्यम से सेक्रेटरी आफ स्टेट और अन्तिम रूप से पार्लमेंट भारत की शान्ति व्यवस्था और सुशासन का उत्तरदायित्व निभाती थी[7] । कोई विषय केन्द्रीय है या प्रान्तीय यह निर्णय करने का प्राधिकार गवर्नर-जनरल को था न्यायालय को नहीं । प्रान्तीय विधान मंडल, गवर्नर-जनरल की पूर्व मंजूरी के बिना अनेकों विषयों से सम्बन्धित विधेयकों पर विचार नहीं कर सकते थे ।

(ii) प्रान्तीय क्षेत्र में द्वैध शासन के कार्यकरण से सबसे अधिक असंतोष हुआ । गवर्नर को अध्यारोही वित्तीय शक्तियां थीं और विधान मंडल में शासकीय मत उसके नियंत्रण में थे इसलिए उनके माध्यम से गवर्नर, मंत्रिमंडल की नीति को, बहुत बड़ी सीमा तक, प्रभावित करता था । व्यवहार में शायद ही कोई महत्व का प्रश्न ऐसा उत्पन्न होता

हो जो एक या अधिक आरक्षित विभागों को प्रभावित न करता हो । प्रशासन को ऐसे खंडों में बांटना कि हवा भी इधर से उधर न जा सके निःसन्देह अव्यवहारिक था । भारत के दृष्टिकोण से प्रणाली का मुख्य दोष धन पर नियंत्रण था । वित्त, आरक्षित विषय था और इसलिए कार्यकारी परिषद् के सदस्य के प्रभार में रखा जाता था मंत्री के नहीं । किसी भी मंत्री के लिए कोई भी प्रगतिशील काम करना धन के बिना संभव नहीं होता था और इसके साथ ही यह तथ्य भी था कि भारतीय सिविल सेवा के सदस्य जिनके माध्यम से मंत्रियों को अपनी नीतियां लागू करनी थीं, सेक्रेटरी आफ स्टेट द्वारा भर्ती किए जाते थे और उसी के प्रति उत्तरदायी रहते थे मंत्री के प्रति नहीं । इन सबके ऊपर गवर्नर की अध्यारोही शक्ति थी । गवर्नर अन्तरित विषयों की बाबत भी सांविधानिक अध्यक्ष के रूप में काम नहीं करता था । प्रान्तीय विधान मंडलों के प्रति मंत्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व की कोई व्यवस्था नहीं थी । मंत्री व्यक्तिशः नियुक्त किए जाते थे, गवर्नर के सलाहकार के रूप में कार्य करते थे और वे कार्यकारी परिषद् के सदस्य से केवल इस बात में भिन्न थे कि वे गैर-सरकारी थे । गवर्नर को यह शक्ति थी कि वह मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करे या न करे । वह विधान मंडल द्वारा इंकार किए गए अनुदान को या उसके द्वारा नामंजूर किए गए विधेयक को प्रमाणित कर सकता था यदि वह समझता था कि किसी आरक्षित विषय से सम्बन्धित उसके उत्तरदायित्व के सम्यक् निर्वहन के लिए यह आवश्यक है ।

इसलिए इस बात में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि प्रान्तीय क्षेत्र के एक भाग पर मंत्रिमंडलीय शासन का प्रारम्भ कोई प्रभाव नहीं डाल सका और भारतीय आकांक्षाओं की इससे तुष्टि नहीं हुई ।

साइमन आयोग ।

सुधार की लगातार मांग और असहयोग आन्दोलन से उत्पन्न स्थिति के कारण ब्रिटिश सरकार ने 1928 में एक कानूनी आयोग नियुक्त किया । इसकी नियुक्ति के बारे में भारत शासन अधिनियम, 1919 में उपबन्ध था (धारा 84क) । इस आयोग को अधिनियम के कार्यकरण की जांच करके उस पर अपना प्रतिवेदन देना था । 1929 में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि भारतीय राजनैतिक विकास का उद्देश्य डोमिनियन प्रास्थिति है । आयोग ने, जिसके अध्यक्ष सर जान साइमन थे, 1930 में अपना प्रतिवेदन दिया । इस प्रतिवेदन पर एक गोलमेज़ परिषद् में विचार किया गया जिसमें ब्रिटिश सरकार के, ब्रिटिश भारत के और देशी रियासतों के शासकों के प्रतिनिधि थे (क्योंकि स्कीम में एक परिसंघ बनाकर देशी रियासतों को शेष भारत से जोड़ना था) । इस सम्मेलन की परिणति पर तैयार किए गए एक श्वेत पत्र की ब्रिटिश पार्लमेंट की एक संयुक्त प्रवर समिति द्वारा परीक्षा की गई और प्रवर समिति की सिफारिशों के अनुसार भारत शासन विधेयक का प्रारूप तैयार करके उसे कुछ संशोधनों के साथ भारत शासन अधिनियम, 1935 के रूप में पारित किया गया ।

सांप्रदायिक अधिनिर्णय ।

इस अधिनियम द्वारा प्रारम्भ की गई प्रणाली के मुख्य लक्षणों का विश्लेषण करने के पहले यह बताना उचित होगा कि इस अधिनियम ने मुस्लिम और गैर मुस्लिम समुदायों के बीच सांप्रदायिक वैमनस्य को और अधिक बढ़ा दिया क्योंकि इसमें ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री रामसे मैकडोनाल्ड द्वारा 4-8-1932 को दिए गए "सांप्रदायिक अधिनिर्णय" के आधार पर पृथक् निर्वाचन मंडलों की व्यवस्था की गई । इसका आधार यह बताया गया कि दो मुख्य संप्रदाय सहमत नहीं हो सके हैं । इसके आगे दोनों धार्मिक समुदायों के बीच करार को प्रत्येक राजनैतिक

कदम के लिए पुरोभावी शर्त के रूप में बताया जाता रहा । 1935 के अधिनियम में मुसलमानों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व तो था ही, सिखों के लिए, यूरोपीय लोगों के लिए, ईसाइयों के लिए और एंग्लो इंडियन लोगों के लिए भी पृथक् प्रतिनिधित्व था । इसके कारण राष्ट्रीय एकता के निर्माण में गम्भीर बाधाएं उपस्थित हुईं । मुसलमानों के पृथक् राज्य के लिए विभाजन हो जाने के बाद भी भावी संविधान के निर्माता इस कठिनाई को पार नहीं कर सके ।

1935 के अधिनियम द्वारा जिस शासन प्रणाली की व्यवस्था की गई थी उसके मुख्य लक्षण निम्नलिखित थे :—

(क) *परिसंघ और प्रान्तीय स्वायत्त* — इसके पहले के भारत शासन अधिनियम में भारत सरकार ऐकिक थी । किन्तु 1935 के अधिनियम में परिसंघ की स्थापना की गई जिसमें इकाइयां थीं प्रान्त और देशी रियासतें । देशी रियासतों के लिए परिसंघ में सम्मिलित होने का विकल्प था । देशी रियासतों के शासकों ने अपनी सहमति नहीं दी थी इसलिए 1935 के अधिनियमों में जिस परिसंघ की व्यवस्था थी वह कभी नहीं बन सका ।

यद्यपि परिसंघ से सम्बन्धित भाग निष्प्रभावी रहे फिर भी प्रान्तीय स्वायत्त से सम्बन्धित भाग को भारत के लिए 1937 में प्रभावी किया गया । इस अधिनियम ने विधायी शक्तियों को प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान मंडलों के बीच विभाजित किया । प्रांत अपने परिवेश में केन्द्रीय सरकार के प्रत्यायोजिती नहीं थे बल्कि प्रशासन की स्वतंत्र इकाइयों के रूप में थे इस सीमा के भीतर भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारों के परिप्रेक्ष में परिसंघ की भूमिका निभाने लगी, यद्यपि देशी रियासतों के न आने के कारण परिसंघ की स्कीम पूरी न हो सकी ।

गवर्नर, सम्राट की ओर से प्रान्त की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करता था । वह गवर्नर-जनरल के अधीन नहीं था । गवर्नर से यह अपेक्षा थी कि वह मंत्रियों की सलाह से काम करेगा और मंत्री विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी थे ।

किन्तु प्रान्तीय स्वतंत्रता के प्रारम्भ किए जाने पर भी 1935 के अधिनियम में केन्द्रीय सरकार का एक विशेष क्षेत्र में प्रान्तों पर नियंत्रण बना रहा । कुछ विषयों में गवर्नर से "स्वविवेकानुसार" या "अपने स्वयं के विवेकानुसार" कार्य करने की अपेक्षा थी । ऐसे विषयों में गवर्नर, मंत्रिमंडल की सलाह के बिना कार्य करता था । ऐसे कार्य गवर्नर-जनरल के और उसके माध्यम से सेक्रेटरी आफ स्टेट के नियंत्रण और निदेश से होते थे ।

(ख) *केन्द्र में द्वैध शासन* — केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति (सम्राट के निमित्त) गवर्नर-जनरल में निहित थी जिसके कृत्यों को दो समूहों में बांटा गया था, —

(i) प्रतिरक्षा, विदेश कार्य, चर्च सम्बन्धी कार्य और जनजाति क्षेत्र का प्रशासन गवर्नर-जनरल को स्वविवेकानुसार और अपने द्वारा नियुक्त परामर्शदाताओं की सहायता से करना था । ये परामर्शदाता विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे ; (ii) ऊपर आरक्षित विषयों से भिन्न विषयों के बारे में गवर्नर-जनरल को मंत्रिपरिषद् की सलाह से कार्य करना था । मंत्रिपरिषद् विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी था । किन्तु इस क्षेत्र में भी यदि उसका "विशेष उत्तरदायित्व" अन्तर्वलित होता था तो वह मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह के विरुद्ध कार्य कर सकता था । विशेष उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में वह गवर्नर-जनरल, सेक्रेटरी आफ स्टेट के नियंत्रण और निदेश के अधीन कार्य करता था ।

वस्तुतः 1935 के अधिनियम के अधीन न तो परामर्शदाता नियुक्त किए गए और न ही विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्रिपरिषद् । गवर्नर-जनरल को सलाह देने के

लिए 1919 के अधिनियम द्वारा उपबन्धित पुरानी कार्यकारी परिषद् ही भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 तक गवर्नर-जनरल को सलाह देती रही ।

(ग) *विधान मंडल* — केन्द्रीय विधान मंडल में दो सदन थे जो परिसंघ विधान सभा और राज्य परिषद् से मिलकर बनते थे ।

छह प्रान्तों में विधान मंडल द्विसदनीय थे जो विधान सभा और विधान परिषद् से मिलकर बनते थे । शेष प्रान्तों में विधान मंडल में एक सदन था । केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मंडलों की शक्तियां कुछ मर्यादाओं के अधीन थीं । यह नहीं कहा जा सकता था कि इनमें प्रभुत्वसंपन्न विधान मंडलों के लक्षण विद्यमान थे । उदाहरणार्थ केन्द्रीय विधान मंडल की निम्नलिखित परिसीमाएं थीं :

(i) केन्द्रीय विधान मंडल द्वारा पारित विधेयक को गवर्नर-जनरल तो वीटो कर ही सकता था सम्राट को भी उस पर वीटो का अधिकार था ।

(ii) यदि गवर्नर-जनरल का यह समाधान हो जाता था कि किसी विधेयक का प्रभाव उसके विशेष उत्तरदायित्व के निर्वहन पर पड़ेगा तो वह विधान मंडल में उस विधेयक के बारे में विचार-विमर्श को रोक सकता था और उससे सम्बन्धित कार्यवाहियों को निलम्बित कर सकता था ।

(iii) गवर्नर-जनरल को विधान मंडल की सत्रावसान की अवधि के दौरान अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति होती थी । उसे विधान मंडलों के समवर्ती विधान बनाने की स्वतंत्र शक्ति भी थी । गवर्नर-जनरल को अपने विशेष उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिए किसी भी समय अस्थायी अध्यादेश और स्थायी अधिनियम बनाने की शक्ति थी ।

(iv) गवर्नर-जनरल की पूर्व मंजूरी के बिना कुछ विषयों की बाबत कोई विधेयक या संशोधन विधान मंडल में पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता था । उदाहरणार्थ, यदि विधेयक या संशोधन ब्रिटिश पार्लमेंट के भारत पर विस्तारित किसी विधि या गवर्नर-जनरल या गवर्नर के किसी अधिनियम का निरसन या संशोधन करने के लिए था या उसके विरुद्ध था या वह ऐसे विषयों को प्रभावित करता था जिनकी बाबत गवर्नर-जनरल को स्वविवेकानुसार कार्य करने की अपेक्षा थी ।

इसी प्रकार के बंधन प्रान्तीय विधान मंडलों पर भी लगाए गए थे ।

इस अधिनियम के अधीन निकाले गए 'अनुदेश-विलेख' में यह अपेक्षा की गई थी कि बहुत से विषयों से सम्बन्धित विधेयक जैसे उच्चतम न्यायालय की शक्तियों को कम करने वाले या स्थायी व्यवस्था को प्रभावी करने वाले विधेयक जब गवर्नर-जनरल या गवर्नर की अनुमति के लिए प्रस्तुत किए जाएंगे तो वे, यथास्थिति, सम्राट या गवर्नर-जनरल के विचार के लिए आरक्षित रखे जाएंगे ।

(घ) *केन्द्र और प्रान्तों के बीच विधायी शक्तियों का वितरण* — यद्यपि देशी रियासतें परिसंघ में सम्मिलित नहीं हुईं फिर भी भारत शासन अधिनियम, 1935 के परिसंघीय उपबन्ध केन्द्रीय सरकार और प्रान्तों के बीच वस्तुतः लागू किए गए ।

केन्द्र और प्रान्तों के बीच विधायी शक्तियों का विभाजन पाठकों के लिए विशेष रुचि रखता है क्योंकि संविधान में संघ और राज्यों के बीच विभाजन अधिकतर इसी आधार पर है । यह भारत शासन अधिनियम, 1919 के अधीन बनाए गए नियमों के अधीन केन्द्र द्वारा प्रान्तों को प्रत्यायोजित शक्तियां मात्र नहीं थीं । जैसा पहले बताया जा चुका है 1935 के संविधान अधिनियम में विधायी शक्तियों को केन्द्र और प्रान्तीय विधान मंडलों के बीच विभाजित किया गया और नीचे उल्लिखित उपबन्धों के अधीन रहते हुए किसी भी विधान मंडल को दूसरे की शक्तियों का अतिक्रमण करने का अधिकार नहीं था ।

इस अधिनियम में तीन प्रकार का विभाजन किया गया :—

(i) एक परिसंघ सूची थी जिस पर परिसंघ विधान मंडल को विधान बनाने की अनन्य शक्ति थी । इस सूची में विदेश कार्य, करेंसी और मुद्रा, नौसेना, सेना और वायुसेना, जनगणना जैसे विषय थे ।

(ii) विषयों की एक प्रान्तीय सूची थी जिस पर प्रान्तीय विधान मंडलों की अनन्य अधिकारिता थी । उदाहरण के लिए पुलिस, प्रान्तीय लोकसेवा और शिक्षा ।

(iii) विषयों की एक समवर्ती सूची थी जिस पर परिसंघ और प्रान्तीय विधान मंडल दोनों विधान बनाने के लिए सक्षम थे, उदाहरणार्थ, दंड विधि और प्रक्रिया, सिविल प्रक्रिया, विवाह और विवाह-विच्छेद, माध्यस्थम् ।

गवर्नर-जनरल द्वारा आपात की उद्घोषणा किए जाने पर परिसंघ विधान मंडल को प्रान्तीय सूची में प्रगणित विषयों की बाबत विधान बनाने की शक्ति थी । परिसंघ विधान मंडल प्रान्तीय विषयों की बाबत उस दिशा में भी विधान की रचना कर सकता था जब दो या अधिक विधान मंडल अपने सामान्य हित में ऐसा किए जाने की इच्छा प्रकट करते थे ।

समवर्ती क्षेत्र में विरोध की दशा में, परिसंघ विधि, विरोध की सीमा तक प्रान्त की विधि पर अभिभावी होती थी । किन्तु यदि प्रान्तीय विधि को गवर्नर-जनरल के विचार के लिए आरक्षित किया गया था और गवर्नर-जनरल ने अपनी अनुमति दे दी थी तो प्रान्तीय विधि विरोध के होते हुए भी अभिभावी होती थी ।

इस अधिनियम में अवशिष्ट विधायी शक्ति का आबंटन अद्वितीय था । वह न तो केन्द्रीय विधान मंडल में निहित था न प्रान्तीय विधान मंडल में । गवर्नर-जनरल को यह शक्ति दी गई थी कि वह परिसंघ या प्रान्तीय विधान मंडल को किसी ऐसे विषय की बाबत विधि अधिनियमित करने के लिए प्राधिकृत करे जो विधायी सूची में प्रगणित नहीं थी ।

यह ध्यान देने योग्य है कि साइमन आयोग ने 1929 में जो "डोमिनियन प्रास्थिति" देने का वचन दिया था वह भारत शासन अधिनियम, 1935 द्वारा प्रदत्त नहीं की गई ।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 द्वारा लाए गए परिवर्तन ।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947[8] का अधिनियमन जिन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ उन्हें इसके बाद के अध्याय में स्पष्ट किया जाएगा । किन्तु संविधान सभा द्वारा स्वतंत्र भारत के लिए संविधान बनाए जाने के पहले तक इस अधिनियम से शासन की संरचना में जो परिवर्तन किए गए उन्हें वर्तमान संदर्भ में बताना उचित होगा जिससे कि संविधान की भूमिका का सही और विस्तृत ज्ञान हो सके ।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के अनुसरण में भारत शासन अधिनियम, 1935 का भारत और पाकिस्तान में, अनुकूलन आदेशों द्वारा संशोधन किया गया जिससे दोनों डोमिनियनों में संविधान सभा द्वारा भावी संविधान का निर्माण पूरा हो जाने तक अंतरिम संविधान की व्यवस्था हो सके ।

इन अनुकूलनों के निम्नलिखित मुख्य परिणाम थे :—

(क) *ब्रिटिश पार्लमेंट की प्रभुता और उत्तरदायित्व का उत्सादन* — जैसा पहले बताया गया है भारत शासन अधिनियम, 1858 द्वारा भारत का शासन ईस्ट इंडिया कंपनी से सम्राट को अन्तरित कर दिया गया था । इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश पार्लमेंट भारत की प्रत्यक्ष संरक्षक बन गई और भारत के प्रशासन के लिए भारत के लिए सेक्रेट्री आफ

स्टेट के पद का सृजन किया गया । भारत के मामलों के लिए सेक्रेटरी आफ स्टेट संसद् के प्रति उत्तरदायी था । यह नियंत्रण धीरे-धीरे शिथिल होता गया फिर भी भारत का गवर्नर-जनरल और प्रान्तों के गवर्नर भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 तक सेक्रेटरी आफ स्टेट के सीधे नियंत्रण के अधीन बने रहे जिससे कि, —

"संविधान के सिद्धान्त रूप में भारत की सरकार हिज मैजेस्टी की सरकार के अधीनस्थ सरकार थी ।"

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम ने इस सांविधानिक स्थिति में आमूल परिवर्तन कर दिया । उसने यह घोषित किया कि 15 अगस्त, 1947 से (जिसे "नियत दिन" कहा गया) भारत अधीनस्थ राज्य नहीं रहा और देशी रियासतों पर ब्रिटिश सम्राट की प्रभुता तथा जनजाति क्षेत्रों से उनके संधि संबंध उसी दिन से समाप्त हो गए ।

ब्रिटिश सरकार और पार्लमेंट का भारत के प्रशासन के लिए उत्तरदायित्व समाप्त हो जाने के कारण भारत के लिए सेक्रेटरी आफ स्टेट का पद भी समाप्त कर दिया गया ।

(ख) *सम्राट प्राधिकार का स्रोत नहीं रहा* — जब तक भारत ब्रिटिश सम्राट का अधीनस्थ राज्य था तब तक भारत का शासन हिज़ मैजेस्टी के नाम से चलाया जाता था । 1935 के अधिनियम के अधीन परिसंघ स्कीम बनने के कारण सम्राट को और भी प्रमुखता मिली । परिसंघ की सभी इकाइयां, प्रान्त और केन्द्र, अपना प्राधिकार सीधे सम्राट से प्राप्त करते थे । किन्तु स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के अधीन भारत और पाकिस्तान की डोमिनियनों में से कोई भी ब्रिटिश द्वीप समूह से प्राधिकार नहीं लेती थी ।

(ग) *गवर्नर-जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों का सांविधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करना* — दोनों डोमिनियनों के गवर्नर-जनरल दोनों नई डोमिनियनों के सांविधानिक अध्यक्ष हो गए । यह "डोमिनियन प्रास्थिति" की अवश्यंभावी परिणति थी । यह प्रास्थिति भारत शासन अधिनियम, 1935 द्वारा नहीं दी गई थी किन्तु भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 द्वारा प्रदान की गई ।

स्वतंत्रता अधिनियम के अधीन किए गए अनुकूलनों के अनुसार 1919 के अधिनियम के अधीन बनाई गई कार्यकारी परिषद् या 1935 के अधिनियम में उपबन्धित 'परामर्शदाता' समाप्त हो गए । गवर्नर-जनरल और प्रान्तीय गवर्नर मंत्रिपरिषद् की सलाह पर कार्य करने लगे । मंत्रिपरिषद् को डोमिनियन विधान मंडल या प्रान्तीय विधान मंडल का विश्वास होना आवश्यक था । भारत शासन अधिनियम, 1935 से "स्वविवेकानुसार", "अपने विवेकानुसार कार्य करते हुए" और "अपने स्वयं के विवेक से" शब्द जहां-जहां आते थे वहां से निकाल दिए गए । इसका परिणाम यह हुआ कि ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा था जिसमें सांविधानिक अध्यक्ष मंत्रियों की सलाह के बिना या उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर सके । इसी प्रकार गवर्नर-जनरल की उस शक्ति का भी विलोप कर दिया गया जिसके अनुसार वह गवर्नरों से यह अपेक्षा कर सकता था कि वे उसके अभिकर्ता के रूप में कार्य करें ।

गवर्नर-जनरल और गवर्नरों के विधान बनाने की साधारण शक्तियां भी नष्ट हो गईं । वे अब विधान मंडल की प्रतियोगिता में अधिनियम नहीं पारित कर सकते थे और न ही सामान्य विधायी प्रयोजनों के लिए उद्घोषणाएं और अध्यादेश निकाल सकते थे । उनकी प्रमाणित करने की शक्ति भी समाप्त कर दी गई । प्रान्तीय संविधान को निलम्बित करने की गवर्नर की शक्ति भी ले ली गई । सम्राट का वीटो का अधिकार चला गया और अब गवर्नर-जनरल किसी विधेयक को सम्राट की अनुमति के लिए आरक्षित नहीं कर सकता था ।

(घ) *डोमिनियन विधान मंडल की प्रभुता* — 14-8-1947 को भारत का केन्द्रीय

विधान मंडल, जो विधान सभा और राज्य परिषद् से मिलकर बना था, विघटित हो गया। "नियत दिन" से और जब तक दोनों डोमिनियनों की संविधान सभाएं नए संविधानों की रचना न कर लें और उनके अधीन नए विधान मंडल गठित न हो जाएं तब तक संविधान सभा को ही अपने डोमिनियन के केन्द्रीय विधान मंडल के रूप में कार्य करना था। दूसरे शब्दों में, दोनों डोमिनियनों की संविधान सभाओं को (जब तक कि वह स्वयं अन्यथा इच्छा प्रकट न करें) दोहरा काम करना था — सांविधानिक और विधायी।

डोमिनियन विधान मंडल की प्रभुता सम्पूर्ण थी और किसी भी मामले में विधान बनाने के लिए अब गवर्नर-जनरल की मंजूरी की आवश्यकता नहीं थी तथा ब्रिटिश साम्राज्य की किसी विधि के उल्लंघन के कारण कोई विरोध भी नहीं हो सकता था।

निर्देश

1. भारत का संविधान 26-11-1949 को अंगीकृत किया गया और कुछ उपबन्ध तुरन्त प्रवृत्त हो गए। संविधान का मुख्य भाग 26-1-1950 को प्रवृत्त हुआ। इस तारीख को संविधान में "प्रारम्भ की तारीख" कहा गया है। इसी तारीख को भारत में 'गणतंत्र दिवस' मनाया जाता है।
2. *रिपोर्ट आफ दि इंडियन स्टैचुटरी कमीशन* (साइमन रिपोर्ट), जिल्द 1, पृष्ठ 112 और आगे।
3. सैटन, *इंडिया आफिस*, पृष्ठ 81।
4. पणिक्कर, *एशिया एंड वैस्टर्न डोमिनेंस*, 1953, पृष्ठ 155।
5. नेहरू, *डिस्कवरी आफ इंडिया*, 1956, पृष्ठ 385।
6. साइमन रिपोर्ट, जिल्द 1, पृष्ठ 122-26, 148-56।
7. रिपोर्ट आफ दि ज्वाइंट पार्लमेंटरी कमेटी, साइमन रिपोर्ट, जिल्द 1, पृष्ठ 232-38।
8. भारत शासन अधिनियम, 1800-1935, भारतीय परिषद् अधिनियम, 1861-1909, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 और तदधीन आदेशों के अंग्रेजी पाठ के लिए देखिए बसु, *कांस्टीट्यूश्नल डाक्यूमेंट्स*, जिल्द 1, (1969)।

2

संविधान का निर्माण

महात्मा गांधी ने बहुत पहले 1922 में यह मांग की थी कि भारत का राजनैतिक भाग्य भारतीय स्वयं बनाएंगे ।

संविधान सभा द्वारा विरचित संविधान की मांग ।

"स्वराज ब्रिटिश पार्लमेंट की भिक्षा नहीं होगी, यह भारत की स्वयं की गई घोषणा होगी । यह सत्य है कि इसे पार्लमेंट के ऐक्ट के अधीन अभिव्यक्त किया जाएगा किन्तु यह भारत के लोगों की इच्छा की घोषणा का विनम्र अनुमोदन मात्र होगा जैसा कि दक्षिण अफ्रीका के संघ के मामले में किया गया था ।"

कानूनी आयोग और राउंड टेबल कांफ्रेंस की असफलता के कारण भारतवासियों की आकांक्षाओं की पुष्टि के लिए भारत शासन अधिनियम, 1935 अधिनियमित किया गया । इससे भारत के लोगों की इस मांग ने जोर पकड़ा कि वे बाहरी हस्तक्षेप के बिना संविधान बनाना चाहते हैं । इस मांग को कांग्रेस ने 1935 में प्रस्तुत किया । 1938 में पंडित नेहरू ने संविधान सभा की मांग को स्पष्ट रूप से रखते हुए यह कहा, —

"कांग्रेस स्वतंत्र और लोकतंत्रात्मक राज्य का समर्थन करती है । उसने यह प्रस्ताव किया है कि स्वतंत्र भारत का संविधान बिना बाहरी हस्तक्षेप के ऐसी संविधान सभा द्वारा बनाया जाना चाहिए जो वयस्क मतदान के आधार पर निर्वाचित हो ।"

इसी बात को कांग्रेस की कार्यकारी समिति ने 1939 में फिर से कहा ।

ब्रिटिश सरकार ने द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ तक इस मांग का विरोध किया । विश्व युद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर बाहरी परिस्थितियों के कारण उन्हें यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि भारतीय सांविधानिक समस्या का हल निकालना अतीव आवश्यक है । 1940 में, इंग्लैंड में बहुदलीय सरकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि भारत के लिए नया संविधान भारत के लोग ही बनाएंगे । मार्च, 1942 में, जब जापान भारत के द्वार तक पहुंच गया, तब उन्होंने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को, जो मंत्रिमंडल के एक सदस्य थे, ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों की घोषणा के प्रारूप के साथ भेजा । ये प्रस्ताव (युद्ध की समाप्ति पर) अंगीकार किए जाने वाले थे यदि (कांग्रेस और मुस्लिम लीग)[1] दो प्रमुख राजनीतिक दल उन्हें स्वीकार करने के लिए सहमत हो जाएं । मुख्य प्रस्ताव इस प्रकार थे :—

(क) भारत के संविधान की रचना भारत के लोगों द्वारा निर्वाचित संविधान सभा करेगी,

(ख) संविधान भारत को डोमिनियन प्रास्थिति और ब्रिटिश राष्ट्रकुल में बराबर की भागीदारी देगा,

(ग) सभी प्रान्तों और देशी रियासतों से मिलकर एक संघ बनेगा, किन्तु

(घ) कोई प्रान्त (या देशी रियासत) जो संविधान को स्वीकार करने के लिए तैयार

नहीं हो तत्समय विद्यमान अपनी सांविधानिक स्थिति बनाए रखने के लिए स्वतंत्र होगा और इस प्रकार सम्मिलित न होने वाले प्रान्तों से ब्रिटिश सरकार पृथक् सांविधानिक व्यवस्था कर सकेगी ।

किन्तु दोनों राजनीतिक दल इन प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिए सहमत नहीं हो सके । मुस्लिम लीग ने इस बात पर बल दिया, —

(क) कि भारत को साम्प्रदायिक आधार पर दो स्वतंत्र राज्यों में विभाजित किया जाए और श्री जिन्ना द्वारा बताए गए कुछ प्रान्तों को मिलाकर एक स्वतंत्र मुस्लिम राज्य की स्थापना की जाए, जिसे पाकिस्तान कहा जाएगा,

(ख) एक संविधान सभा के स्थान पर दो संविधान सभाएं होनी चाहिए अर्थात् पाकिस्तान के निर्माण के लिए पृथक् संविधान सभा होगी ।

मंत्रिमंडल का प्रतिनिधिमंडल ।

क्रिप्स के प्रस्तावों के अस्वीकार हो जाने के पश्चात् (और कांग्रेस द्वारा "भारत छोड़ो" आन्दोलन प्रारम्भ करने के बाद) दोनों दलों को एकमत करने के लिए बहुत से प्रयत्न किए गए जिनमें गवर्नर-जनरल, लार्ड वावेल की प्रेरणा से किया गया शिमला सम्मेलन भी है । इन सबके असफल हो जाने पर ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने अपने तीन सदस्य एक और गम्भीर प्रयत्न करने के लिए भेजे । इनमें क्रिप्स भी था । किन्तु यह प्रतिनिधिमंडल भी दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों के बीच सहमति लाने में असफल रहा । परिणामस्वरूप उसे अपने ही प्रस्ताव रखने पड़े जिनकी भारत और इंग्लैंड में 16 मई, 1946 को एक साथ घोषणा की गई ।

मंत्रिमंडलीय प्रतिनिधिमंडल के प्रस्तावों में भारत का संघ बनाने और उसका विभाजन करने के बीच समझौता लाने का प्रयत्न किया गया । मंत्रिमंडलीय प्रतिनिधिमंडल ने पृथक् संविधान सभा और मुसलमानों के लिए पृथक् राज्य के दावे को स्पष्टतः नामंजूर कर दिया । जिस स्कीम की सिफारिश उन्होंने की उसमें मुस्लिम लीग के दावे के पीछे जो सिद्धान्त था उसको लगभग स्वीकार कर लिया गया ।

उस स्कीम के मुख्य लक्ष्य ये थे, —

(क) एक भारत संघ होगा जो ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों से मिलकर बनेगा और जिसकी विदेश कार्य, प्रतिरक्षा और संचार के विषयों पर अधिकारिता होगी । शेष सभी शक्तियां प्रान्तों और राज्यों में निहित होंगी ।

(ख) संघ की एक कार्यपालिका और एक विधान मंडल होगा जो प्रान्तों और राज्यों के प्रतिनिधियों से गठित होगा । किन्तु जब विधान मंडल में कोई प्रमुख सांप्रदायिक प्रश्न उठेगा तो उसका विनिश्चय दोनों प्रमुख समुदायों के उपस्थित और मतदान करने वाले तथा सभी उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा ।

प्रान्त इस बात के लिए स्वतंत्र होंगे कि वे कार्यपालिका और विधान मंडलों के गुट बना लें और प्रत्येक गुट उन प्रान्तीय विषयों को अवधारित करने के लिए सक्षम होगा जिन पर गुट संगठन की अधिकारिता होगी ।

सम्राट का 9 दिसंबर, 1946 का कथन ।

कैबिनेट मिशन ने जो स्कीम अधिकथित की थी वह सिफारिश के रूप में थी । मिशन की यह धारणा थी कि दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों के बीच सहमति होकर उसे स्वीकार कर लिया जाएगा । किन्तु संविधान सभा के लिए निर्वाचन होने के पश्चात् एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो गई । मुस्लिम लीग ने निर्वाचन में भाग लिया और उसके प्रत्याशी चुने गए किन्तु इसी बीच कैबिनेट के "गुट सम्बन्धी खंडों" के निर्वचन के बारे में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच मतभेद हो गए । ब्रिटिश सरकार ने इस प्रक्रम पर हस्तक्षेप

किया और लंदन में नेताओं को यह बताया कि लीग का पक्ष सही है । 6 दिसंबर, 1946 को ब्रिटिश सरकार ने निम्नलिखित कथन प्रकाशित किया :—

"यदि ऐसी संविधान सभा द्वारा संविधान बनाया जाता है जिसमें भारत की जनसंख्या के किसी बहुत बड़े भाग का प्रतिनिधित्व नहीं है तो हिज़ मैजेस्टी की सरकार ऐसे संविधान को देश के उस न मानने वाले भाग पर बलपूर्वक लागू नहीं करेगी ।"

इस प्रकार पहले पहल ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार किया कि दो राज्य और दो संविधान सभाएं बन सकती हैं । इसका परिणाम यह हुआ कि 9 दिसंबर, 1946 को जब संविधान सभा पहली बार अधिविष्ट हुई तब मुस्लिम लीग के सदस्य उपस्थित नहीं हुए और संविधान सभा ने मुस्लिम लीग के सदस्यों के बिना कार्य प्रारम्भ किया ।

20 फरवरी, 1947 का ब्रिटिश सरकार का कथन ।

इसके बाद मुस्लिम लीग ने यह कहा कि भारत की संविधान सभा को विघटित किया जाना चाहिए क्योंकि उसमें भारत के सभी भागों के लोगों का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं था । दूसरी ओर, ब्रिटिश सरकार ने अपने 20 फरवरी, 1947 के कथन में यह घोषणा की, —

(क) कि जून, 1948 की समाप्ति पर भारत पर ब्रिटिश शासन समाप्त हो जाएगा । इसके बाद ब्रिटेन भारतीयों के हाथ में सत्ता सौंप देगा,

(ख) यदि तब तक पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करने वाली संविधान सभा कैबिनेट प्रतिनिधिमंडल के प्रस्तावों के अनुसार संविधान के निर्माण के काम में असफल रहती है तो, —

"हिज़ मैजेस्टी की सरकार इस बात पर विचार करेगी कि किसे ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय सरकार की शक्ति सौंपी जाए और क्या ब्रिटिश भारत के लिए केन्द्रीय सरकार की सम्पूर्ण शक्ति सौंपी जाए या कुछ क्षेत्रों में विद्यमान प्रान्तीय सरकार को सौंपी जाए या किसी ऐसी रीति से सौंपी जाए जो सर्वाधिक युक्तियुक्त हो और भारत की जनता के सर्वोत्तम हित में हो ।"

इसका परिणाम वही हुआ जो होना था और लीग ने संविधान सभा में संयुक्त होना आवश्यक नहीं समझा और "मुस्लिम भारत" के लिए संविधान सभा की मांग पर बल देती रही ।

इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने लार्ड वावेल के स्थान पर लार्ड माउंटबेटन को भारत के गवर्नर-जनरल के रूप में भेजा जिससे शक्ति के अन्तरण की तैयारियां शीघ्र हो सकें । इस शक्ति अन्तरण के लिए एक कठोर समय सीमा तय कर दी गई थी । लार्ड माउंटबेटन ने कांग्रेस और लीग में यह स्पष्ट समझौता कराया कि पंजाब और बंगाल के समस्या वाले प्रान्तों का विभाजन किया जाएगा जिससे कि इन प्रान्तों में हिन्दू और मुस्लिम बहुमत वाले खंड बनाए जाएंगे । तब लीग को अपना पाकिस्तान मिल जाएगा — जिसे कैबिनेट मिशन ने ठुकरा दिया था — जिसमें असम, पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल नहीं होगा । कांग्रेस जो मुसलमानों को छोड़कर भारत के सभी लोगों की प्रतिनिधि थी उसे वह शेष भारत मिलेगा जहां मुस्लिम अल्पमत में थे ।

ब्रिटिश सरकार का 3 जून, 1947 का कथन ।

पंजाब और बंगाल इन दोनों प्रान्तों के विभाजन का वास्तविक निर्णय इन दोनों प्रान्तों की विधान सभाओं के सदस्यों के मत पर छोड़ दिया गया । ये विधान सभाएं दो भागों में अधिविष्ट होंगी । इस योजना को माउंटबेटन योजना नाम दिया गया । इसे ब्रिटिश सरकार ने 3-6-1947 को अपने कथन द्वारा एक औपचारिक रूप प्रदान किया । इसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह उपबन्ध था कि, —

"बंगाल और पंजाब की प्रान्तीय विधान सभाओं को (यूरोपीय सदस्यों का अपवर्जित करते हुए) यह कहा जाए कि वे दो भागों में अधिविष्ट हों । एक भाग में मुस्लिम बहुमत वाले जिलों के प्रतिनिधि होंगे और दूसरे भाग में शेष प्रान्त के । दोनों भागों के सदस्य पृथक् रूप से बैठकर इस बात के लिए मतदान देंगे कि क्या उस प्रान्त का विभाजन किया जाए । यदि दोनों भागों में सादे बहुमत से विभाजन के पक्ष में निर्णय होता है तो विभाजन होगा और तदनुसार प्रबन्ध किए जाएंगे । यदि विभाजन का निर्णय होता है तो प्रत्येक विधान सभा का वह भाग उन क्षेत्रों के बारे में जिनका वह प्रतिनिधित्व करता है यह निर्णय करेगा कि क्या वह विद्यमान संविधान सभा में सम्मिलित होगा या पृथक् संविधान सभा में ।"

यह प्रस्ताव भी किया गया कि पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में और सिलहट के मुस्लिम बहुमत वाले जिले में जनमत संग्रह किया जाएगा कि वे भारत में सम्मिलित होना चाहते हैं या पाकिस्तान में । इस कथन में यह घोषणा भी की गई कि सम्राट का यह आशय है कि चालू सत्र के दौरान इस वर्ष डोमिनियन प्रास्थिति के आधार पर एक या दो उत्तरवर्ती प्राधिकारियों को, घोषणा के परिणामस्वरूप किए गए विनिश्चयों के अनुसार, शक्ति का अन्तरण करने के लिए विधान पुरःस्थापित किया जाए ।

उपर्युक्त योजना के अनुसार मतदान का परिणाम पहले से मालूम था । दोनों प्रान्तों (पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बंगाल) के मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों के प्रतिनिधियों ने विभाजन और नई संविधान सभा में सम्मिलित होने के पक्ष में मतदान किया । पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त और सिलहट में जनमत पाकिस्तान के पक्ष में पाया गया ।

26 जुलाई, 1947 को गवर्नर-जनरल ने पाकिस्तान के लिए पृथक् संविधान सभा की स्थापना की घोषणा की । 3 जून, 1947 की योजना के क्रियान्वित हो जाने पर उस घोषणा के अनुसार ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा अधिनियम बनाकर शक्ति का अन्तरण करने में अब कोई कठिनाई नहीं थी ।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 ।

ब्रिटिश पार्लमेंट की प्रशंसा में यह तो कहना ही होगा कि उसने उक्त योजना के आधार पर भारतीय स्वतंत्रता विधेयक का प्रारूप तैयार करने में विलम्ब नहीं किया और आश्चर्यजनक गति से इस विधेयक को पारित करके उसे भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के रूप में (10 और 11 षष्टम जार्ज, अध्याय 30) बना दिया । 4 जुलाई को यह विधेयक संसद् में पुरःस्थापित हुआ था । 18 जुलाई, 1947 को इसे सम्राट की अनुमति मिल गई और यह उसी तारीख को प्रवृत्त हो गया ।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम का सबसे विशिष्ट लक्षण यह था कि भारत के शासन से सम्बन्धित पार्लमेंट के अन्य अधिनियम (जैसे 1858 से 1935 तक के भारत शासन अधिनियम) ब्रिटिश पार्लमेंट की विधायी इच्छा के अनुसार भारत के शासन के लिए संविधान के रूप में अधिरोपित थे । किन्तु 1947 के अधिनियम में ऐसा कोई संविधान नहीं लादा गया । अधिनियम में यह उपबन्ध किया गया कि 15 अगस्त, 1947 से (जिसे इस अधिनियम में "नियत तारीख" कहा गया है) भारत शासन अधिनियम, 1935 में यथापरिभाषित "भारत" के स्थान पर दो स्वतंत्र डोमिनियन स्थापित किए जाएंगे जो भारत और पाकिस्तान के नाम से ज्ञात होंगे । प्रत्येक डोमिनियन की संविधान सभा को किसी भी संविधान की रचना करने और उसे अंगीकार करने की असीमित शक्ति होगी । साथ ही संविधान सभा को ब्रिटिश पार्लमेंट के किसी भी अधिनियम को, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम सहित, निरसित करने की शक्ति होगी ।

इस अधिनियम के अधीन भारत डोमिनियन को सिंध, बलोचिस्तान, पश्चिमी पंजाब, पूर्वी बंगाल, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त और असम के सिलहट जिले को छोड़कर भारत का

शेष राज्यक्षेत्र मिल गया । सिलहट जिले ने अधिनियम के प्रवृत्त होने के पूर्व जनमत संग्रह में पाकिस्तान के पक्ष में मत दिया था ।

भारत की संविधान सभा ।

जो संविधान सभा अविभाजित भारत के लिए निर्वाचित की गई थी और जिसकी पहली बैठक 9 दिसंबर, 1946 को हुई थी वही भारत डोमिनियन की प्रभुत्वसंपन्न संविधान सभा के रूप में 14 अगस्त, 1947 को पुनः समवेत हुई ।

इसके गठन के बारे में यह स्मरणीय है कि यह कैबिनेट प्रतिनिधिमंडल द्वारा सिफारिश की गई स्कीम के अनुसार प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन से निर्वाचित हुई थी (देखिए सारणी 2) । इस स्कीम की प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं :

(1) प्रत्येक प्रान्त को और प्रत्येक देशी रियासत या रियासतों के समूह को अपनी जनसंख्या के अनुपात में कुल स्थान आबंटित किए गए थे । स्थूल रूप से 10 लाख के लिए एक स्थान का अनुपात था । इसके परिणामस्वरूप प्रान्तों को 292 सदस्य निर्वाचित करने थे और देशी रियासतों को कम से कम 93 स्थान दिए गए ।

(2) प्रत्येक प्रान्त के स्थानों को तीन प्रमुख समुदायों में जनसंख्या के अनुपात में बांटा गया । ये संप्रदाय थे मुस्लिम, सिख और साधारण ।

(3) प्रान्तीय विधान सभा में प्रत्येक समुदाय के सदस्यों ने एकल संक्रमणीय मत से आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया ।

(4) देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के चयन की पद्धति परामर्श से तय की जानी थी ।

3 जून, 1947 की योजना के अधीन विभाजन के परिणामस्वरूप पाकिस्तान के लिए एक पृथक् संविधान सभा गठित की गई । बंगाल, पंजाब, सिंध, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, बलोचिस्तान और असम के सिलहट जिले (जो जनमत संग्रह द्वारा पाकिस्तान में सम्मिलित हुए थे) के प्रतिनिधि भारत की संविधान सभा के सदस्य नहीं रहे । पश्चिमी बंगाल और पूर्वी पंजाब के प्रान्तों में नए निर्वाचन किए गए । परिणामस्वरूप जब संविधान सभा 31 अक्तूबर, 1947 को पुनः समवेत हुई तो सदन की सदस्यता घटकर 299 हो गई जैसा कि आगे सारणी 2 में दर्शाया गया है । इनमें से 284 सदस्य 26 नवंबर, 1949 को वास्तव में उपस्थित थे और उन्होंने अन्तिम रूप से पारित संविधान पर अपने हस्ताक्षर किए ।

प्रस्तावित संविधान के प्रमुख सिद्धान्तों की रूपरेखा सभा की विभिन्न समितियों ने तैयार की थी । उदाहरणार्थ संघ संविधान समिति, संघ शक्ति समिति, मूल अधिकार समिति आदि । इन समितियों के प्रतिवेदनों पर साधारणतः विचार-विमर्श करते हुए सभा ने 29 अगस्त, 1947 को एक प्रारूप समिति ने डा. अम्बेडकर की अध्यक्षता में सभा के विनिश्चयों को और उसके साथ आनुकल्पिक और अतिरिक्त प्रस्तावों को सम्मिलित करते हुए भारत के संविधान का प्रारूप प्रस्तुत किया । इसे फरवरी, 1948 में प्रकाशित किया गया । प्रारूप के उपबन्धों पर खंडवार विचार करने के लिए संविधान सभा की बैठक इसके बाद नवंबर, 1948 में हुई । अनेकों सत्रों के बाद खंडों पर विचार करने की प्रक्रिया 17 अक्तूबर, 1949 को पूरी हुई ।

संविधान का पारित किया जाना ।

संविधान सभा की बैठक तृतीय वाचन के लिए 14 नवंबर, 1949 को हुई और यह वाचन 26 नवंबर, 1949 को समाप्त हुआ । इसी तारीख को संविधान पर सभा के सभापति के हस्ताक्षर हुए और उसे पारित घोषित किया गया ।

नागरिकता, निर्वाचन और अन्तरिम संसद् से सम्बन्धित उपबन्धों को तथा अस्थायी और संक्रमणकारी उपबन्धों को तुरन्त प्रभावी किया गया अर्थात् वे 26 नवंबर, 1949 से लागू किए गए । शेष संविधान 26 जनवरी, 1950 को प्रवृत्त हुआ और इस तारीख को संविधान में *उसके प्रारम्भ की तारीख* कहा गया ।[2]

संविधान के प्रारम्भ की तारीख ।

निर्देश

1. जैसा ऊपर कहा गया है, मुस्लिम लीग की जो अपने मतानुसार ही साम्प्रदायिक दल था, 1906 में स्थापना हुई थी । 1940 के लाहौर संकल्प में इसका उद्देश्य राजनैतिक प्रणाली में मुसलमानों का पृथक् प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना था किन्तु बाद में इसने मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों में पृथक् राज्यों की स्थापना की मांग पेश की । जब क्रिप्स के प्रस्ताव की घोषणा की गई तब इस विचार को बढ़ाकर भारत का विभाजन करके दो स्वतंत्र राज्यों की मांग का रूप दिया गया ।
2. इस तारीख के पश्चात् संविधान में, अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार अबाध रूप से संशोधन किए गए हैं । 30 सितंबर, 1992 तक 71 संशोधन हो चुके हैं (देखिए आगे सारणी 4) । मूल संविधान के पाठ और उसके पश्चात्वर्ती संशोधनों के लिए देखिए डी.डी. बसु का *ड्राफ्ट कांस्टीट्यूशन, दि कांस्टीट्यूशन आफ 1949 एण्ड टुडे, कांस्टीट्यूशन अमेंडमेंट ऐक्ट्स; कांस्टीट्यूशनल ला आफ इंडिया,* 6ठा संस्करण (प्रेंटिस हाल) ।

3

संविधान का दर्शन

प्रत्येक संविधान का अपना एक दर्शन होता है ।

हमारे संविधान के पीछे जो दर्शन है उसके लिए हमें पंडित नेहरू के उस ऐतिहासिक उद्देश्य-संकल्प की ओर दृष्टिपात करना होगा जो संविधान सभा ने 22 जनवरी, 1947[1] को अंगीकार किया था और जिससे आगे के सभी चरणों में संविधान को रूप देने में प्रेरणा मिली है । यह संकल्प इस प्रकार है :—

उद्देश्य-संकल्प ।

"संविधान सभा भारत को स्वतंत्र प्रभुत्वसंपन्न गणराज्य के रूप में घोषित करने के अपने दृढ़ और सत्यनिष्ठ संकल्प की और भारत के भावी शासन के लिए संविधान बनाने की घोषणा करती है :

(2) जिसमें उन राज्यक्षेत्रों का जो ब्रिटिश भारत में समाविष्ट हैं, उन राज्यक्षेत्रों का जो अभी देशी रियासतों के भाग हैं और भारत के उन अन्य भागों का जो अभी ब्रिटिश भारत के बाहर हैं और ऐसी रियासतों का तथा ऐसे अन्य राज्यक्षेत्रों का जो स्वतंत्र प्रभुत्वसंपन्न भारत के भाग बनने के लिए सहमत हैं, मिलकर एक संघ बनेगा, और

(3) उक्त राज्यक्षेत्र, अपनी वर्तमान सीमाओं से या ऐसी सीमाओं से जो संविधान सभा द्वारा या उसके पश्चात् सांविधानिक विधि के अनुसार अवधारित की जाएं, स्वायत्त इकाइयों की प्रास्थिति रखेंगे और बने रहेंगे । उन्हें अवशिष्ट शक्तियां होंगी और वे सरकार और प्रशासन की सभी शक्तियों और कृत्यों का प्रयोग करेंगे केवल ऐसी शक्तियों और कृत्यों को छोड़कर जो संघ में निहित या संघ को समनुदिष्ट हैं या जो संघ में अन्तर्निहित या विवक्षित हैं या उसके परिणामस्वरूप हैं, और

(4) प्रभुत्वसंपन्न स्वतंत्र भारत की सभी शक्तियां और प्राधिकार, उसके संघटक भाग और शासन के सभी अंग लोक से व्युत्पन्न हैं, और

(5) भारत की जनता को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय; प्रतिष्ठा और अवसर की तथा विधि के समक्ष समता; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय, संगम और कार्य की स्वतंत्रता विधि और सदाचार के अधीन रहते हुए होगी, और

(6) अल्पसंख्यकों के लिए, पिछड़े और जनजाति क्षेत्रों के लिए और दलित और अन्य पिछड़े हुए वर्गों के लिए पर्याप्त रक्षोपाय किए जाएंगे, और

(7) गणराज्य के राज्यक्षेत्र की अखंडता और भूमि, समुद्र तथा आकाश पर उसके प्रभुत्वसंपन्न अधिकार, न्याय और सभ्य राष्ट्रों की विधि के अनुसार बनाए रखे जाएंगे, और

(8) यह प्राचीन भूमि विश्व में अपना समुचित और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करेगी और विश्व शान्ति तथा मानव कल्याण के लिए स्वेच्छा से अपना पूरा सहयोग प्रदान करेगी ।"

पंडित नेहरू के शब्दों में उपर्युक्त संकल्प "संकल्प से कुछ अधिक है । यह एक घोषणा है, एक दृढ़ निश्चय है, एक प्रतिज्ञा है, एक वचन है और हम सभी के लिए यह एक समर्पण है" ।

उक्त संकल्प में जिन आदर्शों को रखा गया है वे संविधान की उद्देशिका में दिखाई पड़ते हैं । 1976 में यथासंशोधित[2] इस उद्देशिका में संविधान के ध्येय और उसके उद्देश्यों का संक्षेप में वर्णन है :

उद्देशिका ।

"**हम भारत के लोग,** भारत को एक **सम्पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की **स्वतंत्रता,**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**

प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की

एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली **बंधुता**

बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा** में आज तारीख 26-11-1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं** ।"

अपने उच्चतम न्यायालय के अनेक निर्णयों में उद्देशिका का महत्व और उसकी उपयोगिता बताई गई है । उद्देशिका को न्यायालय में प्रवर्तित नहीं किया जा सकता[3] । किन्तु लिखित संविधान की उद्देशिका में वे उद्देश्य लेखबद्ध किए जाते हैं जिनकी स्थापना और संप्रवर्तन के लिए संविधान की रचना होती है । जहां संविधान की भाषा में संदिग्धता होती है वहां उद्देशिका संविधान के विधिक निर्वचन में सहायता करती है[4] । संविधान में समाहित आदर्श और आकांक्षाओं के समुचित अधिमूल्यन के लिए हमें ऊपर उद्धरित उद्देशिका में प्रयुक्त विभिन्न अभिव्यक्तियों की ओर ध्यान देना होगा ।

स्वतंत्र और प्रभुतासंपन्न ।

जैसा पहले स्पष्ट किया गया है, भारत का संविधान ब्रिटिश पार्लमेंट की देन नहीं है इस बात में यह पूर्ववर्ती भारत शासन अधिनियमों से भिन्न है । इसे भारत के लोगों ने एक प्रभुत्वसंपन्न संविधान सभा में समवेत अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से अधिकथित किया था । यह सभा अपने देश के राजनैतिक भविष्य को अवधारित करने के लिए सक्षम थी । "हम भारत के लोग.... इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं" — ये शब्द भारत के लोगों की सर्वोच्च प्रभुता की घोषणा करते हैं और इस बात की ओर संकेत करते हैं कि संविधान का आधार उन लोगों का प्राधिकार है[3] ।

गणराज्य ।

उद्देशिका स्पष्ट शब्दों में यह घोषित करती है कि संविधान के अधीन सभी प्राधिकारों का स्रोत भारत के लोग हैं । किसी बाहरी प्राधिकारी के प्रति कोई अधीनता नहीं है । पाकिस्तान, 1956 तक ब्रिटिश डोमिनियन बना रहा किन्तु भारत डोमिनियन नहीं बना और 1949 में संविधान की रचना के बाद से उसने अपने आपको गणराज्य घोषित किया । इसका अर्थ यह है कि जनता के द्वारा जनता के लिए बनाई गई सरकार ।

प्रभुत्व संपन्नता राष्ट्रकुल की सदस्यता से असंगत नहीं है ।

26 जनवरी, 1950 को जब संविधान प्रवृत्त हुआ, इंग्लैंड के सम्राट का भारत में कोई विधिक या सांविधानिक प्राधिकार नहीं रहा । भारत का कोई नागरिक ब्रिटिश सम्राट के प्रति निष्ठा नहीं रख सकता । यद्यपि भारत ने अपने आपको गणराज्य घोषित कर दिया फिर भी उसने ब्रिटिश राष्ट्रकुल से अपने सभी सम्बन्ध समाप्त नहीं किए । आयरलैंड ने रिपब्लिक आफ आयरलैंड ऐक्ट, 1948 बनाकर सम्बन्ध समाप्त कर दिए थे । वस्तुतः, भारत के राष्ट्रकुल में बने रहने के विनिश्चय के कारण राष्ट्रकुल की संकल्पना ही बदल गई क्योंकि भारत ने सम्राट के प्रति निष्ठा रखना स्वीकार नहीं किया है । उसे प्राचीन ब्रिटिश साम्राज्य की एकता का और साथ ही उसके उत्तरवर्ती ब्रिटिश राष्ट्रकुल का प्रतीक माना है[5] । भारत के इस निर्णय के कारण ब्रिटिश राष्ट्रकुल का जो साम्राज्यवाद का अवशेष था

संपरिवर्तन हो गया और वह राष्ट्रकुल के समादरणीय नाम से स्वाधीन राष्ट्रों का एक स्वतंत्र संघ हो गया है । यह ऐतिहासिक निर्णय लंदन में 27 अप्रैल, 1949 को प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन में लिया गया । इस सम्मेलन में हमारे प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने यह घोषणा की कि "भारत के प्रभुत्वसंपन्न स्वतंत्र गणराज्य बन जाने के पश्चात् भी भारत राष्ट्रकुल का पूर्ण सदस्य बना रहेगा और वह सम्राट की स्वाधीन राष्ट्रों के स्वतंत्र संगम के प्रतीक के रूप में और इस प्रकार राष्ट्रकुल के अध्यक्ष के रूप में स्वीकृति देगा" ।

यह ध्यान देने योग्य है कि यह घोषणा विधि बाह्य है । भारत के संविधान में इसका कोई उल्लेख नहीं है । यह एक स्वैच्छिक घोषणा है और यह दर्शाती है कि यह एक स्वतंत्र संगम है जिसमें कोई बाध्यता नहीं । यह भारत की इस बात की इच्छा की अभिव्यक्ति है कि वह राजनीतिक अधीनता के समाप्त हो जाने पर भी इंग्लैंड के लोगों के साथ अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को समाप्त नहीं करेगा । यह नया संगम स्वाधीन राज्यों के बीच एक सम्मान्य संगम है । यह इंग्लैंड के सम्राट को राष्ट्रकुल के प्रतीकात्मक अध्यक्ष के रूप में ही स्वीकार करता है । (संविधान के पहले उसके भारत के सम्बन्ध में कुछ कृत्य थे । किन्तु संविधान के बाद उसके कोई कृत्य नहीं रहे) वह भारत के नागरिकों की उसके प्रति राजनिष्ठा की मांग भी नहीं कर सकता । यदि इंग्लैंड के राजा या रानी भारत आते हैं तो उन्हें भारत के राष्ट्रपति की तुलना में कोई पूर्विकता नहीं मिलेगी । राष्ट्रकुल के सदस्य के रूप में भारत को राष्ट्रकुल सम्मेलनों में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है किन्तु राष्ट्रकुल सम्मेलनों में किए गए विनिश्चय उस पर आबद्धकर नहीं होंगे । यदि राष्ट्रकुल का कोई सदस्य किसी विदेशी शक्ति से कोई संधि करता है या युद्ध की घोषणा करता है तो भारत की अभिव्यक्त सहमति के बिना वह उस पर आबद्धकर नहीं होगी । इस प्रकार राष्ट्रकुल से भारत का यह स्वैच्छिक सम्बन्ध किसी भी प्रकार से उसकी प्रभुता को प्रभावित नहीं करता है । जब भारत को यह लगे कि संघ में बने रहना सम्मानजनक या उपयोगी नहीं है तो वह अपना सम्बन्ध तोड़ सकेगा । जैसा पंडित नेहरू ने कहा था

> "यह स्वेच्छा से किया गया करार है और इसे स्वेच्छा से समाप्त किया जा सकेगा ।"[6]

अपने देश में शक्तिशाली विरोध के होते हुए भी भारत ने विशाल हृदय से यह निर्णय लिया था । साम्राज्यवादी शासन के अधीन भोगी गई अनेकानेक व्यथाओं के कारण यह विरोध स्वाभाविक था । अनेकों बार निराशाजनक परिस्थितियों के होते हुए भी, अन्तरराष्ट्रीय गुटबाजी के तनाव बने रहने पर भी और 1976 में इंग्लैंड में नस्लवाद के प्रादुर्भाव के बाद भी यह सम्बन्ध बड़ी सहनशीलता से बनाए रखा गया है । इससे यह प्रकट होता है कि भारत निष्ठापूर्वक विश्व शान्ति के प्रवर्तन के लिए कटिबद्ध है, यह बात हमारे संविधान के अनुच्छेद 51 में भी कही गई है :

"51. *अन्तरराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की अभिवृद्धि* — राज्य, —

(क) अन्तरराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की अभिवृद्धि का,

(ख) राष्ट्रों के बीच न्यायसंगत और सम्मानपूर्ण संबंधों को बनाए रखने का,

(ग) संगठित लोगों के एक दूसरे से व्यवहारों में अन्तरराष्ट्रीय विधि और संधि-बाध्यताओं के प्रति आदर बढ़ाने का, और

(घ) अन्तरराष्ट्रीय विवादों के माध्यस्थम् द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देने का,

प्रयास करेगा ।"

संविधान में जिस बंधुता की बात कही गई है, वह राष्ट्र की सीमा तक ही बंधी हुई नहीं है । वह उससे बाहर जाकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" के ऊंचे आदर्श तक पहुंचने के लिए है । इसे पंडित नेहरू के स्मरणीय शब्दों में बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया गया है :

"हमारा अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर एक यही सामान्य उद्देश्य सम्भव हो सकता है कि हम मिलकर विश्व के लिए एक संरचना तैयार करें । चाहे उसे एक विश्व कहें या कुछ और ।"[7]

भारत अपने क्रियाकलाप का प्रबन्ध स्वयं करने की संप्रभुता की घोषणा स्पष्ट शब्दों में करता है किन्तु संविधान निःसंगतावाद या उद्धतराष्ट्रवाद का समर्थन नहीं करता । भारत की प्रभुता 'एक विश्व' की संकल्पना से या अन्तरराष्ट्रीय शांति और मैत्री से असंगत नहीं है ।

लोकतंत्र ।

उद्देशिका में 'लोकतंत्रात्मक गणराज्य' का जो चित्र है वह लोकतंत्र, राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोण से है । दूसरे शब्दों में न केवल शासन में लोकतंत्र होगा बल्कि समाज भी लोकतंत्रात्मक होगा जिसमें 'न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुता' की भावना होगी ।

प्रातिनिधिक लोकतंत्र ।

(क) शासन की पद्धति के रूप में जिस लोकतंत्र की कल्पना की गई है वह प्रातिनिधिक लोकतंत्र है । हमारे संविधान में "जनमत संग्रह" या "पहल" जैसे कोई अभिकरण नहीं हैं जिनके द्वारा जनता शासन का प्रत्यक्ष नियंत्रण हो । भारत के लोग अपनी प्रभुता का प्रयोग केन्द्र में संसद् के माध्यम से और प्रत्येक राज्य में विधान मंडल के माध्यम से करते हैं । ये वयस्क मत के आधार पर निर्वाचित होते हैं ।[8] कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिपरिषद् इन्हीं के प्रति उत्तरदायी है । संघ के अध्यक्ष के रूप में एक निर्वाचित राष्ट्रपति होता है और प्रत्येक राज्य के अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति द्वारा एक राज्यपाल नामनिर्दिष्ट होता है । किन्तु मंत्रिपरिषद् की सलाह के बिना ये कोई राजनीतिक कृत्य नहीं कर सकते[9] (उन कृत्यों को छोड़कर जिनका अपने विवेकानुसार या अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर निर्वहन करने के लिए राज्यपाल को संविधान द्वारा प्राधिकृत किया गया है) । मंत्रिपरिषद् अपने-अपने विधान मंडलों में जनता के प्रतिनिधियों के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है । संविधान सभी नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने के विषय में समानता प्रदान करता है । ये प्रतिनिधि सरकारी तंत्र को चलाते हैं ।

जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन ।

भारत के संविधान की उद्देशिका में लोकतंत्रात्मक गणराज्य का जो आदर्श स्थापित किया गया है उसे स्पष्ट करने के लिए दो निर्देश पर्याप्त हैं । एक तो सभी लोगों के लिए मताधिकार (जिसे हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं) और दूसरे स्त्री-पुरुष में समानता । यह समानता न केवल विधि के क्षेत्र में है बल्कि राजनैतिक क्षेत्र में भी । उद्देशिका में जिस राजनैतिक न्याय की बात कही गई है उसे सुनिश्चित करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत के राज्यक्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति उसकी सम्पत्ति और शिक्षा पर ध्यान दिए बिना,

राजनैतिक न्याय ।

राजनैतिक व्यवस्था में भाग ले सके । बिना किसी शर्त के सार्वजनिक मताधिकार को इसीलिए स्वीकार किया गया । इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक पांच वर्ष में संघ और प्रत्येक राज्य के विधान मंडल के सदस्य समस्त वयस्क जनता के मत से निर्वाचित होंगे और इस निर्वाचन का सिद्धान्त होगा 'एक व्यक्ति एक मत' ।

(ख) लोक नियोजन के विषय में भी जाति और मत पर ध्यान दिए बिना, स्त्रियों और पुरुषों को अवसर की समानता प्रदान करना भी लोकतंत्र के उद्देश्य की पूर्ति है । इन सांविधानिक रक्षोपायों के अतिरिक्त अल्पसंख्यकों के साथ संविधान में जो व्यवहार है उससे यह भली-भांति प्रकट हो जाता है कि जो सत्ता में हैं उन्होंने संविधान के पीछे के दर्शन की उपेक्षा नहीं की है । संघ और राज्यों की मंत्रिपरिषद् में, उच्चतम न्यायालय

में, राजनयिक मिशनों में मुस्लिम समुदाय के सदस्य सम्मिलित किए जाते हैं यद्यपि संविधान में उनके लिए कोई आरक्षण नहीं है । इससे यह प्रकट हो जाता है कि जो संविधान को क्रियान्वित कर रहे हैं उन्होंने संविधान की भावना को छोड़ा नहीं है अर्थात् यह कि प्रत्येक नागरिक को यह अनुभव होना चाहिए कि यह देश उसका अपना देश है ।

लोकतांत्रिक समाज ।

यह लोकतांत्रिक गणराज्य सभी लोगों की भलाई के लिए है । यह सिद्धान्त "कल्याणकारी राज्य" की संकल्पना में समाहित है । यह संकल्पना राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में अन्तर्विष्ट है । उद्देशिका में जिस "आर्थिक न्याय" के सुनिश्चित किए जाने की बात कही गई है वह तभी प्राप्त हो सकेगा जब संविधान में जिस लोकतंत्र को दृष्टि में रखा गया है वह "राजनीतिक लोकतंत्र" तक ही सीमित न रहे । पंडित नेहरू के शब्दों में[10] :

"भूतकाल में लोकतंत्र को राजनीतिक लोकतंत्र के रूप में ही पहचाना गया जिसमें मोटे तौर से एक व्यक्ति का एक मत होता है । किन्तु मत का उस व्यक्ति के लिए कोई महत्व नहीं होता जो निर्धन और निर्बल है या ऐसे व्यक्ति के लिए जो भूखा है और भूख से मर रहा है, राजनीतिक लोकतंत्र अपने आप में पर्याप्त नहीं है । उसका आर्थिक लोकतंत्र और समानता में धीरे-धीरे वृद्धि करने के लिए और जीवन की सुख-सुविधाओं को दूसरों तक पहुंचाने के लिए तथा सभी असमनताओं को हटाने के लिए प्रयोग किया जा सकता है ।"[10]

इसी बात को डा. राधाकृष्णन ने इस प्रकार कहा था :—

"जो गरीब लोग इधर-उधर भटक रहे हैं, जिनके पास कोई काम नहीं है, जिन्हें कोई मजदूरी नहीं मिलती और जो भूख से मर रहे हैं, जो निरंतर कचोटने वाली गरीबी के शिकार हैं वे संविधान या उसकी विधि का गर्व नहीं कर सकते ।"[11]

संक्षेप में भारत का संविधान न केवल राजनीतिक बल्कि सामाजिक लोकतंत्र का भी वचन देता है । इस बात को डा. अम्बेडकर ने संविधान सभा में अपने समापन भाषण में कहा था :

"यदि राजनीतिक लोकतंत्र का आधार सामाजिक लोकतंत्र नहीं है तो वह नष्ट हो जाएगा । सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है इसका अर्थ है वह जीवन पद्धति जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुता को मान्यता देती है । जिसमें ये दोनों अलग-अलग न माने जाकर त्रिमूर्ति के रूप में माने जाते हैं । वे इस त्रिमूर्ति का एकीकरण हैं । इस अर्थ में यदि एक को हम दूसरे से अलग कर दें तो लोकतंत्र का आशय निष्फल हो जाएगा । स्वतंत्रता को समानता से अलग नहीं किया जा सकता, समानता को स्वतंत्रता से पृथक् नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार स्वतंत्रता और समानता को बंधुत्व से विलग नहीं किया जा सकता ।"

आर्थिक न्याय ।

(ग) निदेशक तत्वों के अनुसार राज्य का उद्देश्य जिनके पास धन है उनसे छीनकर निर्धनता का उन्मूलन करना नहीं है बल्कि राष्ट्रीय धन और संपत्ति-स्रोतों में अनेक गुना वृद्धि करके उनका उन सभी लोगों में साम्यापूर्ण वितरण करना है जो उत्पादन में अपना अभिदाय करते हैं । जिस सीमा तक हम इस उद्देश्य की प्राप्ति करेंगे उस सीमा तक हमारे इस उपमहाद्वीप में आर्थिक लोकतंत्र स्थापित होगा ।

स्वतंत्रता ।

सही अर्थ में लोकतंत्र की स्थापना तभी हो सकेगी जब स्वतंत्र और सभ्य जीवन के लिए आवश्यक न्यूनतम अधिकार समुदाय के प्रत्येक सदस्य को सुनिश्चित हो जाते हैं । उद्देशिका में व्यक्ति के इन आवश्यक अधिकारों का "विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता" के रूप

में उल्लेख किया गया है । इन अधिकारों को संविधान के भाग 3 द्वारा राज्य के सभी प्राधिकारियों के विरुद्ध प्रत्याभूत किया गया है [देखिए अनुच्छेद 19, 25–28] । यह सामान्य हित के लिए निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन [अनुच्छेद 31ग] और 1976 के बयालीसवें संशोधन द्वारा अन्तःस्थापित "मूल कर्तव्य" [अनुच्छेद 51क] के अधीन रहते हुए है ।

समानता ।

प्रत्येक व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रत्याभूत करना अर्थहीन हो जाएगा यदि सामाजिक संरचना से असमानता दूर नहीं की जाती है और प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिष्ठा और अवसर की समानता सुनिश्चित नहीं की जाती है जिससे उसका सर्वोत्तम विकास हो सके तथा इन अधिकारों को प्रवृत्त कराने के साधन उसे प्रत्याभूत नहीं किए जाते हैं । संविधान में इस उद्देश्य को सुनिश्चित करने के लिए एक नागरिक और दूसरे नागरिक के बीच राज्य द्वारा किए जाने वाले सभी विभेदों को अवैध घोषित किया गया है । ये ऐसे विभेद हैं जो केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, या जन्म स्थान के आधार पर [अनुच्छेद 15] हैं । संविधान ने सभी सार्वजनिक स्थानों को सभी नागरिकों के लिए खोल दिया है [अनुच्छेद 15(2)] । अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है [अनुच्छेद 17] । सम्मान के लिए दी जाने वाली उपाधियों को समाप्त कर दिया है । राज्य के अधीन नियोजन से सम्बन्धित सभी विषयों के लिए अवसर की समानता प्रदान की है [अनुच्छेद 16] । विधि के समक्ष समता या विधि के समान संरक्षण को ऐसा अधिकार बनाया गया है जिस पर न्यायालय निर्णय दे सकता है [अनुच्छेद 14] ।

नागरिक समानता सुनिश्चित करने के लिए उपरोक्त उपबन्धों के अतिरिक्त संविधान में राजनैतिक समानता लाने के लिए सार्वजनिक वयस्क मताधिकार का उपबन्ध किया है [अनुच्छेद 326] और यह उद्घोषित किया है कि किसी भी व्यक्ति को केवल धर्म, मूलवंश, जाति या लिंग के आधार पर साधारण निर्वाचन नामावली से न तो अपवर्जित किया जाएगा और न ही किसी विशेष नामावली में सम्मिलित किया जाएगा ।

इन साधारण उपबन्धों के अतिरिक्त निदेशक तत्वों में [भाग 4] कुछ विशेष उपबन्ध हैं जो राज्य को इस बात पर बाध्य करते हैं कि आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों और पुरुषों के बीच समान व्यवहार किया जाए और यह सुनिश्चित करने के लिए स्त्रियों और पुरुषों को काम करने का और समान कार्य के लिए समान वेतन पाने का अधिकार सुनिश्चित किया गया है [अनुच्छेद 39, खंड (क) और खंड (ख)] ।

समाजवादी संरचना से समाजवाद की ओर ।

इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति का अर्थ होगा राज्य के कृत्यों का विस्तार । संविधान ने जो ध्येय अपने समक्ष रखा है वह है "कल्याणकारी राज्य"[12] और "समाजवादी राज्य"[2] की स्थापना का । कांग्रेस ने 1955 में आवाड़ी में हुए अधिवेशन में एक संकल्प द्वारा "समाज की समाजवादी संरचना" के उद्देश्य को इस प्रकार अभिव्यक्त किया था :

> "कांग्रेस के उद्देश्य की पूर्ति के लिए......भारत के संविधान की उद्देशिका और राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में कथित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए योजना इस प्रकार की जानी चाहिए कि समाज की समाजवादी संरचना की स्थापना हो सके । ऐसी संरचना जिसमें उत्पादन के मुख्य साधन सार्वजनिक स्वामित्व या नियंत्रण में हों, उत्पादन निरन्तर वृद्धिगत हो और राष्ट्रीय धन का साम्यापूर्ण वितरण हो ।"

इस उद्देश्य की प्राप्ति कितनी हुई है यह अध्याय 9 में स्पष्ट किया जाएगा जहां यह भी बताया जाएगा कि हाल के कुछ वर्षों में "समाजवादी संरचना" से रुख बदलकर "समाजवादी राज्य" हो गया है जिसके कारण उद्योग और प्राइवेट उद्यम राज्य के स्वामित्व और प्रबन्ध में आते जा रहे हैं, यही नहीं राज्य स्वयं व्यापार और कारबार चला रहे हैं ।

संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा उद्देशिका में "समाजवादी" शब्द अन्तःस्थापित करके यह सुनिश्चित किया गया है कि भारतीय राज्य व्यवस्था का ध्येय समाजवाद है । यह ध्यान देने योग्य है कि भारत के संविधान द्वारा परिकल्पित समाजवाद, राज्य के समाजवाद का वह प्रायिक ढांचा नहीं है जिसमें धन के *सभी* साधनों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है और प्राइवेट सम्पत्ति का उत्सादन हो जाता है । प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा था,[13] —

1976 का 42वां संशोधन ।

"हमने यह सदैव कहा है कि हमारा समाजवाद अपने ढंग का है । हम उन्हीं क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण करेंगे जिनमें हम आवश्यकता समझते हैं । केवल राष्ट्रीयकरण करना यह हमारा समाजवाद नहीं है ।"[13]

अतएव, भारत का संविधान प्राइवेट सम्पत्ति का उन्मूलन नहीं करता किन्तु उस पर कुछ निर्बन्धन लगाता है जिससे उसका उपयोग राष्ट्रीय हित में किया जा सके । इसमें गरीबों को ऊपर उठाना भी सम्मिलित है । सभी सम्पत्ति और उद्योगों के पूर्ण राष्ट्रीयकरण के स्थान पर इसमें "मिश्रित अर्थव्यवस्था" की झलक मिलती है । यह सभी को "अवसर की समानता" प्रदान करता है और "निहित स्वार्थों" को समाप्त करता है ।[14-15]

संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा अनुच्छेद 31 का निरसन करके राज्य द्वारा सम्पत्ति के अर्जन पर प्राइवेट स्वामियों को प्रतिकर संदाय करने की सांविधानिक बाध्यता समाप्त कर दी गई है । इसे आगे अध्याय 8 में और स्पष्ट किया जाएगा ।

1978 का 44वां संशोधन ।

इस विशाल उपमहाद्वीप के निवासियों में, अनेक समस्याओं और विलगाववादी शक्तियों के कारण विभाजित हो रहे हैं, एकता स्थापित करना, देश की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए और साथ ही लोकतंत्र के इस प्रयोग को सफल बनाने के लिए पहली आवश्यकता है । एकता के आदर्श को संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा उद्देशिका में "और अखंडता" शब्दों को जोड़कर बल प्रदान किया गया है । किन्तु जनता में एकता या लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था तब तक सुनिश्चित नहीं हो सकेगी जब तक कि विभिन्न रंगों की इस जनता के बीच जो विभिन्न मूलवंश, धर्म और सभ्यताओं की है, बंधुता की भावना उत्पन्न न हो ।

राष्ट्र की एकता और अखंडता की आवश्यकता ।

संविधान के रचनाकारों ने, "बंधुता" की जिस भावना का अभिनन्दन किया था उसकी प्राप्ति एक ही समुदाय के विभिन्न अनुभागों के बीच अस्पृश्यता का उन्मूलन करने मात्र से नहीं हो जाएगी बल्कि सभी सामुदायिक या अनुभागिक अथवा स्थानीय या प्रान्तीय ऐसी असामाजिक भावनाओं को समाप्त करना होगा जो भारत की एकता के मार्ग में बाधा पहुंचाती हैं ।

यदि सभी लोगों के बीच बंधुता की भावना उत्पन्न नहीं होगी तो हमारा लोकतंत्र खोखला रहेगा । यह भावना होनी चाहिए कि हम सभी एक ही भूमि के, एक ही मातृभूमि के पुत्र हैं । यह भारत जैसे देश के लिए और भी आवश्यक है क्योंकि यहां के लोग विभिन्न मूलवंश, धर्म, भाषा और संस्कृति वाले हैं ।

बंधुता ।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा अंगीकृत मानव अधिकार की घोषणा (1948) के अनुच्छेद 1 में यह कहा गया है :

"सभी मनुष्य जन्म से ही गरिमा और अधिकारों की दृष्टि से स्वतंत्र और समान हैं । उन्हें बुद्धि और अंतश्चेतना प्रदान की गई है । उन्हें परस्पर भ्रातृत्व की भावना से कार्य करना चाहिए ।"

हमारे संविधान की उद्देशिका में बंधुता की यही भावना दृष्टिगोचर होती है ।

पंथ निरपेक्ष राज्य जो सभी धर्मों की स्वतंत्रता प्रत्याभूत करता है ।

अनेक मतों के मानने वाले भारत के लोगों की एकता और उनमें बंधुता स्थापित करने के लिए संविधान में पंथ निरपेक्ष राज्य का आदर्श रखा गया है । इसका अर्थ है कि राज्य सभी मतों की समान रूप से रक्षा करेगा और स्वयं किसी भी मत को राज्य के धर्म के रूप में नहीं मानेगा । राज्य के इस पंथ निरपेक्ष उद्देश्य को अब विनिर्दिष्ट रूप से उद्देशिका में संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा "पंथ निरपेक्ष" शब्द अन्तःस्थापित करके सुनिश्चित किया गया है ।

1976 का 42वां संशोधन ।

हमारे संविधान में किसी भी मत को "राजकीय चर्च" मानने की व्यवस्था नहीं है । ऐसा कुछ अन्य संविधानों में है । दूसरी ओर उद्देशिका में जिस विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता का वचन दिया गया है उसे अनुच्छेद 25-29 में धर्म की स्वतंत्रता से सम्बन्धित सभी नागरिकों के मूल अधिकार के रूप में समाविष्ट करके क्रियान्वित किया गया है । ये अधिकार, प्रत्येक व्यक्ति को धर्म को मानने, आचरण करने और प्रचार करने का अधिकार देते हैं तथा राज्य की ओर से और इसके साथ ही राज्य की विभिन्न संस्थाओं की ओर से सभी धर्मों के प्रति पूर्ण निष्पक्षता सुनिश्चित करते हैं (देखिए आगे अध्याय 8) । भारतीय लोकतंत्र की सफलता का यह एक जगमगाता हुआ उदाहरण है जबकि उसके पड़ोसी जैसे पाकिस्तान, बांग्ला देश, श्रीलंका और बर्मा ने धर्म विशेष को राज्य का धर्म घोषित किया है ।

व्यक्ति की गरिमा ।

जब तक प्रत्येक सदस्य की गरिमा की रक्षा न की जाए तब तक बंधुता की स्थापना नहीं हो सकती । अतएव उद्देशिका में यह कहा गया है कि भारत में राज्य व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करेगा । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संविधान प्रत्येक व्यक्ति को समान मूल अधिकार की प्रत्याभूति देता है जिससे कि यदि उसके अधिकारों का हनन होता है तो वह अपने न्यूनतम अधिकार न्यायालय द्वारा प्रवृत्त करा सकता है । यह ध्यान में रखते हुए कि यदि व्यक्ति को अभाव और दुख से छुटकारा न मिले तो ये प्रवर्तनीय अधिकार उसकी गरिमा बनाए रखने के लिए पर्याप्त नहीं हैं । संविधान के भाग 4 में बहुत से निदेश सम्मिलित किए गए हैं जिनमें राज्य को दिशा निर्देश दिया गया है कि वह अपनी आर्थिक और सामाजिक नीतियों की इस प्रकार रचना करे कि "पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो" [अनुच्छेद 39(क)], "काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाएं हों" [अनुच्छेद 42], और "शिष्ट जीवनस्तर और अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएं तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त हों" [अनुच्छेद 43] ।

निर्धनता को मिटाने के लिए और सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति लाने के लिए संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा निदेशों को विस्तृत करके यह उपबन्ध किया गया है कि निदेशों के क्रियान्वयन के लिए यदि कोई कदम उठाया जाता है तो उस पर न्यायालय में इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जाएगा कि वह कदम किसी व्यक्ति के अनुच्छेद 14 या 19 के अधीन मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है[17] । इसका उद्देश्य यह है कि ऐसे कल्याणकारी उपायों को जो जनता के फायदे के लिए हैं पूंजीवादी और निहित हित वाले लोग मूल अधिकारों पर बल देते हुए निष्फल न कर दें ।

1976 का 42वां संशोधन ।

उद्देशिका में अन्तर्विष्ट दर्शन जिसे पूर्वगामी पृष्ठों पर स्पष्ट किया गया है, इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है कि इस पर बल दिया गया

है कि प्रत्येक व्यक्ति को संविधान के भाग 3 में प्रदत्त मूल अधिकार उसकी अभिव्यक्ति, विश्वास और उपासना की स्वतंत्रता, अवसर की समानता आदि सुनिश्चित करने के लिए प्राप्त होंगे । साथ ही उसका एक तत्समान मूल कर्तव्य भी होगा जैसे भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करना, लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करना आदि । संविधान में 42वां संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा एक अन्य अनुच्छेद 51क अन्तःस्थापित करके दस "मूल कर्तव्य" अधिकथित करके यह परिणाम प्राप्त किया गया है ।

हमारे संविधान की उद्देशिका की अन्तर्वस्तु पर एक बहुत सुन्दर टिप्पणी प्रोफेसर अर्नेस्ट बार्कर ने की है । प्रोफेसर बार्कर लोकतांत्रिक शासन के विषय में आधुनिक चिन्तक हैं । उन्हीं के शब्दों में[18]

". . . स्वतंत्रता के उपभोग में सामर्थ्य और भावना होनी चाहिए — प्रत्येक व्यक्ति में अपनी अस्मिता होनी चाहिए और साथ ही दूसरों की अस्मिता के प्रति आदर भी होना चाहिए और यह बात सम्पूर्ण समाज में पाई जानी चाहिए । यह होने पर ही लोकतांत्रिक राज्य की वास्तव में प्राप्ति हो सकती है . . . । यह ऐसे समुदाय में ही पाई जा सकती है जिसने भौतिक दृष्टि से एक पर्याप्त स्तर प्राप्त कर लिया हो और जिसमें पर्याप्त मात्रा में राष्ट्रीय समरसता हो जिससे कि वह स्वतंत्रता के आदर्श के प्रति स्वयं को समर्पित कर सके । इस आदर्श के प्रति प्रत्येक व्यक्ति को मिलकर इस प्रकार प्रयत्न करना होगा कि स्वतंत्रता सबको मिले । यदि भौतिक रूप में अस्तित्व की समस्या हल नहीं हुई है . . . तो स्वतंत्र जीवन का आदर्श या दूसरे शब्दों में एक विशेष स्तर के जीवन की प्राप्ति एक दिवास्वप्न ही रहेगी । यदि राष्ट्रीय समरसता की समस्या मुहं बाएं खड़ी है और बन्धुता की कोई सामान्य भावना नहीं है, यदि समाज के कुछ अंगों को आपस में शिक्षा कम हेने के कारण या निम्न वंश के होने के कारण या किसी और आधार पर परकीय और बाहरी समझा जाता है तो समान स्वतंत्र जीवन का आदर्श कभी प्राप्त नहीं हो सकता . . . ।"[18]

उद्देशिका में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र को समानता और बंधुता से जोड़ते हुए जो स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है उसे महात्मा गांधी ने "मेरे स्वप्नों का भारत" कहकर वर्णित किया था अर्थात्, —

". . . ऐसा भारत जिसमें गरीब से गरीब भी यह समझेगा कि यह उसका देश है जिसके निर्माण में उसका भी हाथ है । . . . वह भारत जिसमें सभी समुदाय पूर्णतया समरस होकर रहेंगे । ऐसे भारत में अस्पृश्यता के श्राप के लिए या मादक पेय और स्वापक द्रव्यों के लिए कोई स्थान नहीं होगा । स्त्री और पुरुष समान अधिकारों का उपभोग करेंगे ।"[19]

हमारी उद्देशिका में किए गए इस सफल संयोजन की अर्नेस्ट बार्कर ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । उन्होंने अपनी पुस्तक "सोशल एण्ड पालिटिकल थ्यौरी" के प्रारंभिक भाग में इस उद्देशिका को उद्धरित किया है और यह सम्प्रेक्षण किया है कि भारत के संविधान की उद्देशिका में,

"इस पुस्तक के समस्त तर्क संक्षेप में समाहित हैं और वह इस पुस्तक की कुंजी के रूप में कार्य कर सकती है ।"[20]

निर्देश

1. (1947) सी.ए.डी. 304 (पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा 13 दिसंबर, 1946 को प्रस्तावित) ।
2. ये शब्द संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा अन्तःस्थापित किए गए । देखिए डी.डी. बसु *कांस्टीट्यूशनल ला आफ इंडिया* (पी.एच.आई., 1991), पृष्ठ 1-3 ।
3. *गोपालन* बनाम *मद्रास राज्य*, (1950) एस.सी.आर. 88 (*198*); *यूनियन आफ इंडिया* बनाम *मदन गोपाल* (1954) एस.सी.आर. 541 (*555*) ।
4. *बेरूबाड़ी यूनियन का मामला* ए.आई.आर. 1960 एस.सी. 845 (*846*) ।

5. 1926 की इंपीरियल कांफ्रेंस के बाद यह नामकरण किया गया । बाद में उसे "राष्ट्रकुल" के नाम से ही जाना जाता है [तुलना कीजिए *बार्कर, एसेज़ आन गवर्नमेंट* (1956), पृष्ठ 16-18], संगम के रूप में राष्ट्रकुल की संकल्पना को यूनाइटेड किंगडम में हाल में हुई घटनाओं से धक्का पहुंचा है । यूनाइटेड किंगडम ने दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा रंगभेद पर आधारित अत्याचारों के खिलाफ विरोध प्रदर्शन से इंकार करके अपने आपको अलग कर लिया है । इसी प्रकार भारत और अन्य राज्यों से जिन्होंने राष्ट्रकुल खेलों का बहिष्कार किया था, आने वाले उत्प्रवासियों पर वीजा पद्धति अधिरोपित करके यूनाइटेड किंगडम अन्य राज्यों से पृथक् हो गया है ।
6. सी.ए.डी., 16-5-1949 ।
7. सी.ए.डी., 22-1-1947 ।
8. भारत में प्रातिनिधिक लोकतंत्र और संसदीय शासन स्वतंत्रता के बाद तीन दशकों तक बचा रहा है । इससे इसके आलोचकों का मुंह बन्द हो जाना चाहिए क्योंकि इसके पड़ोस के देशों में सैनिक शासन बना हुआ है । 1981 में पाकिस्तान के 1972 के संविधान के स्थान पर 1981 का अनन्तिम संविधान आदेश आ गया जिसके अधीन जनरल जिया-उल-हक को मुख्य सेना विधि प्रशासक बनाकर सेना विधि लागू कर दी गई । जनरल जिया-उल-हक ने 1977 में सत्ता हथिया ली थी । वहां कोई विधान मंडल नहीं था, कोई निर्वाचन नहीं थे और मूल अधिकारों को निलम्बित कर दिया गया था । इसी प्रकार बांग्ला देश में शेख मुजीबुर्रहमान की हत्या और जियाउर्रहमान द्वारा सैनिक शासन की स्थापना के बाद 1975 में सेना विधि लाद दी गई थी । बाद में लेफ्टिनेंट जनरल इरशाद ने भी यही किया जो 1986 तक चलता रहा । 1986 में निर्वाचन हुए और एक उठापटक की स्थिति में जनरल इरशाद को राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया । 1988 के अंत में पाकिस्तान में निर्वाचन हुए और बेनजीर भुट्टो प्रधानमंत्री बनीं । 6-8-1990 को बेनजीर भुट्टो की सरकार पदच्युत कर दी गई । साधारण निर्वाचन के पश्चात् 7-11-1990 को नवाज शरीफ प्रधानमंत्री चुने गए। बांग्ला देश में निष्पक्ष निर्वाचन के बाद बेगम खालिदा जिया 1991 में प्रधान मंत्री बनी ।
9. संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 और संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा अनुच्छेद 74(1) का संशोधन करके इसे अभिव्यक्त रूप में सुनिश्चित किया गया है ।
10. संसदीय लोकतंत्र पर गोष्ठी में पंडित नेहरू का उद्घाटन भाषण, तारीख 25-2-1956 ।
11. उपराष्ट्रपति का भाषण, वही ।
12. तुलना कीजिए, *क्राउन एल्यूमिनियम वर्क्स* बनाम *कर्मकार* (1958) एस.सी.आर. 651 ।
13. *स्टेट्समैन*, 25-10-1976, पृष्ठ 1, 28-10-1976, पृष्ठ 1 ।
14. आगे और देखिए डी.डी. बसु, *कांस्टीटयूशनल ला आफ इंडिया*, (पी.एच.आई. 1991), पृष्ठ 2-3 ।
15. इस संदर्भ में यह बता देना उचित होगा कि "समाजवाद" और "पंथ निरपेक्षता" अस्पष्ट शब्द हैं। संविधान में इन शब्दों का स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है इसलिए इस अस्पष्टता का हितबद्ध राजनीतिक गुटों द्वारा लाभ उठाया जाएगा और गणतंत्र की जनता के मस्तिष्क में भ्रम उत्पन्न किया जाएगा । इसी जनता को शिक्षित करना उद्देशिका के आदर्शों में सम्मिलित है । जनता पार्टी ने संविधान (45वां संशोधन) विधेयक, 1976 द्वारा संविधान के अनुच्छेद 366 का संशोधन करके एक स्पष्टीकरण जोड़ते हुए इनकी व्याख्या करनी चाही थी किन्तु राज्य सभा में कांग्रेसी विपक्ष ने यह नहीं होने दिया ।

    ऐसे स्पष्टीकरण के अभाव में यह विवाद का विषय है कि भारतीय संविधान में "समाजवाद" का अर्थ "शोषण से मुक्ति" या राज्य समाजवाद है या मार्क्सवाद । इसी प्रकार "पंथ निरपेक्षता" का प्रयोग अनिर्बंधित साम्प्रदायिकता के अस्त्र के रूप में किया जा सकता है या धर्मांधता अथवा धर्म विरोधी रूप में भी इसका प्रयोग हो सकता है । इसका अर्थ "सर्वधर्म समभाव" भी हो सकता है । इन शब्दों से संविधान के अनुच्छेदों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता किंतु इन शब्दों का अर्थ पूर्ववर्ती उपबन्धों से समझा जा सकता है । विधिक निर्वचन के सिद्धान्त के अनुसार उपबन्धों के अर्थ को उद्देशिका से नियंत्रित नहीं किया जा सकता । उदाहरण के लिए 1976 के 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा अन्तःस्थापित अनुच्छेद 43क से यह स्पष्ट है जाता है कि उद्देशिका में जिस समाजवाद की कल्पना की गई है उसके अन्तर्गत "उद्योगों के प्रबन्ध में कर्मकारों का भाग लेना भी होगा" । परिणामतः उन्हें लाभ में भी अंश मिलेगा । इससे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि यह पूंजीवाद से समष्टिवाद की ओर कदम है ।

उच्चतम न्यायालय भी, संविधान के अन्य उपबंधों का उद्देशिका में प्रयोग "समाजवाद" शब्द के प्रकाश में इस प्रकार निर्वचन कर रहा है जिससे समाजवाद के आगमन में सुविधा हो । [*एक्सल वीयर* बनाम *यूनियन आफ इंडिया*, ए.आई.आर. 1979 एस.सी. (पैरा 24); *रणधीर* बनाम *यूनियन आफ इंडिया*, ए.आई.आर. 1982 एस.सी. 879 (पैरा 8); *नकरा* बनाम *यूनियन आफ इंडिया*, ए.आई.आर. 1983 एस.सी.·130 (पैरा 33-34); *मिनर्वा मिल्स* बनाम *यूनियन आफ इंडिया*, ए.आई.आर. 1980 एस.सी. *1789*] ।

उच्चतम न्यायालय के अनुसार भारतीय समाजवाद का ध्येय "मार्क्सवाद और समाजवाद का सम्मिश्रण" है जिसका झुकाव गांधीवादी समाजवाद की ओर है (*नकरा* बनाम *भारत संघ*, वही) ।

16. 1972 के संविधान के अधीन पाकिस्तान का राज्यधर्म इस्लाम है । जनरल जिया-उल-हक द्वारा जिन्होंने 1977 में मुख्य सेना विधि प्रशासक के रूप में सत्ता प्राप्त कर ली थी निकाले गए अनन्तिम संविधान आदेश, 1981 में भी यही स्थिति बनाई रखी गई है । बांग्ला देश में लेफ्टिनेंट जनरल इरशाद ने, जो राष्ट्रपति और मुख्य सेना प्रशासक हैं यह घोषित किया है कि इस्लाम राज्यधर्म होगा (*स्टेट्समैन*, 30-12-1982) ।

    1992-93 के बजट से यह प्रकट होता है कि सरकार की नीति परिवर्तित हो रही है । उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व के सिद्धांत से वह विमुख हो रही है । शक्ति, इस्पात, विमानवहन और अन्य अनेक क्षेत्र अब निजी उद्यम के लिए खोल दिए गए हैं । सोवियत गणराज्य के अवसान से भी इस परिवर्तन की गति में वृद्धि हुई है ।

17. 42वें संशोधन द्वारा किए गए अनुच्छेद 31 के संशोधन को 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा ऐसे ही छोड़ दिया गया है क्योंकि जनता पार्टी ने 45वें संशोधन विधेयक द्वारा 1976 के पूर्व की स्थिति लाने का जो प्रयत्न किया था उसे राज्य सभा में कांग्रेस के विपक्ष ने सफल नहीं होने दिया ।
18. बार्कर, *रिफलैक्शंस आन गवर्नमेंट*, पृष्ठ 192-93 ।
19. एम.के. गांधी, *इंडिया आफ माई ड्रीम्स*, पृष्ठ 9-10 ।
20. बार्कर, *प्रिंसिपल्स आफ सोशल एण्ड पोलिटिकल थ्योरी*, 1951, प्रीफेस, पृष्ठ vi, ix । हाल के कुछ मामलों में उच्चतम न्यायालय निर्वचन करने में संविधान के निदेशक तत्वों (भाग 4) पर अधिकाधिक बल दे रहा है (देखिए डी.डी. बसु, *शार्टर कांस्टीटयूशन* (10वां संस्करण, पृष्ठ 2) ।

4

हमारे संविधान के विशिष्ट लक्षण

I. हमारे संविधान के बहुत से विशिष्ट लक्षण हैं जिनके कारण इसका अन्य संविधानों से विभेद किया जाता है यद्यपि इसकी रचना में विश्व के सभी ज्ञात संविधानों की खोजबीन की गई थी और इसके बहुत से उपबन्ध अन्य संविधानों से उठाए गए हैं । डा. अम्बेडकर ने यह कहा था,[1] —

विभिन्न स्रोतों से प्रेरणा ।

"यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि विश्व के इतिहास में आज निर्माण किए जाने वाले संविधान में क्या कोई बात नई हो सकती है । जब पहला लिखित संविधान बनाया गया था तब से सौ वर्ष से अधिक व्यतीत हो चुके हैं । उसके बाद अनेकों देशों ने अपने संविधान को लेखबद्ध किया है । . . . इन तथ्यों को जानकर सभी संविधानों के मुख्य उपबन्ध एक से दिखाई पड़ते हैं । यदि कोई नई चीज है तो वह यह है कि इतने वर्षों बाद बनाए गए इस संविधान में उन दोषों को दूर करने के लिए और अपने देश की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए कुछ परिवर्तन किए गए हैं ।"[1]

यद्यपि हमारे संविधान को उधार का संविधान कहा जा सकता है किन्तु उसके रचनाकारों की इस बात के लिए प्रशंसा करनी होगी कि उन्होंने विद्यमान संविधानों के सर्वोत्तम लक्षणों को एकत्र किया और उनके कार्यकरण में जो दोष प्रकट हुए थे उनके परिहार के लिए उन्हें उपान्तरित करते हुए अपने देश की आवश्यकता और विद्यमान दशाओं के लिए अनुकूलित किया । यदि यह पैबन्द का काम है तो यह कहना होगा कि सुन्दर पैबन्द लगाए गए हैं ।[2]

संविधान सभा में ऐसे सदस्य थे[2] जिन्होंने निर्माणाधीन संविधान की आलोचना करते हुए यह कहा कि हम दास मनोवृत्ति से पश्चिम का अनुकरण कर रहे हैं या यह कि संविधान हमारे देश के स्वभाव के अनुकूल नहीं है । कुछ लोगों को यह भय था कि इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सकेगा । यह संविधान चालीस वर्षों से चला आया है जब कि हमारे आसपास के देशों में, जैसे बर्मा और पाकिस्तान में, संविधान खिले और मुरझा गए । इससे भारत के संविधान के आलोचकों के भय निर्मूल सिद्ध हो जाते हैं ।

II. प्रारम्भ में ही यह बता देना उचित होगा कि 1949 के संविधान के कुछ मूल लक्षण सितंबर, 1992 तक किए गए 71 संशोधनों द्वारा पर्याप्त रूप से उपान्तरित कर दिए गए हैं । इनमें से 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 ने (1977-78 में 43वें और 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा उपान्तरित) संविधान को महत्वपूर्ण बातों में व्यवहारतः पुनः निर्मित किया है ।

अनेकों संशोधनों द्वारा अनुपूरित और 42वें, 43वें और 44वें संशोधन द्वारा 1976-78 में पुनः निर्मित ।

III. भारत के संविधान की यह विशेषता है कि यह विश्व का सबसे लम्बा और ब्यौरेवाला सांविधानिक दस्तावेज है । मूल संविधान में 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां थीं । (इसमें पश्चात्वर्ती संशोधनों

सबसे लम्बा संविधान ।

द्वारा वृद्धि की गई है) बहुत से उपबन्धों का निरसन करने के पश्चात् भी इसमें (1992 के मार्च तक) 407 अनुच्छेद और दस अनुसूचियां हैं ।[3]

1950-1991 के बीच की अवधि में बहुत से अनुच्छेदों का लोप कर दिया गया है । संविधान में 37 अनुच्छेद जोड़े गए हैं अर्थात् अनुच्छेद 31क–31ग, 39क, 43क, 48क, 51क, 134क, 139क, 224क, 233क, 239क, 239कक, 239कख, 239ख, 244क, 258क, 290क, 300क, 312क, 323क, 323ख, 350क, 350ख, 361क, 371क–371झ, 372क, 378क, 394क । दो अनुसूचियां भी जोड़ी गई हैं ।

संविधान के इतने विशाल होने के अनेक कारण हैं :

विभिन्न संविधानों के संचित अनुभवों का समावेश ।

(i) संविधान के रचयिताओं ने यह प्रयत्न किया कि सभी ज्ञात संविधानों के कार्यकरण से प्राप्त संचित अनुभवों को इसमें समाहित कर लिया जाए और उन संविधानों के प्रकाश में जिन दोषों और कमियों का पूर्वाभास हो सकता है उन्हें दूर किया जाए । उदाहरण के लिए उन्होंने मूल अधिकार के अध्याय की रचना अमेरिकी संविधान के आधार पर की, यूनाइटेड किंगडम से संसदीय शासन की प्रणाली स्वीकार की, आयरलैंड के संविधान से राज्य की नीति के निदेशक तत्वों का विचार ग्रहण किया और जर्मनी के संविधान और भारत शासन अधिनियम, 1935 के प्रकाश में आपात से सम्बन्धित व्यापक उपबन्ध जोड़ दिए । दूसरी ओर हमारे संविधान में अन्य संविधानों की अपेक्षा शब्दों की भरमार है क्योंकि इससे मिलते-जुलते उपबन्धों के निर्वचन में अन्यत्र दिए गए न्यायिक निर्णयों के परिणाम को उपान्तरित करते हुए इसमें सम्मिलित किया गया है जिससे अनिश्चितता और मुकदमेबाजी कम से कम हो ।

विस्तृत प्रशासनिक उपबन्ध भी सम्मिलित किए गए हैं ।

(ii) भारतीय संविधान के रचयिता शासन के मूल सिद्धान्तों को अधिनियमित करने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए (जैसा कि अमेरिकी संविधान में है) उन्होंने प्रशासनिक ब्यौरे की बातों के लिए भी उपबन्ध करने के लिए भारत शासन अधिनियम, 1935 को अंशतः अपना लिया । इसका कारण यह था कि लोग उक्त अधिनियम के ब्यौरेवार उपबन्धों के आदी थे । संविधान निर्माताओं को यह भी भय था कि देश की वर्तमान स्थिति में यदि प्रशासन के रूप को स्पष्ट नहीं किया गया तो लोग संविधान में उलट-पलट कर देंगे । डा. अम्बेडकर के शब्दों[1] में,

> " . . . प्रशासन के रूप में परिवर्तन किए बिना संविधान का दुरुपयोग करना बिल्कुल सम्भव है ।"

संविधान का इस प्रकार गुप्त विध्वंस रोकने के लिए संविधान में ब्यौरेवार उपबन्ध किए गए जिससे कि बिना संविधान का संशोधन किए उसमें परिवर्तन न किया जा सके ।

संविधान के अधिकतर उपबन्धों को भारत शासन अधिनियम, 1935 से स्वीकार करने से नए संविधान का आकार बढ़ गया । 1935 का अधिनियम बहुत लम्बा और ब्यौरेवार संविधान था । इसे अधिनियम से उधार इसलिए लिया गया क्योंकि लोग विद्यमान पद्धति से सुपरिचित हो गए थे ।

लोगों का यह भी विचार था कि यदि संविधान में उन बातों का ब्यौरे से उल्लेख नहीं किया जाता है जो अन्य संविधानों में सामान्य विधानों के लिए छोड़ दी जाती हैं तो इस नवजात लोकतंत्र को सुचारू रूप से चलाना असम्भव हो जाएगा ।[4] इससे यह बात साफ हो जाती है कि हमारे संविधान में न्यायपालिका, सेवाएं, लोक सेवा आयोग, निर्वाचन आदि के बारे में ब्यौरेवार उपबन्ध क्यों दिए गए हैं । इस "सर्वसमावेशिता"

के आदर्श के कारण ही भारत के संविधान में संघ और राज्य के बीच शक्तियों के विभाजन के उपबन्ध बहुत अधिक हैं । सम्भवतः अमेरिका, आस्ट्रेलिया और कनाडा के संविधानों में इस विषय पर कुल मिलाकर जितने उपबन्ध हैं उनसे भी अधिक ।

समस्याओं का अनोखा होना ।

(iii) देश की विशालता (देखिए सारणी 1) और अनोखी समस्याओं के कारण संविधान का क्लेवर बड़ा हो गया है । एक पूरा भाग (भाग 16) अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के बारे में है । एक भाग (भाग 17) राजभाषा से सम्बन्धित है और एक अन्य भाग (भाग 18) आपात उपबन्धों के बारे में है ।

इकाइयों के संविधान भी सम्मिलित हैं ।

(iv) संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में केवल परिसंघ शासन का संविधान दिया गया है । राज्यों को अपने-अपने संविधान बनाने की छूट है । भारत के संविधान में संघ और इकाई (राज्य) दोनों के संविधान सम्मिलित हैं और दोनों पूर्णतः और प्रमिततः बनाए गए हैं । परिसंघ की इकाइयों का ऐतिहासिक उद्‌भव और राजनीतिक विकास अलग-अलग था इसलिए विभिन्न वर्ग की इकाइयों[5] के लिए विभिन्न उपबन्ध बनाए गए, जैसे भाग ख राज्य (भूतपूर्व देशी रियासतें), भाग ग राज्य (केन्द्र शासित क्षेत्र) और कुछ छोटे राज्यक्षेत्र जो भाग घ में थे । इनके कारण 1949 के संविधान का मुख्य आकार बढ़ा (देखिए सारणी 3) ।

जम्मू-कश्मीर के लिए विशेष उपबन्ध ।

यद्यपि ऊपर कहा गया है कि भारत के संविधान में राज्यों के संविधान का उपबन्ध किया गया है किन्तु जम्मू-कश्मीर राज्य को एक विशेष प्रास्थिति प्रदान की गई और उसे अपने राज्य का संविधान बनाने की अनुमति दी गई । भारत के संविधान के अन्य उपबन्ध भी जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू नहीं होते हैं । इनका लागू होना सरकार से परामर्श के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा निकाले गए आदेश पर अवलम्बित है । इसके लिए अनुच्छेद 370 में उपबन्ध किया गया है ।

नागालैंड, सिक्किम आदि ।

संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् भी विशेष उपबन्ध अन्तःस्थापित किए गए हैं (उदाहरणार्थ अनुच्छेद 371–371झ) । ये विभिन्न राज्यों की प्रादेशिक समस्याओं और मांगों के कारण बनाए गए हैं । उदाहरण के लिए ये राज्य हैं नागालैंड, असम, मणिपुर, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, सिक्किम, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोवा ।

परिसंघीय संबंधों पर विस्तार से विचार ।

(v) इकाइयों से सम्बन्धित उपबन्ध तो विस्तार से बनाए ही गए हैं साथ ही परिसंघ और इकाइयों के बीच, और इकाइयों में परस्पर सम्बन्ध के उपबन्ध भी विस्तार से बनाए गए हैं । ये सम्बन्ध विधायी या प्रशासनिक दोनों ही हैं । इन्हें सर्वसमावेशी रूप से संहिताबद्ध किया गया है जिससे जहां तक हो सके संघर्ष न हो । भारत के राजनीतिक इतिहास से जो शिक्षा प्राप्त होती है उसे ध्यान में रखते हुए संविधान के रचयिताओं ने उसे ऐकिक संविधान जैसा रूप दिया । इसी इतिहास के कारण उन्होंने संघ और राज्यों के बीच शक्तियों और कृत्यों के वितरण और प्रशासनिक और अन्य कार्यों के बारे में[6] ब्यौरेवार उपबन्ध बनाए । ऐसे ही उपबन्ध अन्तरराज्य सम्बन्ध और राज्यों के बीच सहयोग और विवादों के निपटारे के लिए बनाए गए हैं ।

(vi) अमेरिकी संविधान के संशोधनों के नमूने पर एक अधिकार विलेख है जिसमें व्यक्ति के न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय मूल अधिकार हैं (भाग 3) । इसके अतिरिक्त निदेशक

तत्वों को समाविष्ट करने वाला एक भाग भी है (भाग 4) जो व्यक्ति को न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय अधिकार प्रदान नहीं करता है किन्तु उन्हें देश के शासन में मूलभूत समझा जाता है । ये आयरलैंड के संविधान में अन्तर्विष्ट सामाजिक नीति के सिद्धान्त की प्रकृति के हैं । हमारे संविधान के निर्माताओं का यह विचार था कि यद्यपि ये सिद्धांत विधिक रूप से प्रवर्तनीय नहीं बनाए जा सकते किन्तु फिर भी संविधान में कुछ आधारभूत अप्रवर्तनीय अधिकारों को समाविष्ट करने से भावी शासन पर कुछ नैतिक निर्बन्धन लग जाएंगे और इससे उनकी नीति उन आदर्शों से नहीं हट पाएगी जिनसे संविधान के निर्माताओं ने प्रेरणा प्राप्त की थी ।

प्रवर्तनीय और अप्रवर्तनीय दोनों प्रकार के अधिकार सम्मिलित किए गए हैं । मूल अधिकार, निदेशक तत्व और मूल कर्तव्य ।

मूल अधिकारों की सूची भी अन्य देशों की अपेक्षा बहुत बड़ी हो गई क्योंकि संविधान के निर्माताओं को हमारे देश की विशेष समस्याओं के कारण कुछ नवीन विषयों को उसमें स्थान देना पड़ा जैसे, अस्पृश्यता, निवारक निरोध ।

इस पूर्वगामी सूची में 42वें संशोधन द्वारा एक उल्लेखनीय वृद्धि की गई है । यह है नागरिकों के मूल कर्तव्यों का अध्याय (भाग 4क, अनुच्छेद 51क) । यद्यपि इसके पीछे कोई विधिक अनुशास्ति नहीं है किन्तु इनका निर्वचन मूल अधिकारों के साथ किया जाएगा (देखिए आगे अध्याय 8) ।

IV. भारतीय संविधान का एक विशेष लक्षण यह भी है कि वह लिखित परिसंघ संविधान को लचीलापन प्रदान करता है ।

लचीला अधिक, कठोर कम ।

संविधान के गिने चुने उपबन्धों के संशोधन के लिए ही राज्य विधान मंडलों से अनुसमर्थन की अपेक्षा है और तब भी आधे विधान मंडलों का समर्थन ही पर्याप्त है (अमेरिकी संविधान में तीन-चौथाई राज्यों के अनुसमर्थन की आवश्यकता है) ।

शेष संविधान का संशोधन संघ की संसद् के विशेष बहुमत से किया जा सकता है अर्थात् प्रत्येक सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से और यह बहुमत सदन की कुल सदस्य संख्या का बहुमत भी होना चाहिए ।

संसद् को संविधान के बहुत से उपबन्धों में सादे बहुमत से परिवर्तन या उपान्तर करने की शक्ति दी गई है । साधारण विधायन के लिए भी इतनी ही अपेक्षा होती है । इसके लिए संविधान में यह अधिकथित है कि इन परिवर्तनों को संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा । इसके उदाहरण हैं — (क) राज्यों के नामों, सीमाओं और क्षेत्रों का परिवर्तन और राज्यों को अलग करना या उन्हें मिलाना [अनुच्छेद 4], (ख) राज्य में विधान परिषद् का उत्सादन या सृजन [अनुच्छेद 169], (ग) अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों का प्रशासन [पांचवीं अनुसूची का पैरा 7 और छठी अनुसूची का पैरा 21], (घ) कुछ संघ राज्यक्षेत्रों के लिए विधान मंडलों और मंत्रिपरिषदों का सृजन [अनुच्छेद 239क(2)] ।

लचीलेपन का उदाहरण है संविधान में संसद् को विधान बनाकर संविधान की अनुपूर्ति करने के लिए दी गई शक्ति । यद्यपि संविधान के निर्माताओं ने यह प्रयत्न किया कि वे सभी बातों के लिए उपबन्ध कर दें फिर भी उन्होंने यह अनुभव किया कि भविष्य में होने वाली सभी घटनाओं के लिए पूर्वानुमान करना और संविधान में सभी परिस्थितियों के लिए सभी समयों के लिए ब्यौरेवार उपबन्ध करना सम्भव नहीं है ।

संविधान का अनुपूरक विधायन ।

(क) अतएव संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में कुछ आधारभूत सिद्धान्त अधिकथित हैं । संविधान द्वारा संसद् को इन सिद्धान्तों की अनुपूर्ति विधान द्वारा करने की शक्ति

दी गई है । उदाहरणार्थ (i) नागरिकता के विषय में अनुच्छेद 5–8, भारत के संविधान के प्रारम्भ के समय नागरिकता के अर्जन के बारे में कुछ शर्तें अधिकथित करते हैं । अनुच्छेद 11 इस विषय पर विधान बनाने की सम्पूर्ण शक्ति संसद् को देता है । इस शक्ति के अनुसरण में संविधान ने नागरिकता अधिनियम, 1955 अधिनियमित किया है । भारत में नागरिकता की विधि का पूरा अवलोकन करने के लिए संविधान के अध्ययन के साथ ही साथ नागरिकता अधिनियम को भी देखना आवश्यक है । (ii) इसी प्रकार निवारक निरोध के विरुद्ध कुछ मूलभूत रक्षोपाय अधिकथित किए गए हैं । अनुच्छेद 22(7) संसद् को इस विषय के सम्बन्ध में कुछ आनुषंगिक विषयों पर विधान बनाने की शक्ति देता है । इस शक्ति के अधीन बनाई गई विधि को अनुच्छेद 22 के उपबन्धों के साथ पढ़ना होगा । (iii) अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता को निषिद्ध करता है किन्तु यह उपबन्ध करता है कि अस्पृश्यता का आचरण विधि के अनुसार दण्डनीय अपराध होगा । इस शक्ति के प्रयोग में संसद् ने सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 अधिनियमित किया है[7] । इस अधिनियम को अस्पृश्यता के विरुद्ध सांविधानिक प्रतिषेध के अनुपूरक के रूप में पढ़ा जाना चाहिए । (iv) संविधान में राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित आधारिक उपबन्ध अधिकथित हैं । अनुच्छेद 71(3) संसद् को विधान द्वारा सांविधानिक उपबन्धों की अनुपूर्ति की शक्ति देता है । इस शक्ति का प्रयोग करके संसद् ने राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 बनाया है ।

इस स्कीम का स्पष्ट लाभ यह है कि संसद् द्वारा बनाई गई विधि को समय की मांग के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है । इसके लिए संविधान का संशोधन करने की आवश्यकता नहीं होगी ।

(ख) संविधान में ऐसे बहुत से अनुच्छेद हैं जो प्रायोगिक या अनन्तिम हैं और वे तब तक प्रवृत्त रहेंगे जब तक संसद् उस विषय पर विधान नहीं बनाती है । उदाहरणार्थ संघ की सम्पत्ति को राज्य के कराधान से छूट [अनुच्छेद 285], राज्य के विरुद्ध वाद [अनुच्छेद 300(1)] ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संविधान के मूल पाठ को परिवर्तित करने या उसकी अनुपूर्ति करने के लिए बहुत से ढंग अपनाए गए हैं जिससे अनुकूलन की शक्ति बनी रहे । इस तथ्य की प्रशंसा करते हुए प्रो. वेयर ने यह कहा था : —

> "संशोधन प्रक्रिया के ये विभिन्न ढंग बुद्धिमत्तापूर्ण हैं किन्तु सामान्यतः ये पाए नहीं जाते ।"[8]

इसी प्रज्ञावानता का उदाहरण तब दिखाई पड़ा जब सिक्किम को जो ब्रिटिश काल से संरक्षित राज्य था, संविधान में पहले "सहयुक्त राज्य" के रूप में (35वां संशोधन अधिनियम) और तत्पश्चात् संघ के पूर्ण राज्य के रूप में (36वां संशोधन अधिनियम, 1975) लाया गया ।

लिखित संविधान और संसदीय प्रभुता की संगति ।

V. अमेरिका के लिखित संविधान के पीछे "मूल विधि" का जो सिद्धान्त है उसको इंग्लैंड के अलिखित संविधान के पीछे "संसदीय प्रभुता" के सिद्धान्त के साथ सुमेलित करना भारतीय संविधान के निर्माताओं के उदार दर्शन का परिणाम है । इसे पंडित नेहरू ने सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

> "हम इस संविधान को अधिक से अधिक ठोस और स्थायी बनाना चाहते हैं । किन्तु संविधान स्थायी नहीं होते । इसमें कुछ लचीलापन भी होना चाहिए । यदि इसे कठोर और स्थायी बनाएंगे तो आप राष्ट्र का विकास अवरुद्ध कर देंगे, एक जीवन्त प्राणवान विकासमान जनता का विकास । . . . हम इस संविधान को इतना कठोर नहीं बना सकते कि परिवर्तित दशाओं में उसे अनुकूलित न किया जा सके । जब सम्पूर्ण

विश्व परिवर्तन से गुजर रहा है और हम एक तीव्र गति से होने वाले संक्रमण का अनुभव कर रहे हैं तो हम जो आज कर रहे हैं वह कल के लिए अनुपयुक्त हो सकता है ।"[9]

हमारे संविधान की नमनीयता का उदाहरण इस तथ्य से दिया जा सकता है कि उसके कार्यकरण के प्रारम्भ के 43 वर्षों में उसमें 71 बार संशोधन किए गए हैं । पहले, चौथे, चौबीसवें, पच्चीसवें, उनतीसवें, बयालीसवें और चवालीसवें संशोधन द्वारा संविधान में मार्मिक परिवर्तन किए गए हैं । इनमें मूल अधिकार, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की शक्तियों में किए गए संशोधन सम्मिलित हैं ।

डा. जैनिंग्स[10] ने हमारे संविधान को दो कारणों से कठोर बताया है : (क) संशोधन की प्रक्रिया जटिल और कठिन है, (ख) जो विषय सामान्य विधान के लिए छोड़ दिए जाने थे उन्हें संविधान में रख लिया गया है इसलिए इन विषयों में संशोधन की प्रक्रिया किए बिना परिवर्तन संभव नहीं है । हम यह देख चुके हैं कि पहले लगभग चार दशकों में संविधान के कार्यकरण से यह आशंका उचित नहीं जान पड़ती कि संशोधन की प्रक्रिया कठिन है (देखिए आगे अध्याय 10) । किन्तु उनके तर्क का दूसरा भाग सुआधारित है । वस्तुतः इस बात पर उनकी टिप्पणियां सत्य हो गई हैं । उन्होंने अनुच्छेद 224 का उदाहरण देते हुए कहा है कि इस उपबन्ध को संविधान में सम्मिलित करना अनावश्यक था :

> "उदाहरणार्थ अनुच्छेद 224 है, जो सेवानिवृत्त न्यायाधीश को उच्च न्यायालय में बैठने के लिए सशक्त करता है । क्या यह सांविधानिक महत्व का ऐसा उपबन्ध है कि इसे सांविधानिक संरक्षण दिया जाना चाहिए और क्या यह ऐसा उपबन्ध है कि इसका संशोधन संघ की संसद् के प्रत्येक सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले दो-तिहाई लोगों के अनुमोदन के बिना नहीं होना चाहिए ?"[11]

सारणी 4 से यह प्रकट होता है कि सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को वापस बुलाने के स्थान पर अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति करने के लिए इस अनुच्छेद का संशोधन करने के लिए 1956 के 7वें संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान का संशोधन करना पड़ा । इसी प्रकार का संशोधन इस बात के लिए करना पड़ा कि यदि किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश किसी दूसरे उच्च न्यायालय को अन्तरित किया जाता है तो वह प्रतिकर का हकदार नहीं होगा [अनुच्छेद 222] । इसी प्रकार का संशोधन प्रतिकर का उपबन्ध करने के लिए किया गया । ऐसे उदाहरण और अधिक देने की आवश्यकता नहीं । इसके अनेक दृष्टान्त हैं ।

1976 के बाद जो संशोधन किए गए हैं उनसे सुनम्यता का स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त होता है । चौथाई शताब्दी तक संविधान के कार्यकरण के पश्चात् 1976 के 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा तात्विक परिवर्तन किए गए जिससे राज्य के विभिन्न अंगों के बीच सन्तुलन बिगड़ गया ।[11] इस नमनीयता के पीछे यह उपधारणा भी है कि सत्तारूढ़ दल का संसद् के दोनों सदनों में दो-तिहाई बहुमत है ।[11] हो सकता है कि यह सच न हो ।

संविधान में अभिसमयों की भूमिका ।

VI. यह उल्लेखनीय है कि संविधान के रचयिताओं ने मूल विधि की एक सर्वसमावेशी संहिता बनाने का प्रयास किया । किन्तु जहां वह चुप है उन बातों में संविधान की अनुपूर्ति अभिसमयों द्वारा किए जाने के लिए स्थान शेष है । उदाहरण के लिए संविधान ने अनुच्छेद 75 में मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त अपनाया है किन्तु इंग्लैंड में, मंत्रिमंडलीय प्रणाली के कार्यकरण में समय-समय पर उत्पन्न समस्याओं के हल के रूप में जिन अनेक अभिसमयों का जन्म हुआ उन्हें संहिताबद्ध करना सम्भव नहीं था । दृष्टान्त के लिए यह प्रश्न कि क्या जब भी लोक सभा में मंत्रिमंडल के प्रतिकूल मतदान हो तो क्या मंत्रिमंडल

को त्यागपत्र देना चाहिए या वह उसे किसी विशेष विषय पर आकस्मिक हार या "तत्काल मत" माना जा सकता है ।[12] संविधान में यह सम्भव नहीं है कि यह बताया जा सके कि कौन से विवाद्यक को मंत्रिपरिषद् द्वारा "मार्मिक विवाद्यक" समझा जाना चाहिए जिससे कि ऐसे विवाद्यक पर मंत्रिपरिषद् की हार पर उसे त्यागपत्र देना नैतिकता का तकाजा होगा । इसी प्रकार, किन परिस्थितियों में मंत्रिपरिषद् के लिए यह उचित होगा कि वह प्रतिकूल मत हो जाने पर त्यागपत्र देने के स्थान पर राष्ट्रपति को संसद् का विघटन करने की सलाह दे । यह सब अभिसमय द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है ।

सर आइवर जैनिंग्स[10] का यह सम्प्रेक्षण उचित जान पड़ता है कि, —

"शासन का तंत्र सारवान रूप से ब्रिटिश है और ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त ब्रिटिश सांविधानिक अभिसमय उसी रूप में समाविष्ट कर लिए गए हैं ।"

मूल अधिकार और सांविधानिक उपचार ।

VII. निदेशक तत्व न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं किन्तु भाग 3 में सम्मिलित मूल अधिकारों को ऐसे व्यक्ति की प्रेरणा पर प्रवर्तित किया जा सकता है जिसके मूल अधिकार का राज्य अर्थात् कार्यपालिका या विधायिका के किसी कार्य द्वारा, — उल्लंघन हुआ है और इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उपचार अर्थात् बंदी प्रत्यक्षीकरण (हैबियस कार्पस), परमादेश (मैंडेमस), प्रतिषेध (प्रोहिबिशन) और उत्प्रेषण (सरशियोररी) की रिटें संविधान द्वारा प्रत्याभूत की गई हैं । मूल अधिकारों के विरुद्ध विधि को या कार्यपालिका के आदेश को उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय द्वारा शून्य घोषित किया जा सकता है ।

इन उपबन्धों से गलत आशंका के फलस्वरूप कुछ आलोचकों ने भारत के संविधान को "वकीलों के लिए वरदान" कहा है ।[12] सर जैनिंग्स[10] के अनुसार इसका कारण यह है कि संविधान सभा में अधिवक्ता-राजनीतिज्ञों की प्रमुखता थी । उन्होंने व्यक्तियों के अधिकार और परमाधिकार रिटों को संहिताबद्ध करने का विचार किया यद्यपि इंग्लैंड में कोई भी ऐसा नहीं करेगा । सर आइवर के शब्दों में, —

"इंग्लैंड का कोई भी अधिवक्ता संविधान में परमादेश रिटों को रखने का विचार नहीं करेगा किन्तु संविधान सभा ने ऐसा किया . . . । इन सब बातों के कारण भारत में संविधान एक अत्यन्त जटिल संविधान हो गया है । हममें से जो अपने आपको सांविधानिक अधिवक्ता मानते हैं वे अपनी वृत्ति के इस प्रकार उत्थान को प्रसन्न होकर देख सकते हैं । किन्तु संविधानों का आशय शासन की प्रक्रिया को सुचारु रूप से चलाना है । उसका उद्देश्य सांविधानिक अधिवक्ताओं को फीस उपलब्ध कराना नहीं है । जितने अधिक मुकदमे आएंगे उतनी ही सरकार की प्रक्रिया कठिन हो जाएगी । सम्भवतः भारत ने वकीलों पर बहुत अधिक विश्वास किया है ।"[10]

न्यायिक पुनर्विलोकन से संविधान का विधिकतावादी हो जाना ।

इन महान सांविधानिक विशेषज्ञ के प्रति परम आदर व्यक्त करते हुए[10] यह निवेदन है कि इन संप्रेक्षणों से यह प्रकट होता है कि वे भारतीय संविधान के आधार को समझ ही नहीं सके । सर आइवर यह नहीं बताते हैं कि भारतीय संविधान के निर्माताओं ने अमेरिका के "परिसीमित शासन" के सिद्धान्त को अपनाया, इंग्लैंड की संसदीय प्रभुता के सिद्धान्त को नहीं ।

इंग्लैंड में आधुनिक लोकतंत्र का जन्म स्वेच्छाकारी कार्यपालिका की निरंकुशता के विरोध में हुआ था । इंग्लैंड की राजनीतिक प्रणाली का आधार वहां की जनता का अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों की सद्भावना में असीम विश्वास है । हाल में उसके सर्वशक्तिमान प्राधिकार में कुछ कमी की जा रही है क्योंकि वेस्टमिंस्टर की प्राचीन संस्था (पार्लमेंट) अनेकानेक वर्तमान समस्याओं का इतनी सरलता से प्रबन्ध करने में असमर्थ है, जैसी वह

विक्टोरिया के युग में करती थी । फिर भी इंग्लैंड में किसी ने भी यह नहीं सोचा कि संसद् के प्राधिकार पर कुछ मर्यादाएं लगाई जाएं जिससे कि उसका आचरण उचित हो ।

अमेरिकी संविधान के मूल निर्माताओं को यह दुखद अनुभव हुआ था कि प्रातिनिधिक निकाय भी अत्याचारी हो सकता है । उनका औपनिवेशिक साम्राज्य से सामना हुआ था । स्वतंत्रता की घोषणा में यह उल्लेख है कि "ब्रिटिश विधान मंडल ने अपनी अनुचित अधिकारिता को हमारे ऊपर लादने के प्रयत्न किए" और किस प्रकार ब्रिटेन की जनता ने न्याय की पुकार को अनसुना किया । उपनिवेशवादियों को बहुत महंगी कीमत चुकाकर यह ज्ञान हुआ कि मनुष्य प्रकृति कितनी कोमल और छुई-मुई जैसी है । इसी पार्लमेंट ने चार्ल्स प्रथम को अधिकार याचिका (पिटीशन आफ राइट्स 1628) को अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य किया था जिसमें यह था कि पार्लमेंट की सम्मति के बिना कोई कर उद्गृहीत नहीं किया जाएगा । उसी पार्लमेंट ने 1765 में और उसके पश्चात्वर्ती वर्षों में उपनिवेशों पर उन्हें प्रतिनिधित्व का अधिकार दिए बिना कर लगाने पर बल दिया और इन अलोकतांत्रिक विधियों को सैनिक शासन के माध्यम से प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया ।

इंग्लैंड की जनता, निरंकुशता के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई में विधि की सर्वोच्चता स्थापित करके और संसद् को विधि का एकमात्र स्रोत बनाकर रुक गई । अमेरिकी जनता इसके आगे बढ़ी और उसने यह स्थापित किया कि विधान मंडल के ऊपर भी विधि है और इस परमोच्च लिखित विधि में जो निबंधन हैं उनसे उसे निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता के भय से मुक्ति मिल सकी । यह दोनों दुर्गुण मनुष्य की प्रकृति में ही पाए जाते हैं ।

आगे मूल अधिकार के अध्याय में यह अच्छी प्रकार से स्पष्ट किया गया है कि भारत में ब्रिटेन के विधिसम्मत शासन लागू होने का जो भारतीय अनुभव था वह सुखद नहीं था । जनता में यह भावना प्रबल थी कि विदेशी शासकों ने इसे वैसी समानता से प्रशासित नहीं किया जैसी वे अपने देश में करते हैं । भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ाई करने वालों को यह मालूम था कि इंग्लैंड की लोकतांत्रिक प्रणाली की भूलों का उनके लिए क्या प्रयोग किया गया था अर्थात् संसद् की प्रभुता और विधिसम्मत शासन का प्रयोग साम्राज्यवादी शासन के अधीन मानवीय अधिकारों को कुचलने के लिए किया गया था । इसलिए 1928 में स्वतंत्र भारत के उदय के बहुत पहले मोतीलाल नेहरू समिति ने इस बात पर बल दिया –

> "हमें सबसे पहले अपने मूल अधिकारों को इस प्रकार प्रत्याभूत करना है कि किसी भी परिस्थितियों में उन्हें छीना न जा सके ।"

न्यायिक पुनर्विलोकन, मूल अधिकारों का आवश्यक अनुषंगी है । लिखित संविधान में व्यक्ति के कुछ अधिकारों को मूल अधिकारों के रूप में स्थापित करना अर्थहीन है यदि वे न्यायालय द्वारा राज्य के किसी अंग के विरुद्ध, विधायिका या कार्यपालिका, प्रवृत्त नहीं किए जा सकते हैं । जब एक बार यह चुनाव कर लिया जाता है तब हम इस बात पर दुख व्यक्त नहीं कर सकते कि इससे मुकदमेबाजी होगी । भारत के संविधान के बनाने के समय भारत में कुछ लोगों के मन में जो भी शंकाएं रही हों भारत में आज शायद ही कोई हो जो इस कारण से व्यथित हो कि उच्चतम न्यायालय प्रत्येक वर्ष दर्जनों कानूनों को और प्रशासनिक कृत्यों को इस आधार पर अविधिमान्य कर देता है कि वे मूल अधिकारों का उल्लंघन करते हैं । साथ ही यह बता देना भी उचित होगा कि संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् संविधान में संशोधन द्वारा अनेक उपबन्ध अन्तःस्थापित किए गए हैं । इनके द्वारा ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं जिन्हें न्यायिक पुनर्विलोकन के दायरे से निकाला गया है उदाहरणार्थ

अनुच्छेद 31क–31ग । 1992 तक 254 अधिनियमों को — केन्द्र और राज्य के — नवीं अनुसूची के अधीन जो अनुच्छेद 31ख[13] से सम्बन्धित है, प्रगणित करके मूल अधिकारों के उल्लंघन के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन से छिपा लिया गया है ।

VIII. "न्यायिक पुनर्विलोकन" की शक्तियुक्त स्वतंत्र न्यायपालिका हमारे संविधान का एक अन्य प्रमुख लक्षण है ।

हमने एक दूसरी अतिवादी स्थिति से अपने को बचा रखा है वह है "न्यायिक सर्वोच्चता" । न्यायिक पुनर्विलोकन पर अत्यधिक बल देने का तार्किक परिणाम न्यायिक सर्वोच्चता होती है । यह हमें अमेरिकी अनुभव से पता चलता है ।

न्यायिक पुनर्विलोकन और संसदीय सर्वोच्चता के बीच समझौता ।

हमारे संविधान ने संसदीय प्रभुता और न्यायिक पुनर्विलोकन के उपबन्धों वाले लिखित संविधान के बीच जो समन्वय किया है वह हमारे संविधान के रचयिताओं की अनूठी उपलब्धि है । शासन के विभिन्न अंगों के बीच शक्ति का आत्यंतिक संतुलन सम्भव नहीं है और व्यवहार में अन्तिम निर्णय उनमें से किसी एक का ही होना चाहिए । इसी कारण शक्तियों का कठोर पृथक्करण और विभिन्न अंगों पर रोक और सन्तुलन की संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रणाली वास्तविक कार्यकरण में असफल रही । न्यायपालिका ने संविधान के निर्वचन की शक्ति के अधीन इतनी प्रभुता प्राप्त कर ली है कि उसे संविधान का "सुरक्षा वाल्व" या "संतोलक" कहा गया है । उन्हीं के एक न्यायाधीश (मुख्य न्यायमूर्ति ह्यूजेज़) ने यह कहा था कि "संविधान वही है जो उच्चतम न्यायालय कहता है । उसे यह शक्ति है कि वह विधान मंडल द्वारा सम्यक्तः पारित किसी विधि को न केवल इस आधार पर अविधिमान्य कर दे कि वह संविधान द्वारा निहित विधायी शक्तियों का अतिक्रमण करती है या अधिकार विलेख में समाविष्ट प्रतिषेधों का अतिक्रमण करती है बल्कि इस आधार पर भी कि वह "सम्यक् प्रक्रिया" जैसी कुछ अस्पष्ट अभिव्यक्तियों में समाविष्ट साधारण सिद्धान्तों के विरुद्ध है । ये सिद्धान्त संविधान में अभिव्यक्त रूप से लेखबद्ध नहीं हैं । इन्हें केवल उच्चतम न्यायालय द्वारा परिनिश्चित किया जा सकता है । इस प्रकार अमेरिकी न्यायपालिका, विधायिका की नीति पर निर्णय देती है मानो वह विधान मंडल का तीसरा सदन या परम सदन हो ।

इंग्लैंड के संविधान के अधीन संसद् सर्वोच्च है और वह "ऐसा कोई भी कार्य कर सकती है जो प्राकृतिक रूप से असम्भव न हो" (*ब्लैकस्टोन*) । न्यायालय संसद् के किसी अधिनियम को किसी भी आधार पर शून्य घोषित नहीं कर सकती । *मे* के शब्दों में —

> "संविधान ने संसद् को अपनी अधिकारिता के अधीन सभी विषयों और व्यक्तियों पर जो प्राधिकार दिया है उसकी कोई सीमा नहीं बांधी है । कोई विधि न्याय विरुद्ध और शासन के सुआधारित सिद्धान्तों के विपरीत हो सकती है । किन्तु पार्लमेंट के विवेक का नियंत्रण नहीं हो सकता और जब वह भूल करती है तो उन भूलों का सुधार वह स्वयं ही कर सकती है ।"

इंग्लैंड के न्यायाधीशों ने पार्लमेंट के विरुद्ध अपील न्यायालय के रूप में बैठने की शक्ति ग्रहण करने से इंकार किया है ।

भारत के संविधान ने अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता प्रणाली और इंग्लैंड के संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त के बीच आश्चर्यजनक रूप से एक मध्यम मार्ग खोज निकाला है । इसके लिए न्यायपालिका को यह शक्ति दी गई है कि वह किसी विधि को असंवैधानिक घोषित कर दे यदि वह संविधान में उपबन्धित शक्तियों के वितरण के अनुसार विधान मंडल की शक्ति के बाहर है अथवा यदि वह संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों का उल्लंघन करती है अथवा वह संविधान के किसी आज्ञापक उपबन्ध का, उदाहरणार्थ

अनुच्छेद 286, 299, 301, 304 आदि का, अतिक्रमण करती है किन्तु साथ ही न्यायपालिका को विधायिका की नीति के प्रज्ञान का (अर्थात् नीति के औचित्य का) न्यायिक पुनर्विलोकन करने की शक्ति नहीं है । इसमें "सम्यक् प्रक्रिया" जैसी अभिव्यक्तियों को नहीं रखा गया है और स्वतंत्रता और सम्पत्ति जैसे मूल अधिकारों को विधान मंडल के विनियमन के अधीन रखा गया है ।[16] यदि किसी मामले में न्यायपालिका रुकावट डालती है तो संघ की संसद् विशेष बहुमत से संविधान के मुख्य अंश में परिवर्तन कर सकती है । इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान के पीछे जो सिद्धान्त है उसे पंडित नेहरू के शब्दों में अभिव्यक्त करना ही श्रेयस्कर है :

> "संसद् की प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा के ऊपर कोई उच्चतम न्यायालय, कोई न्यायपालिका अपना निर्णय नहीं लाद सकती क्योंकि संसद् की इच्छा समस्त जन की इच्छा है । वह इस प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा को रोक सकती है यदि वह गलत राह पर है किन्तु अन्तिम विश्लेषण में जब समाज के भविष्य का प्रश्न है तब न्यायपालिका मार्ग में बाधा नहीं पहुंचा सकती । . . . अन्ततोगत्वा तथ्य तो यह है कि विधान मंडल ही सर्वोच्च है और सामाजिक सुधार के मामलों में न्यायालयों को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ।"

इस प्रकार हमारा संविधान, विधान मंडल को, संविधान की सीमाओं के भीतर यथासम्भव सर्वोच्च स्थान देता है किन्तु जैसा हम पहले उल्लेख कर चुके हैं 42वें संशोधन के कारण संसदीय प्रभुता और न्यायिक पुनर्विलोकन के बीच संतुलन गम्भीर रूप से बिगड़ गया था । संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 31घ, 32क, 131क, 144क, 226क, 228क, 323क-ख, 329क से नए उपबन्ध अन्तःस्थापित करके संसदीय प्रभुता की ओर स्पष्ट झुकाव हो गया था ।

जनता सरकार ने 1977 में सत्ता में आने के बाद सारवान् रूप से 1976 के पूर्व की स्थिति वापस ला दी है । यह 1977-78 में 43वें और 44वें संशोधनों के माध्यम से निम्न अनुच्छेदों का निरसन करके किया गया है जो 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा अन्तःस्थापित किए गए थे । अनुच्छेद 31घ, 32क, 131क, 144क, 226क, 228क, 329क, और 226 को उनके मूल रूप में (सारवान् रूप से) पुनः लाया गया है । न्यायपालिका ने यह घोषित करके कि "न्यायिक पुनर्विलोकन" हमारे संविधान का "आधार लक्षण" है अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली है । इसका यह अर्थ हुआ कि जब तक उच्चतम न्यायालय स्वयं इस निमित्त अपनी राय का पुनरीक्षण नहीं करता तब तक संविधान के किसी उपबन्ध के उल्लंघन के आधार पर किसी विधान के न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को संविधान का संशोधन करके छीना नहीं जा सकता क्योंकि उस संशोधन को ही न्यायालय अविधिमान्य घोषित कर देगा (देखिए इस अध्याय के अन्त में) ।

मूल अधिकार विधान मंडल द्वारा युक्तियुक्त विनियमन के अधीन ।

IX. हमारे संविधान में मूल अधिकरों की जो अनूठी घोषणा है वह संविधान की सर्वोच्चता और विधान मंडल की प्रभुता के बीच सन्तुलन का उदाहरण है । संविधान में "अधिकार विलेख" को समाविष्ट करने का विचार अमेरिका के संविधान से लिया गया है । किन्तु हमारे संविधान में व्यक्ति के अधिकारों की प्रत्याभूति को राज्य की सुरक्षा की आवश्यकता के साथ सावधानी से सन्तुलित किया गया है ।

अमेरिकी अनुभव से यह प्रकट होता है कि मूल अधिकारों की लिखित प्रत्याभूति इस समाज और राज्य के प्रति व्यष्टिपरक दृष्टिकोण को जन्म देती है । ऐसा दृष्टिकोण सामान्य जन-कल्याण के लिए अनिष्टकारक साबित हो सकता है । अमेरिका ऐसी परिस्थिति के खतरों से बच गया है क्योंकि उसकी न्यायपालिका ने "पुलिस शक्ति" का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जिसके अधीन विधान मंडल व्यक्ति के अधिकारों में हस्तक्षेप करने

के लिए सक्षम हो जाता है जहां कहीं वे अधिकार राज्य की सुरक्षा और अन्य सामूहिक हितों के लिए "स्पष्ट खतरा" बन जाते हैं ।

भारत के संविधान में प्रत्येक मूल अधिकार को संविधान के निबन्धनों के अधीन विधायी नियंत्रण में रखा गया है । उसे प्रत्येक मामले में न्यायिक संरक्षण प्राप्त होने की आशा में लटकाया नहीं रखा गया । कुछ ऐसे भी आपवादिक मामलें हैं जिनमें राष्ट्रीय सुरक्षा, अखंडता या कल्याण के हित में मूल अधिकारों को पूरी तरह अपवर्जित किया जा सकता है [अनुच्छेद 31क–31ग][13] ।

सामाजिक समानता भी संविधान द्वारा प्रत्याभूत ।

X. भारत के संविधान में मूल अधिकारों के अध्याय की एक और विशेषता यह है कि वह न केवल राजनैतिक या विधिक समानता सुनिश्चित करता है बल्कि सामाजिक समानता भी । इस प्रायः दी जाने वाली प्रत्याभूति के अलावा कि राज्य नागरिकों के बीच केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर — राज्य द्वारा नियुक्ति या अन्य नियोजन की दशा में — विभेद नहीं करेगा, संविधान में यह उपबन्ध भी सम्मिलित है कि अस्पृश्यता का सभी रूप में प्रतिषेध होगा । यह भी अधिकथित किया गया है कि किसी भी नागरिक को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर किसी सामाजिक सुविधा या विशेषाधिकार के उपभोग से वंचित नहीं किया जाएगा ।

इस संदर्भ में हमें यह बात दृष्टिगोचर होती है कि अमेरिका के संविधान में मूलवंश पर आधारित विभेद आज भी बना हुआ है, यद्यपि हाल ही के न्यायिक निर्णय इसके प्रतिकूल हैं । यूनाइटेड किंगडम में हुई वर्तमान घटनाओं से भी यह प्रकट होता है कि वहां भी स्थिति इससे अच्छी नहीं है ।

मूल अधिकारों पर मूल कर्तव्यों द्वारा रोक ।

XI. मूल संविधान में एक नया लक्षण 1976 में किए गए 42वें संशोधन द्वारा संविधान में भाग 4क के रूप में अनुच्छेद 51क अन्तःस्थापित करके जोड़ा गया है ।

1976 का 42वां संशोधन ।

मूल संविधान के अधीन, संविधान के भाग 4 के निदेश किसी भी प्रकार से प्रवृत्त नहीं किए जा सकते थे और उन्हें मूल अधिकारों के सामने समर्पण करना पड़ता था । किन्तु 1976 में किए गए 42वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31ग[13] का संशोधन करके चुपचाप इस स्थिति को उलट दिया गया ।

42वें संशोधन अधिनियम ने इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए मूल अधिकारों को सीमित करने के लिए "मूल कर्तव्य" अन्तर्विष्ट किए । इन कर्तव्यों को न्यायालय द्वारा प्रवृत्त नहीं किया जा सकता (देखिए आगे अध्याय 8) ।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के बिना सार्वजनिक मताधिकार ।

XII. लिंग, सम्पत्ति, कराधान आदि की किसी अर्हता के बिना सार्वजनिक मताधिकार को स्वीकार करना [अनुच्छेद 326] भारत के लिए एक साहसिक प्रयोग है । विशेषकर इस बात को देखते हुए कि हमारा देश विशाल है, इसकी जनसंख्या बहुत अधिक है और अधिकतर लोग निरक्षर हैं (देखिए आगे सारणी 1) । भारत में मताधिकार इंग्लैंड या अमेरिका की अपेक्षा अधिक व्यापक है । संविधान की उद्देशिका में हमने यह घोषणा की है कि भारत के लोग इस संविधान को अंगीकृत और आत्मार्पित करते हैं । इसके पीछे यह संकल्पना है कि जनता प्रभुत्वसम्पन्न है । यह संकल्पना खोखली हो जाएगी यदि उन समस्त लोगों को जो अधिकार का प्रयोग करने में समर्थ हैं मताधिकार न दिया जाए । मताधिकार के प्रयोग को सुनिश्चित करने के लिए स्वतंत्र निर्वाचन तंत्र की (निर्वाचन आयोग के नियंत्रण

के अधीन) स्थापना की गई है । आधुनिक लोकतंत्र में मताधिकार ही ऐसा प्रभावी माध्यम है जिससे यह प्रकट होता है कि प्रभुता जनता के हाथ में है ।

संविधान के अधीन 1952 में जब भारत में साधारण निर्वाचन हुए थे उनसे सम्बन्धित आंकड़ों से[14] यह बात प्रकट होती है कि कुछ बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के होते हुए भी यह साहसिक प्रयोग सफल हुआ । 35 करोड़ 60 लाख की कुल जनसंख्या और 18 करोड़ की वयस्क जनसंख्या में से 17 करोड़ 30 लाख मतदाता सूची में दर्ज किए गए और इनमें से 8 करोड़ 80 लाख ने अर्थात् निर्वाचक नामावली में प्रविष्ट 50 प्रतिशत से अधिक मतदाताओं ने वास्तव में मताधिकार का प्रयोग किया । जितने व्यवस्थापूर्ण ढंग से ये निर्वाचन और इसके पश्चात् अन्य साधारण निर्वाचन हुए उन्हें देखकर सभी उनसे इस विशाल उपमहाद्वीप की जनता की राजनैतिक सूझबूझ की प्रशंसा करते हैं यद्यपि यह जनता निरक्षर है । दसवें साधारण निर्वाचन में, जो मई-जून 1991 में हुए, निर्वाचक नामावली में प्रविष्ट व्यक्तियों की संख्या लगभग 52 करोड़ थी ।

संविधान के रचयिताओं की इस बात के लिए भी प्रशंसा की जानी चाहिए कि उन्होंने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को समाप्त कर दिया । इसी कारण भारत का दुखद रक्तस्नात विभाजन हुआ । नए संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों और आंग्ल-भारतीय समुदाय के लिए कुछ स्थानों के सिवाय आरक्षण नहीं किया गया था । यह आरक्षण भी अस्थायी अवधि के लिए था (मूल संविधान में यह अवधि दस वर्ष थी जिसे अनुच्छेद 334 के पश्चात्वर्ती संशोधनों द्वारा बढ़ाकर 50 वर्ष तक कर दिया गया है अर्थात् सन् 2000 तक)[15] ।

XIII. हम यह पहले ही बता चुके हैं कि हमारे संविधान ने केन्द्र और राज्य में शासन की जिस पद्धति की स्थापना की है वह ब्रिटेन की जैसी संसदीय शासन प्रणाली है[16] । शासन प्रणाली के इस विकल्प को चुनने का प्राथमिक कारण यह था कि भारत शासन अधिनियम के अधीन लोगों को इस प्रणाली का सुदीर्घ अनुभव था[17] । यद्यपि यह भी सत्य है कि ब्रिटिश लोगों ने इसके लक्षणों को पूरी तरह से भारत में बहुत धीरे-धीरे आयात किया ।

हमारे संविधान के निर्माताओं ने शासन की राष्ट्रपति प्रणाली जैसी कि वह अमेरिका में है, स्वीकार नहीं की । इस अस्वीकृति का आधार यह था कि उस प्रणाली में कार्यपालिका और विधायिका दोनों एक दूसरे से पृथक् और एक दूसरे से स्वतंत्र हैं[18] । इसके कारण इन दोनों में संघर्ष की संभावना है । हमारे इस नवीन लोकतंत्र में इस संघर्ष का जोखिम नहीं उठाया जा सकता था ।

यद्यपि संसदीय या मंत्रिमंडलीय शासन का ब्रिटिश आदर्श अपनाया गया किन्तु शीर्ष पर एक आनुवंशिक सम्राट या शासक को प्रतिष्ठापित नहीं किया गया क्योंकि भारत ने अपने आपको "गणराज्य" घोषित किया था । सम्राट के स्थान पर संसदीय पद्धति के शीर्ष पर एक निर्वाचित राष्ट्रपति रखा गया । इस सम्मिश्रण को अपनाते हुए हमारे संविधान के निर्माताओं ने आयरलैंड के दृष्टान्त का अनुसरण किया ।

आयरलैंड के संविधान के समान ही भारत के संविधान में उत्तरदायी शासन की संसदीय प्रणाली पर एक निर्वाचित राष्ट्रपति स्थापित किया गया है ।

संसदीय शासन के साथ निर्वाचित राष्ट्रपति का संयोजन ।

यद्यपि संघ की कार्यपालिका के शीर्ष पर निर्वाचित राष्ट्रपति है किन्तु उसे मंत्रियों की सलाह पर कार्य करना होता है । वह इस प्रकार मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य कर रहा है या नहीं इस बात को न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता । यदि राष्ट्रपति

संविधान के प्रतिकूल कार्य करता है तो उसे हटाने का महाभियोग के सिवाय कोई और ढंग नहीं है ।

इंग्लैंड की पद्धति में विधान मंडल के प्रति मंत्रियों के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त अभिसमय पर आधारित है किन्तु हमारे संविधान में यह अभिव्यक्त रूप से उपबन्धित है [अनुच्छेद 75(3)] —

हमारे उच्चतम न्यायालय के शब्दों में[19], —

"यद्यपि हमारे संविधान की संरचना परिसंघीय है किन्तु यह ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के नमूने पर बनाई गई है जिसमें कार्यपालिका को सरकार की नीति बनाने और उसे विधि में परिणत करने का प्राथमिक उत्तरदायित्व उठाना पड़ता है । इस उत्तरदायित्व के लिए पुरोभावी शर्त यह है कि उसे राज्य की विधायी शाखा का विश्वास प्राप्त रहे . . . भारत के संविधान में इंग्लैंड के समान ही संसदीय कार्यपालिका की प्रणाली है . . ."[19]

किन्तु हमारा संविधान आयरिश नमूने की हू-बहू नकल नहीं है । आयरलैंड के संविधान में यह अधिकथित है कि राष्ट्रपति की सांविधानिक शक्तियों का प्रयोग मंत्रियों की सलाह पर ही किया जा सकेगा । इसके अपवादस्वरूप वे शक्तियां हैं जो संविधान में राष्ट्रपति के विवेकानुसार प्रयोग के लिए इंगित हैं । उदाहरण के लिए आयरलैंड के राष्ट्रपति को हारे हुए प्रधान मंत्री के कहने पर विधान मंडल के विघटन से इंकार करने का विवेकाधिकार है । यह इंग्लैंड के अभिसमय और व्यवहार से विपरीत है । किन्तु भारत के संविधान में राष्ट्रपति को किसी भी विषय में "अपने विवेकानुसार" कार्य करने के लिए प्राधिकार देने वाला कोई उपबन्ध नहीं है । दूसरी ओर 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 74(1) का संशोधन करके इस सिद्धान्त को अभिव्यक्त रूप से संहिताबद्ध किया गया है कि राष्ट्रपति अपने कृत्यों के प्रयोग में, अर्थात् मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह के अनुसार कार्य करेगा । यह सिद्धान्त उच्चतम न्यायालय ने अनेकों निर्णयों में पहले ही अधिकथित किया था ।[19]

1976 का 42वां संशोधन ।

जनता सरकार ने 42वें संशोधन के इस परिवर्तन को छेड़ा नहीं । उसने 1978 के 44वें संशोधन द्वारा राष्ट्रपति को यह शक्ति दी कि वह किसी विषय को पुनर्विचार के लिए मंत्रिपरिषद् को भेज सकेगा ।

1978 का 44वां संशोधन ।

ऐकिक आधार पर परिसंघ प्रणाली ।

XIV. भारतीय संविधान की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उसने परिसंघ प्रणाली को ऐकिक सरकार का बल प्रदान किया । प्रसामान्यतः सरकार परिसंघ प्रणाली की है किन्तु संविधान परिसंघ को ऐकिक राज्य में परिवर्तित होने के लिए समर्थ बनाता है । यह आपात में (संघ द्वारा राज्यों की शक्ति ग्रहण करके) किया जाता है (भाग 18) ।

एक ही संविधान में परिसंघ और ऐकिक प्रणालियों का यह संयोजन विश्व में अनूठा है । इस अनोखी प्रणाली का सही-सही अधिमूल्यन करने के लिए यह आवश्यक है कि उस पृष्ठभूमि का अवलोकन किया जाए जिस पर भारत में परिसंघ रचना स्वीकार की गई है । साथ ही अन्य परिसंघीय देशों के अनुभव का ध्यान रखन भी आवश्यक होगा । इस पर अलग से विचार करना उचित होगा (देखिए आगे अध्याय 5) ।

देशी रियासतों का विलय ।

XV. नए संविधान का एक विशेष लक्षण यह है कि 552 देशी रियासतें संविधान के अधीन शेष भारत में विलीन हो गईं । वह समस्या जो भारत शासन अधिनियम, 1935 के रचयिताओं से हल नहीं हो रही थी और जिसके कारण परिसंघ स्कीम सफल नहीं हो सकी, उसे संविधान के निर्माताओं ने सफलतापूर्वक हल कर दिया । पूरा भारतीय उपमहाद्वीप एक हो गया है

और एक राज्य के रूप में एकीकृत हो गया है । यह विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व है ।

इस कठिन कार्य को जिस प्रक्रिया से किया गया है वह अपने आप में स्मरणीय है ।

ब्रिटिश सम्राट के अधीन देशी रियासतों की प्रास्थिति ।

भारत शासन अधिनियम, 1935 में समाप्त होने वाले सांविधानिक सुधारों के समय भारत के नाम से ज्ञात भौगोलिक इकाई दो भागों में विभाजित हो गई, ब्रिटिश भारत और देशी रियासतें । ब्रिटिश भारत में 9 गवर्नरों के प्रान्त थे और भारत सरकार द्वारा शासित कुछ क्षेत्र थे देशी रियासतों में लगभग 600 रियासतें थीं जो अधिकतर शासकों या स्वामियों के व्यक्तिगत शासन के अधीन थीं । सभी 600 देशी रियासतें एक समान नहीं थीं । उनमें से कुछ रियासतें आनुवंशिक प्रमुखों के शासन के अधीन थीं जिनकी राजनैतिक प्रास्थिति मुसलमानों के आक्रमण के पहले से चली आई थी । कुछ दूसरी रियासतें (जिनकी संख्या लगभग 300 थी) शासकों द्वारा दी गई सम्पदा या जागीर के रूप में थीं जो सेवा के लिए या अन्यथा पारितोषिक के रूप में विशेष व्यक्तियों या कुटुम्बों को दी गई थीं । ब्रिटिश भारत से ये 600 रियासतें जिस एक बात में भिन्न थीं वह यह थी कि देशी रियासतों को ब्रिटिश सम्राट द्वारा अपने अधीन नहीं किया गया था । अतएव ब्रिटिश भारत सम्राट के प्रत्यक्ष शासन के अधीन था । यह शासन सम्राट के प्रतिनिधि द्वारा और संसद् के कानूनों और ब्रिटेन के विधान मंडल के अधिनियमों के अनुसार चलाया जाता था । देशी रियासतें प्रमुखों और राजाओं के व्यक्तिगत शासन के अधीन चल रही थीं । सम्राट का इन पर "अधिराजत्व" था । 1858 में ईस्ट इंडिया कंपनी से प्राधिकार लेने पर सम्राट ने भारत के समस्त राज्यक्षेत्र पर अधिराजत्व ग्रहण किया था ।

परमोच्च शक्ति के अनुषंग ।

सम्राट द्वारा अधिराजत्व ग्रहण करने के पश्चात् उनके और देशी रियासतों के बीच सम्बन्धों का वर्णन करने के लिए "परमोच्चता" पद का प्रयोग किया जाने लगा । सम्राट और देशी रियासतों के बीच अनेक प्रकार के वचनबंध थे । इन वचनबंधों का एक सामान्य लक्षण यह था कि देशी रियासतें अपने आंतरिक प्रशासन के लिए उत्तरदायी थीं और सम्राट उनके विदेशी सम्बन्धों और प्रतिरक्षा के लिए जिम्मेदार थे । देशी रियासतों का कोई अन्तरराष्ट्रीय जीवन नहीं था और विदेशी प्रयोजनों के लिए उनकी वही स्थिति थी जो ब्रिटिश भारत की थी । आन्तरिक मामलों में ब्रिटिश सम्राट की नीति प्रसामान्यतः शासकों के शासन में हस्तक्षेप न करने की थी । किन्तु कुशासन या कुप्रशासन के मामले में सम्राट हस्तक्षेप करता था । इसी प्रकार सम्राट अन्तरराष्ट्रीय वचनबद्धता को निपटाने के लिए हस्तक्षेप करता था । अतएव आन्तरिक क्षेत्र में भी देशी रियासतों को हस्तक्षेप के विरुद्ध कोई विधिक अधिकार नहीं था ।

इस सबके होते हुए भी देशी रियासतों के शासकों के कुछ व्यक्तिगत अधिकार और विशेषाधिकार थे और वे प्रसामान्यतः अपना व्यक्तिगत प्रशासन चलाते थे जिस पर पड़ोसी ब्रिटिश भारत के राज्यक्षेत्रों की राजनीतिक और सांविधानिक हलचलों का प्रभाव नहीं होता था ।

भारत शासन अधिनियम, 1935 द्वारा प्रस्तावित परिसंघ स्कीम में देशी रियासतों का स्थान ।

भारत शासन अधिनियम, 1935 में सम्पूर्ण भारत के लिए परिसंघ संरचना की कल्पना की गई थी जिसमें देशी रियासतें गवर्नरों के प्रान्तों के साथ इकाई के रूप में सम्मिलित होतीं । किन्तु अधिनियम के निर्माताओं ने देशी रियासतों को प्रान्तों से दो तात्विक बातों में विभिन्न रखा और अन्ततोगत्वा इसी विभेद के कारण स्कीम विफल हो

गई । विभिन्नता दो बातों में थी । (क) प्रान्तों का परिसंघ में अधिमिलन अनिवार्य या स्वयमेव होने वाला था किन्तु देशी रियासतों की दशा में वह स्वैच्छिक और राज्यों के शासन के विकल्प पर आधारित था । (ख) प्रान्तों की दशाओं में प्रान्तों पर परिसंघ का प्राधिकार (कार्यपालक और विधायी) अधिनियम द्वारा बनाए गए सम्पूर्ण परिसंघ क्षेत्र पर था । देशी रियासतों की दशा में परिसंघ के प्राधिकार को विलय विलेख से परिसीमित किया जा सकता था और सभी अवशिष्ट शक्तियां रियासतों में निहित होतीं । 1935 की योजना के बारे में विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है । जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है देशी रियासतों का प्रस्तावित परिसंघ में विलय नहीं हुआ और अधिनियम के इस भाग को 1939 में जब द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ तब अन्तिम रूप से छोड़ दिया गया ।

जब सर स्टेफर्ड क्रिप्स अपनी योजना लेकर भारत आए तो यह स्पष्ट रूप से समझा गया कि उनके द्वारा प्रस्तावित योजना में ब्रिटिश भारत के राजनीतिक भविष्य की ही बात होगी और देशी रियासतों को अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाएगा ।

मंत्रिमंडलीय मिशन के प्रस्ताव ।

किन्तु मंत्रिमंडलीय मिशन ने यह उपधारणा की कि देशी रियासतें भारत के नए विकास में सहयोग देने के लिए तत्पर होंगी । अतएव उन्होंने यह सिफारिश की कि भारत का एक संघ होना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रियासतें दोनों हों, और जो केवल विदेश कार्य, प्रतिरक्षा और संचार का कार्य करेगा । उन्हें छोड़कर शेष शक्तियां राज्यों में निहित होंगी ।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के अधीन परमोच्चता की समाप्ति ।

जब भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 पारित किया गया तो उस अधिनियम की धारा 7(1)(ख) में यह घोषित किया गया कि सम्राट का अधिराजत्व समाप्त हो गया है । इस अधिनियम का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा :

"7(1) — नियत दिन से, —

(ख) हिज़ मैजेस्टी का देशी रियासतों पर अधिराजत्व व्यपगत हो जाएगा और उसके साथ ही इस अधिनियम के पारित किए जाने की तारीख पर प्रवृत्त सभी संधियां और करार जो हिज़ मैजेस्टी और देशी रियासतों के शासकों के बीच किए गए थे, उस तारीख को हिज़ मैजेस्टी द्वारा देशी रियासतों की बाबत प्रयोग किए जाने वाले सभी कृत्य, उस तारीख को विद्यमान हिज़ मैजेस्टी के देशी रियासतों के शासकों के प्रति सभी बाध्यताएं और उस तारीख को किसी देशी रियासत के सम्बन्ध में किसी संधि, अनुदान, रूढ़ि, सहन की गई या अन्यथा, सभी शक्तियां, अधिकार, प्राधिकार या अधिकारिता व्यपगत हो जाएंगे :

परन्तु पैरा (ख) में किसी बात के होते हुए भी उसमें निर्दिष्ट ऐसे करार के उपबन्धों को यथासम्भव सीमा-शुल्क, यातायात और संचार, डाक-तार, या इसी प्रकार के विषयों की बाबत प्रभावी किया जाता रहेगा जब तक कि प्रश्नगत उपबन्धों को देशी रियासतों के शासकों द्वारा त्याग न दिया जाए . . . या डोमिनियन या प्रान्त या उसके किसी सम्बद्ध भाग द्वारा त्याग न दिया जाए या पश्चात्‌वर्ती करार द्वारा अतिष्ठित न किया जाए ।"

यद्यपि अधिराजत्व समाप्त हो गया और देशी रियासतों ने अपनी वही स्थिति पुनः प्राप्त कर ली जो सम्राट द्वारा अधिराजत्व ग्रहण के पहले थी किन्तु अधिकतर राज्यों ने यह अनुभव किया कि उनके लिए शेष भारत से पृथक् या स्वाधीन रहकर अपना अस्तित्व बनाए रखना सम्भव नहीं है । और यह उनके अपने हित में है कि वे भारत और पाकिस्तान के दो डोमिनियनों में से किसी एक में अपने आपको विलीन कर लें । भारत की डोमिनियन की भौगोलिक सीमाओं के भीतर स्थित राज्यों में से हैदराबाद, कश्मीर, बहावलपुर, जूनागढ़ और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की रियासतों को छोड़कर (चित्राल, फुलरा, दीर, स्वात और

अम्ब) सभी रियासतें (जिनकी संख्या 562 थी) 15 अगस्त, 1947 के पहले भारत डोमिनियन में अधिमिलन कर चुकी थीं अर्थात् "नियत दिन" के पहले । अधिमिलन के पश्चात् राज्यों के बारे में भारत सरकार की समस्या दो प्रकार की थी :

(क) देशी रियासतों को समुचित आकार की प्रशासनिक इकाई का रूप देना और (ख) उन्हें भारत की सांविधानिक संरचना में यथोचित स्थान देना ।

(अ) पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए समेकन की एक तीन चरण वाली प्रक्रिया अपनाई गई (इसे तत्कालीन गृह मंत्री के नाम से पटेल स्कीम कहा जाता है) –

एकीकरण और विलय ।

(i) 216 रियासतें उन प्रान्तों में सम्मिलित कर दी गईं जिनके वे भौगोलिक रूप से निकट थीं । इन विलीन रियासतों को संविधान की पहली अनुसूची के भाग ख के राज्यों के राज्यक्षेत्र में सम्मिलित किया गया । विलय की यह प्रक्रिया उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों के तत्कालीन उड़ीसा प्रान्त में 1 जनवरी, 1948 को विलय से प्रारम्भ हुई और जनवरी, 1950 में पश्चिमी बंगाल राज्य में कूच बिहार के विलय से समाप्त हुई ।

(ii) 61 रियासतों को केन्द्र शासित प्रदेश में परिवर्तित किया गया और उन्हें संविधान की पहली अनुसूची के भाग ग में सम्मिलित किया गया । एकीकरण का यह तरीका उन मामलों में अपनाया गया जिनमें प्रशासनिक, सामरिक या अन्य विशेष कारणों से केन्द्र का नियंत्रण आवश्यक समझा गया ।

(iii) एकीकरण का तीसरा तरीका था देशी रियासतों के समूहों को नई जीवनक्षम इकाइयों में समेकित करना । इन्हें राज्य संघ नाम दिया गया । इस प्रकार बनाया गया पहला संघ सौराष्ट्र संघ था जिसमें काठियावाड़ और कुछ अन्य रियासतें मिल गई थीं (15 फरवरी, 1948) । अन्तिम संघ था ट्रावनकोर-कोचीन संघ जो 1 जुलाई, 1949 को बना । 275 रियासतें इस प्रकार सम्मिलित करके 5 संघ बनाए गए – मध्य भारत; पटियाला और पूर्वी पंजाब संघ; राजस्थान; सौराष्ट्र और ट्रावनकोर-कोचीन । इन्हें पहली अनुसूची के भाग ख के राज्यों में सम्मिलित किया गया । भाग ख में सम्मिलित अन्य तीन राज्य थे हैदराबाद, जम्मू-कश्मीर और मैसूर । हैदराबाद और जम्मू-कश्मीर की स्थिति इन सबसे विशेष थी । जम्मू-कश्मीर ने 26 अक्तूबर, 1947 को अधिमिलन किया और उसे भाग ख राज्य के रूप में सम्मिलित किया गया । किन्तु भारत सरकार इस बात के लिए सहमत हो गई कि इस अधिमिलन को राज्य की जनता की पुष्टि के अधीन किया जाएगा । बाद में नवम्बर, 1956 में एक संविधान सभा ने इसकी पुष्टि की । हैदराबाद ने प्रारूपतः भारत में अधिमिलन नहीं किया किन्तु निज़ाम ने एक उद्घोषणा की जिसमें संघ के साथ सांविधानिक सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता स्वीकार की और अपनी रियासत की संविधान सभा के अनुमोदन के अधीन रहते हुए भारत के संविधान को अंगीकार किया । उस राज्य की संविधान सभा ने इसका अनुसमर्थन किया । परिणामस्वरूप हैदराबाद को संविधान की पहली अनुसूची के भाग ख राज्यों में सम्मिलित किया गया ।

(आ) हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार भाग ख राज्यों को प्रशासन की जीवनक्षम इकाइयों के रूप में परिवर्तित किया गया । ये छोटी-छोटी रियासतों के प्रान्तों में विलय किए जाने या केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों में परिवर्तित किए जाने और बड़ी-बड़ी देशी रियासतों के सम्मिलित किए जाने से बची हुई रियासतें थीं । बाद की दो प्रकार की रियासतों को शेष भारत में बनाए गए संविधान में समुचित स्थान देने में कोई समस्या नहीं थी । भारत सरकार और इस प्रकार विलीन प्रत्येक रियासत के शासक के बीच एक करार था जिसके

द्वारा शासकों ने स्वेच्छा से विलय के लिए सहमति दी थी और राज्यों के शासन के लिए सभी शक्तियां डोमिनयन सरकार को सौंप दी थीं । केवल अपने कुछ व्यक्तिगत अधिकार और विशेषाधिकार आरक्षित रखे ।

किन्तु भाग ख राज्यों के विलय की कहानी अभी पूरी नहीं हुई है । 1947 में भारत की डोमिनियन में अधिमिलन के समय राज्यों ने केवल तीन विषयों के लिए अधिमिलन किया था अर्थात् प्रतिरक्षा, विदेश कार्य और संचार । संघ की रचना के बाद और राजनैतिक घटनाओं के परिणामस्वरूप शासकों को यह लगा कि भारत संघ से और घनिष्ठ सम्बन्ध होने चाहिए । सभी संघों के राजप्रमुखों ने और मैसूर के महाराजा ने पुनरीक्षित विलय-विलेखों पर हस्ताक्षर किए जिनके द्वारा सभी रियासतें संघ सूची और समवर्ती विधायी सूची में सम्मिलित सभी विषयों की बाबत भारत डोमिनियन में विलीन हो गईं । इसमें अपवादस्वरूप केवल कराधान सम्बन्धी विषय थे । इस प्रकार भाग ख राज्यों को भाग क राज्यों के समकक्ष ले आया गया । इनमें भेद केवल उन्हीं विषयों के बारे में था जो अनुच्छेद 238 में समाविष्ट थे । साथ ही दस वर्ष की अन्तःकालीन अवधि के लिए केन्द्र को अधीक्षण की शक्ति दी गई [अनुच्छेद 371] । कश्मीर की विशेष स्थिति और समस्या के कारण उसके लिए विशेष उपबन्ध किया गया [अनुच्छेद 370] । उस अनुच्छेद में भारत के संविधान के उस राज्य को उस राज्य की सरकार की सहमति से भागतः लागू किए जाने का विशेष उपबन्ध है ।

यह ध्यान देने योग्य है कि पांचों संघों के राजप्रमुखों ने तथा हैदराबाद, मैसूर और जम्मू-कश्मीर के शासकों ने उद्घोषणा द्वारा भारत के संविधान को अंगीकार किया ।

राज्यों का पुनर्गठन ।

एकीकरण की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 पारित किया गया जिससे भाग ख राज्यों का वर्ग समाप्त कर दिया गया और भाग क और ख राज्यों को एक ही सूची में सम्मिलित कर दिया गया ।[20] भाग ख राज्यों से सम्बन्धित संविधान के सभी विशेष उपबन्धों का लोप कर दिया गया । इस प्रकार देशी रियासतों का अस्तित्व समाप्त हो गया और वे भारत के संविधान में समाहित इकसार राजनीतिक संगठन का भाग बन गईं ।[21] पुनर्गठन की यह प्रक्रिया अभी भी चल रही है । वर्तमान में ऐसी छोटी इकाइयों की मांग को स्वीकार करने की ओर झुकाव दिखाई पड़ता है जो पहले भाग ख राज्य के संघ राज्यक्षेत्र या राज्यों के स्वशासी भाग के रूप में थे । इन्हें राज्य की प्रास्थिति प्रदान की जा रही है । उदाहरण के लिए नागालैंड, मेघालय, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा । इस प्रक्रिया पर आगे अध्याय 6 में (भारत का राज्यक्षेत्र) विस्तार से विचार किया जाएगा ।

संविधान के अतिविशिष्ट और आधारभूत लक्षण ।

इस अध्याय को समाप्त करने के पहले हम यह बता दें कि गोलकनाथ[22] के मामले में जो सम्प्रेक्षण उच्चतम न्यायालय ने किए थे और जिसके परिणामस्वरूप केशवानन्द[23] में जो यह कहा गया कि संविधान के कुछ आधारभूत लक्षण हैं जिन्हें अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संविधान की शक्ति से परे रखा गया है, न्यायालय के अनुसार ये विवक्षित मर्यादाएं हैं । इंदिरा सरकार अनुच्छेद 368 का संशोधन करके इस सिद्धान्त को समाप्त करने पर लगी हुई थी । ये संविधान (24वें संशोधन) अधिनियम, 1971 से प्रारम्भ होकर संविधान (42वें संशोधन) अधिनियम, 1976 तक किए गए संशोधन हैं । इनका उद्देश्य उच्चतम न्यायालय के निष्कर्ष को निष्प्रभावी करना था ।[24] इस संशोधनों के होते हुए न्यायालय ने अपना

दृष्टिकोण छोड़ा नहीं है ।[25] इस अध्याय में हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते । इस पर आगे अध्याय 10 (संशोधन की प्रक्रिया) में विचार किया जाएगा । संविधान के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रकट होता है कि इसके कुछ विशेष लक्षण हैं जिनके आधार पर यह अन्य संविधानों से भिन्न है । इन विशेष लक्षणों को इस अध्याय में संक्षेप में बताया गया है जिससे पाठक भारत के संविधान के विभिन्न उपबन्धों से परिचित हो जाएं ।

निर्देश

1. सी.ए.डी., जिल्द VII, पृष्ठ 35-38 ।
2. सी.ए.डी., जिल्द VII, पृष्ठ 242; सी.ए.डी., जिल्द XI, पृष्ठ 613, 616 ।
3. संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान सभी संशोधनों सहित 7,000 शब्दों से अधिक नहीं है ।
4. सी.ए.डी. जिल्द XI, पृष्ठ 839-40 ।
5. इनमें से कुछ उपबन्ध संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा निकाल दिए गए हैं । इस संशोधन द्वारा राज्यों का वर्गीकरण समाप्त कर दिया गया है ।
6. डा. राजेन्द्र प्रसाद, सी.ए.डी., जिल्द X, पृष्ठ 891 ।
7. इस अधिनियम का नाम मूलतः "अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955" था । 1976 के अधिनियम 106 द्वारा इसका विस्तार करके इसे और कठोर बनाया गया है तथा इसका नाम सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 कर दिया गया है ।
8. वेयर, *माडर्न कांस्टीट्यून्स*, पृष्ठ 143 ।
9. सी.ए.डी., तारीख 8-11-1948, पृष्ठ 322-23 ।
10. जैनिंग्स, *सम करैक्टरिस्टिक्स आफ दि इंडियन कांस्टीट्यूशन*, 1953, पृष्ठ 2, 6, 25-26 ।
11. 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा जो प्रमुख परिवर्तन किए गए हैं उन पर डी.डी. बसु के *"कांस्टीट्यूशन अमेंडमेंट ऐक्टस"* पृष्ठ 117-34 पर विस्तार से विचार करके उनका मूल्यांकन किया गया है । इसे इस पुस्तक के साथ पढ़ा जाना चाहिए ।
12. सी.ए.डी. जिल्द VII, पृष्ठ 293 ।
13. इन अपवर्जनकारी अनुच्छेदों का — 31क-31ग — विस्तृत विश्लेषण और उस पर टिप्पणियां डी.डी. बसु के *"कांस्टीट्यूशनल ला आफ इंडिया"* छठा संस्करण, 1991) के पृष्ठ 100 और आगे के पृष्ठों पर है । 1992 तक नवीं अनुसूची में 254 अधिनियम रखे गए हैं ।
14. रिपोर्ट आफ दि फर्स्ट जनरल इलेक्शंस इन इंडिया (1951-52), जिल्द 1 ।
15. देखिए संविधान (45वां संशोधन) अधिनियम, 1980 ।
16. लोकसभा में प्रधान मंत्री नेहरू, 28-3-1957 ।
17. सी.ए.डी., जिल्द IV, पृष्ठ 578 (सरदार पटेल) ।
18. सी.ए.डी., जिल्द VII, पृष्ठ 984 (मुंशी) ।
19. *राम जवाया* बनाम *पंजाब राज्य,* (1955) 2 एस.सी.आर. 225; *शमशेर सिंह* बनाम *पंजाब राज्य,* ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 2192 ।
20. आगे के अध्याय में इस विषय का विस्तार से विवेचन किया जाएगा । सभी राज्य अब एक ही प्रकार के हैं और 1991 के अन्त में उनकी संख्या 25 है । इसके अतिरिक्त 7 संघ राज्यक्षेत्र हैं ।
21. इस संदर्भ में यह उल्लेख करना उचित होगा कि संविधान (26वां संशोधन) अधिनियम, 1971 द्वारा अनुच्छेद 291 और 362 का निरसन करके और अनुच्छेद 363क का अन्तःस्थापन करके भारत में रजवाड़ों के अन्तिम चिह्न समाप्त कर दिए गए (28-12-1971 से) । इसके द्वारा पूर्व देशी रियासतों के शासकों को दी गई निजी थैली और कुछ व्यक्तिगत विशेषाधिकार जो उन्हें संविधान के अधीन दिए गए थे उत्सादित कर दिए गए । इसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के पूर्व की देशी रियासतों के प्रमुखों को भारत के अन्य नागरिकों के समान स्तर पर ले आया गया है ।
22. *गोलकनाथ* बनाम *पंजाब राज्य,* ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1643 ।
23. *केशवानन्द* बनाम *केरल राज्य,* ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1461 ।

24. जनता सरकार ने यह प्रयत्न किया था कि संविधान के "आधारभूत लक्षणों के सिद्धान्त" को संविधान में ही स्थान दिया जाए । उसके लिए चार आधारभूत लक्षणों के संशोधन के लिए जनमत संग्रह की अपेक्षा करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 368 में सुसंगत संशोधन करने का प्रस्ताव 45वें संशोधन विधेयक, 1978 में था । कांग्रेस के विरोध के कारण यह उपबन्ध पारित नहीं हो सका । उस विधेयक में ये चार आधारभूत लक्षण उल्लिखित थे — (i) संविधान की पंथ निरपेक्ष और लोकतांत्रिक प्रकृति, (ii) भाग 3 के अधीन मूल अधिकार, (iii) विधान मंडलों के लिए स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचन, (iv) न्यायपालिका की स्वतंत्रता ।
25. *मिनर्वा मिल्स* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1789 (पैरा 21–26, 28, 91, 93-94); *संपत* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1987 एस.सी. 386; *भारत संघ* बनाम *रघुबीर*, ए.आई.आर. 1989 एस.सी. 1933 पैरा (7) ।

5

परिसंघात्मक प्रणाली

हमारे संविधान का अनुच्छेद 1(1) यह कहता है "भारत, अर्थात् इंडिया, राज्यों का संघ होगा" । प्रारूप संविधान प्रस्तुत करते हुए प्रारूप समिति के अध्यक्ष डा. अम्बेडकर ने यह कहा था "यद्यपि संविधान की संरचना परिसंघात्मक है" किन्तु समिति ने "संघ"[1] शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि इससे कुछ लाभ हैं । संविधान सभा[2] में इस बात का निर्वचन करते हुए उन्होंने यह कहा कि यह लाभ दो दृष्टि से है अर्थात् (क) भारत का परिसंघ इकाइयों के बीच किसी करार के परिणामस्वरूप नहीं है, और (ख) संघटक इकाइयों को उससे विलग होने का अधिकार नहीं है ।

भारत, राज्यों का संघ ।

"संघ" शब्द से किसी विशेष प्रकार के परिसंघ का द्योतन नहीं होता है । इस शब्द का प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की उद्देशिका में भी किया गया है । अमेरिका के संविधान को परिसंघ का नमूना माना गया है । इसका प्रयोग इन अधिनियमों में भी मिलता है । ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट (जो लार्ड हेल्डेन के अनुसार वास्तव में परिसंघ का सृजन नहीं करता है), यूनियन आफ साउथ अफ्रीका ऐक्ट, 1909 की उद्देशिका में, जो स्पष्ट रूप से ऐकिक संविधान है, सोवियत समाजवादी गणराज्य के संविधान में (1977) जिसमें प्रत्येक गणराज्य के अर्थात् संघ की इकाइयों के विलग होने के अधिकार को औपचारिक रूप से स्वीकार किया गया है [अनुच्छेद 72][3] ।

अतएव हमें प्रारूपकार द्वारा किए गए नामकरण पर ध्यान न देते हुए संविधान के उपबन्धों की परीक्षा करके यह अवधारित करना चाहिए कि क्या वह परिसंघ प्रणाली की रचना करता है जैसा कि डा. अम्बेडकर ने दावा किया था । विशेषकर कुछ विदेशी विद्वानों ने परिसंघ होने के दावे के विरुद्ध जो आलोचना की है उसे दृष्टि में रखते हुए ।

परिसंघीयता पर विचार करने में कठिनाई यह है कि परिसंघ राज्य की कोई सर्वस्वीकृत परिभाषा नहीं है । दूसरी कठिनाई यह है कि इस विषय के विद्वान प्रायः अमेरिका के संविधान को नमूना मानकर चलते हैं । यह संविधान विश्व के परिसंघ संविधानों में सर्वाधिक प्राचीन है (1787) । ये विद्वान ऐसी प्रणाली को जो उस नमूने के अनुरूप नहीं है परिसंघ मानने से इंकार करते हैं । किन्तु 1787 के पश्चात् विश्व के अनेकों देशों ने ऐसे संविधान अंगीकार किए हैं जिनमें परिसंघात्मक लक्षण हैं । यदि अमेरिका के ऐतिहासिक स्तर को कठोर रूप से लागू किया जाए तो उन पश्चात्वर्ती संविधानों में से बहुत ही कम परिसंघीयता के परीक्षण में उत्तीर्ण होंगे । सम्भवतः केवल स्विटजरलैंड और आस्ट्रेलिया ही इस दृष्टि से परिसंघात्मक होंगे । किन्तु बहुत से आधुनिक संविधानों को परिसंघीय वर्ग से बाहर करने से कुछ लाभ नहीं होगा क्योंकि राजनीति शास्त्र के ज्ञाताओं द्वारा जिस पारम्परिक

आधुनिक विश्व के विभिन्न प्रकार के परिसंघ संविधान ।

वर्गीकरण को स्वीकार किया जाता है उसके अनुसार संविधान या तो ऐकिक हैं या परिसंघीय । अतएव यदि किसी संविधान में दोनों प्रकार के लक्षण हैं तो हमें उन लक्षणों का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि वह संविधान आधारभूत रूप से ऐकिक है या परिसंघीय चाहे उसमें कुछ अनुषंगी परिवर्तन विद्यमान हों । परिसंघीयता के प्रश्न पर उदार दृष्टिकोण आवश्यक है । विशेषकर इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि संविधान निर्माण के क्षेत्र में जो आधुनिक प्रयोग हो रहे हैं उनमें न तो कोई संविधान शुद्ध रूप से ऐकिक है और न परिसंघीय । लेखक ने इस विषय पर इस पुस्तक के पूर्ववर्ती संस्करणों में और "कमैंटरी आन दि कांस्टीट्यूशन आफ इंडिया"[4] में जो मत अभिव्यक्त किया था उसका परिसंघ विषय के एक अनुसंधानकर्ता ने (जो स्वयं अमेरिकी है)[5] स्पष्ट रूप से समर्थन किया है और यह कहा है कि कोई राज्य परिसंघीय है या ऐकिक यह प्रश्न परिसंघ के गुणों की गिनती का है और इसका उत्तर इस पर आधारित होगा कि उसमें परिसंघ के कितने लक्षण हैं । एक दूसरे अमेरिकी विद्वान[6] ने मत व्यक्त करते हुए यह कहा है कि परिसंघ एक संस्था आधारित संकल्पना नहीं है बल्कि एक कृत्याधारित संकल्पना है और कोई भी सिद्धांत जो यह कहता है कि कुछ ऐसे अनिवार्य लक्षण हैं जिनके बिना कोई राजनीतिक प्रणाली परिसंघ नहीं हो सकती तो वह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण में संस्थाएं एक सी नहीं हो सकतीं ।

भारत का संविधान आधारतः परिसंघीय, कुछ लक्षण ऐकिक ।

लेखक के निष्कर्ष का पूर्वानुमान करते हुए यह कह सकते हैं कि भारत की सांविधानिक प्रणाली आधारतः परिसंघीय है किन्तु इसमें कुछ स्पष्ट ऐकिक तत्व भी हैं । इस निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए हमें परिसंघ प्रणाली के कुछ आवश्यक न्यूनतम लक्षण सूत्रबद्ध करने होंगे जिनके बारे में सभी राजनीति शास्त्र के विद्वानों में सहमति है ।

परिसंघीय राज्य व्यवस्था के आवश्यक तत्व ।

विद्वानों के बीच ब्यौरे के विषयों पर मतभेद हो सकता है किन्तु इस बात पर सर्वसम्मति है कि परिसंघ प्रणाली के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं :

(i) *द्वैध शासन* — ऐकिक राज्य में एक सरकार होती है अर्थात् राष्ट्रीय सरकार । परिसंघीय राज्य में दो सरकारें होती हैं राष्ट्रीय या परिसंघीय सरकार और प्रत्येक संघटक राज्य की सरकार ।

ऐकिक राज्य में स्थानीय उपखंड बनाए जा सकते हैं । ऐसे स्थानीय प्राधिकारियों को स्वायत्तता प्राप्त होती है किन्तु वे केवल ऐसी शक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं जो समय-समय पर उन्हें राष्ट्रीय सरकार द्वारा प्रत्यायोजित की जाएं और राष्ट्रीय सरकार प्रत्यायोजित की गई सभी या किन्हीं शक्तियों को अपनी इच्छा से वापस ले सकती है ।

परिसंघीय राज्य में कई राज्य मिलकर एक राज्य बनाते हैं । परिसंघीय राज्य की अधिकारिता समान हित के मामलों पर होती है जब कि संघटक राज्य अन्य विषयों के बारे में स्वायत्त होते हैं । संघटक राज्य परिसंघीय सरकार के प्रत्यायोजिती या अभिकर्ता नहीं होते हैं । परिसंघ सरकार और राज्य सरकार दोनों ही अपने प्राधिकार एक ही स्रोत से प्राप्त करते हैं अर्थात् देश के संविधान से । दूसरी ओर संघटक राज्य को स्वेच्छा से परिसंघ से विलग होने का अधिकार नहीं है । परिसंघ और महापरिसंघ में यही भिन्नता है कि महापरिसंघ में इकाइयों को यह अधिकार होता है ।

(ii) *शक्तियों का वितरण* — जिस उद्देश्य से परिसंघीय राज्य की रचना की जाती है उसी में परिसंघीय शासन और राज्य के बीच प्राधिकार का विभाजन अन्तर्वलित है । किन्तु सभी परिसंघीय संविधानों में वितरण की पद्धति एक सी नहीं होती ।

(iii) *संविधान की सर्वोच्चता* — परिसंघीय राज्य का जन्म संविधान से होता है वैसे ही जैसे कि निगम की उत्पत्ति उसके सृजनकर्ता अधिनियम से होती है । प्रत्येक शक्ति — कार्यपालिका, विधायी या न्यायिक, चाहे वह परिसंघ की हो या संघटक राज्यों की — संविधान के अधीन होती है और संविधान द्वारा नियंत्रित होती है ।

(iv) *न्यायालय का प्राधिकार* — परिसंघीय राज्य में संविधान की विधिक सर्वोच्चता परिसंघीय प्रणाली की विद्यमानता के लिए आवश्यक है । सरकार की समकक्ष शाखाओं के बीच और परिसंघीय शासन और राज्यों के बीच शक्तियों के विभाजन को बनाए रखना आवश्यक है । यह सुनिश्चित करने के लिए न्यायालय में संविधान के निर्वचन की सर्वोच्च शक्ति निहित की जाती है । न्यायालय को यह शक्ति भी दी जाती है कि वह परिसंघीय और राज्य शासनों द्वारा या उनके विभिन्न अंगों द्वारा किए गए ऐसे कार्यों को शून्य घोषित कर दे जो संविधान के उपबन्धों का उल्लंघन करते हैं ।

हमारे संविधान द्वारा जिस राजनीतिक प्रणाली को अपनाया गया है उसमें परिसंघीय राज्य व्यवस्था के उपर्युक्त सभी तत्व विद्यमान हैं, यह दिखाने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है । हमारा संविधान अपने देश की सर्वोच्च विधि है और संघ और राज्य सरकार और उनके विभिन्न अंग संविधान से ही प्राधिकार प्राप्त करते हैं । राज्य संघ से विलग नहीं हो सकते । संघ और राज्य सरकारों के बीच विधायी और प्रशासनिक शक्तियों का विभाजन किया गया है । उच्चतम न्यायालय हमारी न्यायपालिका के शीर्ष पर स्थित है और शक्तियों के इस विभाजन की रक्षा करता है तथा संविधान द्वारा अधिरोपित मर्यादाओं के उल्लंघन में की गई कार्यवाहियों को अविधिमान्य करता है । उच्चतम न्यायालय की इस अधिकारिता की सहायता वह व्यक्ति भी ले सकता है जो संघ या राज्य की ऐसी विधि के द्वारा प्रभावित हुआ है जो उसके अनुसार, संविधान द्वारा किए गए शक्तियों के विभाजन का उल्लंघन करती है ।[7] संघ और राज्य स्वयं इस शक्ति का लाभ उठाकर संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन उच्चतम न्यायालय की प्रारम्भिक अधिकारिता में एक दूसरे के विरुद्ध कार्यवाही कर सकते हैं ।[8] इन आधारभूत परिसंघीय लक्षणों के कारण हमारे उच्चतम न्यायालय ने संविधान को परिसंघीय कहा है ।[9]

भारतीय परिसंघीयता की विशेषताएं ।

यद्यपि हमारे संविधान में परिसंघ के आवश्यक लक्षण हैं किन्तु वह विश्व की आदर्श परिसंघीय प्रणालियों से कुछ मूलभूत बातों में भिन्नता रखती है ।

(अ) *रचना का ढंग* — अमेरिका जैसा परिसंघ, प्रभुत्वसम्पन्न और स्वतंत्र राज्यों के बीच सामान्य महत्व के कुछ विषयों के प्रशासन के लिए किए गए स्वैच्छिक करार के परिणामस्वरूप जन्म लेता है ।

किन्तु कनाडा के नमूने वाला एक आनुकल्पिक ढंग भी है (यदि कनाडा को परिसंघीय परिवार में सम्मिलित किया जाए) अर्थात् ऐकिक राज्य के प्रान्तों को परिसंघ में ढालकर उन्हें स्वायत्तता प्रदान की जाती है । कनाडा के प्रान्तों का कनाडा की उपनिवेशवादी सरकार से भिन्न कोई पृथक् अस्तित्व नहीं था । वहां संघ की रचना उनके बीच करार के कारण नहीं हुई थी बल्कि ब्रिटिश कानून द्वारा अधिरोपित की गई थी । इस अधिनियम में प्रान्तों से उनके पूर्व अधिकार ले लिए गए और फिर उन्हें डोमिनियन और प्रान्तों के बीच विभाजित किया गया ।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं भारत शासन अधिनियम, 1935 तक भारत में पूर्णतः केन्द्रीकृत ऐकिक संविधान था । 1904 की कांग्रेस से भारत के राष्ट्रवादियों के मन में "भारत के संयुक्त राज्य" की कल्पना थी । मोंटफोर्ड रिपोर्ट में ब्रिटिश भारत के

स्वायत्त राज्य और देशी रियासतों के, केन्द्रीय सरकार के तत्वावधान में, परिसंघ की कल्पना की गई थी, किन्तु भारत शासन अधिनियम, 1915-19 में केवल प्रान्तीय स्वायत्तता दी गई । इस बात को हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं । प्रान्तीय सरकारें वास्तव में केन्द्रीय सरकार के अभिकरण मात्र थीं । इनकी शक्तियां केन्द्रीय सरकार से प्रत्यायोजित थीं ।

भारत में परिसंघ रचना के ढंग का अधिमूल्यन करने के लिए हमें भारत शासन अधिनियम, 1935 की ओर लौटना होगा । इसमें सर्वप्रथम परिसंघ की संकल्पना प्रस्तुत की गई और भारत से सम्बन्धित इस संविधान अधिनियम में "भारत का परिसंघ" अभिव्यक्ति का प्रयोग किया गया (धारा 5) । हमारे संविधान ने, 1935 के इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के संबंध में प्रारंभ की गई परिसंघ प्रणाली को बनाए रखा ।

भारत शासन अधिनियम, 1935 द्वारा परिकल्पित परिसंघ ।

1935 के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश संसद् ने वैसी ही परिसंघ प्रणाली स्थापित की जैसी कनाडा में की गई थी अर्थात् स्वायत्त इकाइयों का सृजन किया गया और उसी अधिनियम द्वारा उन्हें संयोजित करते हुए परिसंघ की रचना की गई । भारत में अभी तक जिन शक्तियों का प्रयोग किया जा रहा था वे सम्राट ने पुनः अपने पास लेकर परिसंघ और राज्यों में विभाजित कर दीं । इस प्रणाली के अधीन प्रान्तों को प्राधिकार सीधे सम्राट से प्राप्त हुआ था और वे केन्द्रीय नियंत्रण से मोटे तौर से स्वतंत्र रहते हुए अपनी सीमाओं के भीतर विधायी और कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करते थे । फिर भी "गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व" और उसकी कुछ विषयों में अपने व्यक्तिगत निर्णय का और विवेकाधिकार का प्रयोग करने की बाध्यता तथा केन्द्र की प्रान्तों को निर्देश देने की शक्ति के माध्यम से केन्द्र ने अपना नियंत्रण बनाए रखा ।[10]

इस प्रकार ऐकिक प्रणाली को परिसंघ प्रणाली में संपरिवर्तित करने की विचित्र स्थिति को "भारत के सुधार के लिए संयुक्त संसदीय समिति" के शब्दों में सर्वोत्तम रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :

> "ऐकिक राज्य को परिसंघ में संपरिवर्तित करके हम ऐसा कदम उठा रहे हैं जिसके लिए इतिहास में कोई दृष्टान्त नहीं है । सामान्यतया स्वतंत्र या स्वायत्त सरकारों के बीच करार के परिणामस्वरूप परिसंघ उत्पन्न होता है । ये सरकारें नए केन्द्रीय संगठन को अपनी प्रभुता या स्वायत्तता का एक अंश अर्पित कर देती हैं । वर्तमान में ब्रिटिश इंडिया के प्रान्त स्वायत्त नहीं हैं क्योंकि वे सरकार के प्रशासनिक और विधायी नियंत्रण के अधीन हैं तथा जिस प्राधिकार का वे प्रयोग करते हैं वह उन्हें सपरिषद् गवर्नर-जनरल की कानूनी नियम बनाने की शक्ति के अधीन प्राप्त हुआ है । हमें यह आवश्यक जान पड़ता है कि हम एक अधिनियम से स्वायत्त इकाइयों का सृजन करें और उसी अधिनियम से उन्हें संयोजित करके एक परिसंघ बनाएं ।"

भारत में परिसंघ प्रणाली के उद्‌भव की इस विचित्रता को स्मरण रखना उपयोगी होगा । 1935 के अधिनियम के पूर्व या उसके अधीन प्रान्त किसी भी अर्थ में अमेरिकन संघ के राज्यों के समान प्रभुत्वसम्पन्न राज्य नहीं थे । संविधान की रचना भी, संविधान सभा में समवेत भारत के लोगों ने की है । भारत संघ को स्वशासी राज्यों के बीच किसी संविदा या करार का परिणाम नहीं माना जा सकता ।[2] जहां तक प्रान्तों का प्रश्न है उनकी प्रगति ऐकिक से परिसंघीय संगठन की ओर हुई है । किन्तु यह भी इस कारण नहीं हुआ कि प्रान्त परिसंघ इकाई के अधीन स्वशासी इकाई बनने के इच्छुक थे जैसा कि कनाडा में था । जैसा कि हम अभी देख चुके हैं प्रान्तों को कृत्रिम रूप से एक मर्यादा के भीतर स्वशासी बनाया गया । संविधान के निर्माताओं ने बस यही किया कि देशी रियासतों को इन स्वशासी प्रान्तों से सहयुक्त करके एक परिसंघ बना दिया । देशी रियासतों ने 1935 में इस प्रकार अधिमिलन से इंकार कर दिया था ।

परिसंघ की रचना के लिए यह आवश्यक शर्त है कि परिसंघकारी इकाइयों में आपस में कुछ न कुछ समरसता हो । किन्तु भारत में स्थिति बिल्कुल भिन्न रही है । प्राचीन समय से देशी रियासतें राजनीतिक दृष्टि से अलग रहीं । उनमें और शेष भारत का गठन करने वाले प्रान्तों में बहुत कम बातें सामान्य थीं । 1935 की परिसंघ स्कीम के अधीन भी प्रान्तों और देशी रियासतों को भिन्न समझकर व्यवहार किया जाता था । उस प्रणाली में देशी रियासतों का अधिमिलन स्वैच्छिक था । जब कि प्रान्तों का अनिवार्य था । परिसंघ द्वारा देशी रियासतों पर केन्द्र कौन-सी शक्तियों का प्रयोग कर सकेगा यह भी अधिमिलन विलेख द्वारा परिनिश्चित किया जाना था । यह वैकल्पिक था इसीलिए देशी रियासतों के शासकों ने 1935 की परिसंघ प्रणाली में संयुक्त होने से इंकार कर दिया । उनमें "परिसंघ भावना" (डाइसी) का अभाव था अर्थात् शेष भारत से मिलकर एक परिसंघ बनाने की इच्छा की कमी थी । किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है ब्रिटिश सम्राट की सर्वोच्चता व्यपगत हो जाने से राजनैतिक परिस्थिति बदल गई । जिसके परिणामस्वरूप अधिकांश भारतीय राज्य भारत की स्वतंत्रता के समय भारत के डोमिनियन में विलीन हो गए ।

संविधान के निर्माताओं को परिसंघ प्रणाली में देशी रियासतों को लाने का श्रेय उतना नहीं है जितना कि उन्हें एक ही संविधान के अधीन परिसंघ की अन्य इकाइयों के समान स्तर पर रखने का है । संक्षेप में देशी रियासतों के उत्तरजीवी (पहली अनुसूची के भाग ख[11] के राज्य) कुछ छोटे-छोटे अपवादों के अधीन रहते हुए पुराने प्रान्तों (भाग क राज्य[11]) के समान राजनीतिक प्रणाली के अधीन रखे गए । भाग क और भाग ख के राज्यों के पृथक् अस्तित्व को पूर्णतया समाप्त करके इन दोनों प्रवर्गों का एकीकरण कर दिया गया है और उनके स्थान पर संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा राज्यों का एक ही प्रवर्ग बना दिया गया है[11] ।

(आ) *परिसंघ में राज्यों की स्थिति* – संयुक्त राज्य अमेरिका में परिसंघ की रचना के पूर्व राज्यों का प्रभुत्वसम्पन्न और स्वतंत्र अस्तित्व था इसलिए वे सामान्य प्रयोजनों के लिए जितनी प्रभुता का समर्पण करना आवश्यक था उससे अधिक देने के लिए सहमत नहीं थे । परिणामस्वरूप परिसंघ के संविधान में राज्यों के अधिकारों के संरक्षण के लिए बहुत से रक्षोपाय किए गए हैं । भारत में इसकी आवश्यकता नहीं थी क्योंकि राज्य प्रभुत्वसम्पन्न इकाइयां नहीं थीं । इन विभिन्नताओं की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है :

(i) अमेरिकी संविधान में अवशिष्ट शक्तियां राज्यों को दी गई हैं, हमारे संविधान में ये शक्तियां संघ को समनुदिष्ट हैं [अनुच्छेद 248],

किन्तु यह बात अपने आप में हमारी राजनीतिक प्रणाली के परिसंघीय चरित्र को समाप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि यह शक्तियों के वितरण के ढंग के सम्बन्ध में है । हमारे संविधान ने संघ में विशिष्ट शक्तियां निहित करके कनाडा की प्रणाली का अनुसरण किया है ।

(ii) अमेरिका के संविधान में केवल राष्ट्रीय सरकार का संविधान लेखबद्ध किया गया है, राज्यों को अपने मूल संविधान परिरक्षित रखने की छूट दी गई है । भारत के संविधान में राज्यों को अपने मूल संविधान परिरक्षित रखने की छूट दी गई है । भारत के संविधान में राज्यों का संविधान भी दिया गया है और, जम्मू-कश्मीर राज्य को छोड़कर, किसी राज्य को अपना संविधान बनाने का अधिकार नहीं है ।

(iii) संविधान के संशोधन के विषय में राज्यों की समनुदेशित भूमिका संघ की अपेक्षा कम महत्व की है । अमेरिका जैसे परिसंघ के पीछे सिद्धान्त यह है कि संघ संघटक इकाइयों

के बीच करार का परिणाम है इसलिए संविधान का वह भाग जिसमें यह करार समाविष्ट किया गया है सम्मिलनकारी पक्षकारों की सम्मति के बिना परिवर्तित नहीं किया जा सकता । अधिकांश परिसंघ प्रणालियों में इस सिद्धान्त को कुछ परिवर्तनों के साथ अंगीकार किया गया है ।

भारत में परिसंघ संरचना को प्रभावी करने वाली कुछ विनिर्दिष्ट बातों को (देखिए अध्याय 10) छोड़कर संविधान के अधिकांश भाग का संशोधन करने के लिए राज्यों से परामर्श की आवश्यकता नहीं समझी गई । संशोधन, संघ की संसद् में विधेयक लाकर और उसे विशेष बहुमत से पारित करके किया जा सकता है ।

(iv) संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन है किन्तु हमारे संविधान में संघ द्वारा राज्यों के प्रशासन और विधान दोनों पर नियंत्रण का उपबन्ध है । जब कोई विधान राष्ट्रपति के विचार के लिए राज्यपाल द्वारा आरक्षित किया जाता है तो वह राष्ट्रपति द्वारा अननुज्ञात किया जा सकता है [अनुच्छेद 201] । राज्य का राज्यपाल संघ के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और राष्ट्रपति के प्रसदपर्यन्त पद धारण करता है [अनुच्छेद 155-156] । ये सब विचार अमेरिका या आस्ट्रेलिया के संविधान के लिए प्रतिकूल हैं किन्तु कनाडा के संविधान में पाए जाते हैं ।

(v) अमेरिकी परिसंघ को अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने "अविनाशी राज्यों का अविनाशी संघ" कहा है ।[12]

इसमें दो प्रस्थापनाएं हैं :—

(क) कोई भी राज्य अपनी इच्छानुसार संघ से विलग होकर संघ को नष्ट नहीं कर सकता ।[13]

(ख) इसके विपरीत परिसंघ की सरकार नए राज्यों की रचना करके या राज्यों की करार के समय विद्यमान सीमाओं को सम्बद्ध राज्य के विधान मंडल की सहमति के बिना परिवर्तन करके, संयुक्त राज्य का मानचित्र दोबारा नहीं बना सकती । आस्ट्रेलिया के संविधान में भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है और राष्ट्रकुल को अविघटनीय घोषित किया गया है । इसके अतिरिक्त यह रक्षोपाय जोड़ा गया है कि प्रभावित राज्य की सीमाओं में परिवर्तन करने के लिए उस राज्य में जनमत संग्रह आवश्यक होगा ।

(क) यह हम देख चुके हैं कि पहली प्रस्थापना हमारे संविधान निर्माताओं ने स्वीकार की । भारत संघ के राज्यों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे विलग होने के अधिकार का प्रयोग करें । इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि 1963 में संविधान के 16वें संशोधन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विलग होने के पक्षपोषण को वाक् स्वातंत्र्य का संरक्षण नहीं मिलेगा[14] ।

विलग होने का अधिकार नहीं ।

(ख) किन्तु हमारे संविधान में इस दूसरी प्रस्थापना के विपरीत बात रखी गई है । हमारे संविधान के अनुसार संघ की संसद् के लिए राज्यों का पुनर्गठन या उनकी सीमाओं का परिवर्तन करना सम्भव है । यह विधान की सामान्य प्रक्रिया के अनुसार सादे बहुमत से किया जा सकता है [अनुच्छेद 4(2)] । संविधान में यह अपेक्षा नहीं है कि संसद् को ऐसी विधि बनाने के लिए राज्य के विधान मंडल की सम्मति प्राप्त करना आवश्यक है । केवल संसद् को विधेयक की सिफारिश करने के प्रयोजन के लिए राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वे प्रभावित राज्य के विधान मंडल के विचार ज्ञात कर लें । यह बाध्यता भी पूरी तरह से आज्ञापक नहीं है । राष्ट्रपति समय सीमा नियत

संघ की संसद् द्वारा सीमाओं के परिवर्तन के लिए राज्य की सम्मति आवश्यक नहीं ।

कर सकते हैं जिसके भीतर राज्य को अपने विचार अभिव्यक्त करने होंगे (यथासंशोधित अनुच्छेद 3 का परन्तुक) । इस प्रकार भारत परिसंघ में राज्य उस प्रकार अविनाशी नहीं है जिस प्रकार अमेरिका में है । जिस सरलता से संघ की संसद् सामान्य विधान द्वारा परिसंघ के गठन को नया रूप दे सकती है उसका उदाहरण राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 के अधिनियमन से मिलता है । इस अधिनियम के द्वारा, संविधान के प्रारम्भ के छह वर्ष के भीतर ही राज्यों की संख्या 27 से घटकर 14 हो गई । विद्यमान राज्यों के खंडित करने की प्रक्रिया भी संसद् द्वारा एकपक्षीय विधान द्वारा की गई है जिसके परिणामस्वरूप अनेक नए राज्य बने हैं — गुजरात, नागालैंड, हरियाणा, मेघालय, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोवा ।

अतएव यह स्वाभाविक है कि विदेशियों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हो कि भारत के संविधान ने किस प्रकार का परिसंघ बनाया है ।

(vi) संविधान राज्यों को उनकी सम्मति के बिना उनकी राज्यक्षेत्रीय अखंडता को प्रभावित न करने की कोई प्रत्याभूति नहीं देता । साथ ही हमारे संविधान की परिसंघ स्कीम के पीछे "राज्यों के समान अधिकार" जैसा कोई सिद्धान्त नहीं है क्योंकि यह राज्यों के बीच करार का परिणाम नहीं है ।

अमेरिकी परिसंघ के आवश्यक सिद्धान्तों में संविधान के अधीन संघटक राज्यों की समानता है चाहे उनके मत या जनसंख्या कितनी भी हो । यह सिद्धान्त परिसंघ विधान मंडल के उच्च सदन में (अर्थात् सीनेट[15]) राज्यों के प्रतिनिधित्व की समानता में प्रतिबिम्बित होता है । यह सिद्धांत परिसंघ संगठन में राज्यों की प्रतिष्ठा और हित की रक्षा के लिए है ऐसा माना जाता है । इसके अतिरिक्त यह प्रत्याभूति भी जोड़ी गई है कि किसी राज्य को उसकी सहमति के बिना सीनेट में समान प्रतिनिधित्व से वंचित नहीं किया जाएगा [अनुच्छेद 5] ।

राज्य प्रतिनिधित्व में समानता का अभाव ।

हमारे संविधान में राज्य परिषद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व में समानता नहीं है । चौथी अनुसूची के अनुसार विभिन्न राज्यों के सदस्यों की संख्या एक से चौंतीस के बीच है । उच्चतर सदन के इस प्रकार गठन के कारण हमारे संविधान में इस प्रकार का कोई रक्षोपाय नहीं है कि छोटे राज्यों के हितों का विशाल या अधिक जनसंख्या वाले राज्यों द्वारा अध्यारोहण न किया जाए । हमारी राज्य परिषद् को भी सही अर्थ में परिसंघ सदन नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें राज्यों और संघ राज्यक्षेत्रों के 238 प्रतिनिधियों के अतिरिक्त 12 नामनिर्दिष्ट सदस्य भी हैं ।

सिक्किम की प्रास्थिति ।

(vii) भारतीय परिसंघ में एक नया लक्षण था सिक्किम का "सहयुक्त राज्य" के रूप में प्रवेश । इसे भारत संघ के सदस्य के रूप में, अनुच्छेद 1 में यथापरिभाषित प्रवेश दिए बिना संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा संविधान में अनुच्छेद 2क अन्तःस्थापित करके यह स्थिति प्रदान की गई थी । यह नवीन प्रयोग अल्पकालिक था और उसकी विधिमान्यता का प्रश्न अब व्यवहारिक दृष्टि से अर्थहीन हो गया है क्योंकि जो भी 35वें संशोधन अधिनियम, 1974 द्वारा किया गया था उसे 36वें संशोधन अधिनियम, 1975 द्वारा मिटा दिया गया । इस अधिनियम द्वारा सिक्किम को भारत संघ में पहली अनुसूची के अधीन पूर्ण राज्य के रूप में प्रवेश दिया गया । भारत के संविधान की मूल परिसंघ स्कीम को जिसमें राज्य और संघ राज्यक्षेत्र थे यथावत् रखा गया ।

अनुच्छेद 371च में सिक्किम के बारे में उस राज्य की विशेष परिस्थिति को देखते

हुए कुछ विशेष उपबंध रखे गए हैं । अनुच्छेद 371छ मिजोरम राज्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष उपबंधों की व्यवस्था करता है । अनुच्छेद 371ज और 371झ द्वारा अरुणाचल प्रदेश और गोवा के लिए विशेष उपबंध किए गए हैं ।

(इ) *राज्य व्यवस्था की प्रकृति* – राष्ट्रीय एकता और राज्यों के अधिकार में समन्वय स्थापित करने के लिए अमेरिकी संविधान के रचयिताओं ने एक क्रान्तिकारी हल ढूंढा । उन्होंने प्रभुता के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु का तर्कसम्मत विभाजन करके एक द्वैध राज्य व्यवस्था की सृष्टि की जिसमें दोहरी नागरिकता, अधिकारों के दो समूह और न्यायालयों की दो प्रणालियां बनाई गईं ।

दोहरी नागरिकता का अभाव ।

(i) कोई भी अमेरिकी न केवल उस राज्य का नागरिक होता है जिसमें वह निवास करता है बल्कि विभिन्न परिस्थितियों में संयुक्त राज्य अमेरिका का अर्थात् परिसंघ का भी नागरिक होता है । परिसंघ और राज्यों की सरकारें एक दूसरे से स्वतंत्र रूप में नागरिक पर प्रत्यक्ष रूप से प्रवृत्त होती हैं । एक नागरिक दो सरकारों के अधीन होता है और दोनों के प्रति निष्ठावान होता है । किन्तु भारत के संविधान में, कनाडा के संविधान के समान, दोहरी नागरिकता नहीं है, एक ही नागरिकता है अर्थात् भारत की नागरिकता [अनुच्छेद 5] । किसी विशेष राज्य में जन्म या निवास से उस राज्य के नागरिक को पृथक् प्रास्थिति प्राप्त नहीं होती ।

लोकसेवाओं का विभाजन नहीं ।

(ii) इसी प्रकार पदाधिकारियों के बारे में है । अमेरिका में परिसंघ और राज्य सरकारों के अपने-अपने पदाधिकारी होते हैं जो उनकी अपनी विधियों और कृत्यों का प्रशासन करते हैं । किन्तु भारत में लोक अधिकारियों के बीच इस प्रकार का विभाजन नहीं है । अधिकांश लोक सेवक, राज्यों द्वारा नियोजित किए जाते हैं किन्तु वे अपने-अपने राज्यों को लागू होने वाले संघ और राज्य दोनों की विधियों का प्रशासन करते हैं । हमारे संविधान में अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन का उपबन्ध है किन्तु ये सेवाएं संघ और राज्य दोनों के लिए सामान्य हैं [अनुच्छेद 312] । संघ द्वारा नियुक्त भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य या तो संघ के विभाग के अधीन नियोजित किए जा सकते हैं (जैसे गृह या प्रतिरक्षा) या किसी राज्य सरकार के अधीन । उनकी सेवाएं अन्तरणीय हैं । जब वे संघ के विभाग के अधीन नियोजित किए जाते हैं तब भी वे प्रश्नगत विषय पर लागू होने वाली संघ और राज्य दोनों की विधियों का प्रशासन करते हैं । राज्यों के अधीन सेवा करते हुए भी अखिल भारतीय सेवा के सदस्य को केवल संघ सरकार द्वारा पदच्युत किया जा सकता है या हटाया जा सकता है । राज्य सरकार इस प्रयोजन के लिए अनुषंगी कार्यवाही प्रारम्भ करने के लिए सक्षम है ।

न्यायपालिकाओं का विभाजन नहीं ।

(iii) अमेरिका में परिसंघ और राज्य सरकारों के बीच न्यायपालिका का विभाजन है । परिसंघ संविधान और परिसंघ विधियों से उत्पन्न होने वाले मामलों का विचारण परिसंघ न्यायालयों द्वारा किया जा सकता है । राज्य न्यायालय उन मामलों पर विचार करते हैं जो संघ संविधान और संघ विधियों से उत्पन्न होते हैं । किन्तु भारत में न्यायालयों की एक ही प्रणाली है । इसके शीर्ष पर उच्चतम न्यायालय है । ये न्यायालय उनके सामने निर्णय के लिए उपस्थित मामलों को लागू होने वाली विधियों का प्रशासन करते हैं चाहे वे संघ की हों या राज्यों की ।

(iv) इसी प्रकार निर्वाचन, लेखा और संपरीक्षा का तंत्र भी एकीकृत है ।

(v) भारत का संविधान संघ को इस बात के लिए सशक्त करता है कि वह अपने

कार्यपालिका कृत्य किसी राज्य को उसकी सम्मति से सौंप दे [अनुच्छेद 258] । राज्य अपने कार्यपालिका कृत्य संघ को सौंप सकते हैं [अनुच्छेद 258क] । इसी प्रकार सुचारु रूप से सहकारी व्यवस्था करने के मार्ग में किसी सरकार द्वारा अपनी "प्रभुता के समर्पण" का प्रश्न उपस्थित नहीं होता ।

(vi) सामान्य समय में परिसंघ प्रणाली चलती रहती है किन्तु भारत के संविधान में आपात में ऐकिक प्रणाली का बल अर्जित करने के लिए परिसंघ सरकार को सशक्त किया गया है । सामान्य स्थिति में संघ की कार्यपालिका राज्य सरकारों को विनिर्दिष्ट मामलों की बाबत निदेश दे सकती है । जब आपात की उद्घोषणा कर दी जाती है तो निदेश देने की शक्ति का विस्तार सभी मामलों पर हो जाता है और संघ की विधायी शक्ति का विस्तार भी राज्य के सभी विषयों पर हो जाता है [अनुच्छेद 353, 354, 357] । इन आपात उपबन्धों की रचना की बुद्धिमानी (बाह्य आक्रमण के समय, आभ्यंतरिक अशान्ति से भिन्न) 1962 के चीन के आक्रमण या 1965 के पाकिस्तान के आक्रमण के समय दिखाई पड़ी । भारत एक होकर राज्य के सभी सम्पदा स्रोतों को एकत्र करके खड़ा हो सका । इसमें परिसंघ होने के कारण कोई बाधा नहीं आई ।

(vii) सामान्य कार्यकरण में भी परिसंघ प्रणाली को ऐकिक प्रणाली का बल दिया गया है ।

सामान्य समय में संघ का नियंत्रण ।

(क) संघ को विधान बनाने की ऐसी अपवर्जनकारी शक्तियां दी गई हैं जो अन्य देशों में नित्य पड़ने वाली राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक पाई गई हैं । इसके अतिरिक्त संघ विधान मंडल को इस बात के लिए सशक्त किया गया है कि यदि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक है तो वह राज्यों के विषयों को ग्रहण कर सकता है । इसी प्रकार आपात के अतिरिक्त, संघ की संसद् राज्य सूची में सम्मिलित किसी विषय पर विधायी शक्ति का प्रयोग कर सकती है (यद्यपि अस्थायी रूप से) । ऐसा करने के लिए आवश्यक यह है कि राज्य सभा (संघ की संसद् का द्वितीय सदन) दो-तिहाई बहुमत से यह संकल्प पारित कर दे कि ऐसा विधान राष्ट्रीय हित में आवश्यक है [अनुच्छेद 249] । इस उपबन्ध में परिसंघीय तत्व विद्यमान हैं क्योंकि संघ की शक्ति का राज्य के क्षेत्र में विस्तार तभी सम्भव हो सकता है जब कि राज्य सभा अपनी सहमति दे दे । इस राज्य सभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व होता है । किन्तु यदि एक ही दल का संघ की संसद् के दोनों सदनों में स्पष्ट बहुमत है तो वास्तविक व्यवहार में यह संघ के हाथ में राज्यों के विरुद्ध एक अतिरिक्त अस्त्र है ।

परिसंघ प्रणाली में संघ और राज्यों के बीच शक्ति का वितरण है फिर भी इस वितरण में केन्द्र की ओर स्पष्ट पक्षपात है । राज्यों की शक्तियों पर विभिन्न निर्बन्धन लगाए गए हैं जिससे संविधान द्वारा उन्हें वितरित शक्तियों के भीतर भी उनकी प्रभुता में अवरोध उत्पन्न होता है ।

(ख) संघ सरकार को यह शक्ति देकर कि वह किसी राज्य को ऐसे निदेश दे सकेगा जिससे संघ की विधायी और प्रशासनिक कार्यवाही का सम्यक् अनुपालन सुनिश्चित हो सके [अनुच्छेद 256-257] और ऐसे निदेशों का पालन करने से इंकार करने पर राज्य सरकार को अतिष्ठित करने की शक्ति [अनुच्छेद 365] है ।

(ग) राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि यदि उसका किसी समय यह समाधान हो जाता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्ध के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो वह संविधान के अधीन राज्य की कार्यपालिका या विधायी शक्ति को संघ को प्रत्याहृत

कर सकता है । शायद इसके कारण राजनैतिक हो सकते हैं या कोई अन्य [अनुच्छेद 356] । परिसंघ की दृष्टि से यह विलक्षण जान पड़ता है क्योंकि संविधान निर्माताओं ने केन्द्र में सांविधानिक तंत्र के इस प्रकार भंग हो जाने के लिए किसी उपचार का उपबन्ध नहीं किया है । अतएव पणिक्कर का यह संप्रेक्षण उचित जान पड़ता है कि "संविधान ने ही केन्द्र के लिए एक प्रकार की परमोच्चता का सृजन यह उपबन्ध करके किया है कि कुछ दशाओं में, जैसे प्रशासन तंत्र के विफल हो जाने पर, राज्य सरकारों को निलम्बित करके राष्ट्रपति शासन अधिरोपित किया जा सकेगा" । दूसरे, सांविधानिक तंत्र को निलम्बित करने की शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति न केवल राज्य के राज्यपाल के प्रतिवेदन पर कर सकते हैं बल्कि स्वप्रेरणा से भी जब भी उनका यह समाधान हो जाता है कि इस शक्ति के प्रयोग के लिए आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न हो गई है । इस प्रकार यह एक प्रपीड़क शक्ति है जो परिसंघ की इकाइयों के विरुद्ध संघ के पास है ।

परिसंघ प्रणाली की समीक्षा ।

यद्यपि उपर्युक्त स्कीम में परिसंघ प्रणाली के दोषों से बचा गया है किन्तु संघ की सरकार की शक्ति पर इतना अधिक बल दिया गया है कि उससे उन सिद्धांतों पर प्रभाव पड़ता है जो सामान्यतया परिसंघ के आधार समझे जाते हैं । इसके कारण एक विदेशी आलोचक (प्रोफेसर वेयर)[16] ने यह कहा कि भारत का संविधान —

> "एक ऐसी शासन प्रणाली की व्यवस्था करता है जो परिसंघकल्प है . . . यह ऐकिक राज्य है जिसमें कुछ अनुषंगी परिसंघीय लक्षण हैं . . . यह अनुषंगी ऐकिक लक्षण वाला परिसंघीय राज्य नहीं है ।"

अपनी पश्चात्‌वर्ती कृति माडर्न कांस्टीट्यूशन्स[17] में वे इस बात को इस प्रकार कहते हैं :

> "परिसंघकल्प संविधानों के वर्ग में भारत के 1950 के संविधान को सम्मिलित करना सम्भवतः उचित होगा . . . "

प्रोफेसर एलेक्जेंड्रोविच[18] ने इस दृष्टिकोण का विरोध करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय परिसंघ "परिसंघकल्प राज्य" है । ऐसा प्रतीत होता है कि वह लेखक से इस बात में सहमत[19] है कि "भारत का संविधान अनोखा" है । यह बात लेखक के इस संप्रेक्षण से मेल खाती है —

> "भारत का संविधान न तो शुद्ध रूप से परिसंघीय है न शुद्ध रूप से ऐकिक । यह दोनों का संयोजन है । यह एक नए प्रकार का संघ या सम्मिलित राज्य है । इसमें यह सिद्धान्त अन्तर्विष्ट है कि परिसंघ होते हुए भी राष्ट्रीय हित सर्वोच्च होना चाहिए ।"[19]

वस्तुतः कोई भी व्यक्ति जो निष्पक्ष रूप से और बारीकी से भारत के संविधान का अध्ययन करता है और यह स्वीकार करता है कि आज राजनीतिक शास्त्र में परिसंघीय प्रणाली के विभिन्न प्रकार हो सकते हैं वह यह देखे बिना नहीं रह सकता कि भारत का संविधान अत्यन्त परिसंघीय है"[20] या "वह परिसंघ है और साथ ही उसमें प्रबल केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति है"[21] ।

सही बात तो यह है कि शुद्ध परिसंघ के अमेरिकी नमूने से कोई भी विचलन होने पर वह प्रणाली परिसंघकल्प हो जाएगी । यदि ऐसा है तो कनाडा की प्रणाली भी परिसंघकल्प ही मानी जा सकेगी । कनाडा और भारत की प्रणालियों के बीच अन्तर केवल ऐकिक प्रणाली की मात्रा और विस्तार का है । राजनीतिक संरचना की परिसंघीय होने की वास्तविक कसौटी वही है जो प्रोफेसर वेयर ने बताई है[16] —

> "वास्तविक परिसंघ केवल पुस्तकों में ही मिलता है । यह देखा जाना चाहिए कि क्या वास्तविक

व्यवहार में परिसंघीय लक्षण जमे हुए हैं या उसी प्रकार बल प्राप्त करते हैं जैसे कनाडा में या केन्द्रीयकरण की ओर प्रबल प्रवृत्ति है जो लक्षण संकट के समय में अधिकांश पश्चिमी शासनों में दिखाई देता है और जिसके कारण संविधान के परिसंघीय पहलू मिट से जाते हैं ।"

हमारे संविधान के पिछले 42 वर्षों के वास्तविक कार्यकरण का सर्वेक्षण करने पर यह निष्कर्ष न्यायोचित नहीं ठहरता कि परिसंघीय लक्षण बिलकुल मिट गए हैं यद्यपि यह सत्य है कि ऐकिक बन्धनों को और अधिक मजबूत किया गया है ।

भारत के कुछ विद्वान[22] इस बात पर बल देते हैं कि हमारे संविधान की ऐकिक प्रवृत्ति को वास्तविक कार्यकरण में दो बातों के कारण बहुत अधिक बल मिला है । इतना अधिक कि परिसंघवाद समाप्तप्राय हो गया है । ये दो बातें हैं – (क) संघ की अध्यारोही वित्तीय शक्ति और राज्यों का अपने कृत्यों के निर्वहन के लिए संघ के अनुदान पर पूर्णतया निर्भर रहना, (ख) योजना की समवर्ती शक्ति के अधीन स्थापित संघ योजना आयोग का विस्तृत क्षेत्र । यह आलोचना एक सीमा तक उचित है किन्तु सिद्धान्ततः यह ठीक नहीं उतरती । इसके दो कारण हैं –

(i) ये दोनों ही नियंत्रण सम्पूर्ण देश का एक सा विकास सुनिश्चित करने के उद्देश्य से लगाए गए हैं । यह सच है कि बड़े राष्ट्रों को अपने सभी स्रोतों का विनिश्चय करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाता है और संघ के कर स्रोतों के समनुदेशन और वितरण की प्रणाली [अनुच्छेद 269, 270, 272] का अर्थ है एक बड़ी सीमा तक राज्यों का संघ पर निर्भर रहना । किन्तु यदि ऐसा नहीं होता तो बलशाली और बड़े राज्य छोटे राज्यों को पीछे छोड़ देते जिसका राष्ट्र की शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता ।

(ii) अमेरिका जैसे देश में भी ऐसी बातों से व्यवहार में कुछ मात्रा में राष्ट्रीय सरकार प्रबल हुई है । संविधान के निर्माताओं ने भी इस बारे में नहीं सोचा होगा । यह विचित्र सी बात है कि भारत जैसी शिकायत अमेरिका में भी की गई है । परिसंघ के अनुदान की केन्द्रीयकरण की शक्ति के बारे में एक अमेरिकी लेखक[23] ने यह संप्रेक्षण किया है, –

"यह परिसंघ पर आक्रमण है । यह इतना सूक्ष्म है कि दिखाई नहीं देता . . . । आर्थिक जीवन और सामाजिक सेवाओं का नियंत्रण (उदाहरणार्थ बेरोजगारी, वृद्धावस्था, प्रसूति और बाल कल्याण) राज्य और स्थानीय सरकारों के दो मुख्य कृत्य थे । पहले का अधिकांश भाग राष्ट्र के हाथ में चला गया है । दूसरा भी जाता हुआ दिखाई देता है । यदि यही दोनों चले जाते हैं तो राज्य के स्वायत्त का जो भाग रह जाता है वह एक खोखला खोल होगा जो प्रतीक मात्र रहेगा ।"

वस्तुतः संघ और राज्य की सरकारें एक दूसरे से स्वतंत्र होने के पारंपरिक सिद्धान्त के स्थान पर "सहकारी परिसंघवाद" का सिद्धान्त आज अधिकांश परिसंघीय देशों में दिखाई पड़ता है ।[24]

एक अमेरिकी विद्वान ने "सहकारी परिसंघवाद" की संकल्पना को इन शब्दों में स्पष्ट किया है[24] –

. . . साधारण और प्रादेशिक सरकारों के बीच प्रशासनिक सहमति का व्यवहार, प्रादेशिक सरकारों का साधारण सरकार से प्राप्त होने वाले संदायों पर आनुषंगिक रूप से निर्भर रहना, और यह तथ्य कि साधारण सरकार सशर्त अनुदान के प्रयोग से उन विषयों में विकास की वृद्धि करती हैं जो संविधान द्वारा प्रदेशों को समनुदिष्ट हैं ।"

भारत के संविधान के अधीन संघ द्वारा संगृहीत करों के आबंटन या प्रत्यक्ष अनुदान या योजना निधि के अभिदाय के माध्यम से विद्यमान परिसंघीय सहकारिता प्रणाली परिसंघवाद

की संकल्पना के विरुद्ध हो यह आवश्यक नहीं है । इसलिए ग्रेनविल आस्टिन[25] भारतीय परिसंघवाद को "सहकारी परिसंघवाद" कहते हैं जिसमें प्रबल केन्द्रीय सरकार है । फिर भी इसका यह परिणाम आवश्यक नहीं है कि प्रान्तीय सरकारें कमजोर होकर केन्द्रीय राजनीति के प्रशासनिक अभिकरण मात्र ही बन जाएं ।

वास्तव में भारत के संविधान की परिसंघ प्रणाली दो परस्पर विरोधी विचारों का समन्वय है :

(i) शक्तियों का एक सामान्य विभाजन जिसके अधीन राज्यों को अपने क्षेत्र के भीतर स्वायत्तता मिली हुई है । उन्हें राजस्व प्राप्त करने की शक्ति भी है,

(ii) राष्ट्रीय एकता और प्रबल संघ सरकार की आवश्यकता जो संविधान के कार्यकरण के 42 वर्ष बाद भी बुद्धिमान लोग आवश्यक समझते हैं ।

उच्चतम न्ययालय ने भी संविधान के विभिन्न उपबन्धों का निर्वचन करते हुए इन दो बलों का परस्पर प्रभाव स्वीकार किया है । उदाहरण के लिए अनुच्छेद 301 के महत्व को दर्शाते[26] हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा था :

"परिसंघीय संरचना या परिसंघकल्प संरचना का विकास करते हुए, उस समय प्रवृत्त दशाओं के संदर्भ में यह आवश्यक था कि शक्तियों का वितरण किया जाए । हमारे संविधान का एक आधारभूत भाग उस वितरण के सम्बन्ध में है । सातवीं अनुसूची में तीन विधायी सूचियां हैं । स्वयं संविधान में अनुच्छेद 1 में यह कहा गया है कि भारत राज्यों का संघ है और संविधान का निर्वचन करते समय इस बात को दृष्टि में रखना चाहिए कि परिसंघ या परिसंघकल्प संविधान की सारभूत संरचना क्या है अर्थात् संघ की इकाइयों की भी उसी प्रकार कुछ शक्तियां हैं जैसे संघ की हैं . . . .

इस विषय पर एक समुचित नीति विकसित करते हुए संविधान निर्माताओं ने तीन मुख्य विचारों को मस्तिष्क में रखा था . . . . भारत के व्यापक हित में व्यापार, वाणिज्य और समागम का स्वच्छन्द प्रवाह होना चाहिए । अन्तरराज्य और अन्तर्राज्य दोनों (अर्थात् दो या अधिक राज्यों के बीच अथवा एक राज्य के भीतर) । दूसरे, प्रादेशिक हितों की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए और तीसरे, संकट के समय संघ को भारत के किसी भी भाग में उत्पन्न विशेष समस्या का सुलझाने के लिए हस्तक्षेप करने की शक्ति होनी चाहिए . . . इसलिए भाग 13 के सुसंगत अनुच्छेदों का निर्वचन करने में हमें भाग 3 के प्रति विशेष निर्देश करते हुए भारत के संविधान की साधारण स्कीम को ध्यान में रखना चाहिए । परिसंघ या परिसंघकल्प संविधान के संदर्भ में भाग 12 . . . . और भाग 13 से पारस्परिक सम्बन्ध . . . . जिसमें राज्य की कुछ शक्तियां हैं जिसमें कराधान द्वारा अपने प्रयोजनों के लिए राजस्व एकत्र करने की शक्ति भी है ।"

साथ ही इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि राज्यों ने कभी-कभी अपने क्षेत्र में सामान्य समय में भी योजना आयोग के माध्यम से केन्द्र के हावी होने का विरोध किया है ।[27] (योजना आयोग को संविधान ने मान्यता नहीं दी है । वित्त आयोग, लोक सेवा आयोग आदि को दी है) किन्तु यह इस कारण नहीं है कि संविधान संरचना की दृष्टि से परिसंघीय नहीं है[28] या उसके उपबन्ध में ऐकिक नियंत्रण की परिकल्पना है । यह दोष राजनीतिक है अर्थात् एक ही दल का संघ और राज्य सरकारों पर शासन है और राज्यों के प्रति विभेद या उनकी स्वायत्तता में हस्तक्षेप की शिकायत सामान्यतया उन राज्यों से मिलती है जो उस समय ऐसे दल के शासन के अधीन हैं जिसका संघ सरकार में शासन नहीं है । इसका उपचार मतदान पेटी के माध्यम से है । राजनीतिक शक्ति के माध्यम से ही संघ सरकार को अपनी सांविधानिक शक्तियों के इस प्रकार प्रयोग करने से रोका जा सकता है कि वे "अस्वास्थकर पितृसत्तावाद" का रूप धारण न कर ले ।[29] किन्तु इस पर विचार करना इस पुस्तक की परिधि में नहीं है । अनुच्छेद 356 के अधीन किसी राज्य में बारबार राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करने के विरुद्ध उपचार भी राजनीतिक ही हो सकता है ।[30]

भारत में परिसंघ का बने रहना ।

प्रबल केन्द्र की ओर झुकाव भारत को एक रखने के लिए वरदान साबित हुआ है जब हम देखते हैं कि साम्प्रदायिकता और भाषावाद की पृथक्तावादी शक्तियां और सत्ता पाने की भागदौड़ केन्द्रीय नियंत्रण के होते हुए भी संविधान के कार्यकरण के चार दशक बाद भी संकट उत्पन्न कर रही हैं । इससे यह भी दर्शित होता है कि राज्य, संघ सरकार के अभिकर्ताओं के रूप में या उसके निदेशों के अधीन कार्य नहीं कर रहे हैं । यदि ऐसा होता तो असम जैसी घटनाएं (भाषा की समस्या पर) या कर्नाटक और महाराष्ट्र के बीच सीमा विवाद नहीं हो पाते ।

केन्द्र के बढ़ते हुए प्रभाव के होते हुए भी परिसंघीय प्रणाली मिट नहीं सकी है । इसका साक्ष्य बहुत सी ऐसी परिस्थितियों से मिलता है जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती (देखिए आगे अध्याय 31) :

(क) भारत में परिसंघीय प्रणाली के बने रहने का सर्वाधिक निश्चायक साक्ष्य केरल राज्य में साम्यवादी सरकार का या पश्चिमी बंगाल में संयुक्त मोर्चा सरकार का या तमिलनाडु में डी.एम.के. या ए.आइ.डी.एम.के. मंत्रिमंडल का या गुजरात में जनता-मोर्चा मंत्रिमंडल का केन्द्र में कांग्रेस सरकार के साथ सहअस्तित्व है ।[31] यह सत्य है कि राष्ट्रपति ने केरल शिक्षा विधेयक को अनुमति देने के स्थान पर उच्चतम न्यायालय को सलाह के लिए निर्दिष्ट किया था । सामान्यतया इसे अनुमति दी जानी चाहिए थी । केरल में इसकी आलोचना करते हुए इसे राज्यों के सांविधानिक अधिकारों में असम्यक् हस्तक्षेप बताया गया । उच्चतम न्यायालय की बुद्धिमानी और निष्पक्षता के कारण उस न्यायालय द्वारा दी गई राय शुद्ध रूप से विधि पर आधारित थी । उसमें किसी प्रकार का राजनीतिक विचार नहीं था । यह युक्तियुक्त रूप से आशा की जा सकती है कि जब तक उच्चतम न्यायालय संविधान के संरक्षक के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करता है तब तक दलों की स्थिति चाहे जैसी हो परिसंघ प्रणाली पर आंच नहीं आएगी ।

(ख) भारत में परिसंघवाद समाप्त नहीं हुआ है । इसका साक्ष्य इस तथ्य से भी मिलता है कि नए प्रदेश लगातार राज्य बनने की मांग कर रहे हैं और संघ ने मेघालय, नागालैंड, मणिपुर, त्रिपुरा मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोवा के मामलों में इस मांग को स्वीकार कर लिया है ।

(ग) इसका एक और साक्ष्य राज्यों द्वारा और अधिक वित्तीय शक्तियों के लिए किया जाने वाला आन्दोलन है । सबसे पहले अकेले तमिलनाडु ने सभी मामलों में राज्यों को अधिक स्वायत्तता दिए जाने की मांग की । अक्तूबर, 1983 में गैर कांग्रेसी दलों द्वारा शासित राज्य भी उसमें जुड़ गए । उन्होंने एक विरोधी सम्मेलन किया यद्यपि सभी दल उसी विस्तार तक मांग करने के पक्ष में नहीं थे । राजनीतिक क्षेत्र में संघ की शक्तियों को घटाकर राज्य की शक्तियों का विस्तार करने की बात सभी राज्य नहीं मानते हैं क्योंकि दुर्बल संघ बाह्य सुरक्षा के लिए खतरा होगा । यही नहीं आन्तरिक एकता के लिए भी आज की परिस्थितियों में वह ठीक नहीं रहेगा । किन्तु राज्यों में इस बात के लिए सहमति है कि उन्हें विद्यमान संविधान में प्रदत्त शक्तियों से अधिक व्यापक वित्तीय शक्तियां दी जानी चाहिए । ऐसा होने पर ही वे सातवीं अनुसूची की दूसरी सूची के अधीन राज्य के क्षेत्र के भीतर आने वाले विकास कार्यक्रमों को दक्षतापूर्वक चला सकेंगे । तत्कालीन देसाई सरकार ने "योजना सहायता" के रूप में पर्याप्त अनुदान देकर राज्यों को शान्त करने का प्रयत्न किया था । इस तरीके को "देसाई अधिनिर्णय" कहा गया है[32] ।

इस बात में सन्देह है कि क्या वित्त के सम्बन्ध में व्यापक सांविधानिक शक्तियों

के लिए आन्दोलन इस प्रकार के तदर्थ उपायों से शान्त हो जाएगा । बासु के *इंट्रोडक्शन टू दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया* के ग्यारहवें संस्करण के पृष्ठ 61 में सुझाव दिया गया था कि संविधान के पुनरीक्षण के लिए एक आयोग स्थापित करके उपचार किया जा सकता है जिससे कि संघ और राज्यों के उत्तरदायित्व के साथ ही साथ वित्त के प्रश्न पर भी व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया जा सके । यह सुझाव फलीभूत हुआ । परिणामस्वरूप मार्च, 1983 में एक एकल आयोग की नियुक्ति हुई जिसके अध्यक्ष थे न्या. सरकारिया जो पहले उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश थे । इस आयोग ने जनवरी, 1988 में अपना प्रतिवेदन दिया । उसके कार्यों में संविधान के प्रारम्भ से हुई विभिन्न बातों को देखते हुए केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में सिफारिश करना ।

हमारे संविधान द्वारा स्थापित परिसंघीय प्रणाली का उचित मूल्यांकन यह है कि वह ऐसी प्रणाली की स्थापना करता है जो सामान्यतया परिसंघीय होगी किन्तु इसमें ऐसे उपबन्ध हैं जो विनिर्दिष्ट आपवादिक परिस्थितियों में उसे ऐकिक या परिसंघकल्प के रूप में संपरिवर्तित कर देते हैं[33] । किन्तु अपवाद आधारिक और सामान्य संरचना पर अधिमानी हो गए यह नहीं कहा जा सकता । इसमें सन्देह नहीं कि अपवाद अनोखे हैं और संख्या में बहुत हैं किन्तु जिन दशाओं में अपवाद लागू नहीं होते हैं उनमें अपवादों की विद्यमानता से प्रभावित हुए बिना परिसंघीय उपबन्ध लागू किए जाएंगे । उदाहरण के लिए संघ या राज्य के लिए उन शक्तियों का प्रयोग करना सम्भव नहीं है जो संविधान द्वारा दूसरी सरकार को दी गई हैं । जब तक कि ऐसा ग्रहण करने की संविधान के किसी न किसी उपबन्ध द्वारा अनुमति न दी गई हो । दूसरे पक्षकार की सहमति से भी इस प्रकार का अधिकार ग्रहण या अतिक्रमण विधिमान्य नहीं होगा क्योंकि संविधान में ही वे मामले दिए गए हैं जिनमें सम्मति से ऐसा करना अनुज्ञेय है [उदाहरण के लिए अनुच्छेद 252, 258(1), 258क] । अतएव आपवादिक मामलों को छोड़कर संविधान में परिसंघ की किसी भी इकाई द्वारा संविधान की परिसंघीय संरचना को भंग करने की अनुमति नहीं है । इकाइयों की सम्मति से भी यह नहीं किया जा सकता । एक विधान मंडल द्वारा दूसरे को शक्तियों के प्रत्यायोजन द्वारा भी इसे सम्भव नहीं किया जा सकता ।

अन्त में यह कह देना उचित होगा कि भारत का संविधान न तो शुद्ध रूप से परिसंघीय है और न शुद्ध रूप से ऐकिक । बल्कि यह दोनों का समन्वय है । यह एक नए प्रकार का संघ या राज्य है[34] । इसमें यह सिद्धान्त अन्तर्विष्ट है कि "परिसंघ के होते हुए भी राष्ट्रीय हित परमोच्च हैं ।"[35-36]

निर्देश

1. ड्राफ्ट कांस्टीट्यूशन, 21-2-1948, पृष्ठ vi (वस्तुतः संघ शब्द का प्रयोग क्रिप्स के प्रस्ताव में और मंत्रिमंडल मिशन योजना दोनों में किया गया था (देखिए ऊपर पृष्ठ 14-15) इसका प्रयोग पंडित नेहरू के 1947 के उद्देश्य संकल्प में भी किया गया था (ऊपर पृष्ठ 20) जिसके अनुसार अवशिष्ट शक्तियां इकाइयों को आरक्षित की जानी थीं ।
2. सी.ए.डी., जिल्द VII, पृ. 43 ।
3. डी.डी. बसु, *सलेक्ट कांस्टीट्यूशन्स आफ दि वर्ल्ड*, 1984, पृष्ठ 188 ।
4. डी.डी. बसु, *कमेंट्री आन दि कांस्टीट्यूशन*, 6ठा संस्करण, जिल्द ए, पृष्ठ 27 और आगे ।
5. प्रोफेसर डब्ल्यू. टी. वैगनर, *फेडरल स्टेट्स एण्ड देअर जुडिशियरी* (मोल्टन एण्ड कंपनी, 1969), पृष्ठ 25 ।
6. लिविंगस्टोन, *फेडरेशन एण्ड कांस्टीट्यूशनल चेंज*, 1956, पृष्ठ 6-7 ।

7. तुलना कीजिए *गुजरात विश्वविद्यालय* बनाम *श्री कृष्ण*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 703 (*715-16*); *वैवरली मिल्स* बनाम *रेमन एण्ड कं.*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 90 (*95*) ।
8. तुलना कीजिए *पश्चिमी बंगाल* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1241 ।
9. तुलना कीजिए *अतियाबारी टी कं.* बनाम *असम सरकार*, (1961) 1 एस.सी.आर. 809 (*860*); *आटोमोबाइल ट्रांसपोर्ट* बनाम *राजस्थान राज्य*, ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 1406 (*1416*), अनुच्छेद 143 के अधीन निर्देश, ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 745 (पैरा 39) ।
10. यद्यपि भारत शासन अधिनियम, 1935 में परिकल्पित परिसंघीय प्रणाली पूर्णतया प्रवृत्त नहीं की जा सकी क्योंकि देशी रियासतें उसमें सम्मिलित नहीं हुईं फिर भी केन्द्रीय सरकार और प्रान्तों से सम्बन्धित उपबन्ध प्रभावी किए गए जैसा कि पहले कहा गया है (देखिए ऊपर पृष्ठ 6) ।
11. देखिए सारणी 3, स्तम्भ (क) ।
12. *टैक्सास* बनाम *व्हाईट*, (1869) 7 वाल. 700 ।
13. पूर्व सोवियत संघ के संविधान में इसके प्रतिकूल उदाहरण मिलता है । उसमें अभिव्यक्त रूप से यह कहा गया है कि संघ के प्रत्येक गणराज्य को यह अधिकार है कि वह सोवियत समाजवादी गणराज्य से विलग हो सकेगा । (1977 के संविधान का अनुच्छेद 72, देखिए डी.डी. बसु *सलेक्ट कांस्टीट्यूशन्स आफ दि वर्ल्ड*, 1984 का संस्करण, पृष्ठ 188) ।
14. डी.डी. बसु, *कांस्टीट्यूशनल ला आफ इंडिया*, (6ठा संस्करण, 1991, पृष्ठ 46) ।
15. संयुक्त राज्य अमेरिका में 50 राज्य हैं और उनमें से प्रत्येक के सीनेट में दो प्रतिनिधि हैं ।
16. के.सी. वेयर, फेडरल *गवर्मेंट* 1951, पृष्ठ 28 । उक्त लेखक ने 4थे संस्करण में अपने मत को शिथिल किया है । देखिए पृष्ठ 26, 77 ।
17. वेयर, *माडर्न कांस्टीट्यूशन्स*, दूसरा संस्करण (1966), पृष्ठ 21 ।
18. सी.एच. एलेक्जेंड्रोविच, *कांस्टीट्यूशनल डेवलैपमेंटस इन इंडिया*, 1957, पृष्ठ 157-70 ।
19. डी.डी. बसु, *कमेंट्री आन दि कांस्टीट्यूशन आफ इंडिया*, 6ठा संस्करण, जिल्द ए, पृष्ठ 40 ।
20. एप्पलबाई, *पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया* (1953), पृष्ठ 51 ।
21. जैनिंग्स, *सम करेक्टरिस्टिक्स आफ दि इंडियन कांस्टीट्यूशन*, पृष्ठ 1 ।
22. उदाहरण के लिए संतानम, *यूनियन, स्टेट रिलेशंस इन इंडिया*, 1960, पृष्ठ vii, 51-59, 63 । पृष्ठ 70 पर विद्वान लेखक ने कहा है, —

> "भारत व्यवहारतः ऐकिक राज्य रहा है, यद्यपि संघ और राज्यों ने यही प्रयत्न किया है कि औपचारिक और विधिक रूप से वे परिसंघ के रूप में कार्य करें ।"

23. ग्रिफिथ, *दि इम्पास आफ डैमोक्रेसी* 1939, पृष्ठ 196 जिसका उद्धरण गाडशैल, *गवर्नमेंट इन दि यूनाइटेड स्टेट्स* में पृष्ठ 114 पर है ।
24. तुलना कीजिए, बिर्क, *फेडरलिज्म*, पृष्ठ 305-06 ।
25. ग्रैनविल आस्टिन, *दि इंडियन कांस्टीट्यूशन* (1966), पृष्ठ 187 और आगे ।
26. *आटोमोबाइल ट्रांसपोर्ट* बनाम *राजस्थान राज्य*, ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 1406 (*1415-16*); *केशवानंद* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.अर. 1973 एस.सी. 1461 में कुछ न्यायाधीशों ने परिसंघवाद को हमारे संविधान का आधारिक लक्षण माना है (पैरा 302, 599, 1681) ।
27. देखिए सैंट्रल स्टेट रिलेशंस कमेटी की रिपोर्ट (राजमन्नार कमेटी) (मद्रास 1971, पृष्ठ 7-9) ।
28. यह रोचक तथ्य है कि राजमन्नार कमेटी ने भी भारत के संविधान के अधीन प्रणाली को परिसंघीय माना है (वही, पैरा 5, पृष्ठ 16) किन्तु इसके उन लक्षणों का संशोधन करने का सुझाव दिया है जो ऐकिकता की ओर ले जाते हैं (पैरा 6, पृष्ठ 16) ।
29. *केरल एजूकेशन बिल का मामला*, ए.आई.आर. 1968 एस.सी. 956 ।
30. जनता सरकार इस बात के लिए कटिबद्ध थी कि दीर्घकाल के कांग्रेस शासन के कारण जो दोष आ गए हैं उन्हें सुधारा जाए, किन्तु यह दुखद है कि वह भी अनुच्छेद 356 द्वारा प्रदर्शित शक्ति के प्रयोग को नियंत्रित करने की आवश्यकता से सहमत नहीं हो सकी और 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा इस अनुच्छेद में किए गए संशोधन इस दृष्टिकोण से पर्याप्त नहीं हैं ।
31. सितंबर, 1992 तक 4 प्रमुख राज्यों में ही कांग्रेस सत्ता में थी । शेष में विभिन्न राजनैतिक दलों का शासन था — कहीं पर भारतीय जनता पाटी, कहीं जनता दल और कहीं भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) । केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार 10 नवंबर, 1991 तक रही । जून, 1991 में कांग्रेस (आई) की सरकार बनी ।

32. *स्टेटसमैन,* कलकत्ता, तारीख 26-2-1979, पृष्ठ 1 ।
33. जैसा डा. अम्बेडकर ने संविधान सभा में स्पष्ट कहा था (सी.ए.डी., जिल्द 7, पृष्ठ 33-34) संविधान द्वारा अंगीकार की गई राज्य प्रणाली समय और परिस्थिति की अपेक्षाओं के अनुसार ऐकिक और परिसंघीय दोनों ही हो सकती है ।
34. ग्रेनविल आस्टिन [*दि इंडियन कांस्टीट्यूशन* (1966), पृष्ठ 186] इस दृष्टिकोण से सहमत हैं । वे भारत के परिसंघ का वर्णन करते हुए उसे एक नए प्रकार का परिसंघ बताते हैं जो भारत की अनोखी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनाया गया है ।
35. जैनिंग्स, *सम करैक्टरिस्टिक्स आफ दि इंडियन कांस्टीट्यूशन,* पृष्ठ 55 ।
36. परिसंघ के सभी पहलुओं के विशद विवेचन के लिए पढ़िए, डी.डी. बसु की आधिकारिक कृति — *कंपेरेटिव फेडरलिज्म* (प्रेंटिस हाल आफ इंडिया, 1987) ।

6

संघ का राज्यक्षेत्र

जैसा पहले बताया जा चुका है संविधान द्वारा विहित राजनीतिक संरचना परिसंघीय है । इस संघ का नाम भारत अर्थात् इंडिया है [अनुच्छेद 1(1)] और वर्तमान[1] में इस संघ के सदस्य 25 राज्य हैं । आंध्र प्रदेश, असम[2], बिहार, गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक[3], केरल, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु[4], महाराष्ट्र, नागालैंड, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय[2], सिक्किम[1], मिजोरम[5], अरुणाचल प्रदेश[6] और गोवा[7] । जम्मू-कश्मीर को छोड़कर जिसकी संविधान के अधीन विशेष स्थिति है (अध्याय 15) संविधान के राज्यों से सम्बन्धित उपबन्ध सभी राज्यों को एक समान लागू होते हैं ।

संघ का नाम ।

"भारत संघ" अभिव्यक्ति का अर्थ "भारत का राज्यक्षेत्र" से भिन्न है । संघ में केवल वे राज्य हैं जो परिसंघीय प्रणाली के सदस्य के रूप में हैं और शक्ति के वितरण में जो संघ के हिस्सेदार हैं, "भारत के राज्यक्षेत्र" के अन्तर्गत वह समस्त राज्यक्षेत्र हैं जिस पर तत्समय भारत की प्रभुता का विस्तार है ।

भारत का राज्यक्षेत्र ।

इस प्रकार राज्यों के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के राज्यक्षेत्र हैं जो "भारत के राज्यक्षेत्र" में सम्मिलित हैं अर्थात् (i) संघ राज्यक्षेत्र, और (ii) ऐसे अन्य राज्यक्षेत्र जो भारत द्वारा अर्जित किए जाएं ।

(i) 1987 से संघ राज्यक्षेत्र संख्या में 7 हैं[5,8] — दिल्ली, अंदमान और निकोबार द्वीप, लक्षद्वीप[9], दादरा और नागर हवेली[8], दमण और दीव, पांडिचेरी और चंडीगढ़ ।

संघ राज्यक्षेत्र, केन्द्र शासित प्रदेश हैं जिनका शासन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रशासक के माध्यम से राष्ट्रपति चलाते हैं । इनके सुशासन के लिए विनिमय भी राष्ट्रपति बनाते हैं [अनुच्छेद 239-240] ।

(ii) कोई अन्य राज्यक्षेत्र जो किसी भी समय भारत द्वारा विधिक न्यागमन द्वारा, संधि, अध्यर्पण या विजय द्वारा अर्जित किया जाए, भारत के राज्यक्षेत्र के भागरूप होगा । इसे संसद् के विधान के अधीन रहते हुए भारत सरकार द्वारा प्रशासित किया जाएगा [अनुच्छेद 246(4)] ।

पांडिचेरी की फ्रांसीसी बस्ती (करायकल, माहे और यनाम सहित) जिसे 1954 में फ्रांसीसी सरकार ने भारत को अध्यर्पित किया था, 1962 तक "अर्जित राज्यक्षेत्र" के रूप में प्रशासित किया जा रहा था क्योंकि अध्यर्पण की संधि को फ्रांसीसी संसद् ने अनुमोदित नहीं किया था । अनुमोदन के पश्चात् फ्रांसीसी बस्तियों का यह राज्यक्षेत्र दिसम्बर, 1962 में संघ राज्यक्षेत्र बन गया । भारत के संविधान में सिक्किम के एकीकरण से सम्बन्धित सांविधानिक घटनाएं बड़ी नाटकीय हैं ।

सिक्किम, एक नया राज्य । ब्रिटिश काल में सिक्किम भारतीय रियासत थी जिसका आनुवंशिक शासक चोग्याल कहलाता था । यह ब्रिटिश परमोच्चता के अधीन था । हिमालय की ओर इसकी सीमा 1890 में चीन के साथ संधि करके अंकित की गई थी । चोग्याल राजाओं के संघ का सदस्य भी था ।

जब भारत स्वतंत्र हुआ तब सिक्किम की जनता का एक भाग भारत के साथ विलय चाहता था किन्तु उस रियासत में राजा का शासन और उसकी सामरिक महत्व की स्थिति इसके मार्ग में बाधा थी । अतएव परमोच्चता की समाप्ति के पश्चात् सिक्किम और भारत सरकार के बीच एक संधि पर हस्ताक्षर किए गए जिसके अनुसार भारत सरकार ने सिक्किम की प्रतिरक्षा, विदेश कार्य और संचार के बारे में उत्तरदायित्व लिया । सिक्किम में भारत सरकार का प्रतिनिधि एक राजनीतिक अधिकारी होता था जिसे भूटान का भी काम सौंपा जाता था । इस प्रकार सिक्किम भारत संघ द्वारा आरक्षित राज्य हो गया ।

मई, 1974 में सिक्किम कांग्रेस ने राजा का शासन समाप्त करने का निर्णय किया और सिक्किम की विधान सभा ने सिक्किम शासन अधिनियम, 1974 पारित किया । इसका उद्देश्य सिक्किम से पूर्णतया उत्तरदायित्व शासन की उत्तरोत्तर प्राप्ति और भारत के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करना था । इस अधिनियम ने सिक्किम सरकार को यह शक्ति दी कि वह भारत की राजनीतिक संस्थाओं में सिक्किम के लोगों के प्रतिनिधियों के भाग लेने के लिए कदम उठाए जिससे सिक्किम का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में तीव्र गति से विकास हो सके ।

चोग्याल को बाध्य किया गया कि वह सिक्किम शासन अधिनियम को अनुमति दे । इस विधेयक के अधीन प्रभावी शक्ति सिक्किम की प्रतिनिधि विधान सभा के हाथों में चली गई और चोग्याल सांविधानिक अध्यक्ष बन गया । सिक्किम शासन अधिनियम के अधीन दी गई शक्तियों का प्रयोग करके सिक्किम विधान सभा ने एक संकल्प पारित करके भारत के राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं में सहयुक्त होने की और भारत के संसदीय तंत्र में सिक्किम के लोगों के प्रतिनिधित्व की इच्छा प्रकट की ।

35वां संशोधन । इस संकल्प को प्रभावी करने के लिए तुरन्त ही संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 पारित किया गया । इस संशोधन अधिनियम के मुख्य उपबन्ध ये थे :—

(i) सिक्किम भारत राज्यक्षेत्र का भाग नहीं होगा किन्तु "सहयुक्त राज्य" होगा । इसे भारत संघ की संरचना में लाने के लिए संविधान में अनुच्छेद 2क और 10वीं अनुसूची अन्तःस्थापित की गई ।

(ii) सिक्किम दोनों सदनों को दो प्रतिनिधि भेजने का हकदार होगा जिनके अधिकार और विशेषाधिकार वही होंगे जो संसद् के अन्य सदस्यों के हैं । इसका अपवाद यह होगा कि सिक्किम के प्रतिनिधि भारत के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में मत देने के हकदार नहीं होंगे । वे भारत के संविधान के अधीन संसद् के सदस्यों के लिए विहित निरर्हताओं के अधीन होंगे ।

(iii) सिक्किम की प्रतिरक्षा, विदेश कार्य और समाज कल्याण भारत सरकार का उत्तरदायित्व होगा । सिक्किम के लोगों को भारत में उच्च शिक्षा की संस्थाओं में, अखिल भारतीय सेवा में और राजनीतिक संस्थाओं में प्रवेश पाने का अधिकार होगा ।

(iv) सिक्किम सरकार के पास उन सभी विषयों पर अवशिष्ट शक्ति होगी जिनके बारे में भारत के संविधान की 10वीं अनुसूची में उपबन्ध नहीं किया गया है ।

इसमें सन्देह नहीं कि 35वें संशोधन अधिनियम, 1974 ने भारत के संविधान की

मूल स्कीम में कुछ नई बातें जोड़ दीं । 1949 के संविधान के अधीन "सहयुक्त राज्य" के लिए कोई स्थान नहीं था । भारत, राज्यों, संघ राज्यक्षेत्रों और अर्जित राज्यक्षेत्रों का परिसंघ है [अनुच्छेद 1(3)] । अनुच्छेद 2 द्वारा भारत की संसद् को नए राज्यों को संघ में प्रवेश देने की शक्ति दी गई थी । किन्तु संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम द्वारा सिक्किम को भारत संघ के नए राज्य के रूप में प्रवेश नहीं दिया गया । उसे भारत से सहयुक्त राज्यक्षेत्र बनाया गया जिसका भारत के राज्यक्षेत्र के भागरूप हुए बिना भारत की संसद् में प्रतिनिधि होगा ।

भारत की परिसंघ प्रणाली में सहयुक्त राज्य की प्रास्थिति के निर्माण की आलोचना का अब कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रह गया है क्योंकि इसके कुछ समय बाद ही सिक्किम को भारत संघ में भारत के संविधान की पहली अनुसूची के 22वें राज्य के रूप में प्रवेश दिया गया । अनुच्छेद 2क और दसवीं अनुसूची का, जो संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा जोड़ी गई थी, संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा लोप कर दिया गया । ये अधिनियम एक के बाद एक शीघ्रता से बनाए गए और 1975 के अधिनियम को 26 अप्रैल, 1975 से भूतलक्षी प्रभाव दिया गया ।

अब हम इसके बाद के विकास की ओर दृष्टिपात करें । जब भारतीय संसद् संविधान (35वां संशोधन) अधिनियम बना रही थी तब चोग्याल ने इसका विरोध करते हुए अन्तरराष्ट्रीय हस्तक्षेप का आह्वान किया । इससे सिक्किम के लोगों के प्रगतिशील अनुभाग उत्तेजित हो गए जिसके परिणामस्वरूप सिक्किम विधान सभा ने 10 अप्रैल, 1975 को एक संकल्प पारित करके यह घोषित किया कि चोग्याल के कार्यकलाप सिक्किम के लोगों की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं के विरुद्ध हैं और चोग्याल द्वारा मई, 1974 को निष्पादित करार के प्रतिकूल हैं । विधान सभा ने आगे और घोषित करते हुए यह संकल्प पारित किया कि

> "चोग्याल की संस्था को इसके द्वारा उत्सादित किया जाता है और सिक्किम इसके पश्चात् भारत की एक संघटक इकाई होगा जिसमें लोकतांत्रिक और पूर्णतया उत्तरदायी शासन होगा ।"

विधान सभा का यह संकल्प सिक्किम की जनता को अनुमोदन के लिए प्रस्तुत किया गया था । जो जनमत संग्रह हुआ उसमें बहुत बड़ी संख्या में लोग इसके पक्ष में थे । मंत्रिपरिषद् की ओर से सिक्किम के मुख्य मंत्री ने भारत सरकार से अनुरोध किया कि वह जनमत संग्रह के परिणाम को क्रियान्वित करे । इसके परिणामस्वरूप भारत की संसद् ने संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 पारित किया जिसे बाद में अनुच्छेद 368(2) के परन्तुक के अधीन अपेक्षित संख्या में राज्यों का अनुमोदन प्राप्त हुआ । 36वें संशोधन अधिनियम के अनुसार सिक्किम को भारत संघ में राज्य के रूप में प्रवेश दिया गया है । इस निमित्त पहली और चौथी अनुसूची का, अनुच्छेद 80 और 81 का संशोधन किया गया है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है अनुच्छेद 2क और दसवीं अनुसूची का लोप किया गया । सिक्किम के प्रशासन के सम्बन्ध में कुछ विशेष व्यवस्था करने के लिए अनुच्छेद 371च अन्तःस्थापित किया गया ।

नए राज्यों की रचना और सीमाओं में परिवर्तन आदि ।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि भारत का परिसंघ पारंपरिक परिसंघ प्रणाली से भिन्न है क्योंकि इसमें संघ की संसद् को यह शक्ति दी गई है कि वह इकाइयों के राज्यक्षेत्र या उनकी अखंडता में अर्थात् राज्यों में बिना उनकी सम्मति या सहमति के परिवर्तन कर दे । जहां परिसंघ प्रणाली स्वतंत्र राज्यों के बीच संविदा या करार का परिणाम है वहां यह स्पष्ट है कि करार को उसके पक्षकारों की सम्मति के बिना बदला नहीं जा सकता । इसी कारण अमेरिकी परिसंघ को "अविनाशी राज्यों का अविनाशी संघ" कहा

गया है । अमेरिका की राष्ट्रीय सरकार के लिए नए राज्यों की रचना करके या विद्यमान राज्यों की सीमाओं को उनके विधान मंडल की सम्मति के बिना परिवर्तित करके अमेरिका का मानचित्र सम्भव नहीं है । किन्तु भारत का परिसंघ स्वतंत्र राज्यों के बीच प्रसंविदा का परिणाम नहीं है । इसलिए राज्यों के संविधान में लेखबद्ध प्रारम्भिक पुनर्गठन को बनाए रखने के लिए कोई विशेष कारण नहीं हैं । हमारे संविधान के निर्माताओं ने संघ की संसद् को सादी प्रक्रिया से राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए शक्ति दी है । संक्षेप में यह है कि प्रभावित राज्य अपना मत अभिव्यक्त कर सकते हैं किन्तु वे संसद् की इच्छा का विरोध नहीं कर सकते ।

राष्ट्रीय सरकार को राज्यों के पुनर्गठन के लिए जो उदार शक्ति दी गई है उसका कारण यह है कि भारत शासन अधिनियम के अधीन प्रान्तों की बनावट ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों पर आधारित थी । उसका आधार लोगों का सामाजिक, सांस्कृतिक या भाषाई विभाजन नहीं था । प्राकृतिक लक्षणों के अनुसार इकाइयों के पुनर्गठन का प्रश्न संविधान बनाते समय उठाया गया था किन्तु उस समय इस विशाल कार्य को करने के लिए पर्याप्त समय नहीं था । यह समस्या भी कोई छोटी नहीं थी ।

इससे संबंधित उपबन्ध संविधान के अनुच्छेद 3 और 4 में हैं । अनुच्छेद 3 इस प्रकार है :

"संसद् विधि द्वारा —

(क) किसी राज्य में से उसका राज्यक्षेत्र अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी राज्यक्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नए राज्य का निर्माण कर सकेगी,

(ख) किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा सकेगी,

(ग) किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी,

(घ) किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी,

(ङ) किसी राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकेगी:

परन्तु इस प्रयोजन के लिए कोई विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना और जहां विधेयक में अन्तर्विष्ट प्रस्थापना का प्रभाव राज्यों में से किसी के क्षेत्र, सीमाओं या नाम पर पड़ता है वहां जब तक उस राज्य के विधान मंडल द्वारा उस पर अपने विचार, ऐसी अवधि के भीतर जो निर्देश में विनिर्दिष्ट की जाए या ऐसी अतिरिक्त अवधि के भीतर जो राष्ट्रपति द्वारा अनुज्ञात की जाए, प्रकट किए जाने के लिए वह विधेयक राष्ट्रपति द्वारा उसे निर्देशित नहीं कर दिया गया है और इस प्रकार विनिर्दिष्ट या अनुज्ञात अवधि समाप्त नहीं हो गई है, संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित नहीं किया जाएगा ।"

अनुच्छेद 4 में यह उपबन्ध है कि ऐसी विधि में ऐसे अनुपूरक, अनुषंगी और पारिणामिक उपबन्ध भी होंगे जो उस विधि को प्रभावित करने के लिए आवश्यक हैं और उस विधि द्वारा संविधान की पहली और चौथी अनुसूची का संशोधन किया जा सकेगा । इसके लिए अनुच्छेद 368 द्वारा विहित संविधान के संशोधन के लिए विधि बनाने की विशेष प्रक्रिया नहीं अपनानी होगी । इस प्रकार यह अनुच्छेद यह दर्शाते हैं कि हमारा संविधान कितना लचीला है । सादे बहुमत से और सामान्य विधायी प्रक्रिया से संसद् नए राज्य बना सकती है या विद्यमान राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन आदि करके भारत के राजनैतिक मानचित्र को बदल सकती है । ऐसी विधि बनाने के लिए केवल यही शर्तें अधिकथित हैं —

(क) इस प्रयोजन के लिए कोई विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना पुरःस्थापित नहीं किया जाएगा ।

(ख) राष्ट्रपति अपनी सिफरिश देने के पहले विधेयक को उस राज्य के विधान मंडल

को निर्दिष्ट करेंगे जो विधेयक में प्रस्थापित परिवर्तनों से प्रभावित होगा । वह राज्य राष्ट्रपति द्वारा विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर परिवर्तनों पर अपने विचार प्रकट करेगा । किन्तु राष्ट्रपति विधान मंडल द्वारा प्रकट किए गए मत से आबद्ध नहीं है ।

राज्यों के पुनर्गठन के लिए प्रक्रिया ।

यह भारतीय परिसंघ का एक विशेष लक्षण है अर्थात् यदि संघ की कार्यपालिका और विधान मंडल चाहें तो परिसंघ की इकाइयों के राज्यक्षेत्र परिवर्तित या पुनः वितरित किए जा सकते हैं ।[10]

संविधान के प्रारम्भ से पूर्वगामी शक्ति का प्रयोग संसद् द्वारा निम्नलिखित अधिनियमों को बनाने के लिए किया गया है –

1. असम (सीमा परिवर्तन) अधिनियम, 1951 । इसके द्वारा भारत के राज्यक्षेत्र से एक पट्टी भूटान को अध्यर्पित करके असम की सीमा में परिवर्तन किया गया है ।

2. आंध्र राज्य अधिनियम, 1953 के द्वारा, संविधान के प्रारम्भ के समय विद्यमान मद्रास राज्य से कुछ राज्यक्षेत्र निकाल कर आंध्र नामक नया राज्य बनाया गया ।

3. हिमाचल प्रदेश और बिलासपुर (नया राज्य) अधिनियम, 1954 से हिमाचल प्रदेश और बिलासपुर, इन दो भाग ग राज्यों का विलय करके एक राज्य अर्थात् हिमाचल प्रदेश बनाया गया ।

4. बिहार और पश्चिमी बंगाल (राज्यक्षेत्र अन्तरण) अधिनियम, 1956 द्वारा कुछ राज्यक्षेत्र बिहार से पश्चिमी बंगाल को अन्तरित किए गए ।

5. राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 से भारत के विभिन्न राज्यों की सीमाओं में स्थानीय और भाषाई मांगों को पूरा करने के लिए परिवर्तन किया गया । विद्यमान राज्यों के बीच कुछ राज्यक्षेत्रों को अन्तरित किया गया । इसके अतिरिक्त एक नया केरल राज्य बनाया गया और मध्य भारत, पेप्सू, सौराष्ट्र, ट्रावनकोर कोचीन, अजमेर, भोपाल, कोड़गू, कच्छ और विंध्य प्रदेश की रियासतों का उनसे लगे हुए राज्यों में विलय कर दिया गया ।

6. राजस्थान और मध्य प्रदेश (राज्यक्षेत्र अन्तरण) अधिनियम, 1959 द्वारा राजस्थान राज्य से कुछ राज्यक्षेत्र मध्य प्रदेश को अन्तरित किए गए ।

7. आंध्र प्रदेश और मद्रास (सीमा परिवर्तन) अधिनियम, 1959 द्वारा आंध्र प्रदेश और मद्रास राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन किए गए ।

8. मुम्बई पुनर्गठन अधिनियम, 1960 द्वारा मुम्बई राज्य को विभाजित करके गुजरात का नया राज्य बनाया गया और मुम्बई के बचे हुए राज्य को महाराष्ट्र नाम दिया गया ।

9. अर्जित राज्यक्षेत्र (विलयन) अधिनियम, 1960 से भारत और पाकिस्तान के बीच 1958-1959 में किए गए करार द्वारा अर्जित कुछ राज्यक्षेत्रों का असम, पंजाब और पश्चिमी बंगाल राज्यों में विलय के लिए उपबन्ध किया गया ।

पश्चिमी बंगाल और असम के कुछ राज्यक्षेत्रों का पूर्वोक्त करार के अधीन पाकिस्तान को अन्तरण करने के लिए संविधान (9वां संशोधन) अधिनियम, 1960 अधिनियमित किया गया क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने यह परामर्श दिया था कि संविधान का संशोधन किए बिना किसी विदेशी राज्य को भारत का कोई राज्यक्षेत्र अध्यर्पित नहीं किया जा सकता ।[11]

10. नागालैंड राज्य अधिनियम, 1962 के द्वारा नागालैंड राज्य की रचना की गई जिसमें "नागा पहाड़ी और त्युएनसांग क्षेत्र" का राज्यक्षेत्र समाविष्ट किया गया । पहले

यह संविधान की छठी अनुसूची में उल्लिखित जनजाति क्षेत्र था जो असम राज्य का भाग था ।

11. पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 जिसके द्वारा पंजाब राज्य को पंजाब और हरियाणा राज्यों में और चंडीगढ़ के संघ राज्यक्षेत्रों में बांटा गया ।

12. आंध्र प्रदेश और मैसूर (राज्यक्षेत्र अन्तरण) अधिनियम, 1968 ।

13. बिहार और उत्तर प्रदेश (सीमा परिवर्तन) अधिनियम, 1968 ।

14. असम पुनर्गठन (मेघालय) अधिनियम, 1969 द्वारा असम राज्य के भीतर मेघालय नाम का स्वशासी उपराज्य बनाया गया ।

15. हिमाचल प्रदेश के संघ राज्यक्षेत्र को राज्य का दर्जा हिमाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1970 द्वारा दिया गया ।

16. पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 द्वारा मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय को राज्यों के प्रवर्ग में सम्मिलित किया गया और मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश को संघ राज्यक्षेत्र की सूची में सम्मिलित किया गया ।

17. हरियाणा और उत्तर प्रदेश (सीमा परिवर्तन) अधिनियम, 1979 ।

18. मिजोरम राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा मिजोरम को राज्य का दर्जा दिया गया ।[5]

19. अरुणाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1986 ।[6]

20. गोवा, दमण और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 ।[7]

निर्देश

1. मूल संविधान में 27 राज्य थे जिन्हें तीन प्रवर्गों में रखा गया था, पहली अनुसूची के भाग क, ख और ग में । उनकी विभिन्न प्रास्थितियां और लक्षण थे (इसे सारणी 3 के स्तम्भ क में दर्शाया गया है) । पश्चात्वर्ती विधान सभा द्वारा इन राज्यों में कुछ परिवर्तन किए गए । संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा इन तीन प्रवर्गों को समाप्त कर दिया गया और सभी राज्यों को एक ही स्तर पर रखा गया (उनकी संख्या 14 थी) । यह राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 द्वारा पुनर्गठन के परिणामस्वरूप था । इस अधिनियम को संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम में समाविष्ट किया गया था । मुम्बई पुनर्गठन अधिनियम (1960 का 11) द्वारा मुम्बई राज्य को दो राज्यों में विभाजित किया गया — महाराष्ट्र और गुजरात । नागालैंड राज्य अधिनियम, 1962 द्वारा 1 फरवरी, 1964 से नागालैंड नाम से एक नया राज्य बनाया गया । इसके बाद जो परिवर्तन किया गया वह पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 द्वारा हुआ । इसके द्वारा पंजाब राज्य को 1 नवम्बर, 1966 से दो राज्यों में बांटा गया — पंजाब और हरियाणा । हिमाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1970 द्वारा संघ राज्यक्षेत्र को राज्य का दर्जा दे दिया गया । इसी प्रकार मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय को भी पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 द्वारा राज्य का दर्जा दिया गया । मिजोरम को यह दर्जा मिजोरम राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा मिला है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है सिक्किम को संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा 26 अप्रैल, 1975 से संघ के 22वें राज्य के रूप में सम्मिलित किया गया है । मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश 20-2-1987 को राज्य बने । गोवा को राज्य का दर्जा 30-5-1987 को प्राप्त हुआ । देखिए नीचे पाद-टिप्पण 5, 6 और 7 ।
2. 1969 में 22वां संशोधन अधिनियम, पारित करके असम राज्य में एक स्वशासी उपराज्य की रचना की गई जिसमें संविधान की छठी अनुसूची के पैरा 20 की सारणी के भाग क में विनिर्दिष्ट जनजाति क्षेत्र समाविष्ट किए गए । यह पर्वतीय जनजातियों की उनके लिए एक पृथक् राज्य की मांग की पूर्ति के लिए किया गया । तत्पश्चात् मेघालय नाम का राज्य बनाया जा चुका है । जैसा ऊपर पाद-टिप्पण 1 में कहा गया है मेघालय को 1971 में पूर्ण रूप से राज्य की प्रास्थिति प्रदान की गई ।

3. मैसूर राज्य (नाम परिवर्तन) अधिनियम, 1973 द्वारा मैसूर का नाम बदल कर कर्नाटक कर दिया गया है ।
4. इसी प्रकार मद्रास का नाम, मद्रास राज्य (नाम परिवर्तन) अधिनियम, 1968 द्वारा बदलकर तमिलनाडु कर दिया गया है ।
5. मिजोरम राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा मिजोरम संघ राज्यक्षेत्र को राज्य बना दिया गया है ।
6. अरुणाचल प्रदेश संघ राज्यक्षेत्र था उसे अरुणाचल प्रदेश अधिनियम, 1986 द्वारा राज्य घोषित किया गया (20-2-1987 से) ।
7. गोवा को दमण और दीव से अलग करके अलग राज्य बनाने के लिए गोवा, दमण और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 पारित किया गया । गोवा 30-5-1987 से राज्य बना ।
8. दादरा और नागर हवेली के पुर्तगाली प्रान्तों को भारत में मिला लिया गया है । यह अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के भारत के पक्ष में निर्णय के पश्चात् किया गया है । संविधान (10वां संशोधन) अधिनियम, 1962 द्वारा इन प्रान्तों के राज्यक्षेत्र को संघ राज्यक्षेत्र बनाया गया । गोवा, दमण और दीव को संविधान (12वां संशोधन) अधिनियम, 1962 द्वारा संघ राज्यक्षेत्र बनाया गया और पाण्डिचेरी को संविधान (14वां संशोधन) अधिनियम, 1962 द्वारा सम्मिलित किया गया । असम के पूर्वोत्तर राज्यक्षेत्रों से काटकर मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश को संघ राज्यक्षेत्र बनाया गया । मणिपुर और त्रिपुरा के संघ राज्यक्षेत्रों को पूर्ण राज्य का दर्जा पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 द्वारा दिया गया । हिमाचल प्रदेश को राज्यों के प्रवर्ग में हिमाचल प्रदेश अधिनियम, 1970 द्वारा सम्मिलित किया गया । संविधान (12वां संशोधन) अधिनियम, 1962 द्वारा चंडीगढ़ को संघ राज्यक्षेत्र के रूप में सम्मिलित किया गया ।
9. लकादीव, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीप समूह का नाम बदलकर, 1973 के अधिनियम संख्यांक 43 द्वारा, "लक्षद्वीप" कर दिया गया ।
10. *स्टेट आफ वेस्ट बंगाल* बनाम *यूनियन आफ इंडिया*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1241 ।
11. *बेरूबारी यूनियन* का मामला, ए.आई.आर. 1960 एस.सी. 841 (यह अध्यर्पण इसलिए नहीं किया जा सका कि अन्तरण की सांविधानिकता पर न्यायालय में आक्षेप किया गया था । यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने अन्तरण को वैध माना है किन्तु पश्चिमी बंगाल ने अध्यर्पित राज्यक्षेत्र का कुछ भाग, 1974 में बांग्लादेश की मुजीबुर्रहमान सरकार के साथ करार के अधीन अपने पास रखा है) ।

7

नागरिकता

किसी भी राज्य की जनसंख्या को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है — नागरिक और अन्यदेशीय । नागरिकों को सभी सिविल और राजनैतिक अधिकार प्राप्त होते हैं किन्तु अन्यदेशियों को ये सब अधिकार नहीं मिलते ।

नागरिकता का अर्थ ।

संविधान के निर्माण के समय नागरिकता का प्रश्न विशेष महत्व का हो गया क्योंकि संविधान उन लोगों को, जो भारत के नागरिक होने के हकदार थे, कुछ विशेष अधिकार और विशेषाधिकार प्रदान करना चाहता था । अन्यदेशीय इस अधिकार से वंचित रखे जाने वाले थे । अन्यदेशियों को कुछ निर्योग्यता के अधीन भी रखा गया ।

भारत के नागरिकों के सांविधानिक अधिकार और विशेषाधिकार ।

भारत के नागरिकों को संविधान के अधीन निम्नलिखित अधिकार हैं जो अन्यदेशियों को नहीं हैं :—

(i) कुछ मूल अधिकार केवल नागरिकों को दिए गए हैं जैसे, — अनुच्छेद 15, 16, और 19 ।

(ii) केवल नागरिक ही कुछ पदों के पात्र हैं जैसे राष्ट्रपति का पद [अनुच्छेद 58(1)(क)], उपराष्ट्रपति का पद [अनुच्छेद 66(3)(क)], उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश [अनुच्छेद 124(3)], उच्च न्यायालय का न्यायाधीश [अनुच्छेद 217(2)], महान्यायवादी [अनुच्छेद 76(2)], राज्यपाल [अनुच्छेद 157], महाधिवक्ता [अनुच्छेद 165] ।

(iii) लोक सभा और प्रत्येक राज्य की विधान सभा के निर्वाचन के लिए मत देने का अधिकार [अनुच्छेद 326] और संसद् का सदस्य होने का अधिकार [अनुच्छेद 84] तथा राज्य के विधान मंडल का सदस्य होने का अधिकार [अनुच्छेद 191(1)(घ)] केवल नागरिकों तक सीमित हैं ।

ये अधिकार अन्यदेशीय लोगों को नहीं दिए जाते हैं चाहे वे मित्र हों या शत्रु । शत्रु अन्यदेशियों की कुछ विशेष निर्योग्यताएं होती हैं । उन्हें अनुच्छेद 22 के अधीन गिरफ्तारी और निरोध से सम्बन्धित प्रक्रियात्मक उपबन्धों का फायदा नहीं मिलता है । अन्यदेशीय शत्रु में केवल वे ही लोग नहीं आते हैं जो ऐसे राज्य की प्रजा हैं जिसके साथ भारत युद्ध कर रहा है बल्कि ऐसे भारतीय नागरिक भी आते हैं जो ऐसे राज्य में स्वेच्छा से निवास कर रहे हैं या उसके साथ व्यापार कर रहे हैं ।

संविधान में भारत की नागरिकता के सम्बन्ध में स्थायी या व्यापक विधि अधिकथित करने का कोई आशय नहीं था । उसमें केवल व्यक्तियों के उन वर्गों का वर्णन किया गया है जिन्हें भारत के संविधान के प्रारम्भ की तारीख को भारत का नागरिक समझा जाएगा ।

भारत में नागरिकता का सांविधानिक और कानूनी आधार ।

संविधान ने भविष्य में संसद् द्वारा बनाई जाने वाली विधि द्वारा समस्त नागरिकता की विधि को विनियमित किए जाने के लिए छोड़ दिया । इस शक्ति के प्रयोग में संसद् ने नागरिकता अधिनियम (1955 का 57)[1] बनाया । इस अधिनियम में संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् नागरिकता के अर्जन और समाप्ति के बारे में विस्तार से उपबन्ध रखा गया । इस अधिनियम के उपबन्ध[1] संविधान के भाग 2 के उपबन्धों के साथ पढ़े जाने चाहिए तभी भारत की नागरिकता की विधि का समग्र चित्र प्राप्त होगा ।

संसद् के अधिनियम में संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् नागरिकता के अर्जन के तरीके बताए गए हैं इसलिए इन पर अलग-अलग विचार करना सुविधाजनक होगा ।

अ. वे व्यक्ति जो 26 जनवरी, 1950 को नागरिक हो गए ।

अ. संविधान के अनुच्छेद 5-8 के अधीन निम्नलिखित व्यक्ति संविधान के प्रारम्भ पर भारत के नागरिक बन जाते हैं ।

I. कोई व्यक्ति जिसका भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवास है और जो भारत के राज्यक्षेत्र में जन्मा है — चाहे उसके माता-पिता की राष्ट्रीयता कुछ भी हो [अनुच्छेद 5(क)] ।

II. भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवासी कोई व्यक्ति जिसके माता या पिता में से कोई भारत के राज्यक्षेत्र में जन्मा था — उसके माता-पिता की राष्ट्रीयता चाहे कुछ भी रही हो अथवा ऐसे व्यक्ति का जन्म का स्थान कुछ भी हो [अनुच्छेद 5(ख)] ।

III. कोई व्यक्ति जो या जिसके माता या पिता का जन्म भारत में हुआ था किन्तु जो (क) भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवासी है, और (ख) संविधान के प्रारम्भ से ठीक पूर्ववर्ती पांच वर्ष की अवधि के लिए भारत के राज्यक्षेत्र में मामूली तौर से निवासी रहा है । इस दशा में भी ऐसे व्यक्ति के माता या पिता की राष्ट्रीयता तात्विक नहीं है । उदाहरण के लिए किसी पुर्तगाली बस्ती की कोई प्रजा यदि संविधान के प्रारम्भ के ठीक पूर्ववर्ती पांच वर्ष से अन्यून अवधि के लिए भारत में निवास करती है और उसका भारत में स्थायी रूप से निवास करने का आशय है तो वह संविधान के प्रारम्भ पर भारत का नागरिक हो जाएगा [अनुच्छेद 5(ग)] ।

IV. पाकिस्तान से भारत को आव्रजन करने वाला व्यक्ति परन्तु यह तब जब कि, —

(i) यदि वह या उसके माता-पिता में से कोई अथवा उसके पितामह या पितामही या मातामह या मातामही में से कोई (मूल रूप में यथाअधिनियमित) भारत शासन अधिनियम, 1935 में परिभाषित भारत में जन्मा था, और

(ii) (क) उसने 19 जुलाई, 1948 से पहले इस प्रकार आव्रजन किया था — उसने ऐसे आव्रजन की तारीख से भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर मामूली तौर से निवास किया है (उसकी दशा में नागरिकता के लिए आव्रजक के रूप में रजिस्ट्रीकरण की आवश्यकता नहीं है), या

(ख) यदि उसने 19 जुलाई, 1948 को या उसके पश्चात् इस प्रकार आव्रजन किया था और फिर संविधान के प्रारम्भ के पहले भारत के नागरिक के रूप में रजिस्ट्रीकरण के लिए ऐसे अधिकारी को, जिसे भारत सरकार ने इस प्रयोजन के लिए नियुक्त किया है, आवेदन किया था और ऐसे अधिकारी ने उसका यह समाधान हो जाने पर कि आवेदक, ऐसे आवेदन की तारीख से ठीक पहले कम से कम छह मास तक भारत के राज्यक्षेत्र का निवासी रहा है, उसे रजिस्ट्रीकृत किया है [अनुच्छेद 6] ।

V. कोई व्यक्ति जिसने 1 मार्च, 1947 के पश्चात् भारत से पाकिस्तान को आव्रजन किया है किन्तु उसके पश्चात् किसी अनुज्ञा के अधीन भारत लौट आया है, यह अनुज्ञा पुनर्वास के लिए या स्थायी रूप से लौटने के लिए विधि के किसी प्राधिकार के अधीन

दी गई है परन्तु यह तब जब कि वह अनुच्छेद 6(ख)(ii) के अधीन बताई गई रीति में अपने आपको रजिस्ट्रीकृत करा लेता है [अनुच्छेद 7] ।

VI. कोई व्यक्ति जो या जिसके मातामह या मातामही या पितामह या पितामही में से कोई (मूल रूप से यथाअधिनियमित) भारत शासन अधिनियम, 1935 में परिभाषित भारत में जन्मा था किन्तु जो भारत से बाहर किसी देश में मामूली तौर से निवास कर रहा है (चाहे संविधान के प्रारम्भ के पहले हो या उसके पश्चात्), विहित प्ररूप में अपने निवास के देश में भारत के कौंसलीय या राजनयिक प्रतिनिधि को आवेदन करने पर भारत के नागरिक के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया जा सकेगा [अनुच्छेद 8] । (इस प्रकार संविधान के प्रारम्भ की तारीख को विदेशों में रहने वाले भारतीयों के लिए यह उपबन्ध किया गया ।)

आ. नागरिकता अधिनियम, 1955 द्वारा विहित नागरिकता के अर्जन के विभिन्न ढंग इस प्रकार हैं :

आ. 26 जनवरी, 1950 के पश्चात् नागरिकता का अर्जन ।

(क) *जन्म से नागरिकता* : प्रत्येक व्यक्ति जिसका जन्म भारत में 26-1-1950 को या उसके पश्चात् हुआ है, जन्म से भारत का नागरिक होगा ।

(ख) *अवजनन द्वारा नागरिकता* : स्थूल रूप से, 26 जनवरी, 1950 को या उसके पश्चात् भारत के बाहर पैदा हुआ कोई व्यक्ति अवजनन द्वारा भारत का नागरिक होगा यदि उसके पिता उसके जन्म के समय भारत के नागरिक हैं ।

(ग) *रजिस्ट्रीकरण द्वारा नागरिकता* : अनेक वर्गों के व्यक्ति (जिन्हें अन्यथा भारतीय नागरिकता प्राप्त नहीं हुई है) विहित प्राधिकारी के समक्ष इस निमित्त अपने को रजिस्ट्रीकृत करके भारतीय नागरिकता अर्जित कर सकेंगे अर्थात् भारतीय मूल के ऐसे व्यक्ति जो मामूली तौर पर भारत में निवासी हैं और जो रजिस्ट्रीकरण के लिए आवेदन करने के ठीक पहले छह मास की अवधि तक इस प्रकार निवासी रहे हैं; वे स्त्रियां जिनका विवाह भारत के किसी नागरिक के साथ हुआ है ।

(घ) *देशीयकरण द्वारा नागरिकता* : कोई विदेशी भारत सरकार को देशीयकरण के लिए आवेदन करके भारतीय नागरिकता अर्जित कर सकेगा ।

(ङ) *राज्यक्षेत्र में मिल जाने से नागरिकता* : यदि कोई अन्य राज्यक्षेत्र भारत का भाग बन जाता है तो भारत सरकार यह विनिर्दिष्ट करेगी कि उस राज्यक्षेत्र के व्यक्ति भारत के नागरिक होंगे ।

भारतीय नागरिकता का पर्यवसान ।

नागरिकता अधिनियम, 1955 में यह भी अधिकथित है कि संविधान के उपबन्धों के अधीन किस प्रकार किसी व्यक्ति की भारतीय नागरिकता समाप्त हो जाएगी — चाहे वह नागरिकता अधिनियम, 1955 के अधीन अर्जित की गई हो या उसके पूर्व (अनुच्छेद 5–8 के अधीन) । यह तीन प्रकार की हो सकती है — त्यागने पर, पर्यवसान पर और वंचित किए जाने पर ।

(क) त्यागना एक स्वैच्छिक कार्य है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति जो भारत की और किसी अन्य देश की नागरिकता धारण करता है उनमें से किसी एक को छोड़ सकता है[2] ।

(ख) पर्यवसान विधि के द्वारा होता है । जैसे ही कोई भारत का नागरिक स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता अर्जित कर लेता है वैसे ही भारत की नागरिकता समाप्त हो जाती है ।

(ग) वंचित किया जाना । भारत की नागरिकता का भारत से बाहर के देश द्वारा अनिवार्य पर्यवसान है । यदि भारत सरकार का कुछ बातों के बारे में यह समाधान हो

जाता है कि भारतीय नागरिकता किसी व्यक्ति द्वारा कपट द्वारा अर्जित की गई थी या उसने अपने आपको भारत के संविधान के प्रति अभक्त या अप्रीतिपूर्ण दर्शित किया है तो वह ऐसा कर सकती है ।

भारत में इकहरी नागरिकता ।

इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि हमारा संविधान परिसंघीय है फिर भी इसमें केवल एक ही नागरिकता की व्यवस्था है अर्थात् भारत की नागरिकता । अमेरिका और स्विटजरलैंड जैसे परिसंघीय राज्यों में दोहरी नागरिकता है अर्थात् परिसंघ की या राष्ट्रीय नागरिकता और उस राज्य की नागरिकता जहां उस व्यक्ति का जन्म हुआ है जहां वह स्थायी रूप से निवास करता है । इन दो प्रकार की नागरिकताओं से विभिन्न अधिकार और बाध्यताएं उत्पन्न होती हैं । भारत में किसी राज्य में जन्मे या अनिवासी व्यक्ति की केवल एक ही नागरिकता होती है अर्थात् भारत की नागरिकता; और संविधान द्वारा प्रदत्त सिविल और राजनैतिक अधिकार भारत के प्रत्येक नागरिक को समान रूप से उपलब्ध हैं चाहे उसका जन्म स्थान और निवास भारत के किसी भी भाग में हो ।

किसी राज्य में स्थायी निवास से कुछ विषयों में कुछ लाभ प्राप्त हो सकते हैं जिन्हें इस संदर्भ में देखना उचित होगा, —

(क) संघ के अधीन नियोजन के सम्बन्ध में किसी विशेष राज्यक्षेत्र में निवास की कोई अर्हता नहीं होगी । किन्तु संविधान के अनुच्छेद 16(3) में यह अधिकथित है कि संघ की संसद् को यह शक्ति है कि वह किसी राज्य या संघ राज्यक्षेत्र के अधीन किसी वर्ग या वर्गों के नियोजन के लिए यह अधिकथित करे कि उस राज्य या संघ राज्यक्षेत्र में निवास करना आवश्यक अर्हता होगी । राज्य में नियोजन की दशा में अपवाद इसलिए रखा गया है जिससे कार्य में दक्षता हो क्योंकि स्थानीय परिस्थितियों से परिचय पर कुछ कार्य आधारित होते हैं ।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस विषय में विधान बनाने का एकमात्र प्राधिकार संघ की संसद् को है । राज्य के विधान मंडलों को कोई अधिकार नहीं है । इस प्रकार विभिन्न राज्यों के बीच अन्यायपूर्ण विभेद नहीं हो पाएगा । संसद् ने इस शक्ति के प्रयोग में लोक नियोजन (निवास की अपेक्षा) अधिनियम, 1957 सीमित अवधि के लिए अधिनियमित किया था । इस अधिनियम द्वारा संसद् ने केन्द्रीय सरकार को आंध्र प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा में अराजपत्रित पदों में नियुक्ति के लिए निवास की अपेक्षाएं विहित करने के लिए नियम बनाने की शक्ति दी थी । ये नियम विनिर्दिष्ट अवधि तक प्रवृत्त रहने वाले थे । 1974 में इस अधिनियम की समाप्ति के पश्चात् किसी भी व्यक्ति को किसी भी राज्य में इस आधार पर नियोजन से वंचित नहीं किया जा सकता कि वह उस राज्य का निवासी नहीं है ।[3]

(ख) जैसा हम आगे मूल अधिकार के अध्याय में देखेंगे, अनुच्छेद 15(1) केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करता है । इसमें निवास का उल्लेख नहीं है । अतएव संविधान द्वारा राज्य को यह अनुमति है कि वह उन भारत के नागरिकों को संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों से भिन्न विषयों में अपने निवासियों को विशेष फायदे दे सकता है । दृष्टान्त के लिए राज्य की शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए फीस उद्ग्रहण का मामला है । उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 15 में निवास के आधार पर विभेद का प्रतिषेध नहीं है इसलिए राज्य अपने राज्य में आयुर्विज्ञान महाविद्यालय में प्रवेश के लिए फीस के विषय में अपने निवासियों को रियायत दे सकता है ।[4]

(ग) जम्मू-कश्मीर राज्य के विधान मंडल को निम्नलिखित विषयों की बाबत अपने राज्य में स्थायी रूप से निवासी व्यक्तियों को विशेष अधिकार और विशेषाधिकार प्रदान करने के लिए प्राधिकृत किया गया है[5] –

(i) राज्य सरकार के अधीन नियोजन,

(ii) राज्य में स्थावर सम्पत्ति का अर्जन,

(iii) राज्य में बस जाने, या

(iv) छात्रवृत्तियों या ऐसी अन्य प्रकार की सहायता के अधिकार जो राज्य सरकार प्रदान करे ।

निर्देश

1. यह अधिनियम डी.डी. बसु के *"कमेंट्री आफ दि कांस्टीटयूशन"*, छठा संस्करण, जिल्द ए के पृष्ठ 217 पर दिया गया है ।
2. जहां कोई व्यक्ति यह साबित कर देता है कि उसने भारत की नागरिकता अर्जित कर ली है किन्तु सरकार यह कहती है कि भारत में किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वैच्छिक रूप से अर्जित करने के कारण उसने अपनी नागरिकता खो दी है उदाहरणार्थ पाकिस्तान का पासपोर्ट प्राप्त करके, तो यह प्रश्न ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध विदेशी के रूप में कोई कार्यवाही किए जाने के पहले नागरिकता अधिनियम की धारा 9(2) के अधीन केन्द्रीय सरकार द्वारा अवधारित किया जाएगा । केन्द्रीय सरकार को पूर्वगामी प्रश्न के अवधारण के लिए अनन्य अधिकारिता है अर्थात् क्या कोई व्यक्ति जो भारत का नागरिक था किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वैच्छिक रूप से अर्जित करने के कारण अपनी नागरिकता खो चुका है । यह प्रश्न राज्य सरकार द्वारा या किसी न्यायालय द्वारा वाद के रूप में या अनुच्छेद 226 या अनुच्छेद 32 के अधीन कार्यवाहियों में अवधारित नहीं किया जा सकता (*आंध्र प्रदेश सरकार* बनाम *सैयद मोहम्मद*, ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 1778; *मध्य प्रदेश राज्य* बनाम *पीर मोहम्मद*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 645 (*647*) ।
3. *पांडुरंग राव* बनाम *आंध्र प्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 268 (*272*) ।
   आंध्र प्रदेश के लिए अनुच्छेद 371घ में पृथक् उपबन्ध किए गए हैं । यह संविधान (32वां संशोधन) अधिनियम, 1973 द्वारा संविधान में अन्तःस्थापित किया गया है । अनुच्छेद 371घ राष्ट्रपति को यह शक्ति देता है कि वह आदेश द्वारा राज्य के विभिन्न भागों की जनता के लिए लोक नियोजन और शिक्षा के विषय में समान अवसर का उपबन्ध कर सकेगा और एक प्रशासनिक अधिकरण स्थापित कर सकेगा जिसे देश में विनिर्दिष्ट नियोजन के मामलों में अन्तिम न्यायनिर्णयन करने की शक्ति होगी ।
4. *जोशी* बनाम *मध्य भारत राज्य*, (1955) 1 एस.सी.आर. 1215 ।
5. संविधान (जम्मू-कश्मीर को लागू होना) आदेश, 1954 द्वारा भारत के संविधान में अन्तःस्थापित अनुच्छेद 35क द्वारा । यह राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 370 के अधीन दी गई शक्ति के प्रयोग में बनाया गया है ।

8

मूल अधिकार और मूल कर्तव्य

इंग्लैंड का संविधान अलिखित है । इसलिए इंग्लैंड में मूल अधिकारों की वैसी कोई संहिता नहीं है जैसी अमेरिका के संविधान में है या विश्व के अन्य लिखित संविधानों में है । इसका यह अर्थ नहीं है कि इंग्लैंड में व्यक्ति के इन आधारभूत अधिकारों को कोई मान्यता नहीं है जिनके बिना लोकतंत्र अर्थहीन हो जाता है । इंग्लैंड में व्यक्तिगत अधिकारों का आधार नकारात्मक है । इस अर्थ में कि व्यक्ति को कोई भी कार्य जो वह चाहे करने का अधिकार और स्वतंत्रता है जब तक कि वह देश की सामान्य विधि के किसी नियम का उल्लघंन नहीं करता है । व्यक्ति की स्वतंत्रता न्यायिक विनिश्चिय द्वारा सुनिश्चित की जाती है । इन न्यायिक निर्णयों में न्यायालयों के समक्ष आए मामलों में व्यक्ति के अधिकार अवधारित किए जाते हैं ।

व्यक्ति के अधिकार और मूल अधिकार ।

इंग्लैंड में स्थिति ।

इंग्लैंड में और अन्यत्र भी व्यक्ति के अधिकारों की संरक्षक न्यायपालिका है । किन्तु इसमें एक मूलभूत अन्तर है । इंग्लैंड में न्यायालयों को कार्यपालिका के अत्याचार के विरुद्ध व्यक्ति को संरक्षण देने की पूरी शक्ति है किन्तु विधान मंडल जब व्यक्ति के अधिकारों पर आक्रमण करता है तो न्यायालय शक्तिहीन हो जाते है । संक्षेप में इंग्लैंड के विधान मंडल के विरुद्ध आबद्धकर कोई मूल अधिकार नहीं है । इंग्लैंड का विधान मंडल सैद्धान्तिक रूप से सर्वशक्तिमान है । ऐसी कोई विधि नहीं है जिसे वह परिवर्तित न कर सके । जैसा पहले कहा जा चुका है कि व्यक्ति को अधिकार हैं किन्तु वे देश की सामान्य विधि पर आधारित हैं जिसे संसद् अन्य विधियों के समान ही बदल सकती है । इसलिए ऐसा कोई अधिकार नहीं है जिसे संसद् अन्य विधियों के समान ही बदल सकती है । इसलिए ऐसा कोई अधिकार नहीं है जिसे वास्तविक अर्थ में मूल अधिकार कहा जा सके । संसद् की सर्वोच्चता का एक और महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि इंग्लैंड के न्यायालयों को विधान के न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति नहीं है । किसी भी विधि को इस आधार पर असांविधानिक घोषित नहीं किया जा सकता कि वह किसी मूल अधिकार या नैसर्गिक अधिकार का उल्लंघन करती है ।

इंग्लैंड और अमेरिका के बीच व्यक्ति के अधिकारों के प्रश्न को देखने के ढंग में मूलभूत अन्तर है । वह अन्तर यह है कि इंग्लैंड के लोग कार्यपालिका की शक्ति के प्रयोग से व्यक्ति के अधिकारों को संरक्षण देने के लिए चिंतित थे जबकि अमेरिकी संविधान के रचयिता न केवल कार्यपालिका के अत्याचार से बल्कि विधान मंडल के अत्याचार से भी आशंकित थे अर्थात् उन लोगों से जो तत्समय विधान मंडल में बहुमत में हों ।

अमेरिका में अधिकार पत्र ।

इसी प्रकार अमेरिकी अधिकार विलेख (जो अमेरिका के संविधान के पहले दस

संशोधनों में अन्तर्विष्ट है) विधान मंडल पर भी उतना ही आबद्धकर है जितना कार्यपालिका पर । इसके परिणामस्वरूप अमेरिका में "न्यायिक सर्वोच्चता" की स्थापना हुई है । वैसे ही जैसे इंग्लैंड में संसदीय सर्वोच्चता है । अमेरिका में न्यायालय कांग्रेस के किसी अधिनियम को अधिकार विलेख के किसी उपबन्ध के उल्लंघन पर असांविधानिक घोषित करने के लिए सक्षम है । इसके अतिरिक्त विधान मंडल इस बात के लिए सक्षम नहीं है कि आपात या राज्य के खतरे को देखते हुए मूल अधिकारों को उपान्तरित या समायोजित कर सके । अमेरिका में यह शक्ति न्यायपालिका ने ले रखी है ।

भारत में मूल अधिकारों की मांग का इतिहास ।

भारत में साइमन आयोग और संयुक्त संसदीय समिति ने जो भारत शासन अधिनियम, 1935 के लिए उत्तरदयी थी मूल अधिकारों की घोषणाओं को अधिनियमित करने के विचार को इस आधर पर नामंजूर कर दिया कि अमूर्त घोषणाएं व्यर्थ होती हैं जब तक कि उन्हें प्रभावी करने की इच्छाशक्ति और साधन विद्यमान न हों । किन्तु नेहरू प्रतिवेदन[1] के समय से राष्ट्रवादी राय अधिकार विलेख के पक्ष में निश्चित रूप से थी क्योंकि ब्रिटिश राज्य से जो अनुभाव प्राप्त हुआ था वह यह था कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कम करने में चाटुकारों की विधायिका कार्यपलिका की सेवा करने के लिए तत्पर रहती थी । इसलिए ब्रिटिश राय की ओर ध्यान न देते हुए संविधान निर्माताओं ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के लिए मूल अधिकार और समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की प्राप्ति के लिए उनके साथ-साथ निदेशक तत्व अंगीकार किए । वे अपने इस प्रयास में सफल हुए इस बात का साक्ष्य भारतीय संविधान के एक गहन अध्ययनकर्ता के कथन से प्राप्त होता है[2], –

> "ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में मूल अधिकारों ने एक नई समानता का सृजन किया है . . . और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करने में सहायता की . . . उच्च न्यायलय और उच्चतम न्यायालय के समक्ष अधिकार सम्बन्धी वादों की संख्या को देखने से अधिकारों के मूल्य का भास होता है । परमाधिकार रिटों के बार-बार उपयोग से यह पता चलता है कि जनता ने उन्हें भलीभांति स्वीकार किया है । संविधान में उल्लिखित अधिकारों को सम्मिलित करने के विरुद्ध जो पारंपरिक तर्क दिए जाते हैं वे भारत में सही नहीं सिद्ध हुए । वस्तुतः इस मामले में इसका उलटा ही है ।"[2]

न्यायालयों को यह शक्ति है कि मूल अधिकारों का उल्लंघन करने वाली विधियों को शून्य घोषित करे ।

भारत के संविधान ने भाग 3 में बहुत से मूल अधिकार समाविष्ट किए हैं । ये (कुछ अपवादों के अधीन रहते हुए जिनका बाद में उल्लेख किया जाएगा) न केवल कार्यपालिका की बल्कि विधान मंडल की शक्तियों पर भी लगाई गई मर्यादाओं के रूप में हैं । यद्यपि इसका नमूना अमेरिका के संविधान से लिया गया है किन्तु भारत का संविधान उससे बहुत आगे जाता है और एक प्रकार से संसदीय प्रभुता और न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्तों के बीच एक सामंजस्य स्थापित करता है । दूसरी ओर भारत में संसद् को उस अर्थ में प्रभुत्वसम्पन्न नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में इंग्लैंड की पार्लमेंट को विधिक रूप से सर्वशक्तिमान माना जाता है । हमारी संसद् की रचना लिखित संविधान द्वारा की गई है और उसमें उसकी मर्यादाएं हैं । हमारी संसद् संविधान द्वारा अधिरोपित मर्यादाओं और प्रतिषेधों के अधीन विधान बना सकती है, जैसे मूल अधिकार, विधायी शक्तियों का वितरण आदि । यदि इन मर्यादाओं का अतिक्रमण हो जाता है तो उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय इस बात के लिए सक्षम हैं कि वे किसी विधि को असांविधानिक और शून्य घोषित कर दे । जहां तक मूल अधिकारों के उल्लंघन का प्रश्न है यह कर्तव्य संविधान ने न्यायालयों को सौंपा है [अनुच्छेद 13] ।

यह अत्यधिक सावधानी के रूप में किया गया है । अनुच्छेद 13 का खंड (2) इस प्रकार है :—

"राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती है या न्यून करती है और इस खंड के उल्लंघन में बनाई गई प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी ।"

इस विस्तार तक हमारा संविधान अमेरिकी आदर्श का अनुसरण करता है इंग्लैंड का नहीं ।

किन्तु भारत में विधान मंडल के अधिकारों को देखते हुए न्यायपालिका की शक्तियां अमेरिका की अपेक्षा दो बातों से कम हैं ।

भारत के संविधान के अधीन मूल अधिकारों का अमेरिकी अधिकार विलेख से विभेद ।

पहले, अमेरिका के अधिकार विलेख की घोषणा आत्यन्तिक हैं । व्यक्ति के मूल अधिकारों पर समूह के हित में निर्बन्धन अधिरोपित करने की राज्य की शक्ति न्यायपालिका द्वारा विकसित की गई । भारत में प्रमुख मूल अधिकारों की दशा में यह शक्ति संविधान ने विधान मंडलों को अभिव्यक्त रूप से प्रदान की है । विधान मंडल द्वारा अधिरोपित निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता अवधारित करने के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति न्यायपालिका के हाथों में है ।

44वां संशोधन अधिनियम, 1978: सम्पत्ति का अधिकार ।

दूसरे, श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता सरकार ने जल्दबाजी में संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा अनुच्छेद 19(1)(च) और 31 का एक महत्वपूर्ण मूल अधिकार, सम्पत्ति के अधिकार, का लोप कर दिया । इस अनुच्छेद 31(1) के उपबन्ध उसी संशोधन द्वारा एक नए अनुच्छेद — अनुच्छेद 300क में रख दिए गए हैं । यह संविधान के भाग 3 के बाहर है और इसे भाग 12 के अध्याय 4 के रूप में दर्शाया गया है जो कि मूल अधिकार नहीं है (यह वित्त, संविदाएं, सम्पत्ति और वाद के बारे में है) ।

40 वर्ष के कांग्रेस शासन में मूल संविधान के भाग 3 में समाहित मूल अधिकारों की परिधि को अनेक संशोधनों द्वारा धीरे-धीरे छोटा कर दिया गया । किन्तु जनता सरकार ने एक मूल अधिकार को पूरा ही नष्ट कर दिया । सांविधानिक विकास के दृष्टिकोण से यह उस जनता पार्टी द्वारा किया गया जो इंदिरा शासन में 42वें संशोधन द्वारा किए गए अधिनायकवादी कार्यों द्वारा उत्पन्न परिणामों को समाप्त करना चाहती थी । अनुच्छेद 19(1)(च) और 31 का लोप करके वे अपने उद्देश्यों से आगे निकल गए । इसके जो परिणाम होंगे वे पूरी तरह से आने वाले वर्षों में दिखलाई पड़ेंगे ।

सम्पत्ति के अधिकार में जो संशोधन किए गए हैं उनका परिणाम यह है :

(i) विधि के प्राधिकार के बिना सम्पत्ति से वंचित न किए जाने का अधिकार मूल अधिकार नहीं है । अतएव यदि किसी की सम्पत्ति विधि के प्राधिकार के बिना या विधि के उल्लंघन में कार्यपालिका की आज्ञा से ले ली जाती है तो व्यथित व्यक्ति के उच्चतम न्यायालय में अनुच्छेद 32 के अधीन आवेदन करने का कोई अधिकार नहीं होगा ।

(ii) यदि विधान मंडल किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित करने के लिए विधि बनाता है तो वह व्यक्ति अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन ऐसी विधि द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन की युक्तियुक्तता पर आक्षेप नहीं कर सकता क्योंकि यह उपबन्ध अब विद्यमान नहीं हैं ।[3]

(iii) अनुच्छेद 31 के खंड (2) का लोप हो गया है इसलिए किसी व्यक्ति की सम्पत्ति ले लिए जाने पर उसके प्रतिकर की बाबत उस व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध

में विधान मंडल के विरुद्ध कोई प्रत्याभूति नहीं है । (मूल संविधान में) अनुच्छेद 31(2) में यह सिद्धान्त समाविष्ट था कि यदि राज्य प्राइवेट सम्पत्ति का अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण करता है तो उसे (क) विधि बनानी होगी, (ख) ऐसी विधि लोक प्रयोजन के लिए होगी, और (ग) जिस व्यक्ति की संपत्ति ली गई है उसे कुछ प्रतिकर दिया जाना चाहिए ।

1971 में 25वें संशोधन द्वारा श्रीमती इंदिरा गांधी के शासन में "प्रतिकर" के स्थान पर "रकम" शब्द रखा गया जिसकी पर्याप्तता के बारे में न्यायालय में आक्षेप नहीं किया जा सकता था । इतना होने पर भी उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यदि दी गई रकम काल्पनिक हो या रकम इतनी कम हो कि वह एक प्रकार से सम्पत्ति का अधिहरण हो जाए तो व्यथित व्यक्ति परिवाद कर सकता है ।[4] किन्तु यह सम्भावना 44वें संशोधन ने मिटा दी है ।

45वें संशोधन विधेयक के उद्देश्यों और कारणों के कथन में सम्पत्ति के मूल अधिकार को समाप्त करने के लिए जो संक्षिप्त तर्क दिया गया है वह यह है कि इसे विधिक अधिकार में संपरिवर्तित किया जा रहा है । इसका अर्थ यह हुआ कि मूल संविधान के अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) विधान मंडल की मर्यादा बांधते थे । 45वां संशोधन विधेयक विधान मंडल को व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकार का संरक्षक बनाता है । उसकी सद्भावना और प्रज्ञा पर किसी प्रकार का बंधन नहीं हो सकता । किन्तु यदि विधान मंडल को इस प्रकार निर्दोष और कभी भूल न करने वाला मान लिया जाए तब फिर भाग 3 से सभी मूल अधिकारों को निकाल दिया जाना चाहिए । जैसा हम पहले बता चुके हैं कि मूल अधिकारों को प्रत्याभूत करके विधान मंडल पर जो मर्यादाएं लगाई जाती हैं उनका औचित्य यह है कि इतिहास से यह सिद्ध होता है कि मनुष्यों का कोई भी समूह जो देश में किसी विधान मंडल में बहुमत में है कभी भी पतनोन्मुख न हो, ऐसा नहीं हो सकता । इसी कारण विधायी अत्याचार से व्यक्ति की स्थायी रूप से सुरक्षा करना आवश्यक हो जाता है और इसीलिए सांविधानिक रक्षोपाय बनाए जाते हैं ।

45वें संशोधन विधेयक पर चर्चा के दौरान कुछ लोगों ने यह कहा कि एक के बाद एक किए गए संशोधनों द्वारा अनुच्छेद 31(2) के अधीन प्रतिकर का अधिकार केवल इस सम्भावना तक ले आया गया है कि न्यायालय इसी आधार पर हस्तक्षेप कर सकते हैं कि विधान मंडल द्वारा उपबन्धित रकम काल्पनिक या अधिहरणकारी है । अतएव उसे बिना जोखिम के बिल्कुल हटाया जा सकता है । लेखक इस तथाकथित समीकरण से सहमत नहीं है जिसमें यह माना जाता है कि राज्य द्वारा सम्पत्ति के अर्जन की दशा में प्रतिकर के अधिकार की प्रत्याभूति पूंजीपति की सुरक्षा के लिए आवश्यक नहीं, निर्धन के लिए आवश्यक है । सम्पत्तिधारियों के लिए नहीं सम्पत्तिहीनों के लिए आवश्यक है । निर्धन व्यक्ति के लिए उसकी कुटिया या कुटीर उद्योग राजनैतिक नेता की सम्पत्ति से अधिक मूल्यवान है । यदि कोई राजनैतिक दल किसी विशेष दर्शन के कारण अंधा हो जाता है तो अधिहरण पर यही रोक हो सकती है कि न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप किए जाने की सम्भावना है । कुछ ही दिन पूर्व उच्चतम न्यायालय को एक निर्दोष से दिखाई पड़ने वाले जीवन बीमा निगम अधिनियम को शून्य घोषित करना पड़ा था क्योंकि उससे कर्मकारों को बिना तोषण के उनके बोनस से वंचित किया गया था ।[5] 44वें संशोधन अधिनियम के प्रवृत्त होने के पश्चात् इन सब मामलों में न्यायालय मूक दर्शक के रूप में खड़े रहेंगे ।

(iv) अनुच्छेद 31(2) को निकाल कर "लोक प्रयोजन" की शर्त उठा देने पर अब

विधान मंडल इस बात के लिए सक्षम हो जाएगा कि वह क की सम्पत्ति लेकर ख को दे दे । मूल संविधान के अधीन अनुच्छेद 31(2) में "लोक प्रयोजन" शब्द नहीं था किन्तु न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि "सर्वोपरि स्वामित्व" की शक्ति के प्रयोग के लिए यह विवक्षित शर्त है । सर्वोपरि स्वामित्व का सिद्धान्त अनुच्छेद 31(2) में संहिताबद्ध किया गया था । अब जब कि निरसन द्वारा अनुच्छेद 31(2) को निकाल दिया गया है तब यह संदेहास्पद है कि क्या कोई व्यथित प्राइवेट स्वामी यह तर्क प्रस्तुत कर सकता है कि 7वीं अनुसूची की सूची 3 की प्रविष्टि 42 के अधीन विधान मंडल की "सम्पत्ति के अर्जन और अधिहरण" की शक्ति में कामन ला का "सर्वोपरि स्वामित्व" का सिद्धान्त और उसके अनुषंगी लोक प्रयोजन और न्यायोचित प्रतिकर भी समाहित हैं क्योंकि इसे ही भारतीय संसद् ने मिटाने का कष्ट किया है । अतएव 44वें संशोधन के पश्चात् राजनैतिक या दल के प्रयोजनों के लिए राज्य के द्वारा अर्जन के विधिक तंत्र का दुरुपयोग किया जाना अधिसम्भाव्य है । यदि ऐसा होता है तो व्यथित व्यक्ति को अनुच्छेद 14 के कच्चे धागे का अवलम्ब रह जाएगा (अर्थात् विभेद) ।

सभी दृष्टिकोणों से संविधान के अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) का निकाला जाना शीघ्रता में और बिना विचारे किया गया काम है चाहे उसका उद्देश्य कितना ही अच्छा क्यों न रहा हो ।

तीसरे, पश्चात्वर्ती संशोधनों द्वारा मूल अधिकारों की परिधि को, उनके प्रवर्तन में कुछ अपवाद डालकर संकीर्ण कर दिया गया है । ये हैं अनुच्छेद 31क, 31ख, 31ग, 31घ ।[6]

मूल अधिकारों के अपवाद ।

(क) इनमें से अनुच्छेद 31क और 31ग, अनुच्छेद 14 और 19 में प्रगणित मूल अधिकारों के अपवाद हैं । इसका अर्थ यह है कि अनुच्छेद 31क (कृषि सुधार के लिए विधि) या अनुच्छेद 31ग (संविधान के भाग 4 में अन्तर्विष्ट निदेशक तत्वों को प्रभावी करने वाली विधि) की परिधि में आने वाली विधि को न्यायालय इस आधार पर अविधिमान्य नहीं कर सकता कि वह अनुच्छेद 14 (विधि के समक्ष समानता) और अनुच्छेद 19 (अभिव्यक्ति, संगम आदि की स्वतंत्रता) में प्रत्याभूत मूल अधिकार का उल्लंघन करती है ।

(ख) अनुच्छेद 31ख भाग 3 में प्रगणित सभी मूल अधिकारों के लिए एक सम्पूर्ण अपवाद बनाता है । यदि कोई अधिनियम 9वीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया है (जिसे अनुच्छेद 31ख के साथ पढ़ा जाएगा) तो ऐसी अधिनियमिति किसी भी मूल अधिकार के उल्लंघन के आधार पर सांविधानिक अविधिमान्यता से सर्वथा उन्मुक्त रहेगी ।[7]

मूल कर्तव्य ।

चौथे, 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा एक प्रतितुलक प्रविष्टि की गई है अर्थात् अनुच्छेद 51क में उल्लिखित मूल कर्तव्य । यह कर्तव्य न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं और उनका उल्लंघन दण्डनीय भी नहीं है । फिर भी वह न्यायालय जिसके समक्ष मूल अधिकार का प्रवर्तन किया जा रहा है संविधान के सभी भागों को पढ़ेगा और वह ऐसे व्यक्ति की प्रेरणा पर मूल अधिकार का प्रवर्तन करने से इंकार कर देगा जिसने अनुच्छेद 51 में विनिर्दिष्ट कर्तव्यों में से किसी का स्पष्ट उल्लंघन किया है ।[8] यदि ऐसा है तो मूल संविधान में मूल अधिकारों पर जो बल दिया गया था वह अब न्यूनतम हो गया है ।

पांचवें, संविधान के भाग 3 में प्रगणित मूल अधिकारों की सूची निःशेषकारी है । अमेरिकी संविधान (9वां संशोधन) अभिव्यक्त रूप से यह कहता है कि अधिकार विलेख में कुछ अधिकारों के प्रगणन का यह अर्थान्वयन नहीं किया जाएगा कि जनता

द्वारा विधारित अन्य अधिकार कम हो गए हैं या जनता को उनसे वंचित कर दिया गया है। यह असंक्रमणीय नैसर्गिक अधिकार के सिद्धान्त पर आधारित है जो स्वतंत्र समाज में व्यक्ति से छीने नहीं जा सकते । लिखित संविधान में उनमें से कुछ अधिकारों की प्रत्याभूति देने से वे अधिकार लुप्तप्रयोग नहीं हो जाते जो संविधान के प्रारम्भ से पूर्व व्यक्ति में नहीं थे। उदाहरणार्थ राजनैतिक गतिविधियां करने का अधिकार । किन्तु इस प्रकार का कोई अधिकार हमारे संविधान में सूचीबद्ध नहीं है ।

भाग 3 में मूल अधिकारों की सूची निःशेषकारी है ।

जैसा प्रारम्भ के एक निर्णय *गोपालन* बनाम *मद्रास राज्य*[9] में संप्रेक्षण किया गया था, हमारे संविधान के अधीन विधान मंडल प्रभुत्वसम्पन्न हैं किन्तु उनकी प्रभुता को संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा मर्यादित किया गया है । न्यायालय उनकी प्रभुता पर संविधान की भावना या "नैसर्गिक अधिकार", अर्थात् संविधान के भाग 3 में प्रगणित अधिकारों से भिन्न अधिकार, के सिद्धान्तों के आधार पर कोई और मर्यादा अधिरोपित नहीं कर सकते ।[10] भारत के संविधान के अधीन मूल अधिकारों का विस्तार न्यायिक निवर्चन पर ही आधारित होना चाहिए और उच्चतम न्यायालय के हाल के निर्णय यह बताते हैं कि न्यायालय का झुकाव इसी दिशा में है ।[11]

यह धारणा नहीं की जानी चाहिए कि हमारे संविधान में भाग 3 के बाहर कोई ऐसा अधिकार नहीं दिया गया है जिसे न्यायालय द्वारा प्रवर्तित किया जा सके । राज्य पर संविधान के अन्य उपबन्धों द्वारा कुछ मर्यादाएं लगाई गई हैं । इन मर्यादाओं से व्यक्ति को तत्स्थानी अधिकार प्राप्त होता है कि यदि कार्यपालिका या विधान मंडल उनका उल्लंघन करता है तो वह उन्हें न्यायालय के माध्यम से प्रवृत्त कराए । उदाहरण के लिए अनुच्छेद 265 यह कहता है कि "कोई कर विधि के प्राधिकार से ही अधिरोपित या संगृहीत किया जाएगा, अन्यथा नहीं" । यह उपबन्ध व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान करता है कि यह कार्यपालिका द्वारा मनमाने ढंग से कराधान के अधीन नहीं होगा और यदि कार्यपालिका विधायी मंजूरी के बिना कर उदग्रहण करने का प्रयत्न करती है तो व्यथित व्यक्ति न्यायालय से उपचार प्राप्त कर सकता है ।[12] अनुच्छेद 300क का नया उपबन्ध इसी प्रवर्ग का है ।[13] इसी प्रकार अनुच्छेद 301 यह कहता है कि "इस भाग के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए, भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम अबाध होगा" । यदि विधान मंडल या कार्यपालिका व्यापार या समागम की स्वतंत्रता पर कोई निर्बन्धन अधिरोपित करते हैं जो संविधान के अनुच्छेद 13 के अन्य उपबंधों के अनुसार न्यायोचित नहीं है तो जो व्यक्ति ऐसे निर्बन्धनों से प्रभावित होता है वह समुचित विधिक कार्यवाहियों द्वारा उस कार्य पर आक्षेप कर सकता है ।[14]

संविधान के अन्य उपबन्धों से मिलने वाले अधिकार ।

अब हमें यह देखना है कि संविधान के भाग 3 में सम्मिलित मूल अधिकारों और अन्य भाग में अन्तर्विष्ट मर्यादाओं से उत्पन्न होने वाले ऐसे अधिकारों के बीच जो समान रूप से न्यायालय द्वारा प्रवृत्त कराए जा सकते हैं, क्या अन्तर है ।[15] इन दोनों वर्गों के अधिकार समान रूप से न्यायाधीन हैं, उच्चतम न्यायालय में सीधे आवेदन करके अनुच्छेद 32 के अधीन उपचार पाने का अधिकार भाग 3 में मूल अधिकार के रूप में सम्मिलित किया गया है । यह उपचार मूल अधिकार की दशा में ही उपलब्ध होता है । यदि अधिकार संविधान के किसी अन्य उपबन्ध से प्राप्त होता है, उदाहरण के लिए अनुच्छेद 265 या अनुच्छेद 301, तो व्यथित व्यक्ति सामान्य वाद

मूल अधिकार और संविधान के अन्य उपबन्धों द्वारा प्रत्याभूत अधिकारों के बीच अन्तर ।

लाकर या उच्च न्यायालय में अनुच्छेद 226 के अधीन आवेदन देकर अनुतोष प्राप्त कर सकेगा किन्तु अनुच्छेद 32 के अधीन आवेदन नहीं हो सकेगा जब तक कि ऐसे अधिकार के अतिक्रमण के कारण मूल अधिकार का उल्लंघन न होता हो ।[16]

कुछ संविधानों में मूल अधिकार सांविधानिक संशोधन द्वारा परिवर्तित नहीं किए जा सकते । "मूल" शब्द से यह ध्वनि भी निकलती है । दूसरे शब्दों में संविधान के अन्य उपबन्धों की तुलना में उन्हें उच्चतर स्थान प्रदान किया जाता है । किन्तु हमारे संविधान में यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया है । संविधान के संशोधनों से और न्यायिक विनिश्चयों से यह निर्वचन प्राप्त होता है ।

यह ठीक है कि संविधान के किसी भाग को सामान्य विधान द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता जब तक कि स्वयं संविधान में इसके लिए प्राधिकार न दिया गया हो (उदाहरणार्थ अनुच्छेद 4) किन्तु संविधान के सभी भाग, मूल अधिकार सहित, अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन अधिनियम पारित करके संशोधित किए जा सकते हैं । इस प्रस्थापना के पीछे एक इतिहास है :

मूल अधिकारों की संशोधनीयता ।

अ. *गोलकनाथ*[17] के निर्णय तक उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि हमारे संविधान का ऐसा कोई भाग नहीं है जिसका संशोधन नहीं किया जा सकता और अनुच्छेद 368 की अपेक्षाओं के अनुपालन में संविधान संशोधन अधिनियम पारित करके संविधान के किसी भी भाग का संशोधन हो सकता है । मूल अधिकार और अनुच्छेद 368 भी इसमें सम्मिलित हैं ।[18]

इस पूर्वतर मत के अनुसार[18] न्यायालय मूल अधिकारों के संरक्षक के रूप में तभी तक काम कर सकते हैं जब तक वे भारत के संसद् द्वारा, अपेक्षित बहुमत से संशोधित नहीं किए जाते । वस्तुतः अभी तक संविधान के जो संशोधन किए गए थे वे इस उद्देश्य से किए गए थे कि जिन सामाजिक या आर्थिक विधानों को मूल अधिकारों का उल्लंघन करने के आधार पर अविधिमान्य घोषित किया गया था उन न्यायिक उद्घोषणाओं को अतिष्ठित किया जा सके । उदाहरण के लिए *रमेश थापर* बनाम *मद्रास राज्य*[19] और *ब्रज भूषण* बनाम *दिल्ली राज्य*[20] में अनुच्छेद 19 के खंड (2) का जो संकीर्ण निर्वचन उच्चतम न्यायालय ने किया था उसे संविधान (पहला संशोधन) अधिनियम, 1951 द्वारा अधिक्रान्त कर दिया गया । *पश्चिमी बंगाल राज्य* बनाम *गोपाल*,[21] *द्वारका दास* बनाम *शोलापुर स्पिनिंग कं.*[22] और *पश्चिमी बंगाल* बनाम *बेला बनर्जी*[22] में दिए गए निर्वचन, संविधान (चौथा संशोधन) अधिनियम, 1955 द्वारा अधिक्रान्त किया गया था ।

आ. किन्तु उच्चतम न्यायालय ने *गोलक नाथ* बनाम *पंजाब राज्य*[17] के बहुचर्चित विनिश्चय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 368 में अधिकथित संशोधन प्रक्रिया के माध्यम से मूल अधिकारों के संशोधन की प्रक्रिया पर रोक लगा दी । उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि भाग 3 में समाविष्ट मूल अधिकारों को संविधान ने एक सर्वोपरि स्थिति प्रदान की गई है जिससे संविधान के अधीन काम करने वाला कोई भी प्राधिकारी, अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन शक्ति का प्रयोग करने वाली संसद् भी, मूल अधिकारों का संशोधन करने के लिए सक्षम नहीं है ।

इ. 24वें संशोधन अधिनियम, 1971 द्वारा अनुच्छेद 13 और 368 का संशोधन करके यह स्पष्ट किया गया कि अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया के अधीन मूल अधिकारों का संशोधन किया जा सकता है । इस प्रकार *गोलक* बनाम *पंजाब राज्य*[17] में उच्चतम न्यायालय के बहुमत के विनिश्चय का अध्यारोहण किया गया ।

केशवानन्द भारती के मामले में[17] बहुमत ने इन संशोधनों की विधिमान्यता को स्वीकार करते हुए *गोलकनाथ* के मामले को उलट दिया ।[17] उसमें यह अधिनिर्धारित किया गया कि संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन मूल अधिकारों का संशोधन करने के लिए सक्षम है । यह अनुच्छेद मूल अधिकारों के पक्ष में कोई अपवाद का सृजन नहीं करता और न ही अनुच्छेद 13 के अधीन ऐसे अधिनियम आते हैं जो स्वयं संविधान का संशोधन करते हैं । अतएव संविधान के भाग 3 के मूल अधिकारों का संशोधन करने के लिए नई संविधान सभा बुलाने की आवस्यकता नहीं है । संविधान के किसी संशोधन की विधिमान्यता इस आधार पर प्रश्नगत नहीं की जा सकती कि उससे मूल अधिकारों का संक्षिप्तीकरण हुआ है ।

42वां संशोधन ।

ई. अन्ततोगत्वा अनुच्छेद 368 में खंड (4) और (5) अन्तःस्थापित करके 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 से यह स्पष्ट किया गया कि "इस संविधान का (जिसके अन्तर्गत भाग 3 के उपबन्ध हैं) इस अनुच्छेद के अधीन किया गया . . . कोई संशोधन किसी न्यायालय में किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा ।"[23]

इस संदर्भ में यह बताना उचित होगा कि जनता सरकार ने विधान मंडल की इच्छा मात्र से मूल अधिकारों का संशोधन करने को रोकने के लिए अनुच्छेद 368 में विशेष बहुमत विहित करना चाहा था और उसके लिए यह उपबन्ध किया जाने वाला था कि भाग 3 के मूल अधिकारों का संशोधन तब तक नहीं किया जाएगा जब तक विधान मंडल के मतदान के अतिरिक्त उसे जनता द्वारा जनमत संग्रह में अनुमोदित न किया जाए । यह अतिरिक्त अपेक्षा 45वें संशोधन विधेयक द्वारा अनुच्छेद 368 में अन्तःस्थापित की जाने वाली थी । किन्तु राज्य सभा में कांग्रेस ने विरोधी पक्ष के रूप में विधेयक के सुसंगत खंड को पारित नहीं होने दिया । परिणामस्वरूप अनुच्छेद 368 वहीं है जहां वह 42वें संशोधन के पश्चात् था और स्थिति यह है कि मूल अनुच्छेद 368 में यथाउपबन्धित संसद् के विशेष बहुमत से किसी भी मूल अधिकार का निरसन या संशोधन किया जा सकता है ।

संविधान में तात्विक परिवर्तन लाने के लिए विशेष बहुमत से कार्य करते हुए संविधान के मार्ग में अब एक ही बाधा रह जाती है वह यह है कि न्यायालय ने "आधारभूत लक्षण" का एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया है । यह बाधा तभी मिटाई जा सकती है जब *केशवानन्द* के वाद में[17] 13 न्यायाधीशों के न्यायपीठ से बड़ा कोई न्यायपीठ उस वाद में दिए गए विनिश्चय को उलटने के लिए तैयार हो ।[17] इस बीच *केशवानन्द* को लागू करके सांविधानिक पीठ ने बहुमत से अनुच्छेद 368 के खंड (4) और (5) को संविधान के आधारिक लक्षणों का उल्लंघन करने के आधार पर अविधिमान्य घोषित किया है [*मिनर्वा मिल्स* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1789 (पैरा 21, 28)] ।

मूल अधिकारों का वर्गीकरण ।

हमारे संविधान के भाग 3 के उपबन्ध जिनमें मूल अधिकार लेखबद्ध किए गए हैं अन्य विद्यमान लिखित संविधानों की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक अधिकथित हैं और उनके अन्तर्गत अनेक प्रकार के विषय हैं ।

I. संविधान में मूल अधिकारों का सात समूहों में वर्गीकरण किया गया है –

(क) समता का अधिकार ।

(ख) विशिष्ट स्वातंत्र्य अधिकार ।

(ग) शोषण के विरुद्ध अधिकार ।

(घ) धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार ।

(ङ) संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार ।

(च) सम्पत्ति अधिकार ।

(छ) सांविधानिक उपचारों का अधिकार ।

इनमें से सम्पत्ति का अधिकार 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा मिटा दिया गया है जिससे अनुच्छेद 19(1) में अब छह स्वतंत्रताएं शेष हैं । इन छह प्रवर्गों में से प्रत्येक में आने वाले अधिकार सारणी 5 में दिखाए गए हैं ।

44वां संशोधन ।

II. इसका दूसरा वर्गीकरण उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण से हो सकता है जिन्हें अधिकार उपलब्ध हैं, उदाहरण के लिए –

(क) कुछ मूल अधिकार केवल नागरिकों को दिए गए हैं, – (i) धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, या जन्म स्थान के आधार पर विभेद की प्रास्थिति [अनुच्छेद 15], (ii) लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता [अनुच्छेद 16], (iii) वाक्-स्वातंत्र्य, समवेत होने, संगम बनाने, संचरण, निवास और वृत्ति की स्वतंत्रताएं [अनुच्छेद 19], (iv) अल्पसंख्यकों को संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार [अनुच्छेद 29-30] ।

(ख) कुछ मूल अधिकार भारत भूमि पर सभी व्यक्तियों को उपलब्ध हैं चाहे वे नागरिक हों या विदेशी, – (i) विधि के समक्ष समता और विधि का समान संरक्षण [अनुच्छेद 14], (ii) भूतलक्षी विधि के अधीन दोषसिद्धि की बाबत सुरक्षा, दोहरे दंड और स्वयं को अपराध में फंसाने के विरुद्ध संरक्षण [अनुच्छेद 20], (iii) विधि के प्राधिकार के बिना कार्यवाही के विरुद्ध प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण [अनुच्छेद 21], (iv) शोषण के विरुद्ध अधिकार [अनुच्छेद 23], (v) धर्म की स्वतंत्रता [अनुच्छेद 25], (vi) किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि में करों के संदाय से स्वतंत्रता [अनुच्छेद 27], (vii) राज्य की शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थिति होने के बारे में स्वतंत्रता [अनुच्छेद 28] ।

III. कुछ मूल अधिकारों की अभिव्यक्ति नकारात्मक है । वे राज्य के विरुद्ध प्रतिषेध हैं, उदाहरण के लिए अनुच्छेद 14 में यह कहा गया है कि "राज्य, किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से . . . वंचित नहीं करेगा" । इसी प्रकार का उपबन्ध अनुच्छेद 15(1), 16(2), 18(1), 20, 22(1), और 28(1) में है । कुछ अन्य की अभिव्यक्ति सकारात्मक है और वे व्यक्ति को कुछ प्रसुविधाएं प्रदत्त करते हैं [उदाहरण के लिए अनुच्छेद 25 के अधीन धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार और अनुच्छेद 29(1), 30(1) के अधीन संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार] ।

IV. एक और वर्गीकरण इस दृष्टि से किया जा सकता है कि विधायी शक्ति पर विभिन्न मूल अधिकारों ने किस विस्तार तक मर्यादाएं अधिरोपित की हैं ।

(i) कुछ मूल अधिकार ऐसे हैं जैसे अनुच्छेद 21, जो कार्यपालिका के विरुद्ध हैं किन्तु जो विधान मंडल पर कोई मर्यादाएं नहीं लगाते हैं । उदाहरण के लिए अनुच्छेद 21 केवल यही कहता है कि

> "किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं ।"

उच्चतम न्यायालय ने प्रारम्भ में यह अभिनिर्धारित किया था[10] कि सक्षम विधान मंडल दैहिक स्वतंत्रता से वंचित करने के लिए प्रक्रिया अधिकथित कर सकता है और न्यायालय इस आधार पर उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते कि वह न्यायपूर्ण, ऋजु या

युक्तियुक्त नहीं है । इस मत के अनुसार[10] अनुच्छेद 21 का उद्देश्य विधायी शक्ति पर मर्यादा अधिरोपित करना नहीं है । केवल यही सुनिश्चित करना है कि कार्यपालिका विधिमान्य विधि के प्राधिकार के बिना और उस विधि में अधिकथित प्रक्रिया का कठोरता से पालन किए बिना किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं छीन पाए ।[24] पश्चात्‌वर्ती वादों में उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 21 के अधीन बनाई गई विधियों को अनुच्छेद 19(1) के सुसंगत खंड या अनुच्छेद 14 के अधीन "अयुक्तियुक्त" होने के आधार पर आक्रमण से बचाने में कठिनाई अनुभव की । हाल ही के उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों में पहले की भांति विधियों की रक्षा नहीं हो पा रही है ।[25]

(ii) इसके विपरीत दूसरी ओर कुछ मूल अधिकार ऐसे हैं जो विधायी शक्ति पर आत्यन्तिक मर्यादाएं लगाते हैं जिससे विधान मंडल उन अधिकारों के प्रयोग को विनियमित नहीं कर सकते हैं । उदाहरण के लिए अनुच्छेद 15, 17, 18, 20, 24 द्वारा प्रत्याभूत अधिकार ।

(iii) इन दो वर्गों के बीच अनुच्छेद 19 द्वारा प्रत्याभूत अधिकार आते हैं । इस अनुच्छेद में ही विधान मंडल को लोकहित में उन अधिकारों पर युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करने की शक्ति दी गई है । अनुच्छेद 19 द्वारा प्रत्याभूत अधिकार साधारणतया कार्यपालिका और विधायिका दोनों पर आबद्धकर हैं । किन्तु इन प्राधिकरणों को संविधान द्वारा अधिरोपित मर्यादाओं के भीतर इन अधिकारों के विधिमान्य अपवाद बनाने की अनुमति संविधान ने दी है, संक्षेप में ये आधार हैं राज्य की सुरक्षा, लोक व्यवस्था, सदाचार आदि ।

मूल अधिकार — राज्य की कार्यवाही के विरुद्ध प्रत्याभूति ।

उपर्युक्त सभी अधिकार राज्य के विरुद्ध उपलब्ध हैं । अब यह सुनिश्चित हो चुका है कि जो अधिकार अनुच्छेद 19[26] और 21[27] द्वारा प्रत्याभूत हैं वे राज्य की कार्यवाही के विरुद्ध प्रत्याभूत हैं । इसका विभेद प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा ऐसे अधिकार के उल्लंघन से किया जाना चाहिए । इस अधिकार का व्यक्तियों द्वारा उल्लंघन होने पर सामान्य विधिक उपचार उपलब्ध होगा सांविधानिक उपचार नहीं ।

इसी संदर्भ में "राज्य की कार्यवाही" का व्यापक अर्थ लिया जाना चाहिए । मूल अधिकार से सम्बन्धित भाग में "राज्य" शब्द आया है । उसके निर्वचन के लिए अनुच्छेद 12 में एक परिभाषा दी गई है जिसमें यह कहा गया है कि जब तक संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो "राज्य" के अन्तर्गत न केवल संघ और राज्यों की सरकार और विधान मंडल के अंग होंगे बल्कि स्थानीय प्राधिकारी, जैसे नगरपालिका आदि और अन्य प्राधिकारी भी होंगे ।[28] "अन्य प्राधिकारी" अभिव्यक्ति से ऐसे प्राधिकारी या व्यक्तियों के निकाय के प्रति निर्देश हैं जो विधि का बल रखने वाले आदेश, नियम, उपविधियां या विनिमय बनाने की शक्ति का प्रयोग करता है । उदाहरण के लिए कानूनी नियम बनाने की शक्ति रखने वाला बोर्ड या सरकार की शक्तियों का प्रयोग करने वाला बोर्ड । प्राइवेट व्यक्ति का कार्य भी राज्य का कार्य हो सकता है यदि ऊपर निर्दिष्ट प्राधिकारियों में से कोई उसे प्रवृत्त करता है या सहायता देता है ।[29]

यह ध्यान देने योग्य है कि भाग 3 में सम्मिलित कुछ अधिकार न केवल राज्यों के विरुद्ध उपलब्ध हैं बल्कि प्राइवेट व्यक्तियों के विरुद्ध भी । उदाहरण के लिए अनुच्छेद 15(2) (सार्वजनिक समागम के स्थानों में पहुंचने या उनके उपयोग के बारे में समता), अनुच्छेद 17 (अस्पृश्यता का प्रतिषेध), अनुच्छेद 18(3)-(4) (विदेशी उपाधि स्वीकार करने का प्रतिषेध), अनुच्छेद 23 (मानव के दुर्व्यापार का प्रतिषेध), अनुच्छेद 24 (परिसंकटमय

नियोजन में बालकों को लगाने का प्रतिषेध) । भाग 3 के ये उपबन्ध स्वयं प्रवत्त नहीं हैं अर्थात् ये अनुच्छेद प्रत्यक्षतः प्रवर्तनीय नहीं हैं । ये तभी प्रवर्तित किए जा सकेंगे जब उन्हें प्रभावी करने के लिए कोई विधि बनाई जाए और उस विधि का उल्लंघन हो । इसका यह निष्कर्ष हुआ कि मूल अधिकारों का निष्पादित और स्वयं निष्पादित के रूप में वर्गीकरण का एक और ढंग हो सकता है ।

अब हम विभिन्न मूल अधिकारों में से प्रत्येक का सर्वेक्षण करेंगे । संविधान के अनुच्छेद 14 में यह उपबन्ध है, —

"राज्य भारत के राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा ।"

अनुच्छेद 14: विधि के समक्ष समता और विधियों का समान संरक्षण ।

प्रथमदृष्ट्या "विधि के समक्ष समता" और "विधियों का समान संरक्षण" अभिव्यक्तियां समरूप जान पड़ती हैं किन्तु वास्तव में इनका अर्थ भिन्न है । विधि के समक्ष समानता एक नकारात्मक संकल्पना है जिसमें यह विवक्षा है कि किसी भी व्यक्ति को कोई विशेष अधिकार नहीं होंगे और सभी वर्ग समान रूप से सामान्य विधि के अधीन होंगे । "विधियों का समान संरक्षण" अपेक्षात्मक अधिक सकारात्मक संकल्पना है । इसमें यह विवक्षा है कि समान परिस्थितियों में समता का व्यवहार किया जाएगा ।

विधि के समक्ष समता ।

इंग्लैंड की सांविधानिक विधि का प्रत्येक अध्येता यह जानता है कि विधि के समक्ष समता डाइसी[30] के विधिसम्मत शासन की संकल्पना का दूसरा उपसिद्धान्त है । इसका अर्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति देश की विधि के ऊपर नहीं है और प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसकी पंक्ति या प्रतिष्ठा कुछ भी हो सामान्य विधि के अधीन है और सामान्य न्यायालयों की अधिकारिता के अन्तर्गत है । प्रत्येक नागरिक, चाहे वह प्रधान मंत्री से लेकर सामान्य कृषक कोई भी क्यों न हो, यदि कोई कार्य विधिक औचित्य के बिना करता है तो वह उस कार्य के लिए सामान्य रूप से उत्तरदायी होगा । इस बाबत अधिकारियों और प्राइवेट नागरिकों में कोई विभेद नहीं है । भारत में स्थिति यही है । किन्तु इंग्लैंड में भी समता के इस नियम के लोकहित में कुछ मान्य अपवाद हैं ।

भारत के संविधान में निम्नलिखित अपवाद स्वीकार किए गए हैं, —

(1) राष्ट्रपति या राज्य का राज्यपाल अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन के लिए या उन शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन करते हुए अपने द्वारा किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित किसी कार्य के लिए न्यायालय को उत्तरदायी नहीं होगा ।

(2) राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल के विरुद्ध उसकी पदावधि के दौरान किसी न्यायालय में किसी भी प्रकार की दाण्डिक कार्यवाही संस्थित नहीं की जाएगी या चालू नहीं रखी जाएगी ।

(3) राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल के रूप में अपना पद ग्रहण करने से पहले या उसके पश्चात्, उसके द्वारा अपनी वैयक्तिक हैसियत में किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित किसी कार्य के संबंध में कोई सिविल कार्यवाहियां, जिनमें राष्ट्रपति या ऐसे राज्य के राज्यपाल के विरुद्ध अनुतोष का दावा किया जाता है, उसकी पदावधि के दौरान किसी न्यायालय में तब तक संस्थित नहीं की जाएंगी जब तक कार्यवाहियों की प्रकृति, उनके लिए वाद हेतुक, ऐसी कार्यवाहियों को संस्थित करने वाले पक्षकार का नाम, वर्णन, निवास-स्थान और उस अनुतोष का जिसका वह दावा करता है, कथन करने वाली

लिखित सूचना, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल को परिदत्त किए जाने या उसके कार्यालय में छोड़े जाने के पश्चात् दो मास का समय समाप्त नहीं हो गया है [अनुच्छेद 361] ।

उपरोक्त उन्मुक्तियों से (i) राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाहियां, (ii) भारत सरकार या राज्य सरकार के विरुद्ध वाद या अन्य समुचित कार्यवाहियां वर्जित नहीं होतीं ।

उपरोक्त सांविधानिक अपवादों के अतिरिक्त अन्तरराष्ट्रीय विधि के अनुसार प्रत्येक सभ्य देश में जो अपवाद मान्य हैं वे बने रहेंगे ।

विधि का समान संरक्षण ।

विधि के समान संरक्षण से अभिप्रेत है "समान लोगों में विधि समान होगी और समान रूप से प्रशासित की जाएगी अर्थात् समान लोगों के साथ समान व्यवहार होगा . . . ."

दूसरे शब्दों में विधि द्वारा प्रदत्त विशेषाधिकार के सम्बन्ध में और विधि द्वारा अधिरोपित दायित्वों के सम्बन्ध में समान परिस्थितियों में समान व्यवहार का अधिकार है ।[31] किसी का भी पक्ष नहीं लिया जाना चाहिए और किसी को भी ऐसी परिस्थितियों से अलाभकर स्थिति में नहीं रखा जाना चाहिए जिसमें भिन्न व्यवहार करने के लिए युक्तियुक्त औचित्य न हो । इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति पर समान रूप से कर लगाया जाएगा किन्तु यह अर्थ है कि समान व्यक्तियों पर समान मानक से कर लगाया जाएगा ।

यदि वर्गीकरण के लिए युक्तियुक्त आधार है तो विधान मंडल को यह हक है कि वह विभेदकारी व्यवहार करे । उदाहरण के लिए विधान मंडल, (i) कुछ वर्गों की सम्पत्ति को कराधान से बिल्कुल छूट दे सकता है जैसे पूर्त कार्य, पुस्तकालय, आदि, (ii) विभिन्न व्यापार और व्यवसाय करने वालों पर भिन्न-भिन्न विनिर्दिष्ट कर लगा सकता है, (iii) स्थावर और जंगम सम्पत्ति पर भिन्न रीति से कर लगा सकता है ।

इस प्रकार समान संरक्षण की प्रत्याभूति समान परिस्थितियों में समान व्यवहार की प्रत्याभूति है । विभिन्न परिस्थितियों में विभेद करने की अनुज्ञा है । दूसरे शब्दों में —

> "समता के सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक विधि सभी व्यक्तियों को सार्वभौम रूप से लागू हो यद्यपि वे व्यक्ति प्रकृति, योग्यता या परिस्थिति के अनुसार एक ही स्थिति में नहीं हैं । विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की अलग-अलग आवश्यकताओं को देखते हुए बहुआ उनसे पृथक् व्यवहार करने की अपेक्षा होती है ।[32]
>
> यह सिद्धान्त राज्य से विधिसम्मत प्रयोजनों के लिए व्यक्तियों का वर्गीकरण करने की शक्तियां छीनता नहीं है ।[33]
>
> "विधान मंडल को मानवी सम्बन्धों की अनन्त विविधता से उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं से जूझना पड़ता है । उसे आवश्यकतानुसार यह शक्ति देनी पड़ती है कि वह विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विशेष विधि बनाए और इस प्रयोजन के लिए उसे व्यक्तियों के या अन्य ऐसी बातों के जिन पर ऐसी विधियों का प्रवर्तन होता है चयन या वर्गीकरण के लिए विस्तृत शक्तियां दी जाती हैं ।"[33]

वर्गीकरण युक्तियुक्त तभी होगा जब कि वह मनमाना न हो बल्कि तर्कसंगत हो । अर्थात् वह कुछ ऐसे गुणों या लक्षणों पर आधारित हो जो उस समूह के सभी व्यक्तियों में पाए जाते हों । उस समूह के बाहर के अन्य व्यक्तियों में नहीं । किन्तु इन गुणों या लक्षणों का विधान के उद्देश्य से युक्तियुक्त सम्बन्ध होना चाहिए ।[34] इस परीक्षण में उत्तीर्ण होने के लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिए अर्थात् (1) वर्गीकरण बोधगम्य विभेद पर आधारित होना चाहिए जो एक समूह में लाए गए लोगों का अन्य लोगों से भेद करे और (2) इस विभेद का अधिनियम के उद्देश्य से तर्कसंगत संबंध होना चाहिए ।[31]

सभी मामलों में वर्गीकरण के युक्तियुक्त आधार के रूप में कौन सी परिस्थितियां या कसौटियां हो सकती हैं यह बताना संभव नहीं है । यह विधान के उद्देश्य पर निर्भर

करेगा । जिस बात का विधान के उद्देश्य या प्रयोजन से युक्तियुक्त सम्बन्ध हो वह उस अधिनियम के प्रविषय के अधीन आने वाले व्यक्तियों या वस्तुओं के युक्तियुक्त वर्गीकरण का आधार हो सकेगी । उदाहरण के लिए —

(i) वर्गीकरण का आधार भौगोलिक हो सकता है ।[32]

(ii) वर्गीकरण समय में अन्तर के अनुसार हो सकता है ।[32]

(iii) वर्गीकरण उस व्यापार, व्यवसाय या उपजीविका की प्रकृति में अन्तर पर आधारित हो सकती है जिसे विधान द्वारा विनियमित किया जाना है ।[35]

उदाहरण के लिए यह अभिनिर्धारित किया गया है कि —

(क) स्त्रियों से सम्बन्धित अपराध में अर्थात् जारकर्म में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति और उन्हें संरक्षण की आवश्यकता को देखते हुए उन्हें विशेष स्थान दिया जाना चाहिए ।[36]

(ख) मद्य निषेध की विधि के लिए सिविल और सैनिक कर्मचारियों की बीच विभेद करना या विदेशी आगंतुकों या भारतीय नागरिकों के बीच विभेद करना असांविधानिक नहीं होगा क्योंकि मद्य निषेध की आवश्यकता के दृष्टिकोण से उनकी परिस्थितियां समान नहीं हैं ।[37]

समान संरक्षण की प्रत्याभूति अधिष्ठायी विधि के विरुद्ध भी मिलती है और प्रक्रिया संबंधी विधियों के विरुद्ध भी ।[38] प्रक्रिया संबंधी विधि की दृष्टि से इसका अर्थ है कि सभी वादकार जो समान रूप से स्थित हैं अनुतोष और प्रतिरक्षा के लिए बिना किसी विभेद के, प्रक्रिया सम्बन्धी समान अधिकार के हकदार हैं । यदि विभेद अल्प है या सारवान् नहीं है और उससे प्रभावित व्यक्ति या व्यक्तियों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है तो यह नहीं माना जाएगा कि समान संरक्षण से वंचित किया गया है ।[31] यदि विधान के उद्देश्य और उसकी नीति को ध्यान में रखते हुए युक्तियुक्त वर्गीकरण के आधार पर विभेद किया गया है तो सामान्य विधि में अधिकथित प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया विशेष वर्ग के व्यक्तियों के लिए विहित की जा सकेगी । किसी स्थान की शान्ति को खतरे में डालने के लिए केवल अवांछनीय व्यक्तियों को निर्वासित करने के लिए उपबन्ध करने वाली विधि में यह उपबन्ध करना युक्तियुक्त विभेद नहीं होगा कि संदिग्ध व्यक्ति को उसके विरुद्ध साक्ष्य देने वाले साक्षी की प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार नहीं होगा क्योंकि यदि संदिग्ध व्यक्ति को यह अधिकार दिया गया तो इस असाधारण विधान का उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा ।[39] विशेष न्यायालय विधेयक, 1978 के निर्देश में[40] उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सामान्य दाण्डिक न्यायालयों में कार्य के आधिक्य और, भारत के संविधान के अधीन लोकतंत्र के सुचारु रूप से काम करने के लिए अभियोजनों को शीघ्रता से समाप्त करने की आवश्यकता को देखते हुए आपातकाल में (25-6-1975 से 27-3-1977 के बीच) ऊंचे लोक अधिकारियों द्वारा किए गए अपराधों के शीघ्र विचारण के लिए विशेष न्यायालय की स्थापना करना युक्तियुक्त वर्गीकरण था । किन्तु इस विधेयक में जून, 1975 में की गई आपात की उद्घोषणा के पूर्व की किसी अवधि के दौरान किए गए किसी अपराध को सम्मिलित करना असांविधानिक था क्योंकि ऐसे वर्गीकरण का विधेयक के उद्देश्य से कोई संबंध नहीं है ।

समान संरक्षण की प्रत्याभूति में विधि द्वारा या विधि के प्रशासन में किसी मनमाने विभेद का अभाव होना सम्मिलित है । उदाहरण के लिए जहां अधिनियम स्वयं विभेद नहीं करता किन्तु उसे प्रवृत्त करने का कर्तव्य जिस अधिकारी को सौंपा गया है वह अधिकारी उस अधिनियम को किसी व्यक्ति के विरुद्ध, अधिनियम के प्रयोजनों के लिए नहीं किन्तु जानबूझकर उस व्यक्ति को क्षति पहुंचाने के लिए लागू करता है तो ऐसा व्यक्ति उस कार्यपालिका के कार्य को न्यायालय द्वारा संरक्षण की प्रत्याभूति के उल्लंघन के आधार

पर शून्य घोषित करवा सकता है । व्यथित व्यक्ति को सन्देह से परे यह साबित करना होगा कि लोक प्राधिकारी द्वारा वह विधि उसके विरुद्ध दुर्भावनापूर्वक और असमान व्यवहार करते हुए लागू की गई ।[31] संक्षेप में अनुच्छेद 14, राज्य द्वारा की गई किसी भी कार्यवाही में किसी भी रूप में मनमानेपन पर प्रहार करता है ।[25, 41]

जैसा उच्चतम न्यायालय ने कहा है[42] अनुच्छेद 14-16, एक साथ पढ़े जाने पर, समता के सिद्धान्त का और विभेद के अभाव का समावेश करते हैं ।

अनुच्छेद 14 और 16 में संबंध ।

यह सिद्धान्त अनुच्छेद 14 में साधारण रूप से कहा गया है और इसका विस्तार सभी व्यक्तियों पर होता है चाहे वे नागरिक हों या अन्यदेशीय । अनुच्छेद 15 और 16 इस समता के विशिष्ट पहलुओं के सम्बन्ध में हैं ।

(क) अनुच्छेद 15 का लाभ केवल नागरिकों को मिलता है और यह किसी भी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर विभेद करने का प्रतिषेध करता है ।

(ख) अनुच्छेद 16 भी नागरिकों तक सीमित है किन्तु यह एक विशेष प्रकार के विभेद तक ही सीमित है अर्थात् राज्य के अधीन नियोजन ।

जो विषय अनुच्छेद 15 और 16 के अधीन नहीं आते हैं उनमें विभेद होने पर अनुच्छेद 14 के साधारण उपबन्धों के अधीन विधिमान्यता पर आक्षेप किया जा सकता है ।

जैसा हम अभी बता चुके हैं अनुच्छेद 14 द्वारा प्रत्याभूत समता का एक विशिष्ट पहलू ही संविधान के अनुच्छेद 15 में विभेद के विरुद्ध प्रतिषेध के रूप में अन्तर्विष्ट है । यह अनुच्छेद इस प्रकार है :

अनुच्छेद 15: धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध ।

"(1) राज्य, किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा ।

(2) कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर —

(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश, या

(ख) पूर्णतः या भागतः राज्य-निधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग

के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बन्धन या शर्त के अधीन नहीं होगा ।

(3) इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने से निवारित नहीं करेगी ।

(4) इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 29 के खंड (2) की कोई बात राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने से निवारित नहीं करेगी ।"

इसे पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अनुच्छेद का प्रविषय बहुत विस्तृत है । खंड (1) का प्रतिषेध राज्य की कार्यवाही के विरुद्ध है किन्तु खंड (2) का प्रतिषेध व्यक्तियों के विरुद्ध भी है ।

खंड (1) यह कहता है कि राज्य का कोई भी कार्य चाहे वह राजनैतिक, सिविल या अन्य प्रकार का हो केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर नागरिकों के बीच कोई विभेद नहीं करेगा । इस प्रतिषेध का सीधा-सादा अर्थ यह है कि किसी विशेष धर्म या जाति आदि के किसी व्यक्ति के साथ राज्य अन्य

धर्म या जातियों के व्यक्तियों की तुलना में केवल इस आधार पर पक्षपात नहीं करेगा कि वह विशेष धर्म या जाति का है यहां "केवल" शब्द का यह महत्व है कि यदि विभेदकारी व्यवहार के लिए इस अनुच्छेद द्वारा प्रतिषिद्ध आधार के अतिरिक्त कोई अन्य आधार या कारण है तो विभेद असांविधानिक नहीं होगा ।[36] उदाहरण के लिए किसी विशेष लिंग के पक्ष में किया गया विभेद अनुज्ञेय होगा यदि विभेद इस तथ्य के अतिरिक्त कि वह व्यक्ति उस लिंग का है किन्हीं अन्य कारणों पर भी आधारित है । उदाहरण के लिए किसी कार्य के लिए शारीरिक या बौद्धिक क्षमता । जैसे महिलाओं को नर्स के कार्य के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है । उन्हें स्टील के कारखाने जैसे भारी उद्योगों में नियोजन के लिए उपयुक्त नहीं समझा जा सकता । ऐसा विभेद लिंग के अतिरिक्त किसी अन्य कारण पर आधारित है इसलिए यह असांविधानिक नहीं माना जा सकता ।

किन्तु यदि किसी व्यक्ति के साथ केवल इसलिए विभेद किया जाता है कि वह किसी विशेष समुदाय या मूलवंश का या लिंग का है तो वह न्यायालय के माध्यम से राज्य की कार्यवाही को शून्य करवा सकता है । पाश्चात्य समाज में मूलवंश पर आधारित विभेद अभी भी पाया जाता है । भारत में यह हमारी बहुत बड़ी उपलब्धि है कि मूलवंश के आधार पर विभेद से ग्रस्त व्यक्ति हमारे देश के उच्चतम न्यायालय से अनुतोष प्राप्त कर सकता है । इसके लिए उसे केवल समुचित रिट के लिए याचिका देनी होगी । अभी तक हमारे न्यायालयों के समक्ष इस प्रकार का कोई परिवाद नहीं आया है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है खंड (2) में विनिर्दिष्ट सार्वजनिक स्थानों के लिए विभेदकारी कृत्यों के विरुद्ध संरक्षण प्राइवेट व्यक्तियों के विरुद्ध भी मिल सकता है । खंड (2) में यह उपबन्ध है कि जहां तक सामाजिक मनोरंजन के स्थान का संबंध है किसी नागरिक के साथ केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं होगा चाहे ऐसा विभेद राज्य के किसी कार्य का परिणाम हो या किसी अन्य व्यक्ति के । प्राइवेट व्यक्तियों के स्वामित्वाधीन कुएं, तालाब, स्नानघाट, सड़कें और सार्वजनिक समागम के स्थान इस प्रतिषेध के अधीन हैं । किन्तु इसमें शर्त यह है कि वे पूर्णतः या भागतः राज्य निधि से पोषित हों या साधारण जनता के प्रयोग के लिए हों ।

विभेद के विरुद्ध उपर्युक्त प्रतिषेध राज्य को, —

(क) स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष उपबन्ध करने से निवारित नहीं करेगा,

(ख) सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष उपबन्ध करने से निवारित नहीं करेगा ।

इन आपवादिक वर्गों के व्यक्तियों को विशेष संरक्षण की आवश्यकता है इसलिए कोई विधान जो इस वर्ग के व्यक्तियों के लिए विशेष उपबन्ध करने के लिए आवश्यक है, असांविधानिक नहीं माना जाएगा । उदाहरण के लिए यह अभिनिर्धारित किया गया है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 497 जिसमें यह कहा गया है कि जारकर्म के अपराध के लिए पुरुष दण्डित किया जा सकता है किन्तु स्त्री को दुष्प्रेरक के रूप में दण्डित नहीं किया जा सकता, असांविधानिक नहीं है । कारण यह है कि भारतीय समाज में स्त्री की विद्यमान स्थिति को देखते हुए स्त्रियों को संरक्षण देना आवश्यक है ।

इसी प्रकार उस अनुच्छेद के खंड (1) द्वारा केवल जाति के आधार पर विभेद प्रतिषिद्ध है किन्तु खंड (4) के अधीन राज्य के लिए यह अनुज्ञेय है कि वह पिछड़े हुए वर्गों के सदस्यों के लिए या अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के लिए सार्वजनिक संस्थाओं में स्थानों का आरक्षण करे या उन्हें फीस में रियायत दे ।[43]

राज्य द्वारा केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद नहीं किया जाएगा । इस साधारण आश्वासन के [अनुच्छेद 15] उपसिद्धान्त के रूप में संविधान ने लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता की प्रत्याभूति दी है । अनुच्छेद 16 यह कहता है कि, —

अनुच्छेद 16 : लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता ।

"(1) राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन या नियुक्ति से सम्बन्धित विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी ।

(2) कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्मस्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के संबंध में अपात्र नहीं होगा या उससे विभेद नहीं किया जाएगा ।"

राज्य की सेवा से किसी व्यक्ति को केवल इस आधार पर अपवर्जित नहीं किया जा सकता कि वह ब्राह्मण[44] है यद्यपि विभिन्न जातियों में अनुपात या कोटे के अनुसार पदों के वितरण के कारण यह होता है ।[44] राज्य को यह समता न केवल लोक सेवाओं में नियुक्ति के विषय में देखनी होगी बल्कि अन्य लोक नियोजन में भी इसका ध्यान रखना होगा जहां राज्य और कर्मचारी के बीच स्वामी और सेवक का सम्बन्ध है ।[45] विभेद का प्रतिषेध प्रारम्भिक नियुक्ति के विषय में भी है और प्रोन्नति तथा सेवा के पर्यवसान के विषय में भी ।[46]

यह अधिकार जाति विभेद के विरुद्ध रक्षोपाय तो है ही साथ ही यह स्थानीय विभेद या स्त्रियों के विरुद्ध भी संरक्षण प्रदान करता है ।

उपर्युक्त समता के नियम के केवल निम्नलिखित अपवाद हैं :—

(क) संसद् किसी राज्य या स्थानीय प्राधिकारी के अधीन नियोजन या नियुक्ति के किसी वर्ग के लिए शर्त के रूप में निवास का उपबन्ध कर सकती है [अनुच्छेद 16(3)] ।

इस शक्ति का प्रयोग करते हुए संसद् ने लोक नियोजन (निवास विषयक अपेक्षा) अधिनियम, 1957 पारित करके भारत सरकार को यह शक्ति दी थी कि वह आंध्र प्रदेश राज्य और हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा संघ राज्यक्षेत्र में कुछ पदों और सेवाओं में नियोजन की शर्त के रूप में निवास की शर्त रख सकती है । यह अधिनियम 1974 में समाप्त हो गया । अब लोक नियोजन में शर्त के रूप में निवास को विहित करने के लिए कोई उपबन्ध नहीं है । केवल आंध्र प्रदेश में संविधान ने अनुच्छेद 371घ के रूप में एक नया अनुच्छेद अन्तःस्थापित करके विशेष उपबन्ध किए हैं ।

(ख) राज्य पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग के पक्ष में जिनका, राज्य की राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है या पदों के आरक्षण के लिए उपबन्ध कर सकती है [अनुच्छेद 16(4)] ।

(ग) किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बन्धित कोई पद उस विशिष्ट धर्म या विशिष्ट सम्प्रदाय के व्यक्ति के लिए आरक्षित किया जा सकता है, जिससे वह संस्था संबद्ध है [अनुच्छेद 16(5)] ।

(घ) संघ या राज्य के क्रियाकलापों से सम्बन्धित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियां करने में, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के दावों का, प्रशासन की दक्षता बनाए रखने की संगति के अनुसार ध्यान रखा जाएगा [अनुच्छेद 335] । उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है[47] कि अनुच्छेद 16(4) में प्रकटतः आरक्षण करने की शक्ति पर कोई मर्यादा नहीं लगाई गई है । किन्तु इसे अनुच्छेद 335 के साथ पढ़ना होगा जिसमें यह कहा गया है कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के,

संघ या राज्य के किन्हीं कार्यकलापों से सम्बन्धित नियुक्तियों के लिए दावों पर विचार करते समय राज्य की नीति प्रशासन की दक्षता बनाए रखने के साथ संगत होनी चाहिए ।[47] परिणामत :—

> "इसमें सन्देह नहीं कि संविधान के निर्माताओं ने यह उपधारणा की कि अनुच्छेद 16(4) के अधीन पर्याप्त आरक्षण करते समय इस बात पर ध्यान दिया जाएगा कि अयुक्तियुक्त, अतिशय या अंधाधुंध आरक्षण नहीं किया जाएगा — अतएव अनुच्छेद 15(4) के अधीन अनुचित रूप से विशेष उपबन्ध किए जाने पर जैसा होता है वैसे ही अनुच्छेद 16(4) के अधीन अनुज्ञेय और विधिसम्मत मर्यादा के बाहर किया गया आरक्षण संविधान के साथ कपट होगा और इसलिए आक्षेपणीय होगा ।"[48]

यह ध्यान देने योग्य है कि लोक नियोजन के विषय में विभेद के विरुद्ध प्रतिषेध वहां लागू होता है जहां विभेद केवल प्रगणित आधार पर किया गया है अर्थात् धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्‌भव, जन्मस्थान या निवास । राज्य को इस बात के लिए मना नहीं किया गया है कि वह अन्य नियोजकों के समान अभ्यर्थियों में से किसी को दक्षता, अनुशासन और इसी प्रकार के आधारों पर नियुक्ति या प्रोन्नति के लिए नहीं चुन सकती ।[49] यह भी ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद 16 के खंड (4) के अधीन पिछड़े वर्ग के पक्ष में आरक्षण नहीं किया जा सकता । न ही स्त्रियों के पक्ष में अन्य कोई विभेद किया जा सकता है । उदाहरण के लिए भर्ती के नियमों में या अर्हताओं के मानक में कोई शिथिलीकरण नहीं किया जा सकता ।

सामाजिक समता को बढ़ावा देने के लिए संविधान में यह उपबन्ध किया गया है कि अस्पृश्यता की कुरीति को समाप्त किया जाएगा और राज्य द्वारा उपाधियां प्रदान करने का प्रतिषेध किया गया है ।

संविधान का अनुच्छेद 17 इस प्रकार है :—

अनुच्छेद 17 : अस्पृश्यता का अंत ।

> " 'अस्पृश्यता' का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है । 'अस्पृश्यता' से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा ।"

संसद् को यह प्राधिकार दिया गया है कि वह विधि द्वारा इस अपराध के लिए दंड विहित करे [अनुच्छेद 35] । इस शक्ति के प्रयोग में संसद् ने अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 अधिनियमित किया था । इसका संशोधन और पुनः नामकरण होकर अब यह (1976 से) सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 हो गया है ।

'अस्पृश्यता' की परिभाषा न तो संविधान में दी गई है और न ही उपर्युक्त अधिनियम में । यह उपधारणा की गई है कि इस शब्द का अर्थ सर्वविदित है । यह उस सामाजिक पद्धति के प्रति निर्देश करता है जिसमें कुछ दलित वर्गों को उनके जन्म के कारण ही हेय दृष्टि से देखा जाता है और तथाकथित उच्च वर्गों या जातियों के लोगों से समागम में उन्हें कुछ निर्योग्यताएं होती हैं । इस अधिनियम में कुछ कार्यों को जब वे अस्पृश्यता के आधार पर किए जाते हैं तब अपराध माना गया है और उनके लिए दंड विहित किया गया है । उदाहरण के लिए :

(क) किसी व्यक्ति को किसी सामाजिक संस्था में जैसे अस्पताल, औषधालय, शिक्षा संस्था में प्रवेश न देना,

(ख) किसी व्यक्ति को सार्वजनिक उपासना के किसी स्थल में उपासना या प्रार्थना करने से निवारित करना,

(ग) किसी दुकान, सार्वजनिक रेस्त्रां, होटल या सार्वजनिक मनोरंजन के किसी स्थान पर पहुंचने के बारे में कोई निर्योग्यता अधिरोपित करना या किसी जलाशय, नल या जल

के अन्य स्रोत, मार्ग, श्मशान या अन्य स्थान के संबंध में जहां सार्वजनिक रूप में सेवाएं प्रदान की जाती हैं पहुंच के बारे में कोई निर्योग्यता अधिरोपित करना ।

इस अधिनियम का प्रविषय 1976 में और बढ़ा दिया गया है । अस्पृश्यता के अपराध के अन्तर्गत निम्नलिखित भी रख दिए गए हैं :—

(i) अनुसूचित जाति के किसी सदस्य का अस्पृश्यता के आधार पर अपमान करना,

(ii) प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अस्पृश्यता का उपदेश देना,

(iii) इतिहास, दर्शन या धर्म के आधार पर या जाति व्यवस्था की परम्परा के आधार पर अस्पृश्यता को न्यायोचित ठहराना ।

दाण्डिक अभिशास्ति को बढ़ाकर यह उपबन्ध किया गया है कि (क) पश्चात्वर्ती दोषसिद्धि के लिए दंड एक से दो वर्ष तक का कारावास हो सकेगा । (ख) अस्पृश्यता के अपराध के लिए दोषसिद्ध व्यक्ति संघ या राज्य विधान मंडल के लिए निर्वाचन के लिए निरर्हित होगा ।

यदि अनुसूचित जाति का कोई सदस्य किसी निर्योग्यता या विभेद का शिकार होता है तो न्यायालय, जब तक प्रतिकूल साबित न किया जाए तब तक, यह उपधारणा करेगा कि ऐसा कार्य अस्पृश्यता के आधार पर किया गया है । दूसरे शब्दों में ऐसे मामलों में इस अधिनियम के अधीन अपराध किए जाने की कानूनी उपधारणा होगी ।

संविधान में ही अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रतिषेध को इस अधिनियम द्वारा प्रभावी रूप दिया गया है ।

अनुच्छेद 18 : उपाधियों का अंत ।

उपाधि किसी के नाम के साथ जुड़ी हुई संज्ञा होती है । ब्रिटिश शासन में राष्ट्रवादियों द्वारा यह शिकायत की जाती रही कि सरकार साम्राज्यवादी प्रयोजनों के लिए और सार्वजनिक जीवन को भ्रष्ट करने के लिए उपाधियों को प्रदान करने की शक्ति का प्रयोग कर रही है । संविधान इस दुरुपयोग को रोकने के लिए राज्य को उपाधियां प्रदान करने से प्रतिषिद्ध करता है ।

यह ध्यान देने योग्य है —

(क) कि यह प्रतिबन्ध केवल राज्य के विरुद्ध है । अन्य सार्वजनिक संस्थाएं जैसे विश्वविद्यालय आदि अपने नेताओं या गुणीजनों का सम्मान करने के लिए उन्हें उपाधियां या सम्मान दे सकते हैं ।

(ख) कि राज्य को सेना या विद्या सम्बन्धी सम्मान देने से नहीं रोका गया है यद्यपि उनका उपयोग उपाधि के रूप में किया जा सकता है ।[50]

(ग) राज्य को सामाजिक सेवा के लिए कोई सम्मान या पुरस्कार देने से निवारित नहीं किया गया है । इस सम्मान का उपाधि के रूप में अर्थात् अपने नाम के साथ जोड़कर उपयोग नहीं किया जा सकता । इस प्रकार भारत रत्न या पद्म विभूषण का, प्राप्तकर्ता द्वारा उपाधि के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता और इसलिए यह संविधान में प्रतिषेध के अधीन नहीं आते हैं ।

1954 में भारत सरकार ने चार प्रकार के सम्मान प्रारम्भ किए (मैडल के रूप में) । ये हैं भारत रत्न, पद्म विभूषण, पद्म भूषण और पद्म श्री । भारत रत्न, कला, साहित्य और विज्ञान की उन्नति में की गई असाधारण सेवाओं के लिए और उच्च कोटि की लोक सेवाओं की मान्यता के रूप में दिया जाता है । अन्य सम्मान किसी भी क्षेत्र में जिनमें सरकारी सेवकों द्वारा की गई सेवाएं सम्मिलित हैं विशिष्ट लोक सेवा के लिए सेवा की कोटि को ध्यान में रखते हुए दिया जाता है ।

यद्यपि ये उपाधियां अलंकरण मात्र थीं और यह आशय नहीं था कि जिन व्यक्तियों को ये प्रदान की जाती हैं वे इनका उपयोग अपने नाम के साथ करेंगे फिर भी कुछ लोगों ने इसका तीव्र विरोध करते हुए यह कहा कि इनसे संविधान के अनुच्छेद 18 का उल्लंघन होता है । आलोचकों का यह कहना था कि यद्यपि इनका उपाधियों के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता किन्तु ये संविधान की उद्देशिका में "प्रतिष्ठा में समता" के वचन के विरुद्ध हैं और इन अलंकरणों से पंक्तिभेद होता है । आलोचना को इस बात से भी बल मिलता है कि इन अलंकरणों को अनेक वर्गों में विभाजित किया गया है, वरिष्ठ और कनिष्ठ, और भारत रत्न के धारकों को "पूर्विकता आदेश" में स्थान दिया गया है (नवां स्थान अर्थात् संघ के मंत्रिमंडल के स्तर के मंत्री) । इस आदेश का उद्देश्य है राज्य के विभिन्न पदधारियों और उच्च अधिकारियों के लिए पंक्ति में स्थान उपदर्शित करना जिससे प्रशासन में अनुशासन बना रहे । सरकार द्वारा मान्यता देकर उसी प्रकार एक नई पंक्ति बनाई गई है जिस प्रकार लार्ड, अर्ल, सर, आदि उपाधियां प्रदान करके किया जाता है ।

दूसरी आलोचना यह थी कि संविधान या किसी भी विद्यमान विधि में इस बात पर कोई रोक नहीं है कि अलंकरण का प्राप्तकर्ता उसका अपने नाम के साथ उपयोग नहीं करेगा । अर्थात् उपाधि के रूप में उसका प्रयोग नहीं करेगा । यह आलोचना उचित जान पड़ती है । यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का उपयोग संविधान के अनुच्छेद 18 द्वारा प्रतिषिद्ध है । किन्तु इसे संविधान या किसी विधि द्वारा दंडनीय नहीं बनाया गया है । दुर्भाग्यवश आलोचकों के कथन को इस बात से और बल मिल गया है कि हेमलिन व्याख्यानमाला के शीर्ष पृष्ठ पर उस पुस्तक के लेखक के नाम के साथ "पद्म विभूषण" अलंकरण जोड़ दिया गया था ।

आचार्य कृपलानी ने इन अलंकरणों के विरुद्ध जो आक्षेप किया था उस पर श्रीमती गांधी के शासनकाल में ध्यान नहीं दिया गया, किंतु जनता शासन ने उस राय का सम्मान किया और सरकार द्वारा "भारत रत्न" इत्यादि प्रदान करने की प्रथा समाप्त कर दी गई । श्रीमती गांधी के 1980 में लौटने पर प्रथा पुनः प्रारम्भ हो गई ।

इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद 18(1) सैनिक[50] या शैक्षिक विशिष्टयों के प्रदान किए जाने की छूट देता है ।

उपर्युक्त प्रतिषेधों से प्राप्त होने वाले अधिकारों के अतिरिक्त संविधान कुछ सकारात्मक अधिकार भी प्रदान करता है जिससे संविधान की उद्देशिका में घोषित स्वतंत्रता के आदर्श की प्राप्ति हो सके । इनमें सर्वप्रथम आते हैं वे छह मूल अधिकार जो भारत के संविधान में नागरिकों को प्रत्याभूत स्वतंत्रता के रूप में हैं [अनुच्छेद 19] । इन्हें लोक में हमारे संविधान की सात स्वतंत्रताओं के रूप में जाना जाता है । जैसा हम पहले बता चुके हैं मूल संविधान में अनुच्छेद 19(1) में सात स्वतंत्रताएं थीं किंतु उनमें से एक अर्थात् "सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का अधिकार" संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा निकाल दिया गया है । अब इस अनुच्छेद में केवल छह स्वतंत्रताएं रह गई हैं । ये हैं – 1. वाक् स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य, 2. सम्मेलन का स्वातंत्र्य, 3. संगम का स्वातंत्र्य, 4. संचरण का स्वातंत्र्य, 5. निवास करने और बस जाने का स्वातंत्र्य, 6. वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का स्वातंत्र्य ।

अनुच्छेद 19: छह स्वतंत्रताएं ।

अनुच्छेद 19, मूल अधिकार के अध्याय का क्रोड़ है । यह आवश्यक है कि पाठक इस अनुच्छेद के यथासंशोधित पाठ से सुपरिचित हों । अनुच्छेद इस प्रकार है :–

"19. (1) सभी नागरिकों को –

(क) वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का,
(ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का,
(ग) संगम या संघ बनाने का,
(घ) भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का,
(ङ) भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का, और
(छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का,

अधिकार होगा ।

(2) खंड (1) के उपखंड (क) की कोई बात उक्त उपखंड द्वारा दिए गए अधिकार के प्रयोग पर भारत की प्रभुता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हितों में अथवा न्यायालय-अवमान, मानहानि या अपराध-उद्दीपन के संबंध में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहां तक कोई विद्यमान विधि अधिरोपित करती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या वैसे निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी ।

(3) उक्त खंड के उपखंड (ख) की कोई बात उक्त उपखंड द्वारा दिए गए अधिकार के प्रयोग पर भारत की प्रभुता और अखंडता या लोक व्यवस्था के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहां तक कोई विद्यमान विधि अधिरोपित करती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या वैसे निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी ।

(4) उक्त खंड के उपखंड (ग) की कोई बात उक्त उपखंड द्वारा दिए गए अधिकार के प्रयोग पर भारत की प्रभुता और अखंडता या लोक व्यवस्था या सदाचार के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहां तक कोई विद्यमान विधि अधिरोपित करती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या वैसे निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी ।

(5) उक्त खंड के उपखंड (घ) और उपखंड (ङ) की कोई बात उक्त उपखंडों द्वारा दिए गए अधिकारों के प्रयोग पर साधारण जनता के हितों में या किसी अनुसूचित जनजाति के हित के संरक्षण के लिए युक्तियुक्त निर्बन्धन जहां तक कोई विद्यमान विधि अधिरोपित करती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या वैसे निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी ।

(6) उक्त खंड के उपखंड (छ) की कोई बात उक्त उपखंड द्वारा दिए गए अधिकार के प्रयोग पर साधारण जनता के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहां तक कोई विद्यमान विधि अधिरोपित करती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या वैसे निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी और विशिष्टतया उक्त उपखंड की कोई बात —

(i) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने के लिए आवस्यक वृत्तिक या तकनीकी अर्हताओं से, या

(ii) राज्य द्वारा या राज्य के स्वामित्व या नियंत्रण में किसी निगम द्वारा कोई व्यापार, कारोबार, उद्योग या सेवा, नागरिकों का पूर्णतः या भागतः अपवर्जन करके या अन्यथा, चलाए जाने से,

जहां तक कोई विद्यमान विधि संबंध रखती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या इस प्रकार संबंध रखने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी ।"

स्वतंत्रताओं की परिसीमाएं ।

कोई भी आधुनिक राज्य व्यक्ति के अधिकारों को आत्यन्तिक रूप में प्रत्याभूत नहीं कर सकता । हमारे संविधान ने ही उपरोक्त अधिकारों में से प्रत्येक पर कुछ परिसीमाएं अधिरोपित की हैं । संविधान ने राज्य को यह शक्ति दी है कि वह समुदाय के व्यापक हितों की दृष्टि से आवश्यक युक्तियुक्त निर्बन्धन लगा सकता है । जब यह कहा जाता है कि भारत का संविधान "व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के बीच संतुलन स्थापित करता है"[51] तो उसका यही अर्थ होता है । हमारी सांविधानिक प्रणाली का उद्देश्य "कल्याणकारी राज्य" की स्थापना है इसलिए हमारे संविधान के निर्माता व्यक्ति के अनियंत्रित अधिकार प्रमाणित करके ही नहीं रुक गए । यह अबंध नीति (laissez faire) के दर्शन के अनुकूल होता । वे यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि जहां सामूहिक हितों का प्रश्न होता है वहां व्यक्ति की स्वतंत्रता को सामान्य हित के सामने झुकना होगा । हमारे संविधान ने यह न्यायालय पर नहीं छोड़ा कि वे यह बताएं कि राज्य किस आधार पर और किस सीमा तक व्यक्ति

के अधिकारों को नियंत्रित कर सकता है । उन्होंने अनुच्छेद 19 के खंड (2) और खंड (6) में ही अनुज्ञेय परिसीमाएं विनिर्दिष्ट कर दीं ।

इस संदर्भ में "राज्य" के अन्तर्गत न केवल संघ और राज्यों के विधायी प्राधिकारी हैं बल्कि भारत के राज्यक्षेत्र में स्थित स्थानीय या कानूनी[52] प्राधिकारी भी हैं, उदाहरणार्थ नगरपालिकाएं और स्थानीय बोर्ड आदि, जो भारत सरकार के नियंत्रणाधीन हैं । ये सभी प्राधिकारी स्वतंत्रता पर निर्बन्धन लगा सकते हैं परन्तु ये निर्बन्धन युक्तियुक्त होने चाहिए और अनुच्छेद 19 के खंड (2)-(6) में विनिर्दिष्ट लोकहित के आधारों में से किसी से संबद्ध होने चाहिए ।

इस प्रकार —

(i) संविधान वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य की प्रत्याभूति देता है । किंतु इस स्वतंत्रता पर राज्य द्वारा युक्तियुक्त निर्बन्धन इन बातों के संबंध में लगाए जा सकते हैं (क) मानहानि, (ख) न्यायालय-अवमान, (ग) शिष्टाचार या सदाचार, (घ) राज्य की सुरक्षा, (ङ) विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध, (च) अपराध-उद्दीपन, (छ) लोक व्यवस्था, (ज) भारत की प्रभुता और अखंडता ।[53]

यह स्पष्ट है कि वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य से व्यक्ति को यह अनुज्ञा नहीं मिलती कि अवैध या अनैतिक कार्य करे या स्थापित सरकार को बल प्रयोग द्वारा या अवैध साधनों द्वारा उलट दे ।

(ii) इसी प्रकार सम्मेलन की स्वतंत्रता इस अपवाद के अधीन है कि सम्मेलन शांतिपूर्ण और निरायुध हो और ऐसे युक्तियुक्त निर्बन्धनों के अधीन हो जो लोक व्यवस्था के हित में राज्य अधिरोपित करे । दूसरे शब्दों में सभा या सम्मेलन करने के अधिकार का उपयोग सार्वजनिक अव्यवस्था फैलाने के लिए या शांति भंग करने के लिए अथवा भारत की प्रभुता या अंखडता पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के लिए नहीं किया जा सकेगा ।

(iii) सभी नागरिकों को संगम या संघ बनाने का अधिकार है । यह अधिकार इस निर्बन्धन के अधीन है कि राज्य लोक व्यवस्था या सदाचार अथवा भारत की प्रभुता या अखंडता के हित में युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित कर सकेगा । इस स्वतंत्रता के आधार पर व्यक्तियों के किसी समूह को यह हक नहीं मिलता कि वह आपराधिक षड्यंत्र करें या लोक शांति के लिए खतरनाक संगम की रचना करें या अवैध हड़ताल करें या सार्वजनिक अव्यवस्था फैलाएं या भारत की प्रभुता और अंखडता को संकटापन्न करें ।

(iv) इसी प्रकार, यद्यपि प्रत्येक नागरिक को भारत के राज्यक्षेत्र में निर्बाध संचरण करने और देश के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का अधिकार है । यह अधिकार भी ऐसे निर्बन्धनों के अधीन है जो राज्य, साधारण जनता के हित में या अनुसूचित जनजाति के हित में अधिरोपित करे ।

(v) प्रत्येक नागरिक को कोई भी वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का अधिकार है । यह अधिकार भी ऐसे युक्तियुक्त निर्बन्धनों के अधीन है जो राज्य साधारण जनता के हित में अधिरोपित करे । किसी वृत्ति या तकनीकी उपजीविका के लिए तकनीकी अर्हताएं अवधारित की जा सकती हैं । राज्य स्वयं भी नागरिकों का अपवर्जन करके व्यापार या कारबार चला सकता है ।

न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रविषय ।

जैसा हम बता चुके हैं कि हमारे संविधान में मूल अधिकारों से संबंधित उपबंधों का विशेष लक्षण यह है कि प्रमुख मूल अधिकारों की घोषणा में ही कुछ परिसीमाएं दर्शाई गई हैं । अमेरिका में अधिकार विलेख में प्रत्याभूत व्यक्ति के अधिकारों पर कोई मर्यादाएं नहीं हैं । किंतु न्यायालय को

उन अधिकारों के प्रवर्तन में समुदाय के हित में व्यक्ति के अधिकारों पर परिसीमाएं अधिरोपित करने के लिए "राज्य की पुलिस शक्ति" जैसे कुछ सिद्धान्तों का आविष्कार करना पड़ा । जैसा हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं हमारे संविधान के अनुच्छेद 19 में प्रत्येक अधिकार के साथ एक सुभिन्न खंड जुड़ा हुआ है जिनमें वे परिसीमाएं दी हुई हैं जो राज्य इस प्रकार प्रत्याभूत अधिकार के प्रयोग पर अधिरोपित कर सकता है । उदाहरण के लिए वाक्-स्वातंत्र्य प्रत्याभूत है किंतु कोई व्यक्ति इस स्वतंत्रता का उपयोग दूसरे की मानहानि के लिए नहीं कर सकता । राज्य द्वारा यदि कोई विधि विनिर्दिष्ट आधारों में से किसी के लिए बनाई जाती है, जैसे, लोक व्यवस्था, मानहानि, न्यायालय-अवमान, तो उस पर असांविधानिक होने के अथवा अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य की प्रत्याभूति से असंगत होने के आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता । यह तभी हो सकता है जब विधि द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन न्यायालय द्वारा अयुक्तियुक्त माना जाए ।

इस प्रकार इन दो प्रतिस्पर्धी हितों के बीच अर्थात् व्यक्ति की स्वतंत्रता और लोक कल्याण में हमारे संविधान के रचयिताओं ने सामंजस्य स्थापित किया है । इसे न्या. मुखर्जी ने *गोपालन* बनाम *मद्रास राज्य*[51] में इस प्रकार स्पष्ट किया था, —

> "स्वतंत्रता आत्यंतिक या अनियंत्रित अथवा बंधनों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकती क्योंकि उससे तो अराजकता और अव्यवस्था हो जाएगी । सभी अधिकारों की प्राप्ति और उनके उपभोग पर . . . ऐसे युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाए जा सकते हैं जो देश के शासकों द्वारा समाज की निरापदता, स्वास्थ्य, शांति, साधारण व्यवस्था और नैतिकता के लिए आवश्यक समझे जाएं । प्रत्येक प्रकरण में यह व्यक्ति और समाज के परस्पर विरोधी हितों के समायोजन का प्रश्न होता है । . . . सामान्यतया प्रत्येक व्यक्ति को यह छूट है कि वह अपनी इच्छानुसार अपना जीवन चलाए । वह चाहे जो कहे, चाहे जहां जाए, अपनी इच्छानुसार व्यापार, उपजीविका, या कारबार करे । वह जो भी विधिपूर्ण कार्य करना चाहता है करे और इसमें कोई भी व्यक्ति बाधा या अड़चन न पहुंचाए । किंतु इन स्वतंत्रताओं के संरक्षण के लिए समाज को कुछ शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है । इसलिए संविधान जनता के अधिकारों की घोषणा करने में व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक सुरक्षा के बीच संतुलन करता है । संविधान का अनुच्छेद 19 व्यक्ति की स्वतंत्रताओं की एक सूची देता है और विभिन्न खंडों में वे निर्बन्धन दर्शाता है जो उन पर लगाए जा सकते हैं जिससे उनका कल्याण या साधारण सदाचार से संघर्ष न हो ।"[51]

न्यायालय, "युक्तियुक्त" शब्द का निर्वचन करने की भूमिका करता है । प्रत्येक मामले में जहां कोई व्यक्ति यह परिवाद करता है कि किसी विधि के प्रवर्तन से या उसके अधीन निकाले गए कार्यपालक आदेश से उसके मूल अधिकार का अतिक्रमण हुआ है वहां न्यायालय को यह अवधारण करना होगा कि क्या विधि द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन युक्तियुक्त हैं । यदि यह अभिनिर्धारित होता है कि न्यायालय की राय में निर्बन्धन अयुक्तियुक्त है तो न्यायालय विधि को (या आदेश को) असांविधानिक और शून्य घोषित करेगा ।[54]

युक्तियुक्त निर्बन्धन का परीक्षण ।

"युक्तियुक्त निर्बन्धन" अभिव्यक्ति अनुच्छेद 19(1) के उपखंडों द्वारा प्रत्याभूत स्वतंत्रता और खंड (2) से खंड (6) द्वारा अनुज्ञात सामाजिक नियंत्रण के बीच संतुलन उत्पन्न करने के लिए है । अतएव देखना चाहिए कि उच्चतम न्यायालय ने निर्बन्धन की युक्तियुक्तता अवधारित करने के लिए क्या परीक्षण या कसौटी रखी है । उच्चतम न्यायालय ने यह कहा है कि[55-56] व्यक्ति और समाज के अधिकारों के बीच उचित संतुलन होने पर ही यह कहा जा सकता है कि निर्बन्धन युक्तियुक्त है ।

युक्तियुक्तता का परीक्षण प्रत्येक कानून को अलग-अलग लागू किया जाता है । कोई ऐसा साधारण या अमूर्त परीक्षण अधिकथित नहीं किया जा सकता जो सभी मामलों को लागू हो । न्यायालय के निर्णय में इन सब बातों पर विचार होना चाहिए — जिस

अधिकार का अतिलंघन हुआ है उसकी प्रकृति, अधिरोपित निर्बन्धनों का प्रयोजन, उनके द्वारा जिस दूषण को सुधारा जा रहा है उसका विस्तार और अत्यावश्यकता, निर्बन्धन आनुपातिक है या नहीं, और तत्समय प्रवृत्त दशाएं ।[57] उदाहरणार्थ यह व्यवस्था कि सरकार या उसके अधिकारियों का व्यक्तिपरक समाधान होगा और एक सलाहकार बोर्ड उस सामग्री का पुनर्विलोकन कर सकेगा जिसके आधार पर सरकार, नागरिकों को प्रत्याभूत आधारभूत स्वतंत्रता का अध्यारोहण करना चाहती है, केवल आपवादिक परिस्थितियों में ही युक्तियुक्त समझा जा सकता है (जैसे, राज्य की सुरक्षा के लिए निरुद्ध या निष्कासित करने का उपबंध करने के लिए) । यह भी अत्यंत संकीर्ण सीमाओं के भीतर, तथा आपात या असाधारण परिस्थितियों के अभाव में संगम बनाने की स्वतंत्रता को छोटा नहीं किया जा सकता ।[57] सभी विद्यमान परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए । निर्बन्धनों की अंतर्वस्तु को उनके अधिरोपित किए जाने की रीति और उनके व्यवहार में लाए जाने के ढंग से अलग नहीं किया जा सकता अर्थात् इन पर एक साथ विचार करना होगा ।[58]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि युक्तियुक्तता पर दोनों दृष्टिकोणों से विचार करना होगा अर्थात् अधिष्ठायी और प्रक्रिया के दृष्टिकोण से । इसलिए —

(क) युक्तियुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि निर्बन्धन का विधान के सामूहिक उद्देश्य से युक्तियुक्त संबंध हो । दूसरे शब्दों में निर्बन्धन उस दृष्टि से बड़ा न हो जिस का निवारण किया जा रहा है । जो विधान मनमानी रीति से या अतिशय रूप से अधिकार का अतिक्रमण करता है उसमें युक्तियुक्तता का गुण नहीं होता ।[56] जैसे, —

एक अधिनियम का उद्देश्य "बीड़ी विनिर्माण करने वाले क्षेत्र में कृषि प्रयोजनों के लिए पर्याप्त श्रमिकों का प्रदाय करने के लिए अध्युपायों का उपबंध करना था" किंतु उसके अधीन उप-आयुक्त ने जो आदेश दिया उससे कुछ गांवों में निवास करने वाले सभी लोगों को कृषि के मौसम में बीड़ी विनिर्माण का काम करने से प्रतिषिद्ध कर दिया गया । उच्चतम न्यायालय ने आदेश को इस आधार पर अविधिमान्य घोषित किया कि वह बीड़ी के विनिर्माण में लगे हुए लोगों की कारबार की स्वतंत्रता [अनुच्छेद 19(1)(छ)] पर अयुक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करता है क्योंकि —

अधिनियम के उद्देश्य की पूर्ति के लिए विधान में *कृषि के मौसम में* बीड़ी के विनिर्माण के लिए *कृषि श्रमिकों* के नियोजन पर निर्बन्धन लगाया जा सकता था या बीड़ी बनाने के कारबार में काम के घंटों को विनियमित किया जा सकता था । विनिर्माण पर पूर्ण रूप से प्रतिबंध लगा देने से बीड़ी विनिर्माण की विधिसम्मत वृत्ति पर अयुक्तियुक्त और अत्यधिक निर्बन्धन लग गया ।[56]

(ख) पूर्वगामी पहलू को युक्तियुक्तता का अधिष्ठायी पहलू कह सकते हैं । एक और पहलू है प्रक्रियात्मक पहलू अर्थात् निर्बन्धन किस रीति से अधिरोपित किए गए हैं । अर्थात् आदेश तभी युक्तियुक्त होगा जब निर्बन्धन अत्यधिक न हो, और निर्बन्धन अधिरोपित करने की प्रक्रिया या रीति भी ऋजु या न्यायोचित हो । न्यायालय को, यह अवधारित करने के लिए कि क्या विधि द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन प्रक्रिया की दृष्टि से युक्तियुक्त हैं सभी विद्यमान परिस्थितियों पर विचार करना होगा जैसे उसके अधिरोपण की रीति और उस पर व्यवहार करने का ढंग । स्थूल रूप से यदि कोई निर्बन्धन इस प्रकार अधिरोपित किया जाता है कि उससे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन होता है तो वह अयुक्तियुक्त होगा । उदाहरण के लिए यदि वह नागरिक को *सुनवाई का अवसर दिए बिना*[59] उसके संगम बनाने या कारबार के अधिकार का उल्लंघन करता है तो वह अयुक्तियुक्त निर्बन्धन है ।[58]

प्रेस स्वातंत्र्य ।

हमारे संविधान में प्रेस की स्वतंत्रता की प्रत्याभूति देने के लिए कोई विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं है क्योंकि प्रेस की स्वतंत्रता, अनुच्छेद 19(1)(क) में प्रत्याभूत अभिव्यक्ति की व्यापक स्वतंत्रता में सम्मिलित है । अभिव्यक्ति-

स्वातंत्र्य से अभिप्रेत है किसी भी साधन द्वारा जिसमें मुद्रण भी सम्मिलित है । केवल अपने विचार ही नहीं बल्कि दूसरों के विचार भी अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता । किंतु अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य आत्यंतिक नहीं है । यह अनुच्छेद 19 के खंड (2) में अंतर्विष्ट परिसीमाओं के अधीन है । राज्य, प्रेस की स्वतंत्रता पर राज्य की सुरक्षा, भारत की प्रभुता और अखंडता, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार अथवा न्यायालय-अवमान, मानहानि या अपराध-उद्दीपन के संबंध में विधियां बना सकता है ।

भारत में प्रेस को कोई विशेषाधिकार नहीं है । प्रेस की स्वतंत्रता के लिए भी वही मापदंड है जो सामान्य नागरिक के लिए । इस तथ्य से कई प्रस्थापनाएं उत्पन्न होती हैं[60] —

I. प्रेस को, —

(क) सामान्य रूप से कराधान से,

(ख) औद्योगिक संबंधों से संबंधित साधारण विधि के लागू होने से,

(ग) कर्मचारियों की सेवाओं की शर्तों के विनियमन से,

उन्मुक्ति नहीं है ।

II. किंतु अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की प्रत्याभूति को देखते हुए राज्य के लिए यह विधिपूर्ण नहीं होगा कि वह —

(क) प्रेस पर ऐसी विधियां लागू करे जो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को क्षीण करती है या समाप्त करती है या जो उसके परिचालन[61] को कम करेगी जिससे सूचना के प्रसार का क्षेत्र संकुचित हो जाएगा या जिससे उसके अपने अधिकार के प्रयोग के साधन को चुनने पर बंधन लग जाए या वह सरकार से सहायता प्राप्त करने के लिए विवश हो जाए और इस प्रकार उसकी स्वाधीनता का हनन हो जाए ।[61]

(ख) प्रेस को सबसे अलग करके उस पर अत्यधिक और प्रतिषिद्धकारी भार लगाए जिससे उसका परिचालन सीमित हो जाए, या उसके अपने प्रयोग के उपकरणों को चुनने के अथवा आनुकल्पिक माध्यम खोजने के अधिकार पर शास्ति अधिरोपित हो जाए ।[61]

(ग) प्रेस पर विनिर्दिष्ट कर अधिरोपित करे जो जानबूझकर सूचना के परिचालन को सीमित करने के लिए हो ।[60]

जब विशेष रूप से प्रेस के विरुद्ध बनाई गई किसी अधिनियमिति की सांविधानिकता पर आक्षेप किया जाता है तो न्यायालय को, जैसे ऊपर बताया जा चुका है, अधिष्ठायी और प्रक्रियात्मक युक्तियुक्तता की कसौटी पर उसकी परीक्षा करनी होगी । इसी प्रकार के एक अधिनियम, पंजाब विशेष शक्ति (प्रेस) अधिनियम, 1956, पर उच्चतम न्यायालय ने *वीरेन्द्र* बनाम *पंजाब राज्य*[62] में विचार किया । न्यायालय ने उसके एक उपबंध को शून्य घोषित किया और दूसरे को विधिमान्य ठहराया । इसके आधार यह थे :

> "यदि कोई विधि नैसर्गिक न्याय की प्रक्रियात्मक अपेक्षाओं का अनुपालन करती है और सरकार को, अस्थायी अवधि के लिए, विनिर्दिष्ट वर्ग के साहित्य का, जिससे सांप्रदायिक सामंजस्य समाप्त होगा, प्रवेश प्रतिषिद्ध करने की शक्ति देती है तो उसे अयुक्तियुक्त नहीं माना जा सकता । किंतु यह अयुक्तियुक्त होगा कि राज्य सरकार को यह शक्ति दी जाए कि वह, अपना यह समाधान हो जाने पर कि ऐसा करना राज्य में सांप्रदायिक सद्भाव या लोक व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक है, राज्य में कोई भी समाचारपत्र लाना प्रतिषिद्ध कर सके । कारण यह है कि इससे यह विषय सरकार के व्यक्तिनिष्ठ समाधान पर आधारित हो जाता है । प्रभावित पक्षकार को तो अभ्यावेदन करने का अधिकार भी नहीं दिया गया है ।"

प्रेस (आक्षेपणीय सामग्री) अधिनियम, 1951 के पर्यवसान के पश्चात् 1956 में प्रेस नियंत्रण के लिए कोई अखिल भारतीय अधिनियम नहीं था । किंतु 1976 में संसद् ने

आक्षेपणीय सामग्री प्रकाशन निवारण अधिनियम, 1976 अधिनियमित किया जो स्थायी भी था और जिसमें और भी कठोर उपबंध थे । यह उल्लेखनीय है कि शीघ्र ही अप्रैल, 1977 में जनता सरकार ने इसे निरसित कर दिया । बाद में संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद — अनुच्छेद 361क[63] जोड़कर इस स्थिति को और सुदृढ़ कर दिया गया ।

संविधान के किसी विशेष उपबंध में प्रेस के सेंसर किए जाने का प्रतिषेध नहीं है । अन्य निर्बन्धनों के समान इसकी सांविधानिकता का निर्णय भी खंड (2) के अन्तर्गत 'युक्तियुक्तता' के परीक्षण से किया जाएगा ।[62]

सेंसर ।

संविधान के प्रारंभ के तुरंत बाद और खंड (2) में "युक्तियुक्त" शब्द के अंतःस्थापन के पूर्व सेंसर की विधिमान्यता का प्रश्न उच्चतम न्यायालय के समक्ष *ब्रजभूषण* बनाम *दिल्ली राज्य*[64] में आया । इस मामले के तथ्य इस प्रकार थे :

पूर्वी पंजाब लोक सुरक्षा अधिनियम, 1949 की धारा 7(1)(ग) में यह उपबंध था कि

> "यदि प्रांतीय सरकार का . . . यह समाधान हो जाता है कि लोक सुरक्षा, या लोक व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रतिकूल किसी क्रियाकलाप का निवारण या सामना करने के लिए ऐसा करना आवश्यक है तो वह मुद्रक, प्रकाशक या संपादक को संबोधित लिखित आदेश द्वारा यह अपेक्षा कर सकेगी कि किसी विशिष्ट विषय या विशिष्ट वर्ग के विषय से संबंधित सामग्री को प्रकाशन के पूर्व समीक्षा के लिए प्रस्तुत किया जाएगा ।"

इसी प्रकार के मद्रास लोक व्यवस्था अधिनियम, 1949 के उपबंध को *रमेश थापर* बनाम *मद्रास राज्य* में चुनौती दी गई ।[64]

उच्चतम न्यायालय के बहुमत को यह अभिनिर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि किसी पत्रिका पर पूर्व सेंसर लादना, अनुच्छेद 19 के खंड (1)(क) द्वारा प्रत्याभूत वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का स्पष्ट रूप से निर्बन्धन है । "राज्य की सुरक्षा" के अन्तर्गत "लोक सुरक्षा" या "लोक व्यवस्था" नहीं है । खंड (2), जैसा वह उस समय था, आक्षेपित अधिनियम की रक्षा नहीं कर सकता ।

इन विनिश्चयों के कुछ ही समय पश्चात्[64] संविधान (पहला संशोधन) अधिनियम, 1951 द्वारा संविधान का संशोधन करके खंड (2) में "लोक व्यवस्था" शब्द डाले गए । अतएव जिन आधारों का *रमेश थापर*[64] और "ब्रजभूषण" के वादों में बहुमत ने अवलंब किया था वह अब उपलब्ध नहीं है । उसी संशोधन द्वारा खंड (2) में "युक्तियुक्त" शब्द भी अन्तःस्थापित किया गया । इन दोनों संशोधनों का परिणाम यह है कि यदि लोक व्यवस्था के हित में सेंसर अधिरोपित किया जाता है तो उसे परिचालन की स्वतंत्रता पर बंधन मानकर तुरंत ही असांविधानिक नहीं घोषित किया जा सकता । उसकी युक्तियुक्तता को उसके अधिरोपित किए जाने की परिस्थितियों के प्रति निर्देश से अवधारित करना होगा । इस अर्थ में "युक्तियुक्त" शब्द का प्रवेश सुखद नहीं है । इंग्लैंड में शांति के समय सेंसर की कल्पना ही नहीं हो सकती । *वीरेन्द्र* बनाम *पंजाब राज्य*[62] में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय से ऐसा प्रतीत होता है कि शांति के समय भी सेंसर किया जा सकता है यदि अधिष्ठायी और प्रक्रियात्मक दोनों ही दृष्टिकोणों से युक्तियुक्त रक्षोपाय किए गए हैं । न्यायालय में पंजाब विशेष शक्ति (प्रेस) अधिनियम, 1956 की धारा 2 और 3 पर विचार किया जाना था । ये उपबंध पूर्वी पंजाब लोक सुरक्षा अधिनियम, 1949 की धारा 7(1)(ग) के समान थे (जिन पर ब्रजभूषण के वाद में आक्षेप किया गया था)[63] । अंतर यह था कि 1956 के अधिनियम में जो प्राधिकार दिया गया था वह सेंसर से भी अधिक कठोर

था, अर्थात् पूर्ण प्रतिषेध । न्यायालय ने यह अवधारित किया कि धारा 2, जिसमें प्राधिकारी के आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन करने का अधिकार था और जिसमें शक्ति विनिर्दिष्ट अवधि के लिए और विनिर्दिष्ट वर्ग के प्रकाशनों के लिए सीमित थी, विधिमान्य थी । किंतु धारा 3 जिसमें ऐसे कोई रक्षोपाय नहीं थे अयुक्तियुक्त निर्बन्धन था ।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आपात परिस्थितियों में प्रक्रियात्मक रक्षोपायों के साथ सीमित अवधि के लिए पूर्व सेंसर की व्यवस्था विधिमान्य है ।[65] उदाहरण के लिए जैसा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 में है । किंतु यदि वह कार्यपालक प्राधिकारी के आत्यंतिक विवेक[60] पर छोड़ दिया जाता है तो वह अयुक्तियुक्त ही माना जाएगा । इसी प्रकार, उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 19(2) द्वारा रक्षित हितों के अर्थात् लोक व्यवस्था और सदाचार के संरक्षण के लिए पूर्व सेंसर को मंजूरी देने वाली विधि को विधिमान्य ठहराया ।[66]

यह ध्यान देने योग्य है कि जब अनुच्छेद 352 के अधीन आपात उद्घोषणा की जाती है तब अनुच्छेद 19 निलम्बित हो जाता है [अनुच्छेद 358] और बिना किसी निर्बन्धन के पूर्व सेंसर का प्रयोग किया जा सकता है (देखिए आगे अध्याय 24) । जून, 1975 में आंतरिक विक्षोभ के आधार पर आपात की उद्घोषणा के ठीक पश्चात्[67] भारत रक्षा और आंतरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 के अधीन बनाए गए नियमों के नियम 48(1) के अधीन एक सेंसर आदेश (26 जून, 1975) को निकाला गया था । यह भी ध्यान रहे कि 1977 में श्रीमती गांधी के निर्वाचन में हार जाने पर आंतरिक आपात की घोषणा[67] 21 मार्च, 1977 को वापस ली गई और प्रेस सेंसर आदेश 22 मार्च को ।

अनुच्छेद 19 उन मामलों को भी लागू नहीं होता है जिनको अनुच्छेद 31क–31ग लागू होते हैं । मूल अधिकारों के ये अपवाद पश्चात्वर्ती संशोधनों द्वारा प्रविष्ट किए गए हैं । इन पर हम इस अध्याय के अंत में विचार करेंगे ।

अपराध के लिए दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण ।

अनुच्छेद 20 अपराध के लिए दोषसिद्धि की बाबत कुछ संरक्षण प्रदान करता है । इसके लिए वह

(क) भूतलक्षी दांडिक विधान, जिसे साधारणतः "घटना के पश्चात् विधान" कहा जाता है, प्रतिषिद्ध करता है ।

(ख) दोहरा दंडादेश या एक ही अपराध के लिए एक से अधिक बार दंड देना प्रतिषिद्ध करता है ।

(ग) स्वयं को अपराध में फंसाने के लिए विवश करना प्रतिषिद्ध करता है ।

अ. घटना के पश्चात् विधान का उपबंध संविधान के अनुच्छेद 20 के खंड (1) में है । यह खंड इस प्रकार है, —

घटना के पश्चात् विधान का प्रतिषेध ।

"किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए तब तक सिद्धदोष नहीं ठहराया जाएगा, जब तक कि उसने ऐसा कोई कार्य करने के समय जो अपराध के रूप में आरोपित है, किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण नहीं किया है या वह उससे अधिक शास्ति का भागी नहीं होगा जो उस अपराध के किए जाने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन अधिरोपित की जा सकती थी ।"

यह भारत में विधान मंडलों की विधि निर्माण की शक्ति पर लगाई गई मर्यादा है । कोई विधि तब भविष्यलक्षी कही जाती है जब वह उस विधि के प्रवृत्त होने के पश्चात् होने वाले कार्य या लोप को प्रभावित करती है । अधिकांश विधियां भविष्यलक्षी होती हैं । किंतु कभी-कभी विधान मंडल किसी विधि को भूतलक्षी प्रभाव देते हैं अर्थात् विधि के प्रवर्तन में भविष्य में होने वाले कार्य या लोप तो आते ही हैं उस विधि के

अधिनियमित होने के पहले किए गए कार्य या लोप भी प्रभावी होते हैं । सामान्यतया विधान मंडल भूतलक्षी और भविष्यलक्षी दोनों प्रकार की विधियां बना सकती हैं किंतु इस खंड के अनुसार विधान मंडल कोई दांडिक विधि को भूतलक्षी बनाकर यह उपबंध नहीं कर सकेगा कि कोई व्यक्ति ऐसे कार्य के लिए दोषसिद्ध किया जा सकेगा जो उस समय अपराध नहीं था जब कार्य किया गया था । सामान्यतया विधान मंडल भविष्यलक्षी विधियां बना सकता है और भूतलक्षी भी । इस खंड के अनुसार विधान मंडल दांडिक विधि को भूतलक्षी नहीं बना सकेगा जिससे कोई व्यक्ति ऐसे कार्य के लिए दोषसिद्ध हो जाए जो कार्य के किए जाने के समय तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन अपराध नहीं था । अथवा किसी अभियुक्त को उस शास्ति से अधिक दंड नहीं दिया जा सकता जो अपराध के किए जाने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन दिया जा सकता था । दूसरे शब्दों में जब विधान मंडल किसी कार्य को अपराध घोषित करता है या किसी अपराध के लिए शास्ति का उपबंध करता है तो वह विधि को भूतलक्षी बनाकर उन व्यक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाल सकता जिन्होंने उस विधि के अधिनियमित किए जाने के पूर्व ऐसे कार्य किए थे ।[68]

आ. दोहरा दंड देने के विरुद्ध प्रतिषेध अनुच्छेद 20 के खंड (2) में है । यह खंड इस प्रकार है :—

> "किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दंडित नहीं किया जाएगा ।"

दोहरे दंड से उन्मुक्ति ।

"दोहरा दंड" (double jeopardy) अमेरिकी विधि में प्रयुक्त अभिव्यक्ति है । हमारे संविधान में इसका प्रयोग नहीं हुआ है । अनुच्छेद 20 का खंड (2) उसी प्रकार का सिद्धांत अधिकथित करता है । उच्चतम न्यायालय ने *वेंकटरामन* बनाम *भारत संघ*[69] में यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 20(2) का निर्देश न्यायिक दंड के प्रति है । यह इस बात की उन्मुक्ति देता है कि कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दंडित नहीं किया जाएगा । दूसरे शब्दों में यदि कोई व्यक्ति अपराध के लिए पूर्ववर्ती कार्यवाही में अभियोजित और दंडित किया जा चुका है तो उसे उसी अपराध के लिए पश्चात्‌वर्ती कार्यवाही में अभियोजित और दंडित नहीं किया जा सकता । यदि कोई विधि ऐसे दोहरे दंड की व्यवस्था करती है तो वह विधि शून्य होगी । यह अनुच्छेद न्यायालय या न्यायिक अधिकरण के समक्ष कार्यवाहियों से भिन्न कार्यवाहियों से उन्मुक्ति का उपबंध नहीं करता । अतएव यदि किसी सरकारी सेवक को न्यायालय द्वारा किसी अपराध के लिए दंडित किया गया है तो उसके विरुद्ध उसी अपराध के लिए *विभागीय कार्यवाहियां* की जा सकती हैं या विभागीय कार्यवाही में दंड देने के पश्चात् न्यायिक कार्यवाहियां की जा सकती हैं ।

इ. स्वयं को अपराध में फंसाने के विरुद्ध उन्मुक्ति अनुच्छेद 20 के खंड (3) में हैं । इसमें कहा गया है कि

अभियुक्त को स्वयं अपने विरुद्ध साक्ष्य देने के लिए बाध्य किए जाने के विरुद्ध उन्मुक्ति ।

> "किसी अपराध के लिए अभियुक्त किसी व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा ।"

इस उन्मुक्ति के प्रविषय को हमारे उच्चतम न्यायालय ने प्रथमदृष्ट्या विस्तारित कर दिया है । न्यायालय ने यह निर्वचन किया है कि "साक्ष्य" में मौखिक और दस्तावेजी दोनों प्रकार के साक्ष्य हैं । इसलिए किसी व्यक्ति को ऐसा साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता जिससे उसके विरुद्ध अभियोजन को समर्थन मिलने की युक्तियुक्त संभाव्यता है । किंतु ऐसा साक्ष्य संसूचना के रूप में होना चाहिए । यह प्रतिषेध वहां नहीं लागू

होता है जहां तलाशी होने पर अभियुक्त से कोई वस्तु या दस्तावेज अभिगृहीत किया जाता है ।[70] इसी कारणवश यह खंड अभियुक्त की चिकित्सीय परीक्षा को या उसके अंगूठे की छाप या नमूने का हस्ताक्षर लेने को वारित नहीं करता है ।[71]

दूसरे यह उन्मुक्ति सिविल कार्यवाहियों को या दांडिक कार्यवाहियों को या दांडिक कार्यवाहियों से भिन्न कार्यवाहियों को नहीं लागू होती है ।[72] उच्चतम न्यायालय ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि[73] स्वयं को अपराध में फंसाने वाला कथन करने के लिए बाध्य किए जाने के विरुद्ध उन्मुक्ति का दावा करने के पूर्व उस व्यक्ति के विरुद्ध उस समय प्ररूपिक अभियोग होना चाहिए जब उसे अपराध में फंसाने वाला कथन करने के लिए कहा जाता है । वह किसी साधारण जांच या अन्वेषण में इस आधार पर उन्मुक्ति का दावा नहीं कर सकता कि बाद में किसी प्रक्रम पर उस कथन के कारण उसका अभियोजन हो सकेगा ।[73]

हमारे संविधान ने दो प्रकार से दैहिक स्वतंत्रता सुनिश्चित की है ।

अनुच्छेद 21: दैहिक स्वतंत्रता ।

(क) यह उपबंध करके कि किसी व्यक्ति को विधि के अनुसार ही स्वतंत्रता से वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं [अनुच्छेद 21],

(ख) मनमानी गिरफ्तारी और निरोध के विरुद्ध कुछ विनिर्दिष्ट रक्षोपाय अधिकथित करके [अनुच्छेद 22] ।

अ. हमारे संविधान के अनुच्छेद 21 में यह उपबंध है कि —

प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण ।

"किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं ।"

यह अनुच्छेद हमें "मैग्ना कार्टा" के एक सुप्रसिद्ध खंड का स्मरण कराता है :

"किसी व्यक्ति को देश की विधि के अनुसार ही गिरफ्तार या कारावासित . . . या निर्वासित या किसी प्रकार विनष्ट किया जा सकेगा, अन्यथा नहीं ।"

इसका यह अर्थ है कि कार्यपालिका का कोई सदस्य किसी नागरिक की स्वतंत्रता में तभी हस्तक्षेप कर सकेगा जब वह अपनी कार्यवाही के समर्थन में विधि का कोई उपबंध दिखा सके । संक्षेप में किसी व्यक्ति पर कोई ऐसा शारीरिक प्रपीड़न नहीं किया जाएगा जिसका विधिक औचित्य न हो । जब राज्य या उसका कोई अभिकर्ता किसी व्यक्ति को उसकी दैहिक स्वतंत्रता से वंचित करता है तो इस कार्यवाही का औचित्य तभी हो सकता है जब उस कार्यवाही के समर्थन में कोई विधि हो और विधि द्वारा विहित प्रक्रिया का कठोरता से और श्रद्धापूर्वक पालन किया गया हो ।[74]

इंग्लैंड के संविधान के समान ही, भारत के संविधान में भी दैहिक स्वतंत्रता, बंदी प्रत्यक्षीकरण की न्यायिक रिट द्वारा सुनिश्चित की गई है [अनुच्छेद 32 और 226] । इसके माध्यम से गिरफ्तार व्यक्ति स्वयं को न्यायालय के समक्ष उपस्थित करा सकता है और अपने कारावासित किए जाने के आधार की परीक्षा करा सकता है । यदि न्यायालय यह पाता है कि उसके कारावासित किए जाने का विधिक औचित्य नहीं है तो वह स्वतंत्र कर दिया जाएगा । न्यायालय उस दशा में भी बंदी को मुक्त कर देगा जहां व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता से वंचित किए जाने की विधि तो है किंतु विधि द्वारा अधिरोपित शर्तों का कठोरता से पालन नहीं किया गया है । उच्चतम न्यायालय ने कई बार यह कहा है कि "जो लोग यह समझते हैं कि उनके कर्तव्य के पालन में उन्हें अन्य व्यक्तियों को

उनकी स्वतंत्रता से वंचित करना आवश्यक है, उन्हें विधि के प्ररूप और नियमों का कठोरता से और श्रद्धापूर्वक पालन करना चाहिए ।"[74]

किंतु किसी भी देश में व्यक्ति की स्वतंत्रता आत्यंतिक नहीं हो सकती । इंग्लैंड के संविधान में यह सिद्धान्त है कि पार्लमेंट में समवेत जनता के प्रतिनिधि यह अवधारित करेंगे कि कहां तक व्यक्ति के अधिकार जाएंगे और कहां तक उन्हें सामूहिक हित में या राज्य की सुरक्षा के हित में, समय की आवश्यकताओं के अनुसार मर्यादित किया जाएगा । भारत के संविधान ने इसी सिद्धांत को स्वीकार करते हुए यह कहा है कि दैहिक और व्यक्तिगत स्वतंत्रता, विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अधीन है । अनुच्छेद 21, विधान मंडल की शक्तियों पर परिसीमा के रूप में नहीं है । यह व्यक्ति को कार्यपालिका के मनमाने या अवैध कार्य के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है ।

गोपालन का मत ।

I. 1978 में, मेनका के मामले[25] के विनिश्चय तक हमारे उच्चतम न्यायालय का यही मत था कि हमारे संविधान में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन करने वाले मनमाने विधान के विरुद्ध कोई प्रत्याभूति नहीं है । अतएव यदि सक्षम विधान मंडल विधि बनाकर यह उपबंध करता है कि किसी व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता से विशेष परिस्थितियों में और विशेष रीति से वंचित किया जाएगा तो उस विधि की विधिमान्यता पर न्यायालय में इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता कि विधि अयुक्तियुक्त, अऋजु और न्याय विरुद्ध है ।[75] अमेरिकी संविधान के सम्यक् प्रक्रिया (ड्यू प्रोसेस) खंड (5वां और 15वां संशोधन) के अधीन उनके न्यायालय ने यह शक्ति ग्रहण कर ली है कि वह ऐसी विधि को असांविधानिक घोषित कर दे जो किसी व्यक्ति को इस रीति से उसकी स्वतंत्रता से वंचित करती है जो न्यायालय की सम्यक् प्रक्रिया की संकल्पना के अनुसार नहीं है, अर्थात् युक्तियुक्त और ऋजु नहीं है । इंग्लैंड में यह संभव नहीं है क्योंकि वहां न्यायालयों को यह शक्ति नहीं है कि वह संसद् की विधि को अविधिमान्य करे । इसके फलस्वरूप इंग्लैंड में स्वतंत्रता विधि के द्वारा सीमित और नियंत्रित है । वह उतनी ही विद्यमान या सीमित रहती है जितनी वह जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाई गई विधियों में है । *गोपालन* बनाम *मद्रास राज्य*[75] में हमारे उच्चतम न्यायालय ने यह मत प्रतिपादित किया था कि "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" इस अभिव्यक्ति को अंगीकार करके हमारे संविधान के अनुच्छेद 21 ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की इंग्लैंड वाली संकल्पना को अपनाया है, अमेरिका की सम्यक् प्रक्रिया की संकल्पना को नहीं । अल्पमत के अनुसार[75] इस निर्वचन के परिणामस्वरूप प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के महत्वपूर्ण मूल अधिकार को विधान मंडल के बहुमत की कृपा पर छोड़ दिया गया । बहुमत के अनुसार यह आधारभूत दृष्टिकोण में भेद के परिणामस्वरूप है । अर्थात् —

> "यद्यपि हमारे संविधान ने विधायी प्राधिकारियों पर कुछ मर्यादाएं अधिरोपित की हैं किंतु हमारे संविधान के अधीन रहते हुए और उन मर्यादाओं के बाहर हमारे संविधान ने संसद् और राज्य विधान मंडलों को अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वोपरि रखा है । हमारे संविधान ने मुख्य रूप से . . . न्यायपालिका के स्थान पर विधान मंडल की सर्वोपरिता को अधिमान दिया है ।"[75]

यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि[75-76] हमारे संविधान में अनुच्छेद 21 के अतिरिक्त, दैहिक स्वतंत्रता का नैसर्गिक विधि या कामन ला जैसा कोई रक्षोपाय नहीं है । इसके परिणामस्वरूप जब सक्षम विधान मंडल द्वारा दैहिक स्वतंत्रता छीन ली जाती है तो प्रभावित व्यक्ति को कोई उपचार नहीं मिल सकता ।[76]

मेनका बनाम भारत संघ ।

II. भारत में सांविधानिक विधि के विकास का यह विशिष्ट लक्षण है कि एक दीर्घ संघर्ष के पश्चात् जो स्पष्ट रूप से 1971 से प्रारंभ हुआ

जान पड़ता है, गोपालन के मामले में[74] अल्पमत के दृष्टिकोण की *मेनका के मामले में[25] सात न्यायाधीशों के पीठ के निर्णय में विजय हुई । हम इस मामले पर पहले ही ध्यान दे चुके हैं । इस मामले में,[25] गोपालन* के मामले[75] में बहुमत के निर्णय को उलटते हुए स्पष्ट रूप से निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए —

(क) अनुच्छेद 19 और 21 के बीच कोई लोहे की दीवार बनाकर विभाजन नहीं किया गया है । अनुच्छेद 21 में दैहिक स्वतंत्रता अभिव्यक्ति का परिवेश अत्यंत विस्तारवान है । इसमें अनेक प्रकार के अधिकार आते हैं । इनमें से कुछ को अनुच्छेद 19 में सम्मिलित करके उन्हें विशेष संरक्षण दिया गया है । अतएव अनुच्छेद 19 और 21 परस्पर व्याप्त हैं ।

(ख) इसके परिणामस्वरूप अनुच्छेद 21 में आने वाली विधि द्वारा भी अनुच्छेद 19 की अपेक्षाओं की पूर्ति होनी चाहिए । दूसरे शब्दों में यदि राज्य द्वारा बनाई गई कोई विधि किसी व्यक्ति को दैहिक स्वतंत्रता से वंचित करती है तो उसे ऐसी प्रक्रिया विहित करनी चाहिए जो मनमानी, अऋजु या अयुक्तियुक्त न हो ।

(ग) जब व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता से वंचित करने वाली विधि की विधिमान्यता के अवधारण के लिए युक्तियुक्तता का परीक्षण अपना लिया जाता है तो इससे यह परिणाम निकलता है कि यदि वह विधि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन करती है तो वह अविधिमान्य होगी । उदाहरणार्थ, यदि वह प्रभावित व्यक्ति को सुनवाई का या प्रस्थापित आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन का अवसर दिए बिना पासपोर्ट जब्त करने का उपबंध करती है[25] ।

इस प्रकार गोपालन[75] से मेनका[25] तक की न्याय-यात्रा, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक की यात्रा है । उच्चतम न्यायालय ने मेनका के मामले का[25] पश्चात्वर्ती मामलों में अनुसरण किया है ।

न्यायालयों ने यह जो उद्धार किया है उसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 22 ने भी मनमानी गिरफ्तारी और निरोध के विरुद्ध कुछ रक्षोपायों का उपबंध किया है । अतएव अनुच्छेद 22 के अधीन आने वाले मामलों में अनुच्छेद 21 और 22 दोनों की अपेक्षाओं का पालन होना चाहिए ।[51]

मनमानी गिरफ्तारी और निरोध से संरक्षण ।

आ. अनुच्छेद 22 के खंड (1) और (2) में मनमानी गिरफ्तारी और निरोध के विरुद्ध जिन प्रक्रियात्मक रक्षोपायों का उपबंध किया गया है वे हैं :—

(क) किसी व्यक्ति को जो गिरफ्तार किया गया है, ऐसी गिरफ्तारी के कारणों से, यथाशीघ्र अवगत कराए बिना अभिरक्षा में निरुद्ध नहीं किया जाएगा ।

(ख) किसी व्यक्ति को अपनी रुचि के विधि व्यवसायी से परामर्श करने और प्रतिरक्षा करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा ।

(ग) प्रत्येक व्यक्ति को जो गिरफ्तार किया गया है और अभिरक्षा में निरुद्ध रखा गया है, गिरफ्तारी के स्थान से मजिस्ट्रेट के न्यायालय तक यात्रा के लिए आवश्यक समय को छोड़कर, ऐसी गिरफ्तारी से चौबीस घण्टे की अवधि में निकटतम मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया जाएगा और ऐसे किसी व्यक्ति को मजिस्ट्रेट के प्राधिकार के बिना उक्त अवधि से अधिक अवधि के लिए अभिरक्षा में निरुद्ध नहीं रखा जाएगा ।

किंतु ये रक्षोपाय इन्हें उपलब्ध नहीं होंगे, — (क) शत्रु अन्यदेशीय को, (ख) निवारक निरोध का उपबंध करने वाली विधि के अधीन गिरफ्तार या निरुद्ध व्यक्ति को ।

अनुच्छेद 22 : निवारक निरोध ।

संविधान में ही विधान मंडल को निवारक निरोध का उपबंध करने वाली विधि बनाने के लिए प्राधिकृत किया गया है । यह निवारक निरोध

राज्य की सुरक्षा, लोक व्यवस्था बनाए रखने, समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों और सेवाओं को बनाए रखने या रक्षा, विदेश कार्य या भारत की सुरक्षा संबंधी कारणों से हो सकता है (सातवीं अनुसूची की सूची 1, प्रविष्टि 9, सूची 3, प्रविष्टि 3) ।

अतएव विधान मंडल यह अधिनियमित कर सकता है कि किसी व्यक्ति को उपर्युक्त कारणों से *बिना विचारण* के निरुद्ध या कारावासित किया जा सकता है और ऐसी विधियों के विरुद्ध व्यक्ति को दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार नहीं होगा । संविधान उपर्युक्त शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध कुछ रक्षोपायों का उपबंध करता है । अनुच्छेद 22(4)-(7) में यही रक्षोपाय मनमाने निरोध के विरुद्ध मूल अधिकार के रूप में हैं । इन्हीं रक्षोपायों के कारण "निवारक निरोध" को हमारे संविधान के "मूल अधिकारों" वाले भाग में स्थान मिला है । अनुच्छेद 22 के सुसंगत उपबंध इस प्रकार हैं :

जब किसी व्यक्ति को निवारक निरोध की किसी विधि के अधीन गिरफ्तार किया जाता है तो –

(i) सरकार ऐसे व्यक्ति को केवल तीन मास तक अभिरक्षा में निरुद्ध कर सकती है । यदि वह गिरफ्तार व्यक्ति को तीन मास से अधिक के लिए निरुद्ध करना चाहती है तो उसे सलाहकार बोर्ड का प्रतिवेदन प्राप्त करना होगा । बोर्ड, सरकार और अभियुक्त द्वारा प्रस्तुत दस्तावेजों की परीक्षा करेगा और यह देखेगा कि निरोध न्यायोचित है या नहीं ।

(ii) इस प्रकार निरुद्ध व्यक्ति को, यथाशीघ्र, निरोध के आधार संसूचित किए जाएंगे । किंतु वे तथ्य प्रकट नहीं किए जाएंगे जिन्हें प्रकट करना निरोधक प्राधिकारी लोकहित के विरुद्ध समझता है ।

(iii) निरुद्ध व्यक्ति को निरोध आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र अवसर दिया जाना चाहिए ।[75]

कोई विधि जो अनुच्छेद 72 में यथापूर्वोक्त अधिरोपित शर्तों का उल्लंघन करती है अविधिमान्य घोषित की जा सकती है और कोई निरोध आदेश जो इन शर्तों का उल्लंघन करता है, न्यायालय द्वारा इसी प्रकार अविधिमान्य किया जा सकेगा तथा निरुद्ध व्यक्ति तुरंत निर्मुक्त किया जाएगा ।[77]

संसद् को यह शक्ति है कि वह विधि द्वारा यह विहित करे कि कितनी अधिकतम अवधि के लिए किसी व्यक्ति को निवारक निरोध की विधि के अधीन निरुद्ध किया जा सकेगा ।

निवारक निरोध का अर्थ है किसी व्यक्ति का विचारण किए बिना निरोध । दंडस्वरूप किए गए निरोध से भेद करने के लिए इसे यह नाम दिया गया है । दंडस्वरूप निरोध का उद्देश्य किसी व्यक्ति को उसके द्वारा *किए गए कार्य के लिए दंड देना* है । यह तभी हो सकता है जब उसके द्वारा किए गए अवैध कार्य के लिए न्यायालयों द्वारा उसका विचारण किया गया हो । निवारक निरोध का उद्देश्य उसे कुछ कार्य करने से निवारित करना है । इस मामले में निरोध इस आशंका से होता है कि वह कुछ ऐसा दोषपूर्ण कार्य करने वाला है जो संविधान में विनिर्दिष्ट आधारों में आता है । वस्तुतः निवारक निरोध ऐसी परिस्थितियों में किया जाता है जिनमें प्राधिकारी के पास उपलब्ध साक्ष्य आरोप साबित करने के लिए पर्याप्त नहीं है या *विधिक सबूत* के आधार पर निरुद्ध व्यक्ति को दोषसिद्ध नहीं ठहराया जा सकता किंतु इस *संदेह* पर उसका निरोध करने का पर्याप्त औचित्य है कि यदि निरोध नहीं किया गया तो वह दोषपूर्ण कार्य करेगा ।

अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम में शांति के समय निवारक निरोध नहीं किया जा

सकता । भारत में संदेह के आधार पर गिरफ्तार करने की कार्यपालिका की शक्ति को, जिसे अन्य देशों में केवल आपात में ही सहन किया जाता है, स्थायी रूप से अंगीकार करने को कोई भी स्वतंत्रता प्रेमी सिद्धान्ततः न्यायोचित नहीं मानेगा । किंतु संविधान के इस उपबंध का उचित मूल्यांकन करने के लिए निम्नलिखित परिस्थितियों पर ध्यान देना अनिवार्य है :—

भारत में निवारक निरोध का इतिहास ।

प्रथम, विचारण के बिना निरोध ऐसा विचार नहीं था जिसे हमारे संविधान निर्माताओं ने पहली बार स्थान दिया हो । यह ब्रिटिश भारत के प्रारंभ से ही कुख्यात 1818 का बंगाल विनिमय 3 (बंगाल राज्य बंदी विनियम) और इसी प्रकार की मद्रास और मुम्बई की अधिनियमितियां विद्यमान थीं जिनमें संदेह के आधार पर किसी व्यक्ति को निरुद्ध करने की सरकार की शक्ति पर कोई बंधन नहीं लगाया गया था । इसके पश्चात् भारत रक्षा अधिनियम, 1939 के अधीन बनाए गए नियमों का नियम 26 आया जिसमें सरकार को यह शक्ति दी गई कि वह किसी भी व्यक्ति को निरुद्ध कर सकेगी यदि "उसका किसी व्यक्ति के संबंध में यह समाधान हो जाता है कि ऐसा निरोध उस व्यक्ति को देश की रक्षा और सुरक्षा के प्रतिकूल रीति में कार्य करने से निवारित करने के लिए आवश्यक है" ।[78] यह एक युद्धकालीन विनियम था जो इंग्लैंड में द्वितीय विश्व युद्ध के समय के इसी प्रकार के विधान के नमूने पर बनाया गया था । हाउस आफ लार्ड्स ने उसकी विधिमान्यता स्वीकार की थी ।[79] किंतु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भी निवारक निरोध को भारत में, "प्रांतीय लोक व्यवस्था अधिनियमों" द्वारा लोक व्यवस्था, लोक सुरक्षा, आदि के भंग की आशंका होने पर उसे दबाने के लिए एक उपकरण के रूप में चालू रखा गया । इन अधिनियमों के अधीन वादों की बाढ़ सी आ गई थी । हमारे संविधान के निर्माताओं ने संविधान के अधीन ऐसे विधान का चलते रहना संभव कर दिया । इसमें उन्होंने कुछ रक्षोपाय लगा दिए । उन्होंने दुखपूर्वक यह अनुभव किया कि भूतकाल में जिन परिस्थितियों में इस असाधारण विधान की आवश्यकता हुई थी, वे परिस्थितियां भारत की स्वाधीनता के बाद भी बनी रहीं, मिटी नहीं । यह सभी जानते हैं कि हमारे गणतंत्र का जन्म असामाजिक और विध्वंसकारी शक्तियों के बीच हुआ और सांप्रदायिक पागलपन के कारण जन और धन की अपार हानि उठानी पड़ी । इस विध्वंसकारी तत्वों से नवजात गणतंत्र को बचाने के लिए राज्य को यह शक्ति प्रदान करना आवश्यक हो गया था । किंतु संविधान निर्माताओं ने विद्यमान विधि में सुधार करके निवारक निरोध की शक्ति को कुछ सांविधानिक रक्षोपायों के अधीन कर दिया । इन रक्षोपायों के उल्लंघन पर व्यक्ति को उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय में अभ्यावेदन करने का अधिकार होगा क्योंकि ये रक्षोपाय मूल अधिकार हैं जिनके प्रवर्तन के लिए सांविधानिक उपचार प्राप्त किए जा सकते हैं । ऐसे अनेक मामले हुए हैं जिनमें न्यायालयों में बंदी प्रत्यक्षीकरण की कार्यवाही में निवारक निरोध के आदेशों को बातिल ठहराया गया है ।

दूसरे, संविधान के ये उपबंध स्वयमेव लागू नहीं होते । इसके लिए विधान मंडल द्वारा विधि बनाई जानी चाहिए । यह विधि अनुच्छेद में अधिकथित शर्तों के अनुरूप होनी चाहिए । निवारक निरोध तभी तक विद्यमान रहेगा जब तक विधान मंडल अनुज्ञा दे । भारतीय संसद् ने निवारक निरोध अधिनियम, 1950 पारित किया था जो भारत में निवारक निरोध की विधि गठित करता था । यह एक अस्थायी अधिनियम था जो प्रारंभ में केवल एक वर्ष के लिए ही था । तब से इस अधिनियम की अवधि अनेक बार बढ़ाई गई । यह 1969 के साथ ही समाप्त हो गया । जब पुनः अराजकतावादी तत्वों

ने जोर पकड़ा तो आंतरिक सुरक्षा अधिनियम नाम से एक नया अधिनियम 1971 में बनाया गया । इसके उपबंध मोटे तौर पर निवारक निरोध अधिनियम, 1950 के समान ही थे । 1974 में संसद् ने विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974 पारित किया । यह 1971 के अधिनियम का आर्थिक अपराधों के लिए अनुपूरक था । आंतरिक सुरक्षा अधिनियम, विध्वंसात्मक कार्यों के विरुद्ध था । 1974 के अधिनियम का उद्देश्य तस्करी, विदेशी मुद्रा में छल आदि असामाजिक कार्य रोकना था । 1978 में आंतरिक सुरक्षा अधिनियम निरसित कर दिया गया किंतु 1974 का अधिनियम विद्यमान है । राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980[80] और चोरबाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 बनाकर केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों को यह शक्ति सौंपी गई कि वे देश की रक्षा और सुरक्षा के लिए रक्षोपाय करें और लोक व्यवस्था तथा आवश्यक प्रदाय और सेवाएं बनाए रखें ।

यह उल्लेखनीय है कि 1975-76 के आपात में निरुद्ध व्यक्तियों की संख्या 1,75,000 तक पहुंच गई थी । जनता पार्टी ने सत्ता में आने के पूर्व यह वचन दिया था कि वह बिना विचारण के निरोध को समाप्त कर देगी । इन निमित्त कार्य करने में लगभग एक वर्ष लग गया क्योंकि सत्ता में आने के पश्चात् जनता सरकार को समस्या की वास्तविकता अनुभव हुई । अंत में अप्रैल, 1978 में संसद् ने आंतरिक सुरक्षा अधिनियम निरसित कर दिया । किंतु सरकार ने विदेशी मुद्रा संरक्षण आदि से संबंधित निरोध अधिनियम का निरसन करने से इंकार कर दिया क्योंकि वह सामाजिक अपराधों के विरुद्ध था । जब मुद्रास्फीति, चोरबाजारी, तस्करी आदि अपराध बढ़े हुए हों तो उनको रोकने के लिए अतिरिक्त शक्ति चाहिए ।

अनुच्छेद 22 के खंड (2) से (7) के उपबंधों का लोप नहीं हो सकता था क्योंकि निवारक निरोध, विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम द्वारा प्राधिकृत किया गया था । इसलिए जनता सरकार ने संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 अधिनियमित करके निवारक निरोध की प्रक्रिया की कठोरता को कम करने के लिए खंड (4) से (7) तक के खंडों में कुछ परिवर्तन करने चाहे । इस संशोधन अधिनियम के सुसगंत उपबंध तुरंत प्रवृत्त नहीं किए जा सकते थे क्योंकि सलाहकार बोर्डों में कुछ परिवर्तन किया जाना था अतएव 1978 के संशोधन अधिनियम ने केन्द्रीय सरकार को यह शक्ति दी कि वह अधिसूचना निकालकर इन उपबंधों को प्रवृत्त कर सकेगी । किन्तु यह विडंबना रही कि अधिसूचना निकाले जाने के पूर्व ही जनता सरकार गिर गई और जनवरी, 1980 में श्रीमती इंदिरा गांधी सत्ता में लौट आईं । उनके दूसरे कार्यकाल में सरकार ने अधिसूचना निकालने से इंकार कर दिया । सूचना निकालने में अत्यधिक विलंब की उच्चतम न्यायालय ने आलोचना भी की किंतु फिर भी कुछ नहीं किया गया ।[80] परिणामस्वरूप अनुच्छेद 22 में निवारक निरोध से संबंधित मूल खंड आज भी विद्यमान हैं और संसद् द्वारा श्रद्धापूर्वक पारित 1978 के संशोधन अधिनियम के सुसंगत उपबंध कागज की परत में दबे हुए हैं ।

वास्तविक प्रतिगामी लक्षण तो यह है कि जनता के 1977 में सत्ता में आने के बाद भी जम्मू-कश्मीर और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों ने निवारक निरोध[81] को प्राधिकृत करते हुए ऐसे राज्य अधिनियम बनाए जो निवारक निरोध अधिनियम, 1950 की याद ताजा करते हैं । इस संदर्भ में यह बताना उचित होगा कि संविधान ने निवारक निरोध की विधि अधिनियमित करने की विधायी शक्ति संघ और राज्य के बीच विभाजित की है । संघ को अनन्य शक्ति तभी है जब ऐसी विधि की आवश्यकता रक्षा, विदेश कार्य और भारत की सुरक्षा के लिए हो [सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 9] । राज्य को संघ की समवर्तिता में राज्य की सुरक्षा, लोक व्यवस्था बनाए रखने या समुदाय के लिए

आवश्यक प्रदाय और सेवाएं बनाए रखने के लिए निवारक निरोध का उपबंध करने की शक्ति है [सूची 3 की प्रविष्टि 3] । इन आधारों पर निवारक निरोध का उत्सादन करने के विषय में राज्यों के विचार भी सुने जाने चाहिए क्योंकि लोक व्यवस्था बनाए रखना [सूची 2 की प्रविष्टि 1], माल का उत्पादन, प्रदाय और वितरण राज्यों का उत्तरदायित्व है [सूची 2 की प्रविष्टि 27] ।

जब तक पूर्वोक्त आधारों पर निवारक निरोध के लिए विधान बनाने की समवर्ती शक्ति राज्यों में रहेगी और उन राज्यों में से कोई निवारक निरोध के लिए राज्य विधि बनाने की आवश्यकता अनुभव करते हैं तथा ऐसे राज्य नई दिल्ली में सत्तारूढ़ दल के नियंत्रण में नहीं हैं तब तक संघ सरकार, ऐसे राज्यों पर अपनी इच्छा नहीं लाद सकेगी । तब तक संविधान का अनुच्छेद 22 स्वतंत्रता के लिए लाभदायक सिद्ध होगा, हानिकारक नहीं क्योंकि राज्य विधियों की विधिमान्यता पर अनुच्छेद 22 में अधिकथित रक्षोपायों के उल्लंघन के आधार पर आक्षेप किया जा सकता है ।[75]

इन परिस्थितियों में अनुच्छेद 22 संविधान में एक अनिवार्य दुर्गुण के रूप में वर्तमान है ।

अनुच्छेद 23 : शोषण के विरुद्ध अधिकार ।

हमारे संविधान में, दैहिक स्वतंत्रता की प्रत्याभूति और विभेद के विरुद्ध प्रतिषेध के अनुषंग के रूप में समाज के दुर्बल वर्गों के दुराचारी व्यक्तियों द्वारा या राज्य द्वारा शोषण रोकने के लिए कुछ उपबंध हैं ।

अनुच्छेद 23 इस प्रकार है :

मानव के दुर्व्यापार और बलात् श्रम का प्रतिषेध ।

"(1) मानव का दुर्व्यापार और बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य बलात्श्रम प्रतिषिद्ध किया जाता है और इस उपबंध का कोई भी उल्लंघन अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा ।

(2) इस अनुच्छेद की कोई बात, राज्य को सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए अनिवार्य सेवा अधिरोपित करने से निवारित नहीं करेगी । ऐसी सेवा अधिरोपित करने में राज्य केवल धर्म, मूलवंश, जाति या वर्ग या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा ।"

प्राचीनकाल की दास प्रथा आजकल राज्यों की समस्या नहीं है किंतु उसका नया रूप जिसे भारत के संविधान में "शोषण" शीर्ष के अधीन रखा गया है मानवीय स्वतंत्रता और सभ्यता के लिए चुनौती है । इस दृष्टि से हमारे संविधान ने "दासता" शब्द का प्रयोग करने के स्थान पर "मानव का दुर्व्यापार", इस व्यापक अभिव्यक्ति का प्रयोग किया है । इस अभिव्यक्ति में दासता का प्रतिषेध तो है ही, स्त्रियों और बालकों के या अपंग व्यक्तियों के अनैतिक या अन्य प्रयोजनों के लिए दुर्व्यापार का भी प्रतिषेध है ।[82] हमारा संविधान बेगार के समान सभी बलात्श्रम को प्रतिषिद्ध करता है । बेगार एक देशीय पद्धति थी जिसमें भूस्वामी कभी-कभी अपने अभिधारियों को मुफ्त में सेवा करने के लिए बाध्य करता था ।[82-83] इस खंड द्वारा किसी व्यक्ति को निःशुल्क सेवा करने के लिए विवश करने का प्रतिषेध किया गया है जहां वह विधि के अनुसार काम नहीं करने का या काम के लिए पारिश्रमिक पाने का हकदार है । यह खंड अपराध के दंडस्वरूप बलात्श्रम का प्रतिषेध नहीं करता । यह राज्य को लोक प्रयोजन के लिए अनिवार्य भर्ती या सेवा, चाहे सेना के लिए हो या समाज के लिए, प्राप्त करने से नहीं रोकता ।

अनुच्छेद 24 में बालकों की सुरक्षा के लिए विशेष उपबंध किया गया है ।

अनुच्छेद 24: कारखानों आदि में बालकों के नियोजन का प्रतिषेध ।

"चौदह वर्ष से कम आयु के किसी बालक को किसी कारखाने या खान में काम करने के लिए नियोजित नहीं किया जाएगा या किसी अन्य परिसंकटमय नियोजन में नहीं लगाया जाएगा ।"

यह ध्यान देने योग्य है कि इस अनुच्छेद द्वारा अधिरोपित प्रतिषेध आत्यंतिक है। किसी बालक को किसी कारखाने या खान में नियोजन को या किसी अन्य "परिसंकटमय नियोजन" के प्रतिषेध का कोई अपवाद नहीं है। उदाहरणार्थ, रेल या पत्तन में भी नियोजन नहीं हो सकता।

अनुच्छेद 25-28 : अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता।

संविधान के अधीन भारत पंथनिरपेक्ष राज्य है अर्थात् ऐसा राज्य जो सभी धर्मों के प्रति तटस्थता और निष्पक्षता का भाव रखता है। पंथ निरपेक्ष राज्य इस विचार पर आधारित होता है कि राज्य का विषय केवल व्यक्ति और व्यक्ति के बीच संबंध से है व्यक्ति और ईश्वर के बीच संबंध से नहीं। यह संबंध व्यक्ति के अंतःकरण का विषय है। संविधान के कई उपबंधों द्वारा सभी धर्मों के प्रति निष्पक्षता का दृष्टिकोण सुनिश्चित किया गया है [अनुच्छेद 25-28] :

प्रथम, भारत में कोई "राज्य-धर्म" नहीं होगा। राज्य न तो अपने कोई धर्म की स्थापना करेगा और न ही किसी विशिष्ट धर्म को विशेष सहायता देगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि —

(क) राज्य किसी नागरिक को किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक संस्था की अभिवृद्धि या पोषण के लिए करों का संदाय करने के लिए बाध्य नहीं करेगा [अनुच्छेद 27]।

(ख) पूर्णतः राज्य से वित्तपोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी।

(ग) राज्य से मान्यताप्राप्त या राज्य निधि से सहायता पाने वाली शिक्षा संस्था में उपस्थित होने वाले व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए उसकी या (यदि विद्यार्थी अवयस्क है तो) उसके संरक्षक की सहमति के बिना बाध्य नहीं किया जाएगा। संक्षेप में राज्य के स्वामित्व की शिक्षा संस्था में धार्मिक शिक्षा पूर्णतः प्रतिषिद्ध है। अन्य सांप्रदायिक संस्थाओं में यह पूर्णतः प्रतिषिद्ध नहीं है किंतु इसे अन्य धर्मावलंबियों पर उनकी सहमति के बिना अधिरोपित नहीं किया जा सकता [अनुच्छेद 28]।

दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति को अंतःकरण की स्वतंत्रता और अपने धर्म को मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतंत्रता प्रत्याभूत की गई है। यह —

(क) लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के हित में राज्य द्वारा अधिरोपित निर्बन्धनों के अधीन है (जिसमें धर्म की स्वतंत्रता का दुरुपयोग, अपराध या असामाजिक कार्यों के लिए, उदाहरणार्थ : बालवध आदि प्रथाओं के लिए न किया जा सके),

(ख) राज्य द्वारा बनाए गए ऐसे विनियमों या निर्बन्धनों के अधीन है जो किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप से संबद्ध हैं। जो धार्मिक प्रथाओं के अधीन तो हैं किंतु अंतःकरण की स्वतंत्रता में नहीं आते हैं,

(ग) सामाजिक सुधार के या सार्वजनिक प्रकार की हिंदुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिंदुओं के सभी वर्गों के लिए खोलने के लिए अध्युपायों के अधीन है।

उपर्युक्त परिसीमाओं के अधीन रहते हुए भारत में प्रत्येक व्यक्ति को न केवल धार्मिक विश्वास का, बल्कि ऐसे विश्वास से जुड़े हुए आचरण करने का और अपने विचारों का दूसरों को उपदेश करने का अधिकार है [अनुच्छेद 25]।

तीसरे, प्रत्येक व्यक्ति को धर्म के मानने, आचरण करने और प्रचार करने का अधिकार तो है ही प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय या उसके विभाग को —

(क) धार्मिक या पूर्त प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना या पोषण का,

(ख) अपने धर्म विषयक कार्यों का प्रबंध करने का,

(ग) जंगम और स्थावर संपत्ति के अर्जन और स्वामित्व का, और

(घ) ऐसी संपत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार है [अनुच्छेद 26] ।

जो लोग यह जानते हैं कि भारत में सामान्य व्यक्ति के जीवन में धर्म की कितनी महत्व की भूमिका है उनके लिए इन अनुच्छेदों में की गई साहसिक घोषणाएं अत्यंत प्रगतिशील हैं । विशेष रूप से जब हम यह देखते हैं कि इस विभाजित राज्यक्षेत्र के आधे भूभाग में जिसमें बड़ी संख्या में हिंदू अल्पमत में हैं, संविधान के अनुसार इस्लाम को राज्य-धर्म अंगीकार किया गया है । फिर भी भारत अपने परिवेश से प्रभावित हुए बिना अपने विचार पर दृढ़ है । यह ध्यान देने योग्य है कि यह प्रत्याभूति भारत के नागरिकों के लिए ही नहीं, सभी व्यक्तियों के लिए है, जिसमें अन्यदेशीय भी हैं ।[84]

अनुच्छेद 25-26 द्वारा प्रत्याभूत धार्मिक स्वतंत्रता की प्रत्याभूति को न्यायिक निर्वचन द्वारा और विस्तृत कर दिया गया है । न्यायालय ने यह कहा है कि अनुच्छेद 25-26 में व्यक्ति को श्रद्धा और विश्वास को मानने और प्रचार करने का अधिकार तो है ही साथ ही वह सब कर्मकांड या प्रथाएं मानने का अधिकार भी है जो उस संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा धर्म का अंग समझी जाती हैं ।[84] धर्म तो विश्वास का विषय है । यह आवश्यक नहीं कि वह ईश्वरवादी हो । भारत में सुप्रसिद्ध बौद्ध और जैन धर्म निरीश्वरवादी हैं । प्रत्येक धर्म की कुछ आस्थाएं और सिद्धांत होते हैं जिन्हें उस धर्म के अनुयायी आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए सहायक मानते हैं । किंतु यह कहना उचित नहीं है कि, विश्वास मात्र ही धर्म है ।[84] इसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय या संगठन को यह विनिश्चित करने की पूरी छूट है कि कौन से कर्मकांड और उत्सव, उनके धर्म के सिद्धांतों के अनुसार आवश्यक हैं ।[85] राज्य के विनियम उन विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते जो सारवान् रूप से धार्मिक हैं ।[86] न्यायालय को यह निर्णय करने का अधिकार है कि कोई विशिष्ट कर्मकांड या पूजा पद्धति उस धर्म की मान्यताओं के अनुसार आवश्यक है या नहीं[87] और यदि कोई विशिष्ट पद्धति लोक स्वास्थ्य या सदाचार के विरुद्ध है[86] या धार्मिक पद्धति का सारवान् अंग नहीं है और किसी सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक विनियमन करने वाली विधि का उल्लंघन करती है तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकेगा ।[86]

प्रचार और संपरिवर्तन ।

यह आश्चर्यजनक है कि कुछ ईसाई नेता यह कहते हैं कि अनुच्छेद 25(1) में "प्रचार" शब्द से उन्हें अन्य धर्म के लोगों को *किसी भी साधन* का प्रयोग करके ईसाई धर्म में संपरिवर्तित करने का अधिकार है । यह कथन और इसके साथ का आंदोलन इसलिए भी विस्मयकारी है कि यह जनवरी, 1977 में *स्टेनिस्लास* के मामले में उच्चतर न्यायालय के निर्णय के विपरीत है । उस मामले में एक ईसाई पादरी ने मध्य प्रदेश के एक अधिनियम को इस आधार पर अविधिमान्य कराने का प्रयत्न किया था कि वह अधिनियम किसी व्यक्ति को "बल, कपट या लोभ" से संपरिवर्तित करने या ऐसा करने के प्रयत्न को दांडिक अपराध बनाता था । उड़ीसा ने इसी प्रकार का अधिनियम पहले ही पारित कर दिया था (इसमें लोभ के स्थान पर फुसलाना का प्रयोग था) । उसकी सांविधानिकता को ईसाई मतावलंबियों द्वारा, जिसमें एक ईसाई सोसाइटी और भूविज्ञान का आचार्य भी थे, चुनौती दी गई थी । उच्चतम न्यायालय ने दोनों अधिनियमों पर एक साथ विचार किया[88] और ईसाई मतावलंबियों के तर्कों को पूरी तरह से अमान्य ठहरा दिया । उच्चतम न्यायालय ने इस निर्णय में कुछ सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं जो संविधान के अधीन भारत के सभी न्यायालयों पर आबद्धकर है :

(i) अनुच्छेद 25(1) में "प्रचार" का अधिकार प्रत्येक धर्म के हर सदस्य को अपने

धर्म के सिद्धांतों का प्रसार करने या फैलाने का अधिकार देता है (पक्षपोषण या उपदेश द्वारा) । किंतु इसमें दूसरे को संपरिवर्तित करने का अधिकार नहीं है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को उसी उपबंध [अनुच्छेद 25(1)] द्वारा प्रत्याभूत अंतःकरण की स्वतंत्रता है जिसका अवलंब ईसाईयों ने लिया है ।

(ii) अनुच्छेद 25(1) के अधीन प्रत्येक मनुष्य की अंतःकरण की समान स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि वह अपनी इच्छानुसार कोई भी धर्म चुन सकता है और उसमें आस्था रख सकता है और उसे बल, कपट, लोभ से या फुसलाकर किसी अन्य धर्म में संपरिवर्तित नहीं किया जा सकता । वह स्वेच्छा से कोई अन्य धर्म स्वीकार कर सकता है किंतु बल, कपट, लोभ या फुसलाने से स्वेच्छा समाप्त हो जाती है ।

(iii) यह उपधारणा भी कर लें कि किसी विशिष्ट धर्म को हरेक साधन द्वारा, जिसमें संपरिवर्तन भी सम्मिलित है, अपने सिद्धांतों का प्रचार करने का अधिकार है तो भी राज्य का यह अधिकार और कर्तव्य है कि यदि संपरिवर्तन का क्रियाकलाप लोक व्यवस्था, सदाचार या स्वास्थ्य के विरुद्ध है तो वह हस्तक्षेप करे क्योंकि अनुच्छेद 25(1) में धर्म की स्वतंत्रता "लोक व्यवस्था, सदाचार या स्वास्थ्य" के अधीन है ।

"25(1) — लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा ।"

(iv) यदि यह संपरिवर्तन करने का अधिकार मान भी लिया जाए तो यह अधिकार प्रत्येक धर्म को प्राप्त होगा । यदि प्रत्येक धार्मिक समुदाय अन्य धर्मावलंबियों को संपरिवर्तित करने का अभियान बल, कपट, लोभ या फुसलाने का प्रयोग करके चलाए तो लोक शांति का भंग अवश्यंभावी है । अतएव राज्य को संविधान में यह प्राधिकार दिया गया है या यह कहना ठीक होगा कि कर्तव्य सौंपा गया है कि यदि कोई व्यक्ति बल, कपट, लोभ या फुसलाने के द्वारा संपरिवर्तित करता है तो संपरिवर्तन का (जिसमें संपरिवर्तन का प्रयास भी सम्मिलित है) प्रतिषेध करके या उसे दंडित करके लोक व्यवस्था बनाए रखे । मध्य प्रदेश और उड़ीसा के अधिनियमों में यही किया गया है ।

अतएव उच्चतम न्यायालय ने ईसाई पक्षकारों की ओर से उठाए गए प्रत्येक अभिवाक् को अस्वीकार करते हुए मध्य प्रदेश और उड़ीसा के अधिनियमों की सांविधानिक वैधता की पुष्टि की ।[88] उच्चतम न्यायालय के निर्णय के पश्चात् अरुणाचल प्रदेश विधान मंडल ने एक विधेयक पारित किया जो मध्य प्रदेश और उड़ीसा के अधिनियमों के नमूने पर बनाया गया था । इसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए प्रस्तुत किया गया । संसद् के एक प्राइवेट सदस्य (श्री त्यागी) ने इस प्रकार का एक विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया । यदि यह विधेयक पारित हो जाता तो भारत के सभी राज्यों को लागू होता । ईसाइयों ने इन दो विधेयकों के विरुद्ध तुरंत आंदोलन और प्रदर्शन प्रारंभ कर दिए और यह धमकी दी कि यदि वे पारित कर दिए जाएंगे तो इनका कठोर विरोध किया जाएगा । उन्होंने इस मामले को राजनैतिक रंग देते हुए यह नारा लगाया कि यह विशेष रूप से ईसाई धर्म के विरुद्ध अभियान है ।[89] यह तर्क निम्नलिखित बातों में सत्य को छिपाता है :

(i) विवादित विधेयकों में से कोई भी ईसाई धर्म के विरुद्ध नहीं है । यह उसी धार्मिक समुदाय (हिंदू, मुस्लिम, सिख आदि) के विरुद्ध है जो किसी अन्य धर्म के व्यक्ति को अपने धर्म में संपरिवर्तित करने के लिए किसी अवैध साधन का — बल, कपट, लोभ या फुसलाने का — अवलंब लेते हैं ।

(ii) इन दो लंबित विधेयकों के विरुद्ध जो विधिक मुद्दे उठाए गए हैं वे सभी ईसाई

पक्षकारों ने मध्य प्रदेश और उड़ीसा के अधिनियमों के मामले में उठाए थे और उन्हें उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया था ।

(iii) जो संपरिवर्तित करने की अपनी स्वतंत्रता के पक्ष में अंतरराष्ट्रीय चार्टरों का सहारा लेते हैं वे सिविल और राजनीतिक अधिकारों के अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा, 1966 के अनुच्छेद 18(2) का उल्लेख नहीं करते जिसमें यह कहा गया है —

अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा ।

"किसी व्यक्ति को इस प्रकार प्रपीड़ित नहीं किया जाएगा जिससे उसकी अपनी रुचि का धर्म या विश्वास मानने या अपनाने की स्वतंत्रता कम होती हो ।"

अनुच्छेद 18(1) में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार धर्म अंगीकार करने की स्वतंत्रता है । दोनों खंडों को एक साथ पढ़ने से यह अर्थ निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म या उपासना में विश्वास चुनने का अधिकार है और किसी व्यक्ति द्वारा उसे प्रपीड़न द्वारा कोई अन्य धर्म अपनाने के लिए उत्प्रेरित करके उसकी स्वतंत्रता कम नहीं की जाएगी । जहां दोनों विधेयक संपरिवर्तन के लिए बल प्रयोग को वर्जित करते हैं वहां वे अंतरराष्ट्रीय चार्टर के अनुरूप हैं । जब कपट का प्रयोग किया जाता है तब भी विकल्प की स्वतंत्रता को इसी प्रकार क्षति पहुंचती है । भारतीय ईसाई बस "लोभ या फुसलाने" के उपयोग की बात उठा सकते हैं । किंतु इन साधनों से भी व्यक्ति की विकल्प की स्वतंत्रता कम हो जाती है और उसका विकल्प पूर्वोक्त अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा के अनुच्छेद 18(1) के अर्थ में स्वतंत्र नहीं रह जाता । किसी भारतीय विधेयक में इन दो शब्दों के प्रयोग की विधिमान्यता, अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा के, जो अनेक अंतरराष्ट्रीय गुणकों का परिणाम है, शब्दों पर आधारित नहीं हो सकती । इसकी विधिमान्यता की हमारे संविधान के, जो इस देश की सर्वोच्च विधि है, अनुच्छेद 25(1) में प्रयुक्त शब्द "लोक व्यवस्था और सदाचार" के निर्वचन से परीक्षा की जाएगी ।

(iv) यदि आंदोलनकर्ता उच्चतम न्यायालय द्वारा किए गए अनुच्छेद 25(1) के निर्वचन से असंतुष्ट थे तो वे इन विधेयकों के पारित हो जाने के पश्चात् उनके उपबंधों की विधिमान्यता को चुनौती देकर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को इस बात के लिए प्रेरित कर सकते थे कि वे "स्टेनिस्लास"[88] में दिए गए अपने निर्णय का पुनरीक्षण करें । इस बात का कोई औचित्य नहीं है कि इन विधेयकों को ईसाईयों के विरुद्ध धर्मयुद्ध मान लिया जाए । ये देश के सर्वोच्च अधिकरण द्वारा अधिकथित सिद्धांतों के अनुसार और उन राज्य अधिनियमों के आदर्श के अनुसार बनाए गए थे जिनका स्टेनिस्लास[88] के मामले में उस अधिकरण ने अनुमोदन किया था ।

अंतःकरण और धर्म की स्वतंत्रता की पूर्वोक्त प्रत्याभूति के अतिरिक्त कुछ अन्य उपबंध हैं जो केवल धर्म के आधार पर राज्य द्वारा विभेद का प्रतिषेध करके यह सुनिश्चित करते हैं कि उक्त प्रत्याभूति प्रभावी हो :

(i) राज्य किसी नागरिक से किसी भी प्रकार से विभेद नहीं करेगा [अनुच्छेद 15(1)] और विशेषकर नियोजन के विषय में धर्म के आधार पर [अनुच्छेद 16(2)] ।

(ii) सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश या उनके उपयोग में भी विभेद वर्जित है [अनुच्छेद 15(2)], राज्य द्वारा पोषित या सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश में भी विभेद नहीं किया जा सकता ।

(iii) जहां कोई धार्मिक संप्रदाय अल्पसंख्यक है वहां संविधान उसे अपनी संस्कृति और धर्म बनाए रखने के लिए आगे बढ़कर यह उपबंध करता है कि —

(क) राज्य उस पर उस संप्रदाय की अपनी संस्कृति से भिन्न कोई संस्कृति अधिरोपित नहीं करेगा [अनुच्छेद 29(1)] ।

अनुच्छेद 29 ।

(ख) ऐसे समुदाय को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा और राज्य ऐसी शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में अल्पसंख्यक वर्ग की शिक्षा संस्थाओं के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह किसी धार्मिक संप्रदाय के प्रबंध में है [अनुच्छेद 30] । यदि राज्य किसी अल्पसंख्यक वर्ग की शिक्षा संस्था की संपत्ति अर्जित करना चाहता है तो उसे पूर्ण प्रतिकर देना होगा [अनुच्छेद 30(1क)] ।

अनुच्छेद 30 ।

उपर्युक्त उपबंधों से हमारा राज्य तो अमेरिका से भी अधिक पंथ निरपेक्ष है । संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा उद्देशिका में "पंथ निरपेक्ष" शब्द अंतःस्थापित करके इसे और भी महत्व दिया गया है ।[90] इस संदर्भ में एक चेतावनी देना उचित होगा । पंथनिरपेक्षता या अल्पसंख्यकों के रक्षोपाय का क्या अर्थ है यह अनुच्छेद 25–30 और संबद्ध उपबंधों में पूरी तरह से बता दिया गया है (अल्पसंख्यकों के अधिकारों के बारे में देखिए आगे अध्याय 29) । यदि कोई अल्पसंख्यक वर्ग पंथनिरपेक्षता के नाम पर कोई और लाभ चाहते हैं जो इन उपबंधों में नहीं है या सत्तारूढ़ दल राजनैतिक कारणों से उनकी बात मान लेता है तो यह सांप्रदायिकता के कलुष को पुनः प्रवेश देना होगा, जिस कलुष के कारण ब्रिटिश राज्य में भारत को इतना कष्ट उठाना पड़ा और जिसे संविधान निर्माताओं ने स्वतंत्र भारत के संविधान से मिटा दिया । जैसे; विधान मंडलों में सांप्रदायिक आरक्षण ।[91] उदाहरण के लिए यदि सरकार किसी लोक पद की, चाहे उच्च पद हो या अन्यथा, नियुक्ति का औचित्य गुणागुण के आधार पर न देकर इस आधार पर बताती है कि नियुक्त व्यक्ति धार्मिक अल्पसंख्यक है तो यह अनुच्छेद 16(2) के अधीन अन्य समुदायों के मूल अधिकारों का उल्लंघन होगा क्योंकि सभी समुदायों को यह अधिकार है कि "धर्म" या इसी प्रकार के किसी अन्य आधार पर उनके साथ विभेद न किया जाए । ऐसा करने पर अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा नहीं होगी । इससे तो संविधान द्वारा प्रत्याभूत बहुसंख्यकों और अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के अधिकार छिन जाएंगे । पंथनिरपेक्षता या अल्पसंख्यकों के अधिकार के नाम पर अल्पसंख्यकों को अधिमान नहीं दिया जा सकता या राष्ट्र की एकता और बल को कम नहीं किया जा सकता । राष्ट्र के लिए बहुसंख्यकों का विश्वास भी उतना ही आवश्यक है । किंतु अल्पसंख्यक शिक्षा संस्था को अपने समुदाय के विद्यार्थियों के लिए 50% तक स्थान आरक्षित करने की शक्ति है ।[92]

हमारे संविधान की उद्देशिका राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने का ध्येय सन्मुख रखती है । संविधान ने अल्पसंख्यकों को धार्मिक और सांस्कृतिक रक्षोपाय प्रदान किए हैं जिससे उन्हें "न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता" सुनिश्चित हो । किंतु यदि कोई अल्पसंख्यक वर्ग उससे भी अधिक पाने की मांग करता रहता है जो संविधान निर्माताओं ने दिया है तो इससे उनकी अलगाववादी प्रवृत्तियां बढ़ती जाएंगी और भारत कभी भी एक ऐसा राष्ट्र नहीं बन पाएगा जिसका आदर्श "राष्ट्र की एकता और अखंडता" है । यदि हम स्वतंत्रतापूर्व की सांप्रदायिक और पृथक्तावादी स्थिति में लौट जाते हैं तो इससे हमारी स्वतंत्रता का आधार ही संकटापन्न हो जाएगा । यदि सरकार आक्रामक अल्पसंख्यकों की मांगों की तुष्टि करने के लिए बहुसंख्यकों के धार्मिक और अन्य विधिक अधिकारों को दबाती है तो पंथनिरपेक्षता का, जिसका अर्थ है सभी धर्मों के प्रति राज्य की तटस्थता, उल्लंघन होगा ।

संविधान के अधीन संपत्ति के अधिकार का इतिहास ।

1949 के संविधान में प्राइवेट संपत्ति की रक्षा के लिए तीन प्रकार के उपबंध किए गए थे । उसमें प्राइवेट स्वामित्व का अधिकार था । इसके अतिरिक्त संपत्ति के उपभोग और व्ययन का अधिकार था जिस पर युक्तियुक्त निर्बन्धनों से भिन्न कोई निर्बन्धन नहीं लगाए जा सकते थे ।

I. 1949 का संविधान ।

प्रथम, प्रत्येक नागरिक को विरासत, व्यक्तिगत उपार्जन द्वारा या अन्यथा इसी प्रकार के साधनों से संपत्ति के अर्जन का, उसे धारण करने का और व्ययन का अधिकार प्रत्याभूत किया गया था । इस पर कुछ मर्यादाएं थीं, —

(क) लोक कल्याण के निमित्त युक्तियुक्त निर्बन्धन, (ख) कोई अन्य युक्तियुक्त निर्बन्धन जो अनुसूचित जनजातियों के हित के संरक्षण के लिए राज्य अधिरोपित करे [अनुच्छेद 19(1)(च)] ।

ये निर्बन्धन अधिष्ठायी और प्रक्रिया, दोनों ही दृष्टि से "युक्तियुक्त" होने चाहिए । दृष्टांत के लिए, —

(क) निर्बन्धन, साधारण जनता के हित के लिए जितना अपेक्षित हो उससे अधिक नहीं होना चाहिए ।[93]

(ख) यदि कोई निर्बन्धन बिना सूचना के या बिना सुनवाई के लगाया जाता है और असाधारण परिस्थितियां विद्यमान नही हैं तो वह निर्बन्धन प्रक्रिया की दृष्टि से अयुक्तियुक्त होगा ।[94]

दूसरे, संविधान ने यह प्रत्याभूति दी थी कि किसी व्यक्ति को विधि के प्राधिकार के बिना संपत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा [अनुच्छेद 31(1)] । इसमें यह विवक्षा है कि स्वामी की सहमति के बिना, किसी व्यक्ति की संपत्ति राष्ट्र की सहमति से ही ली जा सकती है । राष्ट्र की सहमति संविधान के अनुसार पारित विधियों में समाविष्ट होती है । कोई संपत्ति जो पुलिस या सरकार द्वारा बिना विधिक प्राधिकार के अभिगृहीत की जाती है, न्यायालय के हस्तक्षेप पर विमुक्त कर दी जाएगी ।[95] कोई भी प्रभु अपनी ही प्रजा के विरुद्ध "राज्यकृत" का प्रयोग नहीं कर सकता । प्रजा की प्राइवेट संपत्ति कार्यपालिका के आदेश द्वारा नहीं ली जा सकती ।[96] यह कानून द्वारा प्रदत्त शक्ति के प्रयोग में निकाले गए आदेश से ही ली जा सकती है ।[96]

आशय यह था कि यह खंड कार्यपालिका द्वारा संपत्ति के अर्जन के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करेगा, विधायिका के विरुद्ध नहीं । उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि किसी व्यक्ति को संपत्ति से वंचित करने वाली विधि, विधिमान्य होनी चाहिए । अर्थात् वह सक्षम विधान मंडल द्वारा अधिनियमित होनी चाहिए और संविधान के भाग 3 में प्रत्याभूत मूल अधिकारों से असंगत नहीं होनी चाहिए ।[97]

तीसरे, संविधान में यह अधिकथित था कि यदि किसी व्यक्ति की प्राइवेट संपत्ति अर्जित करना या अधिग्रहण करना (अस्थायी अवधि के लिए उसका कब्जा लेना) चाहता है तो वह दो शर्तों पर ऐसा कर सकता है :

(क) अर्जन या अभिग्रहण लोक प्रयोजन के लिए है,

(ख) जब ऐसी विधि पारित की जाती है तो उसमें स्वामी को रकम के संदाय का उपबंध होना चाहिए — या तो रकम विनिर्दिष्ट करके या वे सिद्धांत विनिर्दिष्ट करके जिनके अनुसार रकम अवधारित की और दी जाएगी [अनुच्छेद 31(2)] ।

संविधान के पहले, चौथे, सत्रहवें, पच्चीसवें और बयालीसवें संशोधन अधिनियमों के परिणामस्वरूप, लोक प्रयोजनों के लिए संपत्ति के अर्जन के लिए प्रतिकर के संदाय की बाध्यता के बारे में संविधान के उपबंधों में, गंभीर परिवर्तन हुए ।[98] इन संशोधनों का परिणाम इस प्रकार है –

II. 1976 के 42वें अधिनियम तक के संशोधन ।

अ. विधान मंडल पर यह सांविधानिक बाध्यता थी कि वह प्रतिकर का संदाय करे किंतु प्रतिकर की पर्याप्तता को न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता था । दूसरे शब्दों में जब विधि में लोक प्रयोजन के लिए किसी व्यक्ति की संपत्ति के अर्जन का उपबंध किया जाता था तो वह न्यायालय में इस आधार पर उस विधि की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दे सकता था कि विधान मंडल ने उसकी संपत्ति के पूरे मूल्य के संदाय के लिए उपबंध नहीं किया था । अनुच्छेद 31(2) में यह (चौथा) संशोधन (1955) इस कारण आवश्यक हो गया कि उच्चतम न्यायालय ने[99] "प्रतिकर" शब्द का अर्थ "पूर्ण प्रतिकर" किया । अर्थात् अर्जन की तारीख को संपत्ति का बाजार मूल्य । सरकार की यह धारणा थी कि यदि राष्ट्रीयकरण की जाने वाली प्रत्येक इंच भूमि के लिए नवजात गणतंत्र के अपर्याप्त स्रोतों से पूरा बाजार मूल्य दिया गया तो राष्ट्रीय योजना और विकास के कार्यक्रमों को लागू करना संभव नहीं होगा । इस संशोधन के पश्चात् भी उच्चतम न्यायालय यही अभिनिर्धारित करता रहा कि "प्रतिकर" की यही विवक्षा है कि स्वामी से ली गई संपत्ति का धन के रूप में पूर्ण प्रतिफल दिया जाए, अर्थात् अर्जन की तारीख को उसका बाजार मूल्य दिया जाए ।[100]

1971 के पच्चीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 के खंड (2) में "प्रतिकर" के स्थान पर "रकम" शब्द रखा गया । फिर भी *केशवानंद* बनाम *केरल राज्य*[100] में उच्चतम न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ ने एक क्षेत्र को न्यायिक हस्तक्षेप के लिए आरक्षित कर दिया । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि विधान मंडल द्वारा तय किया गया प्रतिकर मनमाना या नाममात्र का नहीं हो सकता । वह ऐसे सिद्धांत के अनुसार अवधारित किया जाना चाहिए जो संपत्ति के अर्जन के लिए सुसंगत हो (इंदिरा सरकार ने 31क–31घ में अपवाद डालकर अर्जन की विनिर्दिष्ट विधियों को अनुच्छेद 31 की पहुंच के बाहर कर दिया ।[98] इस पर हम आगे विचार करेंगे) ।

25वां संशोधन ।

आ. अनुच्छेद 31क–31घ में, अनुच्छेद 31(2) के कुछ अपवाद डाले गए । इनके लिए अनेक संशोधन करने पड़े ।[98] इनका उद्देश्य यह था कि राज्य द्वारा अर्जन के लिए या राष्ट्रीयकरण के लिए उपबंध करने वाली विधियों की दशाओं में प्रतिकर के रूप में रकम देने की बाध्यता से बचा जाए, यदि ऐसी विधियां इन अपवादस्वरूप उपबंधों में विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में है । अनुच्छेद 31 के अधीन बाध्यताओं के अपवादों पर अब हम विशेष रूप से विचार करेंगे :

(क) अनुच्छेद 31क राज्य द्वारा किसी "संपदा" या भूमि में किसी अन्य मध्यवर्ती हित के अर्जन की विधि के संबंध में है । भूमि में मध्यवर्ती हितों के अर्जन को प्रतिकर के संदाय की बाध्यता से बाहर निकालने का उद्देश्य सरकार के द्वारा कृषि भूमि सुधार संभव बनाना था । यह सुधार अभिधारियों के हितों की सुरक्षा और देश की कृषि संपत्ति की संवृद्धि के लिए अत्यंत आवश्यक था ।

अनुच्छेद 31क में, कृषि भूमि सुधार को सुकर बनाने के लिए और उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण करने के लिए यह उपबंध किया गया है कि न केवल किसी संपदा के या उसमें किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन के लिए या किन्हीं ऐसे अधिकारों

के निर्वापन या उसमें परिवर्तन के लिए उपबंध करने वाली विधि बल्कि कुछ अन्य विधियां, जैसे किसी संपत्ति का प्रबंध लोकहित में या उस संपत्ति का उचित प्रबंध सुनिश्चित करने के उद्देश्य से परिसीमित अवधि के लिए राज्य द्वारा ले लिए जाने के लिए उपबंध करने वाली विधि सांविधानिक और विधिमान्य होगी चाहे वे समान संरक्षण से वंचित करें [अनुच्छेद 14] या संपत्ति के अधिकार पर अयुक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करें [अनुच्छेद 19(1)(च)] या प्रतिकर के लिए उपबंध न करें [अनुच्छेद 31(2)] ।

(ख) 31क तो विधियों के कुछ वर्गों को अपवाद में सम्मिलित करता है । अनुच्छेद 31ख, नवीं अनुसूची के साथ पढ़े जाने पर विशिष्ट अधिनियमितियों को सर्वव्यापी आच्छादन प्रदान करता है । 1990 के अंत में इनकी संख्या 257 है । उन्हें न केवल अनुच्छेद 31 बल्कि अन्य सभी मूल अधिकारों के उल्लंघन के आधार पर आक्रमण से पूर्ण सुरक्षा प्रदान की गई है ।

(ग) 25वें संशोधन अधिनियम, 1971 द्वारा अंतःस्थापित अनुच्छेद 31ग में यह उपबंधित किया गया कि अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में दिए गए निदेश को अर्थात् धन के उत्पादन के साधनों के सामाजिक वितरण की योजना लागू करने वाली विधि अनुच्छेद 14, 19 और 31 से असंगत होने के कारण शून्य नहीं होगी ।

किंतु अनुच्छेद 31ग के प्रभाव को उच्चतम न्यायालय के *केशवानंद*[101] के निर्णय ने पंगु बना दिया । उच्चतम न्यायालय ने यह घोषित कर दिया कि न्यायिक पुनर्विलोकन भारत के संविधान का सारवान् लक्षण है जिसे अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की प्रक्रिया से बाहर नहीं किया जा सकता । इसलिए अनुच्छेद 31ग का वह भाग, जिसमें यह कहा गया था कि उस विधायी घोषणा को न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता जिसमें यह घोषित किया गया हो कि वह विशिष्ट विधि अनुच्छेद 39(ख)-(ग) के निदेशों को क्रियान्वित करने के लिए बनाई गई है स्वयं ही असांविधानिक है ।

केशवानंद[101] से विचलित हुए बिना, संसद् ने 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 31ग के प्रविषय का विस्तार कर दिया । उसमें यह सम्मिलित कर दिया कि संरक्षण उन सभी विधियों को मिलेगा जो संविधान के भाग 4 में प्रगणित किसी भी निदेशक तत्व को क्रियान्वित करने के लिए हैं । केवल अनुच्छेद 39(ख)-(ग) के लिए नहीं । इसके परिणामस्वरूप किसी भी निदेश को प्रभावी करने के उद्देश्य से यदि कोई अर्जन की विधि बनाई जाती है, तो ऐसी विधि की युक्तियुक्तता को अनुच्छेद 14 या 19 के अधीन प्रश्नगत नहीं किया जा सकता । किंतु *मिनर्वा मिल्स*[102] के वाद में इस विस्तार को शून्य घोषित कर दिया गया ।

III. 42वां संशोधन अधिनियम, 1976 ।

(घ) इन अपवादों की कड़ी में अंतिम अपवाद था अनुच्छेद 31घ । यह भी 42वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया था । यह असामाजिक क्रियाकलाप और संगमों के लिए उद्दिष्ट था । 43वें संविधान (संशोधन) अधिनियम, 1977 द्वारा यह निरसित किया जा चुका है अतः पाठक को इससे उलझने की आवश्यकता नहीं है ।[98]

कांग्रेस सरकार 25 वर्षों तक संशोधनों द्वारा निरंतर अनुच्छेद 31(2) को कुतरती रही । किंतु जनता सरकार ने भाग 3 में मूल अधिकारों की सूची में से संपत्ति के अधिकार को पूर्णतया नष्ट कर दिया । यह 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा किया गया है जिस पर हम न्यायिक पुनर्विलोकन के संबंध में विचार कर चुके हैं । फिर भी उसके अनुषंगों पर दृष्टिपात करना उचित होगा जिससे यह निश्चित रूप से ज्ञात हो सके कि अप्रैल,

IV. 44वां संशोधन अधिनियम, 1978 ।

1979 के पश्चात् भारत के संविधान के अधीन संपत्ति के अधिकार का कितना भाग किस रूप में शेष है ।

(क) अनुच्छेद 19(1)(च) का निरसन कर दिया गया है ।

(ख) अनुच्छेद 31(1) को भाग 3 से निकाल दिया गया है और एक पृथक् अनुच्छेद, अनुच्छेद 300क, बना दिया गया है । यह इस प्रकार है :

"किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से विधि के प्राधिकार से ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं ।"

संक्षेप में, इसका परिणाम यह है कि यदि किसी व्यक्ति की संपत्ति किसी लोक अधिकारी द्वारा, बिना विधिक प्राधिकार के या विधि द्वारा इस निमित्त प्रदत्त शक्ति के आधिक्य में ली जाती है तो अनुच्छेद 32 के अधीन सीधे उच्चतम न्यायालय से शीघ्र उपचार नहीं मिल सकेगा (क्योंकि अनुच्छेद 300क के अधीन अधिकार मूल अधिकार नहीं है) । उसे अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में या साधारण वाद द्वारा उपचार की खोज करनी होगी ।

(ग) अनुच्छेद 31 के खंड (2क)-(6) का लोप कर दिया गया है ।

(घ) अनुच्छेद 31 के खंड (2) का लोप कर दिया गया है किंतु उसका परंतुक अनुच्छेद 30 में, उसके खंड (1क) के रूप में, अंतरित कर दिया गया है ।

(ङ) अनुच्छेद 31 का लोप कर दिया गया है किंतु अनुच्छेद 31क जो मूलतः अनुच्छेद 31 के अपवाद के रूप में अंतःस्थापित किया गया था, बनाए रखा गया है । उसमें से अनुच्छेद 31 के प्रति निर्देश का लोप कर दिया गया है । इसलिए अनुच्छेद 31क, अनुच्छेद 14 और 19 के अपवाद के रूप में कार्य करता है और अनुच्छेद 31क(1) में विनिर्दिष्ट 5 वर्गों की विधियों के लिए ढाल का काम करता है । यह विचित्र सा है कि अनुच्छेद 31क(1) का दूसरा परन्तुक विद्यमान है जो वास्तविक कृषक को पूरा प्रतिकर पाने का अधिकार देता है यद्यपि अनुच्छेद 31 का लोप कर दिया गया है और अनुच्छेद 31क के खंड (1) से, जिसका कि दूसरा परन्तुक अपवाद है, अनुच्छेद 31 के प्रति निर्देश भी निकाल दिया गया है ।

इस थिगड़ेबाजी से साधारण पाठक को भ्रम होना स्वाभाविक है । इसलिए यह दर्शाना ठीक होगा कि 44वें संशोधन के आक्रमण के पश्चात् प्रतिकर का अधिकार कितना शेष है ।

संपत्ति के अधिकार का अवशेष और उस पर टिप्पणी ।

अब अधिकांश नागरिकों को उनकी संपत्ति के अर्जन या अधिग्रहण पर अपनी संपत्ति के लिए प्रतिकर पाने का प्रत्याभूत अधिकार नहीं होगा । विधान मंडल की यह सांविधानिक बाध्यता नहीं होगी कि वह जिस व्यक्ति की संपत्ति ली गई है उसे तोषण धन के संदाय का उपबंध करे । इस साधारण प्रस्थापना के दो अपवाद हैं जो 44वें संशोधन द्वारा अर्जन के दो मामलों में अनुज्ञात किए गए हैं ।

(क) यदि अर्जित संपत्ति ऐसी शिक्षा संस्था की है जो अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा स्थापित है तो अनिवार्य अर्जन के लिए उपबंध करने वाली विधि ऐसी संपत्ति के अर्जन के लिए ऐसे प्रतिकर का उपबंध करेगी जिससे अनुच्छेद 30(1) के अधीन शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने के अल्पसंख्यकों के अधिकार का निराकरण हो । शब्दाडंबर को हटा दें तो इसका अर्थ हुआ कि यदि राज्य अल्पसंख्यकों की किसी संस्था का अर्जन करना चाहता है तो उस पूर्ण बाजार मूल्य या पर्याप्त प्रतिकर देना होगा जिससे वह अल्पसंख्यक वर्ग उपयुक्त आनुकल्पिक स्थान पर वह संस्था स्थापित कर सके ।

(ख) यदि राज्य ऐसी भूमि का अर्जन करना चाहता है जो किसी व्यक्ति की अपनी काश्त में है और ऐसी भूमि कानूनी सीमा के भीतर है तो राज्य ऐसे स्वामी को भूमि का और उस पर निर्मित या उसमें अनुलग्न किसी भवन या संरचना का पूरा बाजार मूल्य देगा । ये दोनों अपवाद लाभप्रद हैं । किंतु सांविधानिक विधि और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इन पर बहुत कुछ कहा जा सकता है ।

(i) अल्पसंख्यकों की शिक्षा संस्थाओं को दी गई रियायत को देखकर यह समझ में नहीं आता है कि बहुसंख्यक वर्ग के प्रबंधाधीन शिक्षा संस्थाओं को क्यों इस प्रकार की प्रत्यांभूति नहीं दी गई है । विद्या तो वैसी ही शुद्ध और पूज्य होगी वह गंगा से आए या वोल्गा से । अल्पसंख्यकों के लिए विशेष प्रत्याभूति जोड़ने के उत्साह में 44वें संशोधन के निर्माताओं ने वह कार्य किया जो संविधान निर्माताओं ने सोचा भी नहीं था ।[103] उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि अनुच्छेद 31(2) को मिटाकर वे ऐसा अधिकार छीन रहे हैं जो भारत में *सभी* व्यक्तियों को प्रदान किया गया था । विधिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 30(1क) में किया गया नया उपबंध तो पूंछ मात्र है । सिर तो अनुच्छेद 31(2) के निरसन द्वारा काट दिया गया है ।[103]

(ii) छोटे कृषक के अपनी भूमि, भवन और अन्य संरचनाओं के लिए पूर्ण प्रतिकर पाने के अधिकार के विषय में यह कहा जा सकता है कि यही उपबंध उस निर्धन व्यक्ति के लिए क्यों नहीं है जिसके पास एक इंच भी कृषि नहीं है किंतु रात को सिर छिपाने के लिए एक झोपड़ी है । वह दैनिक मजदूर हो सकता है, छोटा पेंशनभोगी हो सकता है, या भूमिहीन काश्तकार हो सकता है जो दूसरों की भूमि जोतता हो । क्या वे इस योग्य नहीं हैं ?

इस संबंध में यह बताना उचित होगा कि सोवियत संघ के 1977 के संविधान में अनुच्छेद 13 इस प्रकार है —

> ". . . सोवियत रूस के नागरिकों की संपत्ति में दैनंदिन उपयोग की, व्यक्तिगत उपभोग की और सुविधा की वस्तुएं, छोटी घृति के उपकरण और अन्य पदार्थ . . . या अपना निवास बनाने के लिए वस्तुएं सम्मिलित हो सकती हैं । नागरिकों की व्यक्तिगत संपत्ति और उसे विरासत में पाने का अधिकार राज्य द्वारा संरक्षित है ।"

संक्षेप में, सोवियत संघ में प्रत्येक व्यक्ति को एक निवास धारण करने और विरासत में पाने का प्रत्याभूत अधिकार है । राज्य का कर्तव्य है कि इस अधिकार का संरक्षण करे अतएव इसका यह स्पष्ट अर्थ हुआ कि राज्य निवास का अर्जन करके उसके स्वामी को उसके निवास से वंचित नहीं कर सकता जब तक कि संविधान में अन्थया उपबंध न हो ।

भारत के अति उत्साही राजनेताओं को यह ज्ञात होना चाहिए कि चीनी गणतंत्र के 1982 के संविधान में भी ऐसा ही उपबंध है । अनुच्छेद 6 उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व का उपबंध करता है, वहीं अनुच्छेद 13 उसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत आय से अर्जित व्यक्तिगत संपत्ति अपने स्वामित्व में रखने की प्रत्याभूति देता है ।

> "राज्य, नागरिकों के विधितः उपार्जित आय, बचत, गृह और अन्य विधिसम्मत संपत्ति अपने स्वामित्व में रखने के अधिकार को सुरक्षा देता है ।"

अनुच्छेद 39 में मूल अधिकार के रूप में यह घोषणा है कि

> "नागरिकों के गृह . . . अनुल्लंघनीय हैं ।"

पूर्वगामी उपबंधों का परिणाम यह है कि राज्य, व्यक्ति का निवास गृह और इसी प्रकार की व्यक्तिगत संपत्ति विधान द्वारा भी नहीं ले सकता । अनिवार्य अर्जन के लिए प्रतिकर का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता ।

अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) के उत्सादन के भारी परिणामों को देखते हुए भारत के कुछ विधिज्ञों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि उच्चतम न्यायालय संपत्तिहीन किए गए स्वामियों की सहायता करेगी और यह अभिनिर्धारित करेगा कि संविधान में प्रतिकर पाने के प्रत्याभूत अधिकार का लोप हो जाने पर भी यह अधिकार सूची 3 की प्रविष्टि 42 — संपत्ति का अर्जन और अधिग्रहण में अंतर्विष्ट विधायी शक्ति के साथ पठित 'महास्वामी' (एमिनेंट डोमेन) के कामन लॉ के सिद्धांत से व्युत्पन्न होता है । खेद है कि लेखक इस अद्‌भुत उपधारणा से सहमत नहीं है । इसके कारण लेखक की अन्य बड़ी पुस्तकों में विस्तार से दिए गए हैं ।[104]

इन परिस्थितियों में संपत्ति के स्वामियों के दुर्बल वर्गों को कुछ अनुतोष पुनः देने के उचित आधार हैं (ये लोग पूंजीपतियों या उत्पादन के साधनों के स्वामियों से भिन्न हैं) । यह अनुतोष सरलता से संविधान का संशोधन करके दिया जा सकता है । उसे "न्यायिक संशोधन" की संभावना पर लटकाए रखना ठीक नहीं है ।

अनुच्छेद 32 : मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए सांविधानिक उपचार ।

संविधान में मूल अधिकारों की अमूर्त घोषणाएं निरर्थक हैं जब तक कि उन्हें प्रभावी करने के साधन न हों । सभी देशों के सांविधानिक अनुभव से यह प्रकट होता है कि इन अधिकारों की विद्यमानता का परीक्षण न्यायालयों में ही होता है । अधिकारों के अनुपालन को प्रवृत्त करने की न्यायालयों की शक्ति न्यायपालिका की निष्पक्षता और स्वतंत्रता पर ही नहीं इस बात पर भी निर्भर करती है कि कार्यपालिका या अन्य प्राधिकारियों से अनुपालन कराने के लिए उनके पास कितने प्रभावी उपकरण हैं । आंग्ल अमेरिकी प्रणाली में ये साधन हैं — रिटें या न्यायिक आदेशिकाएं जैसे; बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार-पृच्छा ।

उपर्युक्त अनुभव के प्रकाश में, संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए, हमारे संविधान में निम्नलिखित उपबंध हैं :

(क) संविधान, मूल अधिकारों को कार्यपालिका की और विधान मंडल की, दोनों की कार्रवाई के विरुद्ध प्रत्याभूत करता है । कार्यपालिका या विधान मंडल का कोई कार्य जो इन अधिकारों को क्षीण करता है, शून्य होगा और न्यायालय को यह शक्ति है कि उसे शून्य घोषित करे [अनुच्छेद 13] ।

(ख) न्यायपालिका को यह अधिकार है कि वह मूल अधिकारों को प्रत्याभूत करने वाले संविधान के उपबंधों का उल्लंघन करने वाली विधि को शून्य समझे । उसे यह शक्ति भी है कि, उस व्यक्ति की प्रेरणा से जिसके अधिकार का उल्लंघन हुआ है, राज्य में किसी प्राधिकारी के विरुद्ध ऐसे अधिकारों को प्रवृत्त करने के लिए उपर्युक्त रिटें (बंदी प्रत्यक्षीकरण आदि) निकाले ।

संविधान ने मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए रिटें निकालने की शक्ति उच्चतम न्यायालय और न्यायालयों को दी है [अनुच्छेद 32 और 226] ।

(ग) इस प्रकार प्रत्याभूत अधिकार केवल आपात की उद्‌घोषणा के दौरान और संविधान में अधिकथित रीति से ही निलंबित किए जा सकेंगे [अनुच्छेद 359] ।

मूल अधिकार का प्रवर्तन अन्य कार्यवाहियों द्वारा भी किया जा सकता है जैसे सामान्य विधि के अधीन घोषणात्मक वाद द्वारा या अनुच्छेद 226 के अधीन आवेदन द्वारा या

किसी व्यक्ति के विरुद्ध लाई गई विधिक कार्यवाहियों में प्रतिरक्षा के रूप में । किंतु अनुच्छेद 32 के अधीन कार्यवाही को भाग 3 में सम्मिलित मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए "सांविधानिक उपचार" कहा जाता है और उच्चतम न्यायालय के समक्ष ऐसी कार्यवाही लाने का अधिकार भी भाग 3 में प्रगणित मूल अधिकार है ।

अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता का वैशिष्ट्य ।

अनुच्छेद 32 तो संविधान के भवन की नींव का पत्थर है । इस अनुच्छेद पर टिप्पणी करते हुए डा. अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था —

"यदि मुझे यह कहा जाए कि मैं संविधान के किस अनुच्छेद को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता हूं -- ऐसा अनुच्छेद जिसके बिना संविधान व्यर्थ हो जाएगा — तो मैं और किसी अनुच्छेद को नहीं इसी को इंगित करूंगा । यह संविधान की आत्मा है, उसका हृदय है ।"[105]

अनुच्छेद 32 के खंड (1) और (2) के सुसंगत उपबंधों की ओर ध्यान देना ठीक होगा ।

"(1) इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित कार्यवाहियों द्वारा उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने का अधिकार प्रत्याभूत किया जाता है ।

(2) इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए उच्चतम न्यायालय को ऐसे निदेश या आदेश या रिट, जिनके अन्तर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण रिट हैं, जो भी समुचित हो, निकालने की शक्ति होगी ।"

(क) अनुच्छेद 32 मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए एक प्रत्याभूत उपचार प्रदान करता है । यह उपचार का अधिकार भी मूल अधिकार है क्योंकि यह भाग 3 में सम्मिलित है ।[106] उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारों का संरक्षक और प्रत्याभूतिदाता बनाया गया है । वह न्यायालय इन अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध संरक्षण प्राप्त करने के लिए दिए गए आवेदनों को ग्रहण करने से तकनीकी आधार पर इंकार नहीं कर सकता ।[107] ऐसा करना उसे सौंपे गए उत्तरदायित्व से मेल नहीं खाएगा ।[108]

(ख) उच्चतम न्यायालय परिस्थितियों के अनुसार कोई भी समुचित आदेश कर सकता है । इंग्लैंड की "परमाधिकार रिटों" के तकनीकी बंधनों से न्यायालय मुक्त है ।[108]

अनुच्छेद 32 का एकमात्र ध्येय संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों का प्रवर्तन है । जब तक मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं होता तब तक व्यथित व्यक्ति को अनुच्छेद 32 के अधीन परिवाद करने का अधिकार नहीं है । उसे चाहे जो अन्य उपचार मिलें । यही कारण है कि अनुच्छेद 32 के अधीन कार्यवाही में वही प्रश्न अवधारित किया जा सकेगा जो मूल अधिकार से संबंधित है ।[109]

परमाधिकार रिटें ।

"परमाधिकार रिट" यह इंग्लैंड के कामन लॉ की अभिव्यक्ति है । ये वे असाधारण रिटें हैं जो सम्राट, न्यायदाता के रूप में इस आधार पर प्रदान करता था कि सामान्य विधिक उपचार अपर्याप्त हैं । आगे चलकर ये रिटें उच्च न्यायालय प्रदान करने लगा क्योंकि उसके माध्यम से ही सम्राट न्यायिक शक्तियों का प्रयोग करता था । ये परमाधिकार रिटें तब दी जाती थीं जब सामान्य विधि में कोई उपचार उपलब्ध नहीं होता था या उपलब्ध उपचार अपर्याप्त था । ये रिटें हैं — बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार-पृच्छा ।

रिट निकालने की उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की अधिकारिता में अंतर ।

एक अर्थ में उच्च न्यायालय की रिट निकालने की शक्ति उच्चतम न्यायालय की शक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक है । संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय को केवल मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए ही रिटें निकालने का अधिकार है । उच्च

न्यायालय न केवल मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए बल्कि सामान्य विधि के उल्लंघन के कारण किसी अन्य क्षति या अवैधता के प्रतितोष के लिए भी रिट निकाल सकता है। बस कुछ शर्त पूरी होनी चाहिए, देखिए आगे अध्याय 20 ।[110]

दृष्टांत, — (क) अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय को आवेदन मूल अधिकार के अतिक्रमण पर तो होगा ही, भाग 3 से बाहर संविधान द्वारा अधिरोपित किसी अन्य मर्यादा के उल्लंघन पर भी हो सकेगा । उदाहरणार्थ, जहां राज्य विधान मंडल ने अनुच्छेद 286 द्वारा अधिरोपित परिसीमाओं के उल्लंघन में विक्रय कर अधिरोपित किया है ।[111] किंतु अनुच्छेद 32 के अधीन आवेदन नहीं होगा जब तक कि जिस अधिकार का अतिक्रमण हुआ है वह संविधान के भाग 3 में प्रगणित "मूल अधिकार" नहीं हैं ।[109]

(ख) दोनों अधिकारिताओं के बीच एक और अंतर यह है कि उच्चतम न्यायालय भारत के राज्यक्षेत्र में किसी भी व्यक्ति या सरकार के विरुद्ध रिट निकाल सकता है । अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय किसी व्यक्ति, सरकार या प्राधिकारी के विरुद्ध रिट तभी निकाल सकता है जब वह व्यक्ति या प्राधिकारी उस उच्च न्यायालय की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर भौतिक रूप से निवास करता है या अवस्थित है अर्थात् उस राज्य में जिस पर उस उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार है । या यदि वाद हेतुक उस अधिकारिता में उत्पन्न होता है ।[112]

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं संविधान ने उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद 32(1) द्वारा मूल अधिकारों के संरक्षक और प्रत्याभूतिदाता की विशेष भूमिका सौंपी है ।[105]

उच्चतम न्यायालय : मूल अधिकारों का संरक्षक ।

जहां मूल अधिकारों का उल्लंघन साबित हो जाता है वहां उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 32 के अधीन अनुतोष देने से इस आधार पर इंकार नहीं कर सकता है कि

(क) व्यथित व्यक्ति अपना उपचार किसी अन्य न्यायालय से या सामान्य विधि के अधीन प्राप्त कर सकता है,[113] या

(ख) याची को अनुतोष देने के पूर्व विवादास्पद तथ्यों का अन्वेषण कराना होगा या साक्ष्य लेना होगा,[105]

(ग) याची ने उसके मामले में लागू होने वाली उचित रिट की मांग नहीं की है । ऐसी दशा में, उच्चतम न्यायालय उसे उचित रिट प्रदान करेगा और मामले की परिस्थितियों के अनुसार उसमें उचित उपांतरण करेगा ।[105]

(घ) सामान्यतया प्रभावित व्यक्ति ही अभ्यावेदन कर सकता है किंतु उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि सामाजिक या लोक हित के वादों में कोई भी व्यक्ति अभ्यावेदन कर सकता है । इसे 'सुने जाने के अधिकार' का विस्तार किया जाना कहा जाता है । यह "लोक हित वाद" के पक्ष में है ।[106]

अनुच्छेद 32 के अधीन सांविधानिक उपचार की प्रत्याभूति का एक और परिणाम होता है, —

विधान बनाकर इस उपचार का अध्यारोहण नहीं हो सकता । प्रत्येक ऐसी विधि शून्य होगी जो उच्चतम न्यायालय की उपचार प्रदान करने की शक्ति को व्यर्थ या निरर्थक बनाती है । *गोपालन* बनाम *मद्रास राज्य* के अग्रनिर्णय से इसका उदाहरण प्राप्त होता है ।[51, 114] इसमें उच्चतम न्यायालय ने तत्समय यथाविद्यमान निवारक निरोध अधिनियम, 1950 की धारा 14 को अविधिमान्य घोषित किया था । यह धारा इस प्रकार थी :

"(1) कोई न्यायालय, उपधारा (2) के अधीन दंडनीय किसी अपराध के अभियोजन के प्रयोजन के सिवाय, धारा 7 के अधीन किए गए उन आधारों की जिन पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध निरोध आदेश

किया गया है, किसी संसूचना या ऐसे आदेश के विरुद्ध उसके द्वारा किए गए किसी अभ्यावेदन के सार या उसके समक्ष किए जाने वाले किसी कथन को या दिए जाने वाली साक्ष्य को अनुज्ञात नहीं करेगा, और न ही किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, कोई न्यायालय किसी लोक अधिकारी से किसी ऐसी संसूचना या किए गए अभ्यावेदन के सार को या किसी सलाहकार बोर्ड की कार्यवाहियों को या सलाहकार बोर्ड की रिपोर्ट के किसी ऐसे भाग को जो गोपनीय है, उसके समक्ष प्रस्तुत करने या उन्हें प्रकट करने की अपेक्षा करने का हकदार होगा ।

(2) किसी ऐसी संसूचना या किए गए अभ्यावेदन को, जो उपधारा (1) में यथाविनिर्दिष्ट किसी संसूचना या अभ्यावेदन की अंतर्वस्तु है या अंतर्वस्तु से तात्पर्यित विषय है, यथास्थिति, केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार से पूर्व प्राधिकार प्राप्त किए बिना किसी व्यक्ति द्वारा प्रकट या प्रकाशित किया जाना अपराध होगा, जो ऐसे कारावास से जिसकी अवधि एक वर्ष तक हो सकेगी, या जुर्माने से, या दोनों से, दंडनीय होगा . . . ।"

उच्चतम न्यायालय ने उक्त उपबंध को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि वह उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद 32 के अधीन अपनी शक्तियों के प्रभावी रूप से प्रयोग करने से निवारित करता है जिससे अनुच्छेद 32 का उल्लंघन होता है । न्या. महाजन के निम्नलिखित उद्‌गार शिक्षाप्रद हैं, —

"यह धारा निवारक निरोध का आदेश देने वाले प्राधिकारी के कार्यों के आसपास लोहे की दीवार बनाती है । संविधान ने निरुद्ध व्यक्ति को यह अधिकार दिया है कि उसे निरोध के आधार बताए जाएंगे । उसे अभ्यावेदन का अधिकार भी दिया गया है [देखिए अनुच्छेद 22(5)] । इस पर भी धारा 14 यह कहती है कि उसे दिए गए आधार या उसके अभ्यावेदन की अंतर्वस्तु न्यायालय में प्रकट नहीं की जाएगी । इस व्यादेश का भंग कारावास से दण्डनीय है ।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि कोई प्राधिकारी ऐसे कारणों से निवारक निरोध का आदेश पारित करता है जो 7वीं अनुसूची में उल्लिखित छह विषयों से संबद्ध नहीं है तो यह न्यायालय निरोध को अवैध घोषित करके निरुद्ध व्यक्ति को मुक्त कर सकता है । किंतु यदि उस व्यक्ति को जो आधार तामील किए गए हैं उन्हें प्रकट करने की मनाही है तो इस न्यायालय के लिए कार्य करना संभव नहीं है । आधारों की परीक्षा करके ही यह कहना संभव होगा कि वे आधार संविधान में अंतर्विष्ट विधायी शक्ति की परिधि में आते हैं या नहीं । यह भी हो सकता है कि निरुद्ध व्यक्ति पर आधार के रूप में जो तामील किया जाए वह आधार ही न हो । इस स्थिति में निरुद्ध व्यक्ति का अनुच्छेद 32 के अधीन यह अधिकार है कि वह अनुच्छेद 22(5) के अधीन अपने अधिकार को प्रवृत्त कराने के लिए न्यायालय में समावेदन करे कि उसे निरोध आदेश के वास्तविक आधार बताए जाएं । यदि न्यायालय यह नहीं देख सकता कि क्या आधार बताए गए हैं तो वह अनुच्छेद 32 के अधीन अपने कृत्यों का प्रयोग करने में असमर्थ रहेगा और यह न्यायनिर्णय नहीं कर सकेगा कि आधार उस उपखंड की अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं या नहीं । निरुद्ध व्यक्ति का यह प्रत्याभूत अधिकार है कि उसे वही आधार दिए जाएं जिन पर निरोध आदेश टिका है । यह न्यायालय विषय की परीक्षा करने का और यह देखने का हकदार है कि क्या उसे बताए गए आधार ही वे आधार हैं जिन पर उसे निरुद्ध किया गया है या उसमें कुछ अस्पष्ट और असंगत सामाग्री है । निरुद्ध व्यक्ति को आधार बताने का प्रयोजन ही यह है कि वह उन आधारों का खंडन करते हुए और अपना निर्दोष होना साबित करते हुए अभ्यावेदन कर सके । यह न्यायालय इस मूल अधिकार की रक्षा कर सके और उसे अनुतोष दे सके इसके लिए यह परमावश्यक है कि निरुद्ध व्यक्ति को दंड की शास्ति से डरा कर इस न्यायालय में आधार प्रकट करने का प्रतिषेध न किया जाए । इस न्यायालय को विधि द्वारा ऐसा कोई व्यादेश नहीं दिया जा सकता जिससे न्यायालय आधारों का अवलोकन करने में असमर्थ हो जाए । यदि आधार प्रकट किए जाते हैं तो धारा 14 के अनुसार एक अधिष्ठायी अपराध बन जाता है । यह धारा न्यायालय को यह कर्तव्य सौंपती है कि वह आधारों को प्रकट करने की अनुज्ञा न दे । यह वास्तव में संविधान द्वारा प्रदत्त और प्रत्याभूत अधिकार का निलंबन है । यह एक कठोर उपबंध द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से इस न्यायालय द्वारा न्याय प्रशासन असंभव कर देता है । साथ ही यह निरुद्ध व्यक्ति को इस न्यायालय से न्याय प्राप्त करने से भी वंचित कर देता है । अतएव मेरी राय में यह धारा आधारों को प्रकट किए जाने का प्रतिषेध करती है और इस प्रकार नागरिकों को भाग 3 द्वारा दिए गए अधिकारों का उल्लंघन करती है और उन्हें न्यून करती है । यह धारा इस विस्तार तक संसद् के लिए शक्तिबाह्य है ।"[114]

संविधान में इस बात का उपबंध है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय से भिन्न न्यायालयों को रिटें निकालने के लिए शक्ति दी जाए । किंतु इस प्रकार की कोई विधि पारित नहीं की गई है । इसके फलस्वरूप उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को छोड़ कर किसी न्यायालय को इन रिटों को जारी करने की शक्ति नहीं है । हमारे उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को विभिन्न प्रकार की रिटें निकालने का जो प्राधिकार संविधान द्वारा दिया गया है उसके अनुषंगों पर हम विचार करेंगे ।

रिटों का प्रविषय :

I. बंदी प्रत्यक्षीकरण ।

बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट एक आदेश के रूप में है जिसमें उस व्यक्ति को जिसने किसी अन्य व्यक्ति को निरुद्ध किया है यह आदेश दिया जाता है कि वह उसे न्यायालय के समक्ष उपस्थित करे जिससे यह न्यायालय यह जान सके कि उसे क्यों निरुद्ध किया गया है और यदि बंदी रखने का विधिक औचित्य नहीं है तो उसे मुक्त कर सके । अंग्रेजी अभिव्यक्ति "हैबियस कार्पस" का शाब्दिक अर्थ है "शरीर प्राप्त करना" । इस रिट द्वारा न्यायालय उस व्यक्ति को सशरीर अपने सामने उपस्थित कराता है जिससे न्यायालय उसके कारावास के कारणों को जान सके और यदि बंदी रखने का विधिक औचित्य नहीं है तो उसे मुक्त कर सके । यह रिट किसी भी व्यक्ति को संबोधित हो सकती है चाहे वह अधिकारी हो या प्राइवेट व्यक्ति जिसकी अभिरक्षा में कोई अन्य व्यक्ति है । इस रिट की अवज्ञा करने पर न्यायालय के अवमान का दंड दिया जाएगा । इस प्रकार की रिट प्राइवेट व्यक्ति और कार्यपालिका, दोनों के मनमाने कार्यों के विरुद्ध प्रजा के पक्ष में शक्तिशाली रक्षोपाय है ।

बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट निम्नलिखित प्रयोजनों के लिए उपलब्ध है :

(क) मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए । यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार राज्य के विरुद्ध प्रत्याभूत है । यह अनुच्छेद यह कहता है कि "किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं ।" अतएव यदि कार्यपालिका ने किसी व्यक्ति को बिना विधि के प्राधिकार के अथवा निरोध को प्राधिकृत करने वाली विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के उल्लंघन में गिरफ्तार और निरुद्ध किया है तो उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय उस प्राधिकारी के विरुद्ध बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट निकाल सकेंगे जिसने उस व्यक्ति को अपनी अभिरक्षा में रखा है और निरुद्ध व्यक्ति की मुक्ति का आदेश दे सकेंगे ।

(ख) यह रिट तब भी निकाली जाएगी जब कारावास या निरोध का आदेश उस कानून के शक्तिबाह्य है जो कारावास निरोध प्राधिकृत करता है ।[115]

किंतु निम्नलिखित मामलों में बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट नहीं निकाली जाएगी :

(i) जहां वह व्यक्ति जिसके विरुद्ध रिट निकाली जाती है या जो व्यक्ति निरुद्ध किया गया है न्यायालय की अधिकारिता के भीतर नहीं है ।

(ii) उस व्यक्ति को उन्मुक्त करने के लिए जो किसी अपराध के आरोप पर न्यायालय द्वारा कारावासित किया गया है ।[116]

(iii) किसी अभिलेख न्यायालय या संसद् द्वारा अवमान के लिए कार्यवाही में हस्तक्षेप करने के लिए ।

II. परमादेश ।

अंग्रेजी शब्द "मैन्डेमस" का अर्थ है आज्ञा । इसमें जिस निकाय या व्यक्ति को वह संबोधित है उससे यह अपेक्षा है कि वह कोई लोक कर्तव्य या लोक-कल्प विधिक कर्तव्य करे जिसे करने से उसने इंकार

किया है और जो किसी अन्य पर्याप्त विधिक उपचार द्वारा कराया नहीं जा सकता । अतएव स्पष्ट है कि परमादेश तभी निकाला जाएगा जब आवेदक को लोक प्रकृति के किसी विधिक कर्तव्य के अनुपालन का विधिक अधिकार है और जिस पक्षकार के विरुद्ध रिट की याचना की जाती है वह उस कर्तव्य को करने के लिए आबद्धकर है । यह उपचार न्यायालय के विवेकाधीन है और यदि जिस क्षति का परिवाद किया गया है उसके प्रतितोष के लिए आनुकल्पिक उपचार है तो न्यायालय परमादेश देने से इंकार कर सकता है । मूल अधिकारों के प्रवर्तन के मामलों में आनुकल्पिक उपचार के प्रश्न को उतना महत्व नहीं दिया जाता क्योंकि उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय का कर्तव्य है कि वह मूल अधिकारों का प्रवर्तन करे । भारत में, परमादेश उन अधिकारियों और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध दिया जा सकता है जो किसी लोक कर्तव्य के लिए आबद्धकर हैं और सरकार के विरुद्ध भी क्योंकि अनुच्छेद 226 और 361 में यह उपबंध है कि संपृक्त सरकार के विरुद्ध समुचित कार्यवाहियां की जा सकती हैं यह रिट अवर न्यायालयों और अन्य न्यायिक निकायों के विरुद्ध भी प्राप्त की जा सकती है यदि वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने से इंकार करते हैं और इस प्रकार अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते हैं । रिट जिन प्रयोजनों के लिए निकाली जा सकती है वे इस प्रकार हैं :

(क) मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए । जब किसी लोक अधिकारी या सरकार ने कोई ऐसा कार्य किया है जो किसी व्यक्ति के मूल अधिकार का हनन करता है तो न्यायालय परमादेश रिट निकालकर लोक अधिकारी या सरकार को उस व्यक्ति के विरुद्ध वह आदेश प्रवृत्त करने से या वह कार्य करने से रोकेगा जिससे मूल अधिकार का हनन हुआ है । उदाहरण के लिए, याची को जो अधीनस्थ सिविल न्यायिक सेवा में नियुक्ति के लिए पात्र था, इस कारण नहीं चुना गया कि एक "सांप्रदायिक आदेश" प्रवर्तन में था, जो अनुच्छेद 16(1) के द्वारा याची को प्रत्याभूत मूल अधिकार का उल्लंघन करता था। इस दशा में न्यायालय ने एक आदेश निकाल कर मद्रास राज्य को यह निदेश दिया कि "वह आवेदक के उस पद के लिए आवेदन को ग्रहण करके उस पर गुणागुण के आधार पर विचार करे और निपटाए तथा सांप्रदायिक आदेश को लागू न करे ।"[117]

(ख) मूल अधिकारों के प्रवर्तन के अतिरिक्त, परमादेश निम्नलिखित प्रयोजनों के लिए उच्च न्यायालय से प्राप्त किया जा सकता है,

(i) जहां लोक अधिकारी को किसी कानूनी कर्तव्य का अनुपालन कराने के लिए संविधान या कानून द्वारा कोई शक्ति प्रदान की गई है और उसने उस शक्ति का प्रयोग करने से इंकार किया है तो न्यायालय परमादेश निकालकर उसे निदेश दे सकता है कि वह उस शक्ति का प्रयोग करे,

(ii) जहां कर्तव्य संविधान, कानून या कानूनी नियम द्वारा अधिरोपित है वहां किसी व्यक्ति को उसका लोक कर्तव्य करने के लिए बाध्य करने के लिए भी रिट निकाली जाएगी ।

(iii) जहां कोई न्यायालय या न्यायिक अधिकरण ने अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने से इंकार किया है वहां उसे अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए बाध्य करने के लिए ।

(iv) किसी लोक अधिकारी या सरकार को यह निदेश देने के लिए कि वह ऐसी विधि को प्रवृत्त न करे जो असांविधानिक है ।

परमादेश निम्नलिखित व्यक्तियों के लिए नहीं दिया जाएगा :

(i) राष्ट्रपति या राज्यपाल के विरुद्ध अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों

के पालन के लिए या उन शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन करते हुए किए गए या किए जाने के लिए, तात्पर्यित किसी कार्य के लिए [आगे, अनुच्छेद 361] ।

(ii) परमादेश, संविधान, या अधिनियम या कानूनी नियम के किसी उपबंध का उल्लंघन करने के लिए[118] प्राइवेट व्यक्ति या निकाय के विरुद्ध नहीं दिया जा सकता चाहे वह निगमित हो या नहीं, चाहे राज्य की प्राइवेट पक्षकार के साथ दुरभिसंधि ही क्यों न हो ।[118]

III. प्रतिषेध ।

प्रतिषेध की रिट उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय द्वारा अवर न्यायालय को संबोधित रिट है जिसमें उस न्यायालय को अधिकारिता के आधिक्य में कार्यवाही करने से, या उस अधिकारिता को हथियाने का प्रतिषेध किया जाता है जो उसमें निहित नहीं की गई है । दूसरे शब्दों में इस रिट का उद्देश्य यह है कि अवर न्यायालयों को अपनी अधिकारिता की सीमा में रहने के लिए बाध्य किया जाए । प्रतिषेध और परमादेश की रिटों में अंतर यह है कि परमादेश कुछ कार्य करने का समादेश करती है जबकि प्रतिषेध निष्क्रिय बनाती है । परमादेश न्यायिक अधिकारियों के विरुद्ध उपलब्ध है और प्रशासनिक प्राधिकारियों के विरुद्ध भी । प्रतिषेध और उत्प्रेषण की रिटें केवल न्यायिक और न्यायिककल्प प्राधिकारियों के विरुद्ध निकाली जाती हैं । प्रतिषेध ऐसे लोक अधिकारी के विरुद्ध नहीं दी जाती जो न्यायिक कृत्य नहीं करता । जहां अधिकारिता का आधिक्य, कार्यवाहियों को देखने से ही प्रकट हो जाता है वहां प्रतिषेध की रिट साधिकार ली जा सकती है । तब यह विवेकाधीन नहीं रह जाती है । भारत में प्रतिषेध की रिट अधिकारिता के अभाव या आधिक्य के मामलों में ही नहीं उन मामलों में भी दी जा सकती है जिनमें न्यायालय या अधिकरण ऐसी विधि के अधीन अधिकारिता ग्रहण करता है जो स्वयं संविधान द्वारा प्रत्याभूत किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करती है । उच्चतम न्यायालय यह रिट तभी निकाल सकता है जब किसी कार्यवाही में अधिकारिता के दोष के कारण मूल अधिकार पर प्रभाव पड़ता है ।

प्रतिषेध और उत्प्रेषण दोनों ही न्यायालयों अथवा न्यायिक या न्यायिककल्प शक्तियों का प्रयोग करने वाले अधिकरण के विरुद्ध दिए जाते हैं किंतु उत्प्रेषण का प्रयोग अधिकरण के आदेश या विनिश्चय को विखंडित करने के लिए किया जाता है और प्रतिषेध का उपयोग अधिकरण को शक्तिबाह्य आदेश या विनिश्चय करने से प्रतिषिद्ध करने के लिए किया जाता है । अतएव प्रतिषेध तब मिल सकती है जब कार्यवाही लंबित हो या आदेश नहीं किया गया हो अर्थात् आदेश के पूर्व । उत्प्रेषण तभी दी जा सकती है जब आदेश दे दिया गया है, अर्थात् आदेश के पश्चात् ।

IV. उत्प्रेषण ।

संक्षेप में, प्रतिषेध प्रारंभ के चरण में दी जाती है और उत्प्रेषण उत्तरवर्ती चरण में । आधार दोनों के एक से ही हैं । दोनों का उद्देश्य है कि अवर न्यायालय या अधिकरण की अधिकारिता का प्रयोग उचित रूप से हो । वह ऐसी अधिकारिता न हथिया ले जो उसके पास नहीं है ।

उत्प्रेषण की रिट निकालने के लिए शर्तें आवश्यक हैं —

I. कोई अधिकरण या प्राधिकारी होना चाहिए जिसे प्रजा के अधिकारों का अवधारण करने की शक्ति हो और जिसका कर्तव्य न्यायिक रूप से कार्य करना हो ।

II. ऐसे अधिकरण या अधिकारी के बिना अधिकारिता के, न्यायिककल्प प्राधिकारी में विहित विधिक प्राधिकार के आधिक्य में कार्य किया है अथवा नैसर्गिक न्याय के नियमों का उल्लंघन किया है अथवा अभिलेख को देखने से ही प्रकट गलती है ।

III. उच्चतम न्यायालय ने पहले यह मत प्रकट किया था कि शुद्ध रूप से प्रशासनिक

कार्रवाई के विरुद्ध उत्प्रेषण की रिट नहीं दी जाएगी । यह तभी दी जाएगी जब प्राधिकारी का कर्तव्य न्यायिकतः कार्य करना हो अर्थात् हितबद्ध पक्षकारों को सुनकर और बाहरी बातों पर विचार किए बिना विनिश्चय करना हो ।[119]

किंतु बाद में दिए गए विनिश्चयों में प्रशासनिक और न्यायिककल्प निकायों के बीच भेद मिट गया है । प्रचलित मत यह है कि यदि शासी कानून में भी यह अपेक्षा नहीं है कि आदेश करने के पूर्व प्रभावित होने वाले व्यक्ति की सुनवाई होगी तो भी यदि व्यक्ति के संपत्ति के अधिकार या कोई अन्य सिविल अधिकार पर प्रभाव पड़ रहा है तो न्यायालय यह विवक्षा करेगा कि ऐसी अपेक्षा है । ऐसा न करने पर नैसर्गिक न्याय का उल्लंघन होगा । ऐसे मामलों में न्यायालय तथाकथित न्यायिक विनिश्चय को अनुच्छेद 226 के अधीन उत्प्रेषण की रिट द्वारा विखंडित करेगा ।[120]

IV. निम्नलिखित परिस्थितियों में यह कहा जाएगा कि अधिकरण ने बिना अधिकारिता के कार्य किया है —

(क) जहां न्यायालय सम्यक्तः गठित नहीं है । अर्थात् जो व्यक्ति अधिकरण में बैठने के लिए अर्हित नहीं है वह उसमें बैठा है और उसने वह विनिश्चय दिया है जिसके विरुद्ध परिवाद किया गया है ।

(ख) अधिकरण का सृजन जिस विधि द्वारा हुआ है उसके अनुसार जांच की विषय-वस्तु अधिकरण के प्रविषय के बाहर है,

(ग) न्यायालय ने ऐसे तथ्यों के गलत विनिश्चय के आधार पर अधिकारिता ग्रहण कर ली है जिसकी विद्यमानता पर अधिकरण की अधिकारिता निर्भर है ।

(घ) न्यायालय द्वारा नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के उल्लंघन के कारण या उसका विनिश्चय कपट, दुरभिसंधि या भ्रष्टाचार द्वारा प्राप्त किए जाने के कारण न्याय की विफलता हुई है ।

V. जहां अवर न्यायालय का विनिश्चय अभिलेख को देखने से ही प्रकट गलती के कारण दूषित हो गया है तब वह उत्प्रेषण द्वारा विखंडित किया जा सकेगा चाहे न्यायालय ने अधिकारिता के भीतर ही कार्य किया हो । इस संदर्भ में "गलती" का अर्थ है "विधि की गलती" । जहां अधिकरण आदेश में ही उन आधारों का कथन करता है जिस पर आदेश टिका हुआ है और यह प्रतीत होता है कि विधि की दृष्टि में आधार इस प्रकार के नहीं हैं कि वे उस विनिश्चय के समुचित आधार हो सकें तो उस विनिश्चय को विखंडित करने के लिए उत्प्रेषण निकाली जाएगी ।[121]

इन सब मामलों में उच्च न्यायालय, अवर न्यायालय के विनिश्चय को विखंडित करने के लिए उत्प्रेषण की रिट निकाल सकता है । उच्चतम न्यायालय भी यह रिट निकाल सकता है । किंतु तब यह आवश्यक है कि परिवादित आदेश से मूल अधिकार का अतिलंघन हुआ हो ।

V. अधिकार-पृच्छा ।

अधिकार-पृच्छा एक कार्यवाही है जिसके द्वारा न्यायालय लोक पद पर किसी व्यक्ति के दावे की वैधता की जांच करता है और यदि उसका दावा सुआधारित नहीं है तो उसे उस पद से निष्कासित कर देता है ।

अधिकार-पृच्छा की रिट निकालने के लिए आवश्यक शर्तें निम्नलिखित हैं, —

(i) पद होना चाहिए लोक पद और वह किसी कानून द्वारा या स्वयं संविधान द्वारा सर्जित होना चाहिए ।

(ii) पद अधिष्ठायी होना चाहिए । किसी व्यक्ति के प्रसाद या इच्छा पर आधारित किसी सेवक का कृत्य या नियोजन नहीं ।

(iii) ऐसे व्यक्ति को पद पर नियुक्त करने में संविधान या कानून या कानूनी नियम का उल्लंघन हुआ है ।[122]

अधिकार-पृच्छा की कार्यवाही का मूल आधार यह है कि इस बात में लोकहित है कि कोई अवैध दावेदार कोई लोक पद हथिया न पाए । यह एक विवेकाधीन उपचार है जो न्यायालय मामले के तथ्य और परिस्थितियों के अनुसार दे सकता है या देने से इंकार कर सकता है । यदि कार्यवाही तंग करने के लिए है या उसका परिणाम व्यर्थ होगा या जहां याची गफलत का दोषी है या जहां ऐसे पद ग्रहण करने वाले को निकालने के लिए पर्याप्त आनुकल्पिक उपचार है वहां अधिकार-पृच्छा की रिट देने से इंकार किया जा सकता है । जहां आवेदक किसी लोक पद पर नियुक्ति की विधिमान्यता को चुनौती देता है वहां कोई भी व्यक्ति यह कार्यवाही चला सकता है चाहे ऐसे व्यक्ति का मूल अधिकार या अन्य अधिकार छीना गया हो या नहीं ।

अधिकार-पृच्छा लोक पदों को हथियाने के विरुद्ध शक्तिशाली उपकरण है । इस संबंध में यह रोचक तथ्य है कि इंग्लैंड में प्रिवी कौंसिल के ही एक सदस्य की नियुक्ति की विधिमान्यता के लिए यह रिट एक बार निकाली गई थी ।

मूल अधिकारों के प्रवर्तन पर निम्नलिखित मर्यादाएं हैं :

संसद् की मूल अधिकारों को उपांतरित या निर्बन्धित करने की शक्ति ।

(i) संसद् को सशस्त्र बलों को या पुलिस बलों को लागू होने में मूल अधिकारों को उपांतरित करने की शक्ति है ताकि उनके कर्तव्यों का उचित पालन और उनमें अनुशासन बना रहना सुनिश्चित रहे [अनुच्छेद 33] ।

(ii) जब किसी क्षेत्र में सेना विधि प्रवृत्त है तो संसद् विधि द्वारा संघ या राज्य की सेवा में किसी व्यक्ति की किसी ऐसे कार्य के संबंध में क्षतिपूर्ति कर सकेगी जो उसने ऐसे क्षेत्र में व्यवस्था के बनाए रखने या पुनःस्थापन के संबंध में किया है या सेना विधि के प्रवृत्त बने रहने के दौरान दिए गए किसी दंडादेश, या किए गए किसी कार्य को विधिमान्य कर सकेगी [अनुच्छेद 34] ।

आपात की उद्घोषणा के दौरान मूल अधिकारों का निलंबन ।

(iii) जब अनुच्छेद 352 के अधीन राष्ट्रपति, आपात की उद्घोषणा करते हैं तो उस दौरान संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकार निलंबित हो जाते हैं (देखिए आगे) । इस उदघोषणा का इस निमित्त दोहरा प्रभाव होता है,

(क) जैसे ही आपात की उद्घोषणा की जाती है वैसे ही राज्य अनुच्छेद 19 द्वारा अधिरोपित मर्यादाओं से मुक्त हो जाता है । इसका अर्थ यह हुआ कि विधान मंडल कोई भी विधि बनाने के लिए और कार्यपालिका कोई भी कार्य करने के लिए मुक्त हो जाती है चाहे वह वाक् और अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संगम, संचरण, निवास, वृत्ति या उपजीविका के अधिकार का उल्लंघन या निर्बन्धन करती हो । जहां तक इन अधिकारों का प्रश्न है नागरिक को आपात की उद्घोषणा के प्रवृत्त रहने के समय कार्यपालिका या विधायिका के विरुद्ध कोई संरक्षण नहीं मिलेगा । अनुच्छेद 358 के अधीन राज्य की शक्ति की वृद्धि तभी तक बनी रहेगी जब तक उद्घोषणा बनी रहती है । जैसे ही उद्घोषणा का अवसान होगा अनुच्छेद 19 जीवित हो जाएगा । किंतु उपर्युक्त अधिकारों के उल्लंघन में उद्घोषणा की अवधि के दौरान किए गए किसी कार्य के लिए नागरिकों को कोई उपचार नहीं मिलेगा [अनुच्छेद 358] ।

(ख) दूसरा परिणाम इस पर निर्भर होगा कि राष्ट्रपति ने एक और आदेश निकाला है या नहीं । जहां आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है वहां राष्ट्रपति आदेश द्वारा, यह

घोषित कर सकेगा कि मूल अधिकारों को प्रवृत्त कराने के लिए न्यायालय को समावेदन करने का अधिकार, उस अवधि के दौरान जिसके दौरान उद्घोषणा प्रवृत्त रहती है, निलंबित रहेगा [अनुच्छेद 359] । किंतु इस दशा में, उद्घोषणा के प्रवृत्त न रहने पर न्यायालय में समावेदन का अधिकार पुनः प्राप्त हो जाता है । यदि राष्ट्रपति आदेश में विनिर्दिष्ट हो तो इससे पूर्व भी अधिकार पुनरुज्जीवित हो जाएगा । दूसरे शब्दों में यदि ऐसा आदेश निकाला जाता है तो अनुच्छेद 19 से भिन्न अन्य अनुच्छेदों द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए विशेषाधिकार रिटें या अन्य आदेश निकालने की उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय को शक्ति नहीं होगी ।

राष्ट्रपति का यह आदेश अंतिम नहीं होगा । ऐसा आदेश, यथाशीघ्र, संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाएगा । संसद् उसको निरनुमोदित करने के लिए सक्षम होगी ।[123]

44वां संशोधन अधिनियम, 1978 ।

44वें संशोधन अधिनियम, 1978 में यह और उपबंध किया गया कि किसी विधि या कार्यपालिका आदेश को अनुच्छेद 358 या 359 के अधीन संरक्षण तभी प्राप्त होगा जब उस विधि में इस आशय का उल्लेख अंतर्विष्ट है कि ऐसी विधि आपात की उद्घोषणा के संबंध में है, और कार्यपालिका आदेश ऐसी विधि के अधीन निकाला गया है । दूसरे अनुच्छेद 359 के अधीन आदेश द्वारा अनुच्छेद 20 और 21 का निलंबन नहीं हो सकता ।

भारत के संविधान के अधीन मूल अधिकारों की चर्चा पूरी करने के लिए, संविधान के 42वें संशोधन के पश्चात् दो बातों का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए । यह दोनों 1949 के संविधान द्वारा निर्मित मूल अधिकारों के प्रवर्तन को परिसीमित करते हैं और ये "आपात" की अवधि तक सीमित नहीं हैं किंतु *सामान्य समय में भी* लागू होते हैं । ये हैं :

I. मूल अधिकारों के अपवाद; और
II. मूल कर्तव्य ।

मूल अधिकारों के अपवाद ।

I. एक के बाद एक अनेक संशोधनों द्वारा समाविष्ट अनुच्छेद 31क–31घ, पूर्णतः या भागतः मूल अधिकारों के लागू होने के अपवाद हैं ।[6]

मूल कर्तव्य ।

II. मूल कर्तव्य दस हैं । ये अनुच्छेद 51क में अंतर्विष्ट हैं (भाग 4क) जो 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अंतःस्थापित किया गया है । इस अनुच्छेद के अधीन भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह —

(i) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्र गान का आदर करे,
(ii) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,
(iii) भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे,
(iv) देश की रक्षा करे,
(v) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे,
(vi) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे,
(vii) प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और उसका संवर्द्धन करे,
(viii) वैज्ञानिक दृष्टिकोण और ज्ञानार्जन की भावना का विकास करे,
(ix) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे,
(x) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे ।

संविधान में इन कर्तव्यों के सीधे प्रवर्तन के लिए या उनके उल्लंघन के निवारण के लिए किसी अधिशास्ति का कोई उपबंध नहीं है[124] । किंतु यह प्रत्याशा की जा सकती है कि किसी विधि की सांविधानिकता अवधारित करते हुए, यदि कोई न्यायालय यह पाता है कि वह इन कर्तव्यों में से किसी को प्रभावी करने के लिए है तो वह ऐसी विधि को अनुच्छेद 14 या 19 के संबंध में युक्तियुक्त मानेगा और वह विधि असांविधानिक होने से बच जाएगी । यह उन नागरिकों को चेतावनी के रूप में होगा जो संविधान को जलाने और लोक संपत्ति का विनाश करने जैसा असामाजिक क्रियाकलाप करते हैं ।[125]

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि मूल कर्तव्य नागरिकों पर आबद्धकर हैं । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य को इन लक्ष्यों को प्राप्त करने का उत्कट प्रयास करना चाहिए जैसे वन संरक्षण, वन्य जीव और पर्यावरण की रक्षा । अनुच्छेद 51क के खंड (vii) में यह आदेश है । अतएव न्यायालय समुचित मामलों में उपयुक्त निदेश दे सकता है ।[126]

निर्देश

1. सर्वदलीय सम्मेलन द्वारा भारत के संविधान के सिद्धांतों की रूपरेखा तैयार करने के लिए पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में बनाई गई समिति की 1928 में प्रकाशित रिपोर्ट ।
2. ग्रैनविल आस्टिन, *दि इंडियन कांस्टिट्यूशन* (1966), पृष्ठ 114 ।
3. इस संशोधन से न्यायपालिका का यह अभिमत दबा दिया गया है जो 1978 के पूर्व *कोचुन्नी* बनाम *मद्रास राज्य*, ए.आई.आर. 1960 एस.सी. 1080 (*1092*); *पानीपत शुगर मिल्स* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 537; *सरस्वती सिंडिकेट* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 460 जैसे निर्णयों में प्रकट किया गया था । (देखिए बसु, *शार्टर कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया*, 10वां संस्करण, पृष्ठ 129, 220) ।
4. तुलना कीजिए *केशवानंद* बनाम *केरल राज्य*, ए.आई. आर. 1973 एस.सी. 1461 (*1554, 1606, 1637, 1776, 2051*); *कर्नाटक राज्य* बनाम *रंगनाथ*, ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 215 (*228*) ।
5. *पाठक* बनाम *भारत संघ*, ए.आई. आर 1978 एस.सी. 802 (पैरा 38, 40) ।
6. अनुच्छेद 31घ, जो संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा अंतःस्थापित किया गया था अब संविधान के 43वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा निरसित किया जा चुका है ।
7. देखिए बसु, *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया* (1991), पृष्ठ 109 और आगे ।
8. 1977 के सोवियत संघ के संविधान के अनुच्छेद 59 में इस परिणाम के लिए विनिर्दिष्ट रूप से उपबंध किया गया है : "नागरिकों द्वारा अपने अधिकार और स्वतंत्रता का प्रयोग उनके कर्तव्य और बाध्यताओं से पृथक् नहीं किया जा सकता ।"
9. *गोपालन* बनाम *मद्रास राज्य*, (1950) एस.सी.आर. 88 ।
10. इस प्रस्थापना को *ए.डी.एम.* बनाम *शुक्ला*, ए.आई.आर. 1976 एस.सी. 1207 में दिए गए विनिश्चय से बल मिलता है कि संविधान के भाग 3 में कुछ अधिकारों को मूल अधिकारों के रूप में समाविष्ट किए जाने से, कामन ला पर, या अन्यथा, आधारित संविधान पूर्व अधिकार पूर्णरूपेण प्रतिस्थापित कर दिए गए हैं । उदाहरण के लिए दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार अनन्य रूप से अनुच्छेद 21 में समाविष्ट है और आज दैहिक स्वतंत्रता से वंचित करने वाली किसी विधि की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता कि वह कामन ला के नियम का उल्लंघन करती है (पैरा 61, 77, 83, 247, 264, 280) । किंतु अब स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं रही है क्योंकि कुछ न्यायाधीशों ने यह कहा है कि "विधि सम्मत शासन" हमारे "संविधान का आधारिक लक्षण" है जो विनिर्दिष्ट और अभिव्यक्त उपबंधों के अतिरिक्त है । (*इंदिरा* बनाम *राजनारायण*, ए.आई.आर 1975 एस.सी. 2299 (न्या. रे, खन्ना और चंद्रचूड़) ।

11. उदाहरण के लिए, विदेश यात्रा करने का अधिकार अनुच्छेद 21 में दैहिक स्वतंत्रता से निर्गत हुआ [*मेनका* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 597 (पैरा 54)] जिसमें *सतवंत* बनाम *सहायक पासपोर्ट अधिकारी*, ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1863 की पुष्टि की गई (1844-45), प्राइवेसी का अधिकार अनुच्छेद 19(1)(घ) और 21 से निकाला गया (*खड़क सिंह* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1295 जिसमें *मेनका गांधी की* पुष्टि की गई) । इसी प्रकार शीघ्र विचारण और निःशुल्क विधिक सहायता के आधार भी अनुच्छेद 21 से प्राप्त होते हैं (*शीला* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1968 एस.सी. 1773; *सुखदास* बनाम *अरुणाचल प्रदेश*, ए.आई.आर. 1986 एस.सी. 991) ।
12. *केरल राज्य* बनाम *जोसेफ*, ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 296; *गुलाम* बनाम *राजस्थान राज्य*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 379 ।
13. *बिशम्बर* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1982 एस.सी. 33 ।
14. *अतियाबारी टी कंपनी* बनाम *असम राज्य*, ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 232 ।
15. न्यायनिर्णय के क्षेत्र से बाहर के अधिकारों को छोड़कर उदाहरणार्थ "राज्य के नीति निदेशक तत्व" जो भाग 4 में हैं ।
16. *सैयद अहमद* बनाम *मैसूर राज्य*, ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 1443 (पैरा 6); *जिला कलक्टर* बनाम *इब्राहीम*, ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 1275 ।
17. *गोलकनाथ* बनाम *पंजाब राज्य*, ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1643 । *केशवानंद* बनाम *केरल राज्य*, ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1461 में बहुमत के अनुसार "आधारिक लक्षणों" में बिल्कुल संशोधन नहीं किया जा सकता । विचित्र तो यह है कि बहुमत द्वारा बताए गए आधारिक लक्षणों की सूची में मूल अधिकार सम्मिलित नहीं हैं ।
18. *शंकरी प्रसाद* बनाम *भारत संघ*, (1952) एस.सी.आर. 89; *सज्जन सिंह* बनाम *राजस्थान राज्य*, ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 845 ।
19. *रमेश थापर* बनाम *मद्रास राज्य*, (1950) एस.सी.आर. 594 ।
20. *ब्रज भूषण* बनाम *दिल्ली राज्य*, (1950) एस.सी.आर. 605 ।
21. *पश्चिमी बंगाल राज्य* बनाम *सुबोध गोपाल*, (1954) एस.सी.आर. 587 ।
22. *द्वारकादास* बनाम *शोलापुर स्पिनिंग कं.*, (1954) एस.सी.आर. 674; *पश्चिमी बंगाल राज्य* बनाम *बेला बनर्जी*, (1954) एस.सी.आर. 558 ।
23. जनता सरकार ने यह प्रयास किया था कि इन दो खंडों का लोप कर दिया जाए और इसलिए 45वां संशोधन विधेयक लाया गया किंतु कांग्रेस विपक्ष ने उसे विफल कर दिया ।
24. *राम नारायण* बनाम *दिल्ली राज्य*, (1963) एस.सी.आर. 552 ।
25. तुलना कीजिए *मेनका* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 597 (पैरा 54-56, 63 — सात न्यायाधीशों का न्यायपीठ); *सुनील* बनाम *दिल्ली प्रशासन*, ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 1675 (पैरा 228); *हुसैनआरा* बनाम *बिहार राज्य*, ए.आई.आर. 1979 एस.सी. 1360 (*1365*); *महाराष्ट्र राज्य* बनाम *चंपालाल*, ए.आई.आर. 1981 एस.सी. 1675 (1677); *शेर सिंह* बनाम *पंजाब राज्य*, ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 465 ।
26. *बिशन दास* बनाम *पंजाब राज्य*, ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 1570 ।
27. *समदासानी* बनाम *सैंट्रल बैंक*, (1952) एस.सी.आर. 391 ।
28. *रामन* बनाम *आई.ए.ए.आई.*, ए.आई.आर. 1979 एस.सी. 1628 ।
29. *कोचुन्नि* बनाम *मद्रास राज्य* (1), ए.आई.आर. 1959 एस.सी. 725 (*730*) ।
30. *ला आफ दि कांस्टीट्यूशन*, नवां संस्करण, पृष्ठ 202 ।
31. *पश्चिमी बंगाल राज्य* बनाम *अनवर अली*, (1952) एस.सी.आर. 289; *रामन* बनाम *आई.ए.ए.आई.*, ए.आई.आर. 1979 एस.सी. 1628 ।
32. *धीरेंद्र* बनाम *लीगल रिमेम्ब्रेंसर*, (1955) 1 एस.सी.आर. 224 ।
33. *चिरंजीलाल* बनाम *भारत संघ*, (1950) एस.सी.आर. 869 ।
34. *अमीरउन्निसा* बनाम *महबूब*, (1953) एस.सी.आर. 404 (*414*); *पद्मुम्मा* बनाम *केरल राज्य*, ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 771 ।
35. *हाथीसिंह मैनुफैक्चरिंग कं.* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1960 एस.सी. 931 ।
36. *यूसुफ* बनाम *मुम्बई राज्य*, ए.आई.आर. 1954 एस.सी. 321 ।

37. *मुम्बई राज्य* बनाम *बलसारा,* (1951) एस.सी.आर. 682 ।
38. *लछमनदास* बनाम *मुम्बई राज्य,* (1952) एस.सी.आर. 710 (*726*) ।
39. *गुरबचन* बनाम *मुम्बई राज्य,* (1952) एस.सी.आर. 737 (*744*) ।
40. *विशेष न्यायालय विधेयक, 1979 का मामला,* ए.आई.आर. 1979 एस.सी. 478 (पैरा 74, 78, 80-89 — सात न्यायाधीशों का न्यायपीठ) ।
41. *रायप्पा* बनाम *तमिलनाडु राज्य,* ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 555; *अजय* बनाम *खालिद,* ए.आई.आर. 1981 एस.सी. 487; *नकरा* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 130 (पैरा 14) ।
42. *दशरथ* बनाम *आंध्र प्रदेश राज्य,* ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 564 (*569*); *देवदासन* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1964 एस.सी. 179; *जनरल मैनेजर* बनाम *रंगाचारी,* ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 36 (*40-41*) ।
43. *चित्रलेखा* बनाम *मैसूर राज्य,* ए.आई.आर. 1964 एस.सी. 1823 (*1827*) ।
44. *वेंकटरामन* बनाम *मद्रास राज्य,* ए.आई.आर. 1951 एस.सी. 229 ।
45. *अच्युतन* बनाम *केरल राज्य,* ए.आई.आर. 1959 एस.सी. 490 ।
46. *जनरल मैनेजर* बनाम *रंगाचारी,* ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 36; *कुंज बिहारी* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 519 (*527*) ।
47. *जनरल मैनेजर* बनाम *रंगाचारी,* ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 36 (*42-44*) ।
48. *बालाजी* बनाम *मैसूर राज्य,* ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 647 (*664*) ।
49. *बनारसी दास* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य,* (1956) एस.सी.आर. 358 (*361-62*) ।
50. वर्तमान में, सरकार वीरता के कार्यों के लिए अलंकरण प्रदान करती है जैसे परमवीर चक्र, महावीर चक्र, वीर चक्र ।
51. *गोपालन* बनाम *मद्रास राज्य,* (1950) एस.सी.आर. 88 (*253-54*) ।
52. *राजस्थान स्टेट इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड* बनाम *मोहन,* ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1856 ।
53. भारत की प्रभुता और अखंडता को वाक्-स्वातंत्र्य, सम्मेलन और संगम की स्वतंत्रता के निर्बन्धन के लिए नए आधारों के रूप में संविधान (सोलहवां संशोधन) अधिनियम, 1963 द्वारा जोड़ा गया। इस संशोधन के बाद, विधान मंडल, दक्षिण में द्रविड़ मुनेत्र कषगम और कश्मीर में जनमत मोर्चा जैसे आंदोलनों से या अराजकता फैलाने वाले दलों से, समुचित विधियां बनाकर निपट सकते हैं। इस संशोधन के अनुसरण में संसद् ने विधिविरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 अधिनियमित किया है (देखिए बासु, *ला आफ दि प्रेस,* दूसरा संस्करण, पृष्ठ 455 और आगे) ।
54. *कुरेशी* बनाम *बिहार राज्य,* (1959) एस.सी.आर. 629 ।
55. *द्वारका प्रसाद* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य,* (1954) एस.सी.आर. 803 ।
56. *चिंतामनराव* बनाम *मध्य प्रदेश राज्य,* (1952) एस.सी.आर. 759; *महाराष्ट्र राज्य* बनाम *हिम्मतभाई,* ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 1157 ।
57. *मद्रास राज्य* बनाम *राव,* (1952) एस.सी.आर 597 (*607*); *लक्ष्मी* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य,* ए.आई.आर. 1981 एस.सी. 873 । (इस प्रस्थापना को अब अनुच्छेद 31ख और 31ग के अधीन पढ़ा जाना चाहिए) ।
58. *खरे* बनाम *दिल्ली राज्य,* (1950) एस.सी.आर. 519; *गुरबचन सिंह* बनाम *मुम्बई राज्य,* (1952) एस.सी.आर. 737 (*742*) ।
59. *द्वारका प्रसाद* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य,* (1954) एस.सी.आर. 803; *ए.पी. मर्चेंट्स एसोसिएशन* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1971 एस.सी. 2346 ।
60. *एक्सप्रैस न्यूज़पेपर्स* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 578 ।
61. *बैनेट कौलमैन* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 106 (देखिए बासु, *केसबुक आन इंडियन कांस्टिट्यूशनल ला,* जिल्द 1, पृष्ठ 207-49) ।
62. *वीरेन्द्र* बनाम *पंजाब राज्य,* ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 986 ।
63. देखिए बसु, *शार्टर कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया,* 10वां संस्करण, पृष्ठ 1021-22 ।
64. *ब्रजभूषण* बनाम *दिल्ली राज्य,* (1950) एस.सी.आर. 605; *रमेश थापर* बनाम *मद्रास राज्य,* (1950) एस.सी.आर. 594 (597) ।
65. *बाबूलाल* बनाम *महाराष्ट्र राज्य,* ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 884 ।

66. *अब्बास* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1971 एस.सी. 431; देखिए बसु, *केसबुक आन इंडियन कांस्टिट्यूशनल ला,* जिल्द 1, पृष्ठ 276 ।
67. आगे अध्याय 25 में यह और स्पष्ट किया जाएगा कि 44वां संशोधन अधिनियम ने अनुच्छेद 352(1) का संशोधन करके उससे "आभ्यंतरित अशांति" का लोप कर दिया है इसलिए अब आभ्यंतरित अशांति के आधार पर आपात की उद्घोषणा करना संभव नहीं होगा । अब भविष्य में अनुच्छेद 352(1) के अधीन आपात की उद्घोषणा केवल (क) बाह्य आक्रमण, या (ख) सशस्त्र विद्रोह के आधार पर ही विधिमान्य होगी ।
68. *केदार नाथ* बनाम *पश्चिमी बंगाल राज्य,* (1954) एस.सी.आर. 30 ।
69. *वेंकटरामन* बनाम *भारत संघ,* (1954) एस.सी.आर. 1150 ।
70. *शर्मा* बनाम *सतीश,* (1954) एस.सी.आर. 1077 ।
71. *मुम्बई राज्य* बनाम *काथी कालू,* ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 1808 ।
72. *मकबूल* बनाम *मुम्बई राज्य,* (1953) एस.सी.आर. 730 ।
73. *नारायन लाल* बनाम *मानेक,* ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 29 (*38*); *वीरा* बनाम *महाराष्ट्र राज्य,* ए.आई.आर. 1976 एस.सी. 1167 ।
74. *राम नारायन* बनाम *मुम्बई राज्य,* (1952) एस.सी.आर. 652 ।
75. *गोपालन* बनाम *मद्रास राज्य,* (1950) एस.सी.आर. 88; *जयनारायण* बनाम *पश्चिमी बंगाल राज्य,* ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 675 ।
76. *ए.डी.एम.* बनाम *शुक्ला,* ए.आई.आर. 1976 एस.सी. 1207 ।
77. *तारापद* बनाम *पश्चिमी बंगाल राज्य,* (1951) एस.सी.आर. 212, किन आधारों पर न्यायालय निरोध आदेश में हस्तक्षेप कर सकते हैं, इसके लिए देखिए बसु, *शार्टर कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया,* 10वां संस्करण, पृष्ठ 159 और आगे; *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया,* 1991, पृष्ठ 84 और आगे ।
78. *सम्राट* बनाम *शिवनाथ,* ए.आई.आर. 1945 पी.सी. 156 ।
79. *लिवरसिज* बनाम *एंडरसन,* (1942) ए.सी. 206 ।
80. *राय* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1982 एस.सी. 710 (पैरा 52, 113) ।
81. कुछ राज्यों ने उनकी अधिकारिता के भीतर आने वाले विषयों से संबंधित निवारक निरोध को प्राधिकृत करने वाली विधियां बनाई हैं, उदाहरणार्थ जम्मू-कश्मीर पब्लिक सेफ्टी ऐक्ट, 1977; आंध्र प्रदेश डिटेंशन ऐक्ट, 1970; राजस्थान निवारक निरोध अधिनियम, 1970; उत्तर प्रदेश राष्ट्र विरोधी तत्व निवारण अधिनियम, 1970; वेस्ट बंगाल प्रिवेंशन आफ वायलेंट एक्टिविटीज़ ऐक्ट, 1970; मध्य प्रदेश सुरक्षा और लोक व्यवस्था अधिनियम, 1980 ।
82. *संजीत* बनाम *राजस्थान राज्य,* ए.आई.आर. 1953 एस.सी. 328; *पीपुल्स यूनियन* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1982 एस.सी. 1473 (पैरा 14-15) ।
83. संसद् ने बंधित श्रम पद्धति (उत्सादन) अधिनियम, 1976 अधिनियमित करके बलात् श्रम और जनता के दुर्बल वर्गों के आर्थिक और भौतिक विदोहन की समाप्ति के लिए साहसिक कदम उठाया है ।
84. *कमिश्नर, हिन्दू रिलिजस एंडाउमेंट्स* बनाम *लक्ष्मींद्र,* (1954) एस.सी.आर. 1005 ।
85. *हनीफ कुरैशी* बनाम *बिहार राज्य,* ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 731 ।
86. *रतिलाल* बनाम *मुम्बई राज्य,* (1954) एस.सी.आर. 1055 ।
87. *सरूप* बनाम *पंजाब राज्य,* ए.आई.आर. 1959 एस.सी. 860 (*866*); *मोती दास* बनाम *साही,* ए.आई.आर. 1959 एस.सी. 942 (950); *जगदीश्वरानंद* बनाम *पुलिस कमिश्नर,* ए.आई.आर. 1984 एस.सी. 51 (पैरा 10) ।
88. *स्टेनिसलास* बनाम *मध्य प्रदेश राज्य,* ए.आई.आर. 1977 एस.सी. 908 ।
89. श्री देसाई के त्यागपत्र देने पर संसद् के विघटन के कारण श्री त्यागी का विधेयक व्यपगत हो गया । अरुणाचल का विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति से विधि बन गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि उसको न्यायालय में कोई चुनौती नहीं दी गई है (पोप जान पाल को एक रजिस्ट्रीकृत पत्र भेजकर यह पूछा गया था कि व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध संपरिवर्तन को न्यायोचित ठहराने के लिए शस्त्रों में क्या प्राधिकार है । इसका कोई उत्तर नहीं आया) ।
90. देखिए बसु, *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया* (छठा संस्करण, 1991) पृष्ठ 1, 3 ।

91. कोई भी व्यक्ति जिसने भारत का सांविधानिक इतिहास पढ़ा है यह नहीं भूल सकता कि 1932 के सांप्रदायिक अधिनिर्णय के कारण, जिसमें मुस्लिम और गैर मुस्लिम लोगों के पृथक् प्रतिनिधित्व का उपबंध था, अंततोगत्वा भारत का दुखद विभाजन हुआ (देखिए ऊपर पृष्ठ 8, 16-17) ।
92. *सेंट स्टीफन्स कालेज* बनाम *दिल्ली विश्वविद्यालय*, जे.टी. 1991 (4) एस.सी. 548 (1992) एस.सी.सी. 558 ।
93. *मुम्बई राज्य* बनाम *बलसारा*, (1951) एस.सी.आर. 682 ।
94. *रघुबीर* बनाम *कोर्ट आफ वार्ड्स*, (1953) एस.सी.आर. 1049 ।
95. *वजीर चंद* बनाम *हिमाचल प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1954 एस.सी. 415; *वीरेन्द्र* बनाम *पंजाब राज्य*, ए.आई.आर. 1957 एस.सी. 896 ।
96. *द्वारका* बनाम *बिहार राज्य*, ए.आई.आर. 1959 एस.सी. 249; *वीरेन्द्र* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य*, (1955) 1 एस.सी.आर. 415 ।
97. *कोचुन्नि* बनाम *मद्रास राज्य*, ए.आई.आर. 1960 एस.सी. 1080; *कुन्नादट* बनाम *केरल राज्य*, ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 552 ।
98. अनुच्छेद 31 से 31घ के अद्यतन संशोधित पाठ के लिए देखिए बसु, *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया*, (1991), पृष्ठ 97 और आगे । इनमें से अनुच्छेद 31घ का संविधान (43वां संशोधन) अधिनियम, 1977 द्वारा लोप कर दिया गया ।
99. *पश्चिमी बंगाल राज्य* बनाम *बेला बनर्जी*, (1954) एस.सी.आर. 558 (*563*) ।
100. *कूपर* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 564 (*608, 614*) ।
101. *केशवानंद* बनाम *केरल राज्य*, ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1641 ।
102. *मिनर्वा मिल्स* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1787 ।
103. जनता सरकार ने यह बीड़ा उठाया था कि इंदिरा सरकार ने संविधान में जो परिवर्तन किए हैं उन्हें मिटा दिया जाएगा । किंतु वर्तमान संदर्भ में वे भूल गए कि 1949 के मूल संविधान में अनुच्छेद 31 के खंड (2) का कोई परंतुक नहीं था । 1971 में जब 25वें संशोधन अधिनियम द्वारा "प्रतिकर" शब्द के स्थाप पर "रकम" शब्द रखा गया तब श्रीमती गांधी ने अल्पसंख्यकों की शिक्षा संस्थाओं के पूर्ण प्रतिकर पाने के अधिकार की रक्षा के लिए यह परंतुक बनाया था । उनकी सरकार द्वारा संशोधित संविधान के अधीन शेष विश्व में ऐसा कोई अधिकार नहीं था । जनता सरकार ने इस अनुच्छेद 31(2) को तो निरसित कर दिया किंतु इस परंतुक की सावधानी से रक्षा की ।
104. बसु, *शार्टर कांस्टिट्यूश्न आफ इंडिया*, नवां संस्करण, पृष्ठ 668 और आगे, *कंपरेटिव कांस्टिट्यूशनल ला*, पृष्ठ 114 और आगे ।
105. 1948 सी.ए.डी., जिल्द 7, पृष्ठ 953 ।
106. *कोचुन्नि* बनाम *मद्रास राज्य* (1), ए.आई.आर. 1959 एस.सी. 725; *खड़क सिंह* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1295; *रशीद अहमद* बनाम *म्युनिसिपल बोर्ड*, (1950) एस.सी.आर. 566 ।
107. *रूरल लिटिगेशन* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य*, (1989) सप. (1) एस.सी.सी. 504 (पैरा 16) ।
108. *बासप्पा* बनाम *नागप्पा*, (1955) 1 एस.सी.आर. 250; *खड़क सिंह* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1295 ।
109. *अमर सिंह जी* बनाम *राजस्थान राज्य*, ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 504 ।
110. इस संदर्भ में यह बता देना ठीक होगा कि 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की रिट अधिकारिता पर अनेक शर्तें और मर्यादाएं अधिरोपित की गई थीं । इस उद्देश्य से अनेक नए उपबंधों की रचना की गई थी जैसे अनुच्छेद 32क, 131क, 144क, 226क, 228क, और अनुच्छेद 226 तो पूरा ही प्रतिस्थापित किया गया था (देखिए बासु, *कांस्टिट्यूशनल अमेंडमेंट ऐक्ट्स*, पृष्ठ 100-7, 126-28) । ये बंधन 43वें और 44वें संशोधन अधिनियम, 1977-78 के द्वारा जनता सरकार ने हटा दिए फलस्वरूप अनुच्छेद 32 और 226 के उपबंध पुनः अपने मूल रूप में आ गए हैं । 1976 में अंतःस्थापित अनुच्छेद 323क और 323ख यथावत् रखे गए हैं । अनुच्छेद 323क के अनुसरण में प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 में अधिनियमित किया गया था । इसके द्वारा संघ सरकार के सेवकों के सेवा संबंधी विषयों में उच्च न्यायालय की अधिकारिता ले ली गई और प्रशासनिक अधिकरणों में निहित कर दी गई (देखिए आगे अध्याय 27) ।

111. *मुम्बई राज्य* बनाम *यूनाइटेड मोटर्स,* (1953) एस.सी.आर. 1069 ।
112. देखिए, संविधान (15वां संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 226 द्वारा समाविष्ट खंड (1क), जो 42वें संशोधन द्वारा खंड (2) बना दिया गया है ।
113. *हिम्मत लाल* बनाम *मध्य प्रदेश राज्य,* (1954) एस.सी.आर. 1122 ।
114. उच्चतम न्यायालय के इस विनिश्चय और अन्य अग्रनिर्णयों के तथ्य और सिद्धांतों के लिए देखिए बसु, *केसबुक आन इंडियन कांस्टिट्यूशनल ला,* जिल्द 1, पृष्ठ 447 और आगे ।
115. *माखन सिंह* बनाम *पंजाब राज्य,* (1952) एस.सी.आर. 368; *केशव* बनाम *कमिश्नर आफ पुलिस,* (1956) एस.सी.आर. 653 ।
116. *जनार्दन* बनाम *हैदराबाद राज्य,* (1951) एस.सी.आर. 344 ।
117. *वेंकटरामन* बनाम *मद्रास राज्य,* ए.आई.आर. 1951 एस.सी. 229 ।
118. *सोहन लाल* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1957 एस.सी. 532 ।
119. *प्राविंस आफ बाम्बे* बनाम *खुशालदास,* (1950) एस.सी.आर. 621 ।
120. *क्राइपाक* बनाम *मध्यप्रदेश राज्य,* ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 150 (*156*); *केशव मिल्स* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 389 (पैरा 7-8); *डी.एफ.ओ.* बनाम *राम,* ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 205, *इरूसियन इक्विपमेंट* बनाम *पश्चिमी बंगाल राज्य,* ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 288; *जोसेफ* बनाम *एक्जीक्यूटिव इंजीनियर,* ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 930 ।
121. *हरि विष्णु* बनाम *अहमद,* (1955) 1 एस.सी.आर 1104 (*1123*); *नगेन्द्र* बनाम *कमिश्नर,* ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 398 (*412*) ।
122. उच्चतम न्यायालय, अनुच्छेद 32 के अधीन कार्यवाही में यह रिट तभी निकाल सकता है जब नियुक्ति के कारण किसी मूल अधिकार का हनन हुआ है ।
123. आपात की उद्घोषणा और अनुच्छेद 359 के अधीन दिए गए आदेशों के लिए आगे अध्याय 25 में देखिए ।
124. *रामशरण* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1989 एस.सी. 544 (पैरा 14) ।
125. देखिए आगे, बसु, *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया,* 6ठा संस्करण, 1991, पृष्ठ 134-35 ।
126. *रूरल लिटिगेशन* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य,* ए.आई.आर. 1987 एस.सी. 359 (पैरा 20) ।

9

राज्य की नीति के निदेशक तत्व

संविधान के भाग 4 में [अनुच्छेद 36–51] राज्य की नीति के निदेशक तत्व समाहित हैं ।

इन तत्त्वों को किस प्रकार अनेक समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है । यह सारणी 6 में बताया गया है ।

निदेशों का वर्गीकरण ।

(i) कुछ आदर्श, विशेषतः आर्थिक, जिनके लिए संविधान के रचयिताओं के अनुसार राज्य को प्रयास करना चाहिए ।

(ii) विधान मंडल और कार्यपालिका को कुछ निदेश जिनका आशय यह दिखाना है कि किस रीति में राज्य को अपनी विधायी और कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए ।

(iii) नागरिकों के कुछ अधिकार जो न्यायालयों द्वारा "मूल अधिकारों" के समान प्रवर्तित नहीं कराए जा सकते हैं किंतु राज्य अपनी विधायी और प्रशासनिक नीतियों का विनियमन करके उन्हें सुलभ कराने का प्रयास कर सकते हैं ।

निदेशों का प्रविषय ।

राज्य का[1] यह कर्तव्य होगा कि प्रशासन में और विधि के निर्माण में इन सिद्धांतों का अनुसरण करे । ये प्रजातांत्रिक संविधान के अधीन राज्य के उद्देश्य को समेटे हुए हैं । अर्थात् उसे "कल्याणकारी राज्य" होना है "पुलिस राज्य" नहीं । अधिकांश निदेशों का ध्येय आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र स्थापित करना है । जिसका संकल्प उद्देशिका में लिया गया है ।

कल्पित आर्थिक लोकतंत्र की प्रकृति ।

सर आइवर जेनिंग्स के अनुसार[2] अधिकांश उपबंधों के पीछे जो दर्शन है वह "फेबियन समाजवाद" है जिसमें से समाजवाद निकाल दिया गया है क्योंकि उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों के राष्ट्रीयकरण[3] का अभाव है । यह स्पष्ट है कि (1949 में रचित) हमारे संविधान में कोई विशिष्ट "वाद" नहीं था । इसमें व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए अनियंत्रित प्राइवेट उद्यम और हित के दुर्गुणों को सामाजिक नियंत्रण और कल्याणकारी उपायों द्वारा मिटाने का यथासंभव प्रयत्न किया गया था ।

इसीलिए पंडित नेहरू ने हमारी योजना का उद्देश्य "समाज का समाजवादी ढांचा" घोषित किया था, "समाजवाद" नहीं :[4]

> "कुछ लोगों के लिए समाजवाद के दो अर्थ हैं : वितरण जिसका अर्थ है जिनके पास अत्यधिक धन है उनकी जेबें खाली करना और सुव्यवस्थिकरण । ये दोनों वांछनीय उद्देश्य हैं किंतु ये अपने आप में समाजवाद नहीं है ।
>
> उत्पादन के तंत्र पर प्रभाव डालकर वितरण करने का प्रयत्न गलत कदम होगा । ऐसा करके हम अपने आपको कमजोर करेंगे । समाजवाद का आधार है धन वृद्धि । निर्धनता का समाजवाद नहीं होता । अतएव समानता लाने की प्रक्रिया चरणों में की जानी चाहिए ।

दूसरा प्रश्न राष्ट्रीयकरण का है । मैं समझता हूं कि जब तक हम राष्ट्रीयकरण करके किसी काम को ठीक से चलाने के लिए तैयार नहीं हैं तब तक राष्ट्रीयकरण करना खतरा मोल लेना होगा । राष्ट्रीयकरण के लिए हमें वस्तुओं को चुनना होगा । मेरी समाजवाद की कल्पना यह है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को प्रगति के समान अवसर उपलब्ध हों ।"

इस संदर्भ में यह उल्लेख करना उचित होगा कि उनकी पुत्री श्रीमती इंदिरा गांधी (पूर्व प्रधान मंत्री) के शासन काल में सरकारी नीति का झुकाव समूहवाद की ओर अधिक रहा है । बहुत से उद्योग, व्यापार और उत्पादन के साधनों का स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के तीन दशकों में या तो सीधे या राज्य के स्वामित्व या नियंत्रण के अधीन निगमों के माध्यम से, राष्ट्रीयकरण हुआ है । जैसे बैंक, बीमा, उड्डयन, कोयला खान ।

42वां संशोधन ।

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि 42वें संशोधन अधिनियम से उद्देशिका के संशोधन द्वारा राज्य का उद्देश्य "समाजवादी" बताया गया है, श्रीमती गांधी ने यह कहा था कि समाजवाद का अर्थ समूहवाद नहीं है, बल्कि उसका अर्थ है सामाजिक-आर्थिक सुधारों द्वारा सबको समान अवसर उपलब्ध कराना ।[5] इसी संशोधन द्वारा भाग 4 में कुछ और परिवर्तन किए गए हैं, कुछ नए निदेश जोड़कर संविधान के समाजवादी ढांचे की ओर झुकाव को बढ़ाया गया है ।

(i) अनुच्छेद 39क अंतःस्थापित करके राज्य पर कर्तव्य डाला गया है कि वह निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा और इस प्रकार काम करेगा कि सबके लिए समान न्याय सुनिश्चित हो जैसा कि उद्देशिका में घोषित है ।

(ii) अनुच्छेद 43क अंतःस्थापित करके राज्य को यह निदेश दिया गया है कि वह उद्योग व अन्य उपक्रमों में कर्मकारों का भाग लेना सुनिश्चित करे (इसे लाभ में भागीदारी कहा जाता है) । आर्थिक न्याय की प्राप्ति के अर्थ में यह समाजवाद की ओर एक सशक्त कदम है ।[6]

44वां संशोधन ।

जनता सरकार ने उद्देशिका में जिस आर्थिक न्याय और अवसर की समानता का आश्वासन दिया था उसे पूरा करने के लिए (संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा) अनुच्छेद 38 में खंड (2) अंतःस्थापित किया । यह इस प्रकार है

"राज्य, विशिष्टतया, आय की असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा और न केवल व्यष्टियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच भी प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा ।"

इस सीधे सादे दिखाई पड़ने वाले संशोधन को संपत्ति के मूल अधिकार के जनता सरकार द्वारा समाप्त किए जाने के साथ पढ़ा जाना चाहिए । उन्होंने अधिग्रहणकारी कराधान और विभिन्न आजीविकाओं के लिए वेतन और मजदूरी के समानीकरण के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है । इससे उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण किए बिना भी समाजवादी समाज की स्थापना हो सकेगी ।[6]

निदेशों की मूल अधिकारों से तुलना ।

ये निदेश, संविधान के भाग 3 में अंतर्विष्ट मूल अधिकारों से या देश की सामान्य विधि से निम्नलिखित बातों से भिन्न हैं :

(i) मूल अधिकार, राज्य की कार्रवाई को परिसीमा में बांधते हैं । निदेशक तत्व तत्कालीन सरकार के लिए अनुदेशों के विलेख के रूप में हैं जो उन्हें अपने कार्यों से कुछ बातें करने का और कुछ आदर्श प्राप्त करने का निदेश देते हैं ।

(ii) निदेश, विधान द्वारा ही लागू किए जा सकते हैं । जब तक निदेश में बताई

गई नीति को क्रियान्वित करने वाली कोई विधि नहीं बनती है तब तक निदेश का अनुसरण करने के नाम पर राज्य या कोई व्यक्ति किसी विद्यमान विधि या विधिक अधिकार का उल्लंघन नहीं कर सकता है ।

(iii) निदेश, न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं हैं और किसी व्यक्ति के पक्ष में कोई ऐसे अधिकारों का सृजन नहीं करते हैं जिनका न्यायालय द्वारा निर्णय हो सके ।

व्यक्ति की दृष्टि से मूल अधिकार और निदेश के बीच अंतर निर्णेय और अनिर्णेय अधिकारों के बीच अंतर है । यह वर्गीकरण हमारे संविधान के निर्माताओं ने आयरलैंड के संविधान से नकल किया था । उदाहरणार्थ, अनुच्छेद 43 के अधीन निदेश राज्य को सभी कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी सुनिश्चित करने का कर्तव्य सौंपता है किंतु जब तक इसे समुचित विधान द्वारा लागू न किया जाए तब तक कोई कर्मकार न्यायालय में कार्रवाई करके निर्वाह मजदूरी नहीं प्राप्त कर सकता है । दूसरे शब्दों में न्यायालय इस बात के लिए सक्षम नहीं है कि वे सरकार को बाध्य करे कि वह किसी निदेश को क्रियान्वित करे । उदाहरण के लिए, अनुच्छेद 45 की समय सीमा के भीतर निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देना या किसी निदेशक तत्व को लागू करने के लिए विधान बनाना ।

मूल अधिकार और निदेशक तत्वों में विरोध ।

(iv) यह ध्यान में रखना चाहिए कि संविधान के भाग 4 में "राज्य की नीति के निदेशक तत्व" शीर्ष के अधीन जो घोषणाएं हैं वे मूल अधिकारों के रूप में भाग 3 में की गई घोषणा से कई मामलों में अधिक व्यापक हैं । अतएव इन दोनों प्रकार के उपबंधों के बीच विरोध की दशा में पूर्विकता का प्रश्न उपस्थित हो सकता है । मूल अधिकार न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय हैं [अनुच्छेद 32, 226(1)] और न्यायालय इस बात के लिए आबद्धकर है कि वे किसी भी मूल अधिकार से असंगत विधि को शून्य घोषित करे । किंतु निदेशों को इस प्रकार प्रवृत्त नहीं कराया जा सकता [अनुच्छेद 37] । न्यायालय किसी विधि को जो अन्यथा विधिमान्य है इस आधार पर शून्य घोषित नहीं कर सकते हैं कि वे निदेशों का उल्लंघन करती है । अतएव संविधान के भाग 3 और 4 में विरोध होने पर न्यायालय में भाग 3 को अधिमान दिया जाएगा ।[7]

पूर्वगामी साधारण प्रस्थापना उच्चतम न्यायालय ने 1951 में अधिकथित की थी ।[7] अब इसे एक प्रमुख अपवाद के अधीन पढ़ा जाना चाहिए । 1971 में अंतःस्थापित और संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम द्वारा विस्तारित अनुच्छेद 3ग यह कहता है कि यद्यपि निदेश न्यायालय में सीधे प्रवृत्त नहीं कराए जा सकते हैं किंतु यदि संविधान के भाग 4 में अंतर्विष्ट किसी निदेश को लागू करने के लिए कोई विधि बनाई जाती है तो उसे अनुच्छेद 14 और 19 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के उल्लंघन के आधार पर असांविधानिक घोषित नहीं किया जा सकेगा ।[8]

निदेशों को, मूल अधिकारों पर इस प्रकार प्राथमिकता देने के प्रयास को उच्चतम न्यायालय के बहुमत ने *मिनर्वा मिल्स* में[9] दो प्रकार से विफल कर दिया, —

(क) उसने अनुच्छेद 31ग के विस्तार को अमान्य कर दिया जिसके द्वारा उस अनुच्छेद में भाग 4 के सभी या कोई निदेश सम्मिलित किए गए थे । न्यायालय ने कहा कि इस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन को पूर्णतः अपवर्जित करने से, संविधान के आधारिक ढांचे पर कुप्रभाव पड़ेगा । परिणामस्वरूप अनुच्छेद 31ग अपनी पूर्व स्थिति में आ गया है । अनुच्छेद 31ग किसी विधि को तभी संरक्षण प्रदान कर सकेगा जब वह अनुच्छेद 39(ख)-(ग) के निदेश को क्रियान्वित करने के लिए हो । भाग 4 में सम्मिलित किसी अन्य निदेश के लिए नहीं ।

(ख) यह भी अभिनिर्धारित हुआ है कि मूल संविधान में निदेशों और मूल अधिकारों के बीच सूक्ष्म संतुलन है । न्यायालयों को चाहिए कि वे दोनों प्रकारों के उपबंधों का समन्वयकारी निर्वचन करके उसे बनाए रखें । निदेशक तत्वों को साधारण अधिमान नहीं दिया जाना चाहिए ।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन दो मूल अधिकारों को छोड़कर [अनुच्छेद 14 और 16] अन्य के संबंध में 1951[7] में अधिकथित साधारण प्रस्थापना मान्य रहेगी । जैसे, अनुच्छेद 45 में दिए गए निदेश को क्रियान्वित करने के लिए — बालकों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा — राज्य अनुच्छेद 40(1) के अधीन अल्पसंख्यकों के अपनी पसंद की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करने के मूल अधिकार का अध्यारोहण नहीं कर सकता ।[10]

निदेशों के पीछे अधिशास्ति ।

ये निदेश न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित नहीं किए जा सकते हैं और यदि तत्कालीन सरकार इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं करती है तो कोई न्यायालय उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है । फिर भी इन निदेशों के लिए यह घोषित किया गया है कि वे "देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा" [अनुच्छेद 37] ।

इनके पीछे अधिशास्ति राजनीतिक है । डा. अम्बेडकर ने संविधान सभा में यह कहा था, "यदि कोई सरकार इनकी अवहेलना करेगी तो उसे निर्वाचन के समय मतदाताओं को उत्तर देना होगा ।"[11] विपक्ष के हाथों में भी यह एक अस्त्र का कार्य करेगा जिससे वे सरकार की आलोचना इस आधार पर कर सकें कि उसका अमुक कार्यपालक या विधायी कृत्य निदेशक तत्वों के विरोध में है । लेखक को निदेशों के प्रवर्तन के लिए इससे अधिक प्रभावी अधिशास्ति दिखाई पड़ती है जिसका अभी तक सही अधिमूल्यन नहीं किया गया है । अनुच्छेद 355 इस प्रकार है, —

> "संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह . . . प्रत्येक राज्य की सरकार का इस संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे ।"

क्या अनुच्छेद 355, 365, निदेशों का राज्यों द्वारा क्रियान्वयन कराने को लागू किए जा सकते हैं ।

यह निर्विवाद है कि भाग 4 (जिसमें निदेशक तत्व हैं) संविधान का भाग है । निदेशों को न्यायालय द्वारा प्रवर्तित तो नहीं कराया जा सकता पर अनुच्छेद 37 में स्पष्ट रूप से कर्तव्य के रूप में निश्चित करता है कि "विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा ।"

यदि ऐसा है तो यह देखना संघ का कर्तव्य है कि प्रत्येक राज्य जहां तक हो सके इन निदेशों को क्रियान्वित करने के लिए कदम उठाए । अतएव संघ इस बात के लिए सक्षम है कि वह विशिष्ट राज्यों को यह निदेश दे कि वे "बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबंध करें" [अनुच्छेद 45], या "गायों, बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक पशुओं के वध का प्रतिषेध करें" [अनुच्छेद 48], या "मादक पेयों के उपभोग का प्रतिषेध करें [अनुच्छेद 47] आदि । संघ द्वारा भेजे गए निदेशों का अनुपालन करने से इंकार करने पर अवज्ञा करने वाले राज्य के विरुद्ध अनुच्छेद 365 लागू किया जा सकता है । अन्यथा भाग 4 के निदेश तो कागज पर छपे हुए अक्षर ही बने रहेंगे ।

निदेशों की उपयोगिता ।

निदेशों में विधिक कमी के कारण विभिन्न विद्वानों ने संविधान में, जो कि विधिक विलेख है, उनके समावेश किए जाने की उपयोगिता पर प्रश्न चिह्न लगाया है । सर आइवर जैनिंग्स[12] ने कहा कि ये तो "पुण्यात्मा लोगों की महत्वाकांक्षा मात्र" है । उनके अनुसार 19वीं सदी के इंग्लैंड के

"फेबियन समाजवाद" को जिसमें से समाजवाद निकाल दिया गया है भारत में आयात करने का कोई औचित्य नहीं था ।

प्रोफेसर वेयर ने तो और भी कठोर शब्दों में आलोचना की है, —

> "इन अनुच्छेदों को पढ़कर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इन विषयों को न्यायालयों पर छोड़ना मूर्खता होती . . . यदि यह उद्देश्य है कि संविधान का सभी को समादर और स्नेह प्राप्त हो तो उसमें इन सामान्य सिद्धांतों का समावेश करके कुछ लाभ होगा ऐसा नहीं मालूम पड़ता । यदि संविधान को गुरुता दी जानी है तो नीति के इन साधारण उद्देश्यों के निर्वचन और उनकी पूर्ति के कारण विधान मंडलों को बड़ी कठिनाइयां होंगी जिनके कारण संविधान, न्यायालय और विधान मंडल में टकराव होगा और उनकी प्रतिष्ठा कम होगी । यदि इन घोषणाओं को केवल शब्द ही मानना है तो इससे संविधान की विश्वसनीयता कम होगी ।"[13]

किंतु संविधान में उनका समावेश बहुत से लोगों की राय में उचित माना गया है । 1950 से संविधान के कार्यकरण से भी यही प्रकट होता है ।

(i) सर बी.एन. राव ने व्यक्ति के अधिकारों के दो प्रवर्गों में विभाजन की सलाह दी थी — वे जो न्यायालय द्वारा प्रवर्तित किए जा सकते हैं और वे जो नहीं किए जा सकते हैं । उनके अनुसार दूसरे प्रकार के अधिकार राज्य के प्राधिकारियों के लिए नैतिक सूक्तियों के रूप में हैं . . . वे कम से कम शिक्षा तो दे ही सकते हैं । यह सूक्तियां तत्कालीन सत्ताधारियों को यह स्मरण कराने के लिए है कि भारतीय राज्य व्यवस्था का ध्येय "आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद" लाना है (पणिकर), या "आर्थिक लोकतंत्र" की स्थापना है जो "राजनैतिक लोकतंत्र" से भिन्न है (अम्बेडकर) जिसका केवल इतना ही अर्थ है "एक व्यक्ति एक मत" । यह प्राधिकारियों को यह स्मरण कराता है कि वे "सामाजिक सुरक्षा और सफाई के बेहतर मानक" सुनिश्चित करें और "स्त्रियों तथा बालकों के प्रति कर्तव्यों पर और पिछड़े हुए जनजाति के लोगों के प्रति दायित्वों पर बल दें" (पणिकर) ।

ग्रेनविल आस्टिन[14] के विचार में निदेशों का लक्ष्य "सामाजिक क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति है . . . इस क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियां उत्पन्न करके क्रांति को आगे बढ़ाना है ।" वे स्पष्ट करते हुए यह संप्रेक्षण करते हैं, —

> "राज्य की इन सकारात्मक बाध्यताओं की सर्जना करके, संविधान सभा ने भारत की भावी सरकारों को यह उत्तरदायित्व सौंपा है कि वे व्यक्ति स्वातंत्र्य और लोकहित के बीच अथवा कुछ थोड़े से लोगों की संपत्ति और उनके विशेषाधिकार बनाए रखने के और सामान्य हित के लिए सभी मनुष्यों को समान रूप से शक्ति देकर उन्हें स्वतंत्र करने के उद्देश्य से उन्हें कुछ फायदे देने के बीच मध्यम मार्ग खोजें ।"[14]

42वें और 44वें संशोधन ।

संक्षेप में, उद्देशिका का विस्तार करते हुए, निदेशों में इस बात पर बल दिया गया है कि भारतीय राज्य व्यवस्था का ध्येय अबंध नीति नहीं है उसका ध्येय कल्याणकारी राज्य है जिसमें राज्य का यह लक्ष्य है कि वह अपने नागरिकों को सामाजिक और आर्थिक न्याय और व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करे । यह सभी भावी सरकारों के लिए "अनुदेश विलेख" के रूप में है चाहे वे सरकारें किसी भी दल की क्यों न हों । जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं समाजवाद की ओर झुकाव को 42वें और 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा और बढ़ा दिया गया है ।

(ii) ये निदेश न्यायालय द्वारा प्रवर्तित नहीं कराए जा सकते हैं और यदि तत्कालीन सरकार इन्हें कार्यान्वित करने में असफल रहती है तो कोई न्यायालय सरकार को बाध्य नहीं कर सकता कि वह इन्हें क्रियान्वित करे । किंतु यह घोषित किया जा चुका है कि ये सभी तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं और जो सरकार-जनता के मत पर टिकी हुई है वह राज्य व्यवस्था को आकार देने में इनकी उपेक्षा नहीं कर सकती ।[11]

(iii) संविधान का प्रारूप तैयार करते समय बहुत से लोगों ने इसे व्यर्थ का शब्दाडंबर माना था किंतु गत कुछ वर्षों में संविधान के कार्यकरण से न्यायालयों में भी इनकी उपयोगिता प्रदर्शित हो गई है । जैसे,

(क) न्यायालय किसी विधि को इस आधार पर अविधिमान्य नहीं ठहरा सकते कि वह निदेशक तत्वों का उल्लंघन करती है किंतु बहुत सी विधियों को इसलिए सांविधानिक माना गया है कि वे निदेशक तत्त्वों को क्रियान्वित करती हैं । अतएव वे केवल नैतिक उपदेश मात्र नहीं है जैसा प्रोफेसर वेयर ने 1950 में कहा था । उदाहरणार्थ, यह अभिनिर्धारित किया गया है कि जब किसी विधि पर इस आधार पर आपत्ति की जाती है कि वह अनुच्छेद 14 या 19 में[8] विनिर्दिष्ट मूल अधिकार का अतिलंघन करती है तो यदि ऐसी विधि किसी निदेश को क्रियान्वित करने के लिए बनाई गई है तो न्यायालय उसकी विधिमान्यता का समर्थन करेगा । वह यह अभिनिर्धारित करेगा कि यह अनुच्छेद 14 के प्रयोजनों के लिए "युक्तियुक्त वर्गीकरण है,[15] या अनुच्छेद 19 के अधीन "युक्तियुक्त निर्बन्धन" है[16] [या अनुच्छेद 31(2) के अर्थान्तर्गत "लोक प्रयोजन" है] ।[8, 17]

संविधान का अब संशोधन कर दिया गया है जिससे अब उक्त निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए न्यायिक निर्वचन की आवश्यकता नहीं है । 1971 में संविधान में अनुच्छेद 31ग जोड़कर यह उपबंध किया गया कि अनुच्छेद 39(ख)-(ग) को क्रियान्वित करने का उपबंध करने वाली विधि अनुच्छेद 14, 19 या 31 द्वारा अधिरोपित मर्यादाओं से उन्मुक्त होगी । 1976 में 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा यह सुरक्षण उन सभी विधियों को प्रदान किया गया जो भाग 14 में सम्मिलित किसी भी निदेश को प्रभावी करने के लिए हों । किंतु उच्चतम न्यायालय ने इस विस्तार को रोक दिया है ।[9]

(ख) अनुच्छेद 14, 19 (और 31)[8], के अधीन जो मूल अधिकार हैं उनसे भिन्न मूल अधिकारों के विषय में स्थिति यह है कि निदेश उनका अध्यारोहण तो नहीं कर सकते किंतु मूल अधिकारों की परिधि और प्रविषय का अवधारण करने में न्यायालय निदेशक तत्वों की पूर्ण उपेक्षा भी नहीं कर सकते । उन्हें समन्वयकारी अर्थान्वियन का सिद्धांत अपनाना चाहिए जिससे यथासंभव दोनों को प्रभावी किया जा सके ।[18] उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 21 के अधीन किसी व्यक्ति को उसकी दैहिक स्वतंत्रता से वंचित करने के लिए विधि बनाते समय राज्य के कर्तव्य का अवधारण करते हुए अनुच्छेद 39क का अवलंब लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि जहां बंदी को अपील का अधिकार है वहां राज्य उसे निर्णय की प्रति निःशुल्क देगा और राज्य के खर्चे पर उसके लिए अधिवक्ता की व्यवस्था करेगा ।[19]

(ग) विधान की सांविधानिक विधिमान्यता अवधारित करने के विषय में ही नहीं किंतु कानूनों के निर्वचन में भी, न्यायालय को यह ध्यान में रखना चाहिए कि निदेशक तत्व, मूल अधिकारों के विरोधी नहीं हैं, उनके अनुपूरक हैं और राज्य निदेशों को क्रियान्वित करने के लिए नागरिकों पर कुछ कर्तव्य अधिरोपित कर सकता है । जैसे, अनुच्छेद 43 के निदेश के अनुसार कर्मकारों को न्यूनतम मजदूरी सुनिश्चित करने के लिए विधि बनाकर ।[20]

(घ) निदेशक तत्व न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय तो नहीं है किंतु हाल में उच्चतम न्यायालय ने उचित मामलों में निदेश निकाल कर सरकार से यह उपेक्षा की है कि निदेशों ने जो लक्ष्य सम्मुख रखे हैं उनकी प्राप्ति के लिए वह अपना सकारात्मक कर्तव्य पूरा करे ।[21]

(iv) संविधान का उत्तरोत्तर संशोधन करके (उदाहरण के लिए, पहला, चौथा, सत्रहवां, पच्चीसवां, बयालीसवां और चवालीसवां) उन मूल अधिकारों का संशोधन कर दिया गया

है जिनकी विद्यमानता के कारण राज्य कृषिक, आर्थिक या सामाजिक सुधार करने में कठिनाई अनुभव कर रहा था जो निदेशक तत्वों द्वारा प्रकल्पित हैं ।[22]

निदेशों का अनुपालन ।

संघ और राज्यों की सरकारों ने संविधान के लागू होने के पश्चात् के इकतालीस वर्षों में इतने सारे निदेशों के क्रियान्वयन में क्या प्रगति की है इसका सर्वेक्षण करना कोई सरल काम नहीं है । फिर भी कुछ विशिष्ट उपलब्धियों की ओर निदेश करना उचित होगा जिससे इस बात का उदाहरण दिया जा सके कि सत्तारूढ़ सरकार ने इसे "धार्मिक उपदेश" नहीं माना है । जब इन्हें संविधान में रखा गया था तब कुछ लोगों की धारणा थी कि ये तो "उपदेश" ही रह जाएंगे ।

(क) सबसे अधिक प्रगति अनुच्छेद 39(ख) के बारे में हुई है । इसमें यह कहा गया है कि राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि समुदाय की भौतिक संपदा का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो । भारत जैसे कृषि प्रधान देश में मुख्य भौतिक संपदा कृषिक है । स्थायी व्यवस्थापन के समय से ही धन का यह महत्वपूर्ण स्रोत अधिकतर आनुवंशिक स्वत्वधारियों और मध्यवर्तियों के समूह द्वारा धारित था । देश के विभिन्न भागों में इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता था, जैसे, जमींदार, जागीरदार, इनामदार आदि । भूमि को वास्तव में जोतने वाले कृषक ऊंचे भाटक, मध्यवर्तियों के शोषण और विभिन्न आर्थिक कारणों से दिनोंदिन निर्धन होते जा रहे थे । योजना आयोग ने अपनी पहली योजना में यह सिफारिश की कि इन मध्यवर्तियों का उत्सादन कर दिया जाए जिससे कृषक का राज्य से सीधा संबंध स्थापित हो जाए । अब तो यह सुधार समस्त देश में लगभग पूरा हो गया है । इसके साथ-साथ बहुत से राज्यों में अभिधृति की सुरक्षा, उचित भाटक आदि के बारे में कृषकों की दशाओं में सुधार लाने के लिए विधान बनाए गए हैं । वास्तविक कृषकों के हाथों में भी भूधृति का संकेद्रण न हो उस उद्देश्य से बहुत से राज्यों में अधिकतम सीमा तय की गई है । अर्थात् भूमि की वह अधिकतम सीमा जो कोई एक व्यक्ति धारण कर सकेगा ।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि किस प्रकार संविधान का संशोधन[23] करके, इन सुधारों का किया जाना सुगम बनाया गया है और इन विधियों को न्यायालय में चुनौती दिए जाने से रक्षा प्रदान की गई है ।

(ख) अनुच्छेद 40 के निदेश को लागू करने के लिए बहुत से अधिनियम बनाए गए हैं । यह ग्राम पंचायतों का गठन करने और उन्हें स्वायत्त शासन की शक्ति प्रदान करने के लिए हैं । इस कार्यक्रम में 2,20,000 ग्राम पंचायतें, 4,500 पंचायत समितियां और 357 जिला परिषदें हैं ।[24] विभिन्न राज्य अधिनियमों के निर्बन्धनों के अनुसार पंचायतों का गठन और उनके कृत्य विभिन्न राज्यों में अलग हैं । साधारणतया पंचायतों का निर्वाचन गांव के सभी वयस्क नागरिक करते हैं । पंचायतों को सिविल प्रशासन की शक्ति दी गई है जैसे, चिकित्सीय सहायता, गांव की सड़कों, तालाबों और कुओं का रख-रखाव, प्राथमिक शिक्षा और सफाई की व्यवस्था, आदि ।

इन सिविल कृत्यों के अतिरिक्त पंचायतों को न्यायिक शक्तियां भी हैं जैसी पूर्व में संघ के न्यायालयों या पीठों को थीं. पंचायत के न्यायिक खंड को दो सौ रुपए मूल्य तक के मामलों का विचारण करने की अधिकारिता है । वह मामूली जुर्माने से दंडनीय लघु अपराधों का विचारण भी कर सकती है । ग्राम अधिकरणों में विधि व्यवसायी भाग नहीं ले सकते । उचित शिक्षा के अभाव, संकीर्ण मनोवृत्ति और जातीय स्वार्थ के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायत प्रशासन प्रणाली विवादास्पद रही है । फिर भी लगभग सभी

राज्यों ने विधियां बनाकर स्वायत्त शासन और सिविल तथा दांडिक न्याय का कार्य पंचायतों के हाथों में सौंप दिया है ।

(ग) कुटीर उद्योगों की प्रोन्नति के लिए [अनुच्छेद 43], जो राज्य का विषय है, केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों की वित्तपोषण, विपणन आदि में सहायता करने के लिए, बहुत से बोर्ड,[25] बनाए हैं । जैसे अखिल भारतीय खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड, अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड, अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड, लघु उद्योग बोर्ड, रेशम बोर्ड, कयर बोर्ड आदि । इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना करके उसे कानूनी कृत्य सौंपे गए हैं । खादी और ग्रामोद्योग के विकास के लिए खादी और ग्रामोद्योग आयोग की स्थापना की गई है ।

(घ) अधिकांश राज्यों में और तीन संघ राज्यक्षेत्रों में[26] अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए विधान बनाए गए हैं ।

(ङ) जीवन स्तर को ऊंचा करने के लिए [अनुच्छेद 47], विशिष्टतया ग्रामीण जनता के, भारत सरकार ने 1952 में सामुदायिक विकास योजना का शुभारंभ किया । बाद में समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1978-79), राष्ट्रीय ग्रामीण नियोजन कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन नियोजन प्रत्याभूति कार्यक्रम, सूखापीड़ित क्षेत्र कार्यक्रम, मरुस्थल विकास कार्यक्रम और कुछ अन्य कार्यक्रम प्रारंभ किए गए ।

(च) मादक द्रव्यों और औषधियों के प्रतिषेध से संबंधित विधान [अनुच्छेद 47] संविधान के पूर्व ही कुछ प्रांतों में बन गए थे किंतु कोई प्रभावी काम नहीं हुआ था । योजना आयोग ने इस पर ध्यान देकर मद्यनिषेध जांच समिति के माध्यम से एक व्यापक स्कीम तैयार की । इसके बाद बहुत से राज्यों में पूर्णतः या भागतः मद्यनिषेध लागू किया गया है ।[28]

राज्यों के वित्तीय स्रोतों की अपर्याप्तता के कारण ही अभी तक इस निदेश को पूरी तरह से क्रियान्वित नहीं किया गया है । किंतु यह भी सत्य है कि इसकी विफलता का कारण यह भी है कि लोगों ने गांधीजी के जीवन आदर्शों को अपनाया नहीं है । स्वाधीनता के बाद मद्यपान का दुर्गुण हमारी युवापीढ़ी में जिस प्रकार फैला है वह चिंता का विषय है यह बताना उचित होगा कि जनता प्रधान मंत्री श्री मोरारजी देसाई ने, जो इस विषय में गांधी दर्शन के प्रबल समर्थक हैं, मद्यनिषेध के कार्यक्रम को नई गति प्रदान की थी ।

(छ) कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण के बारे में [अनुच्छेद 50] प्रगति धीमी थी और विभिन्न राज्यों ने अलग-अलग नीतियां अपनाई थीं । इसके स्थान पर अब दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के रूप में संघ विधान द्वारा समान प्रणाली आ गई है । इसके द्वारा न्यायिक विचारण का कार्य न्यायिक मजिस्ट्रेटों के हाथों में दिया गया है जो न्यायपालिका के सदस्य हैं और उच्च न्यायालय के पूर्ण नियंत्रण में हैं ।[29]

संविधान के अन्य भागों में दिए गए निदेश ।

भाग 4 में अंतर्विष्ट निदेशों के अतिरिक्त संविधान के अन्य भागों में राज्यों को संबोधित अन्य निदेश हैं । ये निदेश भी न्यायालय के निर्णयाधीन नहीं हैं ।

(क) अनुच्छेद 350क के अनुसार प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर स्थानीय प्राधिकारी का यह कर्तव्य है कि भाषाई अल्पसंख्यक वर्ग के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करे ।

(ख) अनुच्छेद 351 के अनुसार संघ का यह कर्तव्य है कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए और उसका विकास करे ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके ।

(ग) अनुच्छेद 335 के अनुसार संघ या राज्य के कार्यकलाप से संबंधित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियां करने में, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के दावों का प्रशासन की दक्षता बनाए रखने की संगति के अनुसार ध्यान रखा जाएगा ।

यद्यपि अनुच्छेद 335, 350क, 351 में अंतर्विष्ट निदेश भाग 4 में सम्मिलित नहीं हैं किंतु न्यायालयों ने यह सिद्धांत लागू करके कि संविधान के सभी भागों को साथ पढ़ा जाना चाहिए उन पर उतना ही ध्यान दिया है ।[30]

निर्देश

1. इस संदर्भ में "राज्य" का वही अर्थ है जो मूल अधिकारों के अध्याय में है । इसका यह अभिप्राय है कि न केवल संघ और राज्य प्राधिकारी बल्कि स्थानीय प्राधिकारियों की भी यह नैतिक बाध्यता होगी कि वे निदेशों का पालन करें । अर्थात् कुटीर उद्योगों का विकास, मादक द्रव्यों के उपभोग का निषेध, गाय, बछड़े और दुधारू पशुओं के वध का प्रतिषेध, लोक स्वास्थ्य और लोगों के जीवन स्तर में सुधार ।
2. जैनिंग्स, *सम केरेक्टरिस्टिक्स आफ दि इंडियन कांस्टिट्यूशन*, पृष्ठ 13 ।
3. उच्चतम न्यायालय के एक क्रांतिकारी सदस्य ने यह मत प्रकट किया है कि राष्ट्रीयकरण की शक्ति अनुच्छेद 39(ख) में विवक्षित है यदि उसकी आवश्यकता सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन करने की दृष्टि से भौतिक संपदा के स्वामित्व का अधिक अच्छा वितरण करने के लिए है । (*कर्नाटक राज्य* बनाम *रंगनाथ*, ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 215 (पैरा 82-83)) ।
4. *हिंदुस्तान स्टैंडर्ड*, दिल्ली, 17-5-1958, पृष्ठ 7; देखिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना ।
5. देखिए बसु, *कांस्टिट्यूश्नल ला आफ इंडिया*, (1991), पृष्ठ 2-3 ।
6. उद्देशिका में "समाजवादी" शब्द अंतःस्थापित कर देने से ही सामूहिकवाद के अर्थ में समाजवाद स्थापित नहीं हो जाता । निर्वचन के सिद्धांतों के अनुसार उद्देशिका, अधिनियमित उपबंधों की कुंजी है किंतु वह संविधान के अधिनियमित उपबंधों में अधिकथित विधि में वृद्धि या उपांतरण नहीं कर सकती । उच्चतम न्यायालय ने यह संप्रेक्षण किया है कि उद्देशिका में "समाजवादी" शब्द के अंतःस्थापन से न्यायालय उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और राज्य स्वामित्व की ओर अधिकाधिक झुकाव रखेंगे । [*एक्सेल वियर* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1979 एस.सी. 25 (पैरा 24)] । इसका यह अर्थ हुआ कि अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) के संविधान (42वें संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा लोप किए जाने को ध्यान में रखकर न्यायालय निदेशों का उदारता से निर्वचन करेंगे ।
7. *मद्रास राज्य* बनाम *चंपकम*, (1951) एस.सी.आर. 523 (*531*) ।
8. अनुच्छेद 31 का निरसन हो जाने के कारण, 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा उसमें से अनुच्छेद 31ग के प्रति निर्देश का लोप कर दिया गया है ।
9. *मिनर्वा मिल्स* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1780 ।
10. *केरल शिक्षा विधेयक, 1957 का निर्देश*, ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 956 ।
11. 7 सी.ए.डी. 41, 476 (डा. अंबेडकर) ।
12. जेनिंग्स, *सम केरेक्टरिस्टिक्स आफ दि इंडियन कांस्टिट्यूशन* (1953), पृष्ठ 31-33 ।
13. वेयर, *मार्डन कांस्टिट्यूशन*, पृष्ठ 47 ।
14. ग्रेन्विल आस्टिन, *दि इंडियन कांस्टिट्यूशन*, पृष्ठ 50-52 ।
15. *ओरिएंट वीविंग मिल्स* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 98 ।
16. *मुम्बई राज्य* बनाम *बलसारा*, ए.आई.आर. 1951 एस.सी. 318; *हनीफ कुरैशी* बनाम *बिहार राज्य*, ए.आई.आर. 1968 एस.सी. 731 ।
17. *बिहार राज्य* बनाम *कामेश्वर*, ए.आई.आर. 1952 एस.सी. 252 (महाजन और अय्यर, न्या.) ।
18. तुलना कीजिए *केरल एजुकेश्नल बिल*, ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 956; *तमिलनाडु राज्य* बनाम *अबू*, ए.आई.आर. 1984 एस.सी. 326 (पैरा 10-11); *बंधुआ* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1984 एस.सी. 802 (पैरा 10) ।

19. *होस्कोट* बनाम *महाराष्ट्र राज्य*, ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 1548 (पैरा 24) ।
20. *सी.बी. बोर्डिंग एण्ड लाजिंग* बनाम *मैसूर राज्य*, ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 2042 (पैरा 13) ।
21. *नकरा* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 130 (पैरा 33-34); *शीला* बनाम *महाराष्ट्र राज्य*, ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 378 (पैरा 1, 3); *पीपल्स यूनियन* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1982 एस.सी. 1473 (पैरा 7); *लिंगप्पा* बनाम *महाराष्ट्र राज्य*, ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 389 (पैरा 14, 16) ।
22. संविधान में अनुच्छेद 31क-31ग और नवीं अनुसूची अंतःस्थापित करते हुए ।
23. *इंडिया*, 1990, पृष्ठ 452 ।
24. *वही*, पृष्ठ 574 और आगे ।
25. *इंडिया*, 1982, पृष्ठ 47 ।
26. *वही*, पृष्ठ 94 और आगे ।
27. *वही*, पृष्ठ 120 ।
28. देखिए, बसु, *कोड आफ क्रिमिनल प्रासीजर* 1992, पृष्ठ 3 ।
29. *बालाजी* बनाम *मैसूर राज्य*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 649 (*664*); *देवदासन* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1964 एस.सी. 179 (*188*) ।
30. देखिए आगे, बसु, *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया* (1991), पृष्ठ 398; *दलवी* बनाम *तमिलनाडु राज्य*, ए.आई.आर. 1976 एस.सी. 1559 (पैरा 4, 6) ।

10

संशोधन की प्रक्रिया

हमारे संविधान निर्माताओं ने संशोधन प्रक्रिया की जो परिकल्पना की थी वह पंडित नेहरू के इस संप्रेक्षण के प्रति निर्देश से स्पष्ट की जा सकती है कि संविधान इतना कठोर नहीं होना चाहिए कि वह राष्ट्रीय विकास और सामर्थ्य की बदलती हुई परिस्थितियों में अनुकूलित न किया जा सके ।

संशोधन प्रक्रिया की प्रकृति ।

संशोधन के लिए सुगम प्रक्रिया अपनाने का भी राजनीतिक महत्व था । वह यह था कि यदि राजनीतिक प्रणाली को बदलने की मांग जनता करती है और वह मांग विशाल रूप धारण कर लेती है तो परिवर्तन करना संभव होना चाहिए । डा. अंबेडकर ने संविधान सभा में संशोधन के प्रस्ताव को पेश करते हुए यह कहा था,[1] —

> "जो संविधान से असंतुष्ट हैं उन्हें बस दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करना होगा । यदि वे वयस्क मत के आधार पर निर्वाचित संसद् में दो-तिहाई बहुमत भी नहीं पा सकते हैं तो यह समझा जाना चाहिए कि संविधान के प्रति असंतोष में जनता उनके साथ नहीं है ।"[1]

अतएव परिसंघ संविधान में जिसकी प्रकृति ही कठोरता की होती है नम्यता के गुण लाए गए । परिसंघवाद की पारंपरिक विचारधारा के अनुसार या तो संविधान के संशोधन की प्रक्रिया सामान्य विधान मंडल से भिन्न किसी निकाय को सौंपी जाती है या संशोधन के लिए कोई विशेष प्रक्रिया विहित की जाती है जिससे परिसंघ के किसी एक पक्षकार की इच्छा से परिसंघ की संविदा में परिवर्तन नहीं किया जा सके जैसे, परिसंघ विधान मंडल द्वारा ।

किंतु जैसा हम प्रारंभ में बता चुके हैं, हमारे संविधान के निर्माताओं ने वयस्क मत के आधार पर निर्वाचित संसद् को प्रभुता देने की आवश्यकता भी समझी थी जिससे वह राष्ट्र की प्रगति को वेग प्रदान कर सके । अतएव उन्होंने संविधान के उन उपबंधों को, जो परिसंघ प्रणाली को प्रभावित नहीं करते हैं, परिवर्तित करने के लिए सरल ढंग विहित किया । यह दो प्रकार से किया गया —

(क) यह उपबंध करके कि संविधान के कुछ उपबंधों का परिवर्तन संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा । परिणामस्वरूप संघ की संसद् ऐसे उपबंधों को विधान बनाने की सामान्य प्रक्रिया से बदल सकती है अर्थात् सादे बहुमत से ।

(ख) संविधान के अन्य उपबंध अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया द्वारा ही बदले जा सकते हैं । किंतु यहां भी जिस उपबंध में परिवर्तन किया जाना है उसकी प्रकृति के अनुसार अंतर किया गया है ।

संशोधन की प्रक्रिया ।

संविधान के सभी संशोधनों के लिए संघ की संसद् में विधेयक विशेष बहुमत से पारित किया जाएगा । कुछ ऐसे उपबंधों की दशा में जो परिसंघीय संरचना को प्रभावित करती हैं इसके आगे एक और कदम की आवश्यकता होगी । अर्थात् राष्ट्रपति को अनुमति

के लिए प्रस्तुत करने के पूर्व कम से कम आधे राज्यों के विधान मंडलों से उसका अनुमोदन होना चाहिए [अनुच्छेद 368] । किंतु इन अंतिम प्रकार के मामलों में भी जो विधि संशोधन करती है वह संघ संसद् की विधि है जो संघ का सामान्य विधायी अंग है । इस प्रकार संशोधन प्रक्रिया के लिए हमारे संविधान ने कोई पृथक् संविधायी निकाय की व्यवस्था नहीं की है । संशोधन की प्रक्रिया यह है —

I. संविधान का संशोधन, संसद् के किसी भी सदन में इस प्रयोजन के लिए विधेयक पुरःस्थापित करके ही प्रारंभ किया जा सकता है । जब वह विधेयक प्रत्येक सदन में उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा (50 प्रतिशत से अधिक) तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर दिया जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जाएगा, जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और तब संविधान उस विधेयक के निर्बन्धनों के अनुसार संशोधित हो जाएगा ।

II. परंतु यदि ऐसा संशोधन निम्नलिखित उपबंधों में से किसी में परिवर्तन करने के लिए है, अर्थात्, —

(क) राष्ट्रपति के निर्वाचन की रीति [अनुच्छेद 54, 55], (ख) संघ और राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार [अनुच्छेद 73, 162], (ग) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय [अनुच्छेद 241, भाग 5 का अध्याय 4, भाग 6 का अध्याय 5], (घ) संघ और राज्यों के बीच विधायी शक्ति का वितरण (भाग 11 का अध्याय 1), (ङ) सातवीं अनुसूची की कोई सूची, (च) राज्यों का संसद् में प्रतिनिधित्व [अनुच्छेद 80-81, चौथी अनुसूची], (छ) स्वयं अनुच्छेद 368 के उपबंध, —

तो ऐसे संशोधन के लिए उपबंध करने वाले विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए उपस्थित करने से पहले उस संशोधन के लिए कम से कम आधे राज्यों के विधान मंडलों द्वारा पारित इस आशय के संकल्पों द्वारा उन विधान मंडलों का अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा[2] [अनुच्छेद 368(2)] ।

संशोधन प्रक्रिया के साधारण लक्षण ।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे संविधान द्वारा विहित संशोधन प्रक्रिया की कुछ विशिष्ट बातें हैं जो विश्व के अन्य अग्रगण्य संविधानों में नहीं मिलती हैं । संशोधन की प्रक्रिया को कठोर कहा जाएगा क्योंकि इसमें विशेष बहुमत की अपेक्षा है । कुछ दशाओं में सामान्य विधान की प्रक्रिया की तुलना में संशोधन के लिए विशेष प्रक्रिया विहित होती है । किंतु यह प्रक्रिया उतनी जटिल या कठिन नहीं है जितनी अमेरिका में या अन्य कठोर संविधानों में होती है ।

(क) अनुच्छेद 368 में अधिकथित विशेष प्रक्रिया के अधीन रहते हुए, हमारे संविधान में संघटक शक्ति संघ के सामान्य विधान मंडल में अर्थात् संसद् में निहित है (संसद् को विशेष बहुमत से कार्य करना होगा) । संविधान के संशोधन के लिए ऐसा कोई पृथक् निकाय नहीं है जैसा कुछ अन्य संविधानों में है (उदाहरणार्थ सांविधानिक सम्मेलन) ।

(ख) राज्य विधान मंडल संविधान के संशोधन के लिए कोई विधेयक या प्रस्ताव प्रारंभ नहीं कर सकते । संशोधन के लिए प्रस्ताव प्रारंभ करने का एकमात्र ढंग है संघ की संसद् के किसी सदन में विधेयक पुरःस्थापित करना ।

(ग) अनुच्छेद 368 के उपबंधों के अधीन रहते हुए संसद् द्वारा संविधान संशोधन विधेयक उसी प्रकार पारित किए जाएंगे जैसे सामान्य विधेयक ।[3] दूसरे शब्दों में वे किसी भी सदन में प्रारंभ किए जा सकते हैं और अन्य विधेयकों के समान ही संशोधित किए

जा सकते हैं । बस अनुच्छेद 368 द्वारा अपेक्षित बहुमत आवश्यक है । इस बहुमत को छोड़कर वे किसी भी अन्य विधेयक के जैसे ही दोनों सदनों द्वारा पारित किए जाने चाहिए ।

इस संदर्भ में यह बताना उचित है कि एक और महत्वपूर्ण बात में संविधान संशोधन विधेयक के पारित करने की प्रक्रिया सामान्य विधान के विधेयकों के पारित करने की प्रक्रिया से भिन्न है । अनुच्छेद 108 में यह उपबंध है कि यदि संसद् के दोनों सदनों में किसी विधेयक के पारित किए जाने के विषय में असहमति है तो गतिरोध समाप्त करने के लिए दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन किया जाएगा । अनुच्छेद 102(1) से यह प्रकट हो जाता है कि संयुक्त अधिवेशन की प्रक्रिया सामान्य विधान के विधेयकों को ही लागू होती है जो संविधान के भाग 5 के अध्याय 2 के अधीन आते हैं । यह संविधान के संशोधन के लिए विधेयकों को लागू नहीं होती । उनके लिए अनुच्छेद 368(2) में स्वयं पूर्ण प्रक्रिया है । यदि इस क्षेत्र में संयुक्त अधिवेशन का उपबंध होता तो अनुच्छेद 368(2) में विशेष बहुमत का उपबंध निरर्थक हो जाता ।

(घ) संविधान के संशोधन के लिए किसी विधेयक को संसद् में पुरःस्थापित करने के लिए राष्ट्रपति की मंजूरी आवश्यक नहीं है ।

(ङ) राज्य विधान मंडलों द्वारा अनुसमर्थन से संबंधित अपेक्षा अमेरिकी संविधान के तत्समान उपबंधों की अपेक्षा अधिक उदार है । अमेरिकी संविधान में तीन-चौथाई राज्यों के अनुसमर्थन की अपेक्षा है । हमारे संविधान में आधे का अनुसमर्थन ही पर्याप्त है ।

(च) संविधान (24वें संशोधन) अधिनियम, 1971 द्वारा अनुच्छेद 368 के संशोधन के उपरांत, संविधान संशोधन प्रक्रिया को सामान्य विधायी प्रक्रिया से भिन्न बना दिया गया है । यह राष्ट्रपति की अनुमति के विषय में है । सामान्य विधेयक अनुच्छेद 111 द्वारा शासित होते हैं । जब ऐसा विधेयक, संसद् के दोनों सदनों से पारित करके राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया जाता है तो वह उसे अनुमति देने के स्थान पर यह कह सकता है कि वह "अनुमति विधारित" करता है । ऐसा होने पर वह अधिनियम नहीं बनेगा । 1971 में किए गए अनुच्छेद 368 के संशोधन में राष्ट्रपति पर यह बाध्यता डाली गई है कि विधान मंडल द्वारा पारित होकर जब संविधान संशोधन उसे उपस्थित किया जाए तब वह उस विधेयक को अनुमति प्रदान करे ।

राष्ट्रपति अनुमति देने के लिए आबद्धकर ।

संक्षेप में संविधान विधेयक की दशा में राष्ट्रपति की अनुमति की औपचारिकता बनाए रखी गई है जिससे यह ज्ञात हो सके कि संशोधन विधेयक किस तारीख से संविधान के भाग के रूप में प्रवृत्त हुआ है । राष्ट्रपति की विधेयक को वीटो करने की शक्ति छीन ली गई है । संविधान (24वां संशोधन) अधिनियम, 1971 के पश्चात् अनुच्छेद 368 के खंड (2) में "अनुमति देगा" शब्द रखे गए हैं ।

इस विषय में एक ऐतिहासिक विवाद हुआ है कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन उपबंधित रीति में किया गया संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13 के खंड (3) में यथापरिभाषित "विधि" है और इस कारण उसे अनुच्छेद 13(2) की अपेक्षाओं के अनुरूप होना चाहिए । दूसरे शब्दों में क्या संविधान संशोधन अधिनियम इस कारण शून्य होगा कि वह संविधान के भाग 3 में प्रगणित मूल अधिकार से असंगत है या उन्हें छीनता है ।

(क) *गोलकनाथ*[4] के निर्णय तक उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि हमारे संविधान का कोई भाग ऐसा नहीं है जिसका संशोधन नहीं किया जा सके । संसद् अनुच्छेद 368 की अपेक्षाओं का अनुपालन करते हुए संविधान संशोधन अधिनियम

पारित करके संविधान के किसी भी उपबंध का संशोधन कर सकती है । मूल अधिकारों का और अनुच्छेद 368 का भी[3] । यह अभिनिर्धारित किया गया[3] कि अनुच्छेद 13(2) में संसद् द्वारा विधायिका के रूप में बनाए गए सामान्य विधान के प्रति निर्देश है । इसमें संविधान संशोधन सम्मिलित नहीं होगा जो संसद् ने अपनी संविधायी संघटक शक्ति के प्रयोग में पारित किया है ।

क्या भाग 3 या कोई अन्य भाग ऐसा है जिसका संशोधन नहीं हो सकता ।

(ख) *गोलकनाथ* के वाद में[4] ग्यारह न्यायाधीशों की विशेष न्यायपीठ ने छह न्यायाधीशों के बहुमत से पूर्व विनिश्चय को उलट दिया और यह मत व्यक्त किया कि यद्यपि अनुच्छेद 368 में कोई अभिव्यक्त अपवाद नहीं है किंतु मूल अधिकारों की तो प्रकृति ही ऐसी है कि वे अनुच्छेद 368 में उपबंधित संशोधन प्रक्रिया के अधीन नहीं हो सकते । यदि ऐसे किसी अधिकार का संशोधन करना है तो नया संविधान बनाने के लिए या उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन करने के लिए नई संविधान सभा बुलानी पड़ेगी ।

गोलकनाथ के वाद में[4] बहुमत ने अपने निष्कर्ष में इसका अवलंब लिया था कि संविधान के संशोधन की शक्ति भी संविधान के अनुच्छेद 245 द्वारा प्रदत्त विधायी शक्ति है अतएव संविधान संशोधन अधिनियम अनुच्छेद 13(2) के क्षेत्र में आने वाली "विधि" है ।

गोलकनाथ ।

(ग) *गोलकनाथ*[4] के निर्णय के पश्चात् संसद् ने संविधान (24वां संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 का संशोधन करके उसे अतिष्ठित करना चाहा । इस अधिनियम के अनुसार अनुच्छेद 368 के उपबंधों के अनुसार पारित संविधान संशोधन अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत "विधि" नहीं होगा और संविधान संशोधन अधिनियम की सांविधानिकता इस आधार पर प्रश्नगत नहीं की जाएगी कि वह मूल अधिकार को छीनता है या प्रभावित करता है । [अनुच्छेद 368(3) और (4)] । संविधान के इस विनिर्दिष्ट संशोधन के पश्चात् भी उच्चतम न्यायालय के समक्ष विवाद समाप्त नहीं हुआ । 24वें संशोधन अधिनियम को केरल के एक वाद में चुनौती दी गई (*केशवानंद* बनाम *केरल राज्य*[5]) । इसे 13 न्यायाधीशों के पूर्ण न्यायपीठ ने सुना । जो न्यायाधीश सहमत थे उनमें भी कुछ बातों पर मतभेद था फिर भी पूर्ण न्यायपीठ ने 24वें संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता को बनाए रखते हुए *गोलकनाथ*[4] के वाद को उलट दिया ।

केशवानंद ।

इस प्रकार अब इस मत के पक्ष में निर्णय हो गया है कि संसद् द्वारा पारित संविधान संशोधन अधिनियम अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत विधि नहीं है । *केशवानंद*[5] के वाद में बहुमत ने अनुच्छेद 13 के खंड (4) की विधिमान्यता बनाए रखी [अनुच्छेद 368(3) के तत्समान उपबंध की भी] । यह संविधान (24वें संशोधन) अधिनियम, 1971 द्वारा अंतःस्थापित किया गया था और इस प्रकार है :

> "इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू नहीं होगी ।"

परिणामस्वरूप भारत में मूल अधिकारों को अनुच्छेद 368 के अधीन पारित अधिनियम द्वारा संशोधित किया जा सकता है । संविधान संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता को इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता कि वह अधिनियम किसी मूल अधिकार का अतिलंघन या अतिक्रमण करता है ।

(घ) *गोलकनाथ*[4] के वाद के समय से ही एक प्रश्न उठाया जा रहा है कि क्या भाग 3 (मूल अधिकार) के बाहर भी भारत के संविधान का कोई उपबंध है जो

अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की प्रक्रिया से अन्मुक्त है । यद्यपि *केशवानंद*[5] के वाद में बहुमत ने *गोलकनाथ*[4] के इस मत को उलट दिया कि अनुच्छेद 368 के अधीन मूल अधिकार का संशोधन नहीं हो सकता किंतु उसने *गोलकनाथ*[4] के वाद में बहुमत की एक अन्य प्रस्थापना की पुष्टि की ।[4] वह यह थी कि —

क्या संविधान के कुछ आधारिक लक्षण हैं जिनका संशोधन नहीं हो सकता ।

(i) संविधान के कुछ आधारिक लक्षण हैं जिनका अनुच्छेद 368 के अधीन शक्ति के प्रयोग में संशोधन नहीं किया जा सकता । यदि संविधान संशोधन अधिनियम संविधान की आधारिक संरचना या ढांचे में परिवर्तन करने के लिए है तो न्यायालय उसे "शक्ति बाह्य" के आधार पर शून्य करार देने का हकदार होगा । कारण यह है कि अनुच्छेद 368 में "संशोधन" का अर्थ है ऐसा परिवर्तन जो संविधान की संरचना को प्रभावित नहीं करता है । ऐसा करना तो नया संविधान बनाना होगा ।[6]

(ii) ये आधारिक लक्षण हैं, भारत की प्रभुता और अखंडता, परिसंघीय प्रणाली, न्यायिक पुनर्विलोकन, संसदीय पद्धति की सरकार । यह सूची अपूर्ण है ।

(iii) बहुमत ने *केशवानंद*[5] के वाद में यह सिद्धांत लागू किया कि न्यायिक पुनर्विलोकन भारत के संविधान का आधारिक लक्षण है और यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान (25वां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 3 का दूसरा भाग जो अनुच्छेद 31ग से संबंधित था, अविधिमान्य है । यह अंश इस प्रकार है — "और कोई विधि जिसमें यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावित करने के लिए हैं, किसी न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावित नहीं करती है ।"

अनुच्छेद 31ग, 25वें संशोधन अधिनियम की धारा 3 द्वारा अंतःस्थापित किया गया था । उसमें यह उपबंध था कि — (क) कोई विधि जो अनुच्छेद 39(ख)-(ग) में अंतर्विष्ट निदेशक तत्वों को, अर्थात् देश के भौतिक संसाधनों का सामाजिक नियंत्रण और स्वामित्व, क्रियान्वित करने के लिए है तो ऐसी विधि अनुच्छेद 14, 19 या 31 के उल्लंघन के आधार पर शून्य नहीं होगी । (ख) उसमें यह भी उपबंध था कि यदि कोई ऐसी विधि की सांविधानिकता को चुनौती देता है तो न्यायालय यह प्रारंभिक प्रश्न भी नहीं उठा सकेगा कि क्या यह विधि वास्तव में अनुच्छेद 39(ख) या (ग) को प्रभावी करने के लिए है यदि उस विधि में विधान मंडल की यह घोषणा है कि वह निदेशक तत्व को प्रभावी करने के लिए है । दूसरे शब्दों में 25वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा विधान मंडल को यह शक्ति दी गई है कि वह अधिनियम में घोषणा जोड़कर न्यायालय को इस आधार पर उस अधिनियम की विधिमान्यता अवधारित करने की शक्ति से वंचित कर दे कि वह संविधान के किसी उपबंध का उल्लंघन करती है । बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 368 ने ऐसी कोई शक्ति नहीं दी है जिससे संविधान के संशोधन के नाम पर न्यायिक पुनर्विलोकन को समाप्त किया जा सके ।[5]

केशवानंद[5] के वाद में "आधारिक लक्षणों" के बारे में बहुमत का पूर्वोक्त मत विवाद का विषय है क्योंकि अनुच्छेद 368(1) द्वारा प्रदत्त संशोधनकारी शक्ति पर कोई अभिव्यक्त मर्यादा नहीं है । यदि यह मान ले कि कोई विवक्षित मर्यादा होनी चाहिए तब भी न्यायालय के इस मत के साथ सहमत होना कठिन है कि मूल अधिकार तो संविधान का ऐसा भाग नहीं है जिसका उल्लंघन नहीं हो सकता किंतु न्यायिक पुनर्विलोकन, जो मूल अधिकार का ही अनुषंग है, अनुलंघनीय है । अतएव आश्चर्य नहीं होगा यदि उच्चतम न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ *केशवानंद*[5] के निर्णय को उलट दे । इसके आधार यह हो सकते हैं —

(i) 1971 में यथा संशोधित अनुच्छेद 368(1), यह स्पष्ट कर देता है कि अनुच्छेद 368 में संविधान के संशोधन की प्रक्रिया बताई गई है और साथ ही संशोधन की शक्ति भी प्रदान की गई है । यह शक्ति अनुच्छेद 245 आदि से प्राप्त नहीं की जा सकती । अतएव संशोधन की शक्ति की यदि कोई परिसीमाएं हैं तो वे अनुच्छेद 368 में ही पाई जानी चाहिए । विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धांत से नहीं ।

(ii) अनुच्छेद 368(1) में "निरसन" शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुच्छेद 368 के अधीन "संशोधन" में संविधान के किसी भी उपबंध का निरसन सम्मिलित है । तथाकथित "आधारिक" और "सारवान्" उपबंध भी उसमें आ जाएंगे ।

(iii) स्विट्जरलैंड के संविधान जैसे कुछ संविधान "संशोधन" और "पूर्ण पुनरीक्षण" में भेद करते हैं किंतु भारत का संविधान ऐसा कोई भेद नहीं करता । अतएव संशोधन की शक्ति के प्रयोग में जिसे "संविधायी शक्ति" कहा गया है, संपूर्ण संविधान को बदलने पर कोई प्रतिबंध नहीं है [अनुच्छेद 368(1)] । अतएव संविधान का आद्योपांत पुनरीक्षण करने के लिए संविधान सभा आहूत करना आवश्यक नहीं है ।

42वां संशोधन ।

इंदिरा सरकार ने *केशवानंद*[5] के परिणामों को रोकने और (संविधायी निकाय के रूप में) संसद् की प्रभुता पर लगाए गए बंधनों को खोलने के लिए 42वें संशोधन अधिनियम, 1976[6] द्वारा अनुच्छेद 368 में दो खंड (4) और (5) अंतःस्थापित किए । खंड (5) में यह घोषणा है कि "संसद् की संविधायी शक्ति पर किसी प्रकार का निर्बन्धन नहीं होगा ।" और संविधान के संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता "किसी न्यायालय में किसी आधार पर प्रश्नगत नहीं" की जाएगी [खंड (4)] ।

संविधान संशोधन विधेयकों के न्यायिक पुनर्विलोकन को समाप्त करने के पूर्वगामी प्रयत्नों को उच्चतम न्यायालय ने निष्फल कर दिया है । न्यायालय ने *मिनर्वा मिल्स*[7] के वाद में अपने विनिश्चय द्वारा 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 में अंतःस्थापित खंड (4)-(5) को इस आधार पर विखंडित कर दिया है कि न्यायिक पुनर्विलोकन भारतीय संविधान का "आधारिक लक्षण" है जिसे संविधान का संशोधन करके भी छीना नहीं जा सकता ।

अभी तक उच्चतम न्यायालय ने *केशवानंद* के निर्णय का उसके पश्चात् दिए गए निर्णयों में अनुसरण किया है । परिणामस्वरूप उच्चतम न्यायालय द्वारा किए गए निर्वचन के अनुसार अनुच्छेद 368 से यह प्रस्थापनाएं निकलेंगी ।

(i) अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण करके संविधान के किसी भी भाग का संशोधन किया जा सकता है ।

(ii) संविधान के किसी भी उपबंध का संशोधन करने के लिए जनमत संग्रह या संविधान सभा को निर्देश करना आवश्यक नहीं है ।

(iii) यदि कोई संशोधन संविधान के "आधारिक लक्षणों" को मिटाता है या नष्ट करता है तो संविधान के किसी उपबंध या किसी भाग का इस प्रकार संशोधन नहीं किया जा सकता । इस प्रकार, अनुच्छेद 368 में अभिव्यक्त रूप से अधिकथित प्रक्रिया संबंधी मर्यादाओं के अतिरिक्त आधारिक लक्षणों के सिद्धांत पर आधारित अधिष्ठायी मर्यादा, हमारे संविधान में न्यायालयों ने जोड़ी है ।

उच्चतम न्यायालय ने "आधारिक लक्षणों" की सूची में इनकी संख्या निश्चित नहीं की है । अभी तक जो निर्णय हुए हैं उनसे निम्नलिखित सूची प्राप्त होती है[8] :—

(क) संविधान की सर्वोच्चता,

(ख) विधि शासन,

(ग) शक्ति पृथक्करण का सिद्धांत,

(घ) संविधान की उद्देशिका में घोषित उद्देश्य,

(ङ) न्यायिक पुनर्विलोकन; अनुच्छेद 32,
(च) परिसंघवाद,
(छ) पंथनिरपेक्षता,
(ज) प्रभुत्वसंपन्न, लोकतांत्रिक, गणराज्य संरचना,
(झ) व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा,
(ञ) राष्ट्र की एकता और अखंडता,
(ट) समता का सिद्धांत,
(ठ) भाग 3 के अन्य मूल अधिकारों का सार,
(ड) सामाजिक और आर्थिक न्याय की संकल्पना — लोक कल्याणकारी राज्य का सृजन; संपूर्ण भाग 4,
(ढ) मूल अधिकार और निदेशक तत्वों के बीच संतुलन,
(ण) संसदीय प्रणाली का शासन,
(त) स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचन का सिद्धांत,
(थ) अनुच्छेद 368 द्वारा संशोधनकारी शक्ति पर लगाए गए निर्बन्धन,
(द) न्यायपालिका की स्वतंत्रता,
(ध) न्याय का वास्तव में सुलभ होना ।

1950 से संविधान संशोधनों का इतिहास ।

भारत के संविधान का प्रारंभ 26 जनवरी, 1950 को हुआ तब से सितंबर, 1992 की समाप्ति तक इसमें इकहत्तर संशोधन हो चुके हैं जो संसद ने अनुच्छेद 368 द्वारा विहित रीति में अधिनियम पारित करके किए हैं[9] (देखिए आगे सारणी 4) ।

यह सभी संशोधन आगे सारणी 4 में पूर्ण विवरण सहित दिए गए हैं इसलिए इस अध्याय में उन्हें उद्धरित करना आवश्यक नहीं है ।

किंतु 42वें, 43वें और 44वें संशोधन पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है क्योंकि राजनैतिक और विधिक दृष्टि से इनका गंभीर परिणाम हुआ है । 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 के पारित होने पर इसके पूर्ववर्ती सभी संशोधन महत्वहीन से हो गए । इससे यह प्रकट होता है कि भारत के संविधान में संशोधन की शक्ति कितनी विशाल है और जब सत्तारूढ़ दल का दोनों सदनों में प्रबल बहुमत हो तो संविधान के तात्विक उपबंधों को भी कितनी सरलता से बिना लंबी चौड़ी औपचारिकता के कैसे बदला जा सकता है ।[9]

42वां संशोधन एक प्रकार से संविधान का पुनरीक्षण ही था । इस कथन के कारण यह हैं, —

(i) इससे उद्देशिका में, 53 अनुच्छेदों में और 7वीं अनुसूची में संशोधन किए गए ।
(ii) इसमें 1949 के संविधान में समाविष्ट महत्वपूर्ण सिद्धांतों को परिवर्तित किया गया ।[10]

I. *सामान्य विधियों का न्यायिक पुनर्विलोकन* — इसमें पहली बार संविधान के किसी उपबंध का उल्लंघन करने के आधार पर उनकी सांविधानिकता को चुनौती देने के प्रयोजन के लिए, संघ और राज्य की विधियों के बीच विभेद किया गया । मुख्य रूप से यह उपबंध किया गया कि (क) कोई उच्च न्यायालय, किसी केन्द्रीय विधि को, जिसमें ऐसी विधि के अधीन अधीनस्थ विधान भी सम्मिलित हैं, संविधान विरुद्ध होने के आधार पर अविधिमान्य नहीं कर सकेगा, (ख) उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 32 के अधीन अपनी अधिकारिता में किसी राज्य विधि को असांविधानिक घोषित नहीं कर सकेगा जब तक

कि ऐसी कार्यवाही में केन्द्रीय विधि को चुनौती नहीं दी गई है । यदि कोई विधि भाग 4 (अनुच्छेद 31ग) में सम्मिलित किसी निदेश को क्रियान्वित करने के लिए या अनुच्छेद 31घ के अधीन राष्ट्र विरोधी गतिविधियों या संगमों पर प्रतिबंध लगाने की नई शक्ति के प्रयोग में बनाई जाती है तो ऐसी विधि को अनुच्छेद 14, 19 और 31 के उल्लंघन के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है । इन सबके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय में किसी विधि को असांविधानिक और अविधिमान्य घोषित करने के लिए न्यायाधीशों के विशेष बहुमत की अपेक्षा की गई थी ।

II. *संविधान संशोधन अधिनियमों का न्यायिक पुनर्विलोकन* — अनुच्छेद 368 का संशोधन करके यह उपबंध किया गया था कि जिस विधि को संविधान संशोधन विधि बताया जाएगा, उसे न्यायालय में कोई चुनौती नहीं दी जा सकेगी चाहे प्रक्रिया के आधार पर हो या अधिष्ठायी आधार पर । उदाहरणार्थ, यदि ऐसा विधेयक अनुच्छेद 368 में अधिकथित *प्रक्रिया* के अनुरूप पारित नहीं किया गया है तो भी कोई व्यक्ति इस आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दे सकेगा । विधि शास्त्र की दृष्टि से यह स्थिति बेतुकी है ।

III. *मूल कर्तव्य* — मूल अधिकारों को प्रतितुलित करने के लिए मूल कर्तव्यों का एक अध्याय (अनुच्छेद 51क) पहली बार समाविष्ट किया गया । इन कर्तव्यों के साथ कोई अधिशास्ति नहीं है किंतु यह स्पष्ट है कि यदि कोई न्यायालय इन कर्तव्यों पर मूल अधिकारों के साथ विचार करेगा तो अधिकारों के प्रवर्तन का क्षेत्र संकीर्ण हो जाएगा ।

IV. *मूल अधिकारों का अवमूल्यन* — अनुच्छेद 31ग के प्रविषय का विस्तार करके यह उपबंध किया गया कि यदि कोई विधि भाग 4 में सम्मिलित किसी निदेशक तत्व को क्रियान्वित करने के लिए है तो ऐसी विधि को मूल अधिकारों के उल्लंघन के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन से पूर्ण उन्मुक्ति होगी । 1949 के संविधान में जो उपबंध किया गया था उसका यह ठीक उल्टा था । अनुच्छेद 31क, 31ख, 31घ और 51क के संयुक्त भार के कारण मूल अधिकार शिथिल पड़ गए ।

43वें और 44वें संशोधन ।

मार्च, 1977 के अंत में जनता पार्टी सत्ता में आई तो उन्होंने 42वें संशोधन अधिनियम से संविधान में जो बिगाड़ हुआ था उसे सुधारने के लिए तुरंत पग उठाने का प्रयत्न किया । यह निर्वाचन के समय दिए गए उनके वचन के अनुसार था । किंतु जनता पार्टी का राज्य सभा में दो-तिहाई बहुमत तो क्या सादा बहुमत भी नहीं था । जबकि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान संशोधन विधेयक के लिए दो-तिहाई बहुमत चाहिए ।[9] उनके इस निमित्त प्रयत्न भागतः सफल हो पाए । पहला कदम तो निष्फल रहा । 43वां संशोधन लोक सभा में अप्रैल, 1977 में पुरःस्थापित किया गया किंतु उसे आगामी सत्र तक इस आशा में लंबित रखा गया कि इस बीच राज्य सभा के लिए होने वाले कालिक निर्वाचन में कुछ और स्थान प्राप्त हो जाएंगे । फलस्वरूप, 43वां संशोधन अधिनियम, 1977 कांग्रेस (ओ) के मतों की सहायता से पारित हुआ ।[9] किंतु जब दूसरा विधेयक (45वां) 1978 में राज्य सभा में लाया गया तो उनका विचार बदल गया ।[9] परिणामतः यह विधेयक काट-छांट करके 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 के रूप में अधिनियमित हुआ ।

43वें और 44वें संशोधन अधिनियमों द्वारा जो परिवर्तन किए गए उनकी संक्षिप्ति आगे सारणी 4 में दी गई है ।

(i) 43वें संशोधन अधिनियम ने उन उपबंधों का निरसन कर दिया जो 42वें संशोधन अधिनियम ने न्यायिक पुनर्विलोकन पर बंधन लगाने के लिए बनाए थे जैसे अनुच्छेद 31घ, 32क, 144क, 226क, 228क ।

(ii) 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा किए गए परिवर्तन अधिक व्यापक हैं ।

(क) 42वें संशोधन द्वारा समाविष्ट कुछ और अनुच्छेदों का लोप कर दिया गया जैसे अनुच्छेद 257क, 329क । 1976 के पूर्व की स्थिति प्राप्त करने के लिए कुछ अन्य अनुच्छेदों में भी संशोधन किए गए जैसे अनुच्छेद 226 ।

(ख) 42वें संशोधन अधिनियम से जो विकार आ गया था उसे दूर करने के अतिरिक्त 44वें संशोधन ने कुछ अतिरिक्त परिवर्तन किए । जैसे, अनुच्छेद 19(1)(च) और अनुच्छेद 31(2) से संपत्ति के मूल अधिकार का लोप कर दिया गया ।

(ग) 45वें संशोधन विधेयक के बहुत से खंडो को जनता पार्टी पारित नहीं करवा सकी इसलिए अनेकों उपबंधों पर 42वें संशोधन अधिनियम का प्रभाव अभी भी लक्षित होता है, जैसे अनुच्छेद 368 में । इसके अतिरिक्त जनता सरकार ने भी 42वें संशोधन द्वारा यथासंशोधित कुछ उपबंधों को जिन्हें वे लाभप्रद समझते थे, बनाए रखा जैसे अनुच्छेद 74(1), अनुच्छेद 311 ।

बार-बार संशोधन के खतरे ।

यह स्पष्ट है कि जैसा संविधान के कुछ आलोचकों ने प्रारंभ के दिनों में धारणा बनाई थी[11] उसके विपरीत संशोधन की प्रक्रिया कठोर[9] होने के स्थान पर अत्यधिक नम्य है । पिछले 42 वर्षों में जिस सरलता से 71 संशोधन हो गए हैं उससे यही प्रतीत होता है । जब तक केन्द्र में सत्तारूढ़ दल का संसद् में और आधे से अधिक विधान मंडलों में ठोस बहुमत है तब तक निष्पक्ष संप्रेक्षकों को इस बात का भय नहीं होना चाहिए कि संशोधन करने में क्या कठिनाई होगी बल्कि इस बात की आशंका होनी चाहिए कि इसका प्रयोग राजनैतिक प्रयोजनों के लिए या सत्तारूढ़ दल को अवांछनीय प्रतीत होने वाले निर्णयों[12] से छुटकारा पाने के लिए बार-बार नहीं किया जाए । न्यायाधीश भी भूल कर सकते हैं किंतु यह भी हम देख चुके हैं कि अपने अनुभव के आधार पर सर्वोच्च अधिकरण अपने मत में परिवर्तन कर लेता है ।[13] जब तक गंभीर परिणाम न हों, या आपात परिस्थितियां न हों या विशेष आकस्मिकताएं न हों (जैसे, सिक्किम का प्रवेश — 35वां और 36वां संशोधन) तब तक अवांछित न्यायिक निर्णयों का अध्यारोहण करने के लिए संविधान संशोधन प्रक्रिया का आश्रय नहीं लेना चाहिए । इस प्रयोजन से बारंबार संशोधन करने से साधारण जन के मस्तिष्क में न्यायपालिका के प्रति अनादर का भाव जागेगा जो सांविधानिक सरकार की नींव हिला देगा ।

निर्देश

1. सी.ए.डी., तारीख 25-11-1949, पृष्ठ 225-26 ।
2. संविधान के संशोधन के लिए अनुसमर्थन प्राप्त करने के उदाहरण के लिए देखिए सारणी 4 ।
3. *शंकरी प्रसाद* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1951 एस.सी. 458; *सज्जन* बनाम *राजस्थान राज्य*, ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 845 ।
4. *गोलकनाथ* बनाम *पंजाब राज्य*, ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1643 ।
5. *केशवानंद* बनाम *केरल राज्य*, ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1461 (एफ. बी.) ।
6. बसु, *कांस्टिट्यूश्नल ला आफ इंडिया* (1985), पृष्ठ 377-78 [इसके विपरीत संप्रेक्षण है *संजीव कोक कं.* बनाम *भारत कोल लिमिटेड* में ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 239 (पैरा 13), किंतु ये *केशवानंद* या *मिनर्वा मिल्स* को उलटने के लिए पर्याप्त नहीं हैं ।]
7. *मिनर्वा मिल्स* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1789 ।
8. दुर्गा दास बसु, *शार्टर कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया*, दसवां संस्करण, पृष्ठ 1036-37 ।
9. अनुच्छेद 368 में विहित संशोधन की प्रक्रिया की कठोरता या नम्यता का प्रश्न तब तक ढका रहा

जब तक कांग्रेस पार्टी का केन्द्र और राज्य के विधान मंडलों पर पूर्ण नियंत्रण रहा । इस असाधारण तथ्य के कारण वे अनुच्छेद 368(2) में दोहरे बहुमत के रक्षोपाय को भेद सके और 42 वर्षों में 70 संशोधन कर सके । दोहरे बहुमत की कठोरता उन कठिनाइयों से प्रकट होती है जो जनता सरकार (1977-78) के समक्ष आई जब उसने 42वें संशोधन के अलोकतांत्रिक लक्षणों को समाप्त करने के लिए संशोधन विधेयक पारित करना चाहा । जाग्रत लोकमत ने उन्हें इसी आधार पर समर्थन दिया था । यह ध्यान देने योग्य है कि —

(क) अनुच्छेद 368(2) में यह अपेक्षा है कि संविधान संशोधन विधेयक संसद् के प्रत्येक सदन में दोहरे बहुमत से पारित किया जाना चाहिए । जनता सरकार को राज्य सभा में ऐसा बहुमत नहीं था । वह दोनों सदनों का "संयुक्त अधिवेशन" नहीं बुला सकती थी जिसकी व्यवस्था सामान्य विधान की दशा में अनुच्छेद 108 में की गई है ।

(ख) दोहरे बहुमत की अपेक्षा का दृष्टांत सितंबर, 1977 में राज्य सभा में जनता पार्टी की सदस्य संख्या से दिया जा सकता है । राज्य सभा की कुल सदस्य संख्या (मोटे तौर से) 250 है । अनुच्छेद 368(2) के प्रथम भाग के अधीन संविधान संशोधन विधेयक पारित होने के लिए कम से कम 126 सदस्यों द्वारा मतदान करना आवश्यक है । जनता पार्टी के राज्य सभा में मोटे तौर से 41 सदस्य थे इसलिए वे विधेयक पारित करने के लिए अपनी सदस्य संख्या का अवलंब नहीं ले सकते थे ।

अनुच्छेद 368(2) का दूसरा भाग इससे भी अधिक कठोर है । उसमें यह अपेक्षा है कि संविधान संशोधन विधेयक के मतदान की तारीख को उपस्थित और वास्तव में मतदान करने वाले सदस्यों में से दो-तिहाई सदस्य उस विधेयक के पक्ष में मतदान करें । अतएव विधेयक तभी पारित हो सकता था जब 168 सदस्य उसके पक्ष में मतदान करें । जनता पार्टी के केवल 41 सदस्य थे अतएव उनके लिए यह संभव नहीं था ।

इस कारण जनता पार्टी द्वारा प्रस्तावित संशोधन विधेयक का भाग्य कांग्रेस पार्टी के हाथ में था । कांग्रेस (ओ) विरोध न करे इसलिए जनता सरकार ने अपने प्रस्तावों को दो विधेयकों में बांट दिया। पहले चरण में कम विवादास्पद प्रस्ताव एक विधेयक में सम्मिलित किए जिसे 43वें संशोधन अधिनियम के रूप में 1977 में पारित किया गया । दूसरे विधेयक को (45वां विधेयक जो 44वां संशोधन अधिनियम, 1978 बना) कड़े विरोध का सामना करना पड़ा क्योंकि इस विधेयक के महत्वपूर्ण भागों को व्यर्थ करने के उद्देश्य से कांग्रेस (ओ) और कांग्रेस (आई) में गठबंधन हो गया । इस प्रकार जनमत संग्रह का उपबंध करने के लिए अनुच्छेद 368 का संशोधन करने वाले खंड को पारित नहीं किया जा सका ।

जब जनवरी, 1980 में श्रीमती गांधी सत्ता में आईं तो उन्हें भी इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा । 1984 तक वे संविधान में कोई अधिष्ठायी संशोधन नहीं कर सकीं जब तक कि राज्य सभा में उन्हें अपेक्षित बहुमत नहीं प्राप्त हो गया [*स्टेट्समैन*, 4-11-1982, पृष्ठ 1] ।

कांग्रेस (आई) ने नगरपालिका और पंचायत से संबंधित उपबंध करने के लिए संविधान का संशोधन करने के लिए दो विधेयक (64वां और 65वां संविधान संशोधन विधेयक, 1989) पुरःस्थापित किए थे । ये दोनों लोक सभा में 10-8-1989 को पारित हो गए किंतु राज्य सभा में 13-10-1989 को केवल दो मत कम होने के कारण पारित नहीं हो सके ।

संविधान (64वां संशोधन) विधेयक, 1990 जिससे पंजाब के संबंध में अनुच्छेद 356 का संशोधन किया जाना था राज्य सभा में 28-3-1990 को पारित हो गया ।

लोक सभा में (30 मार्च, 1990) विधेयक पर विचार किए जाने के प्रस्ताव 236 मत पक्ष में थे (5 विपक्ष में) । अपेक्षित बहुमत (सदन की कुल सदस्य संख्या का बहुमत) के अभाव में प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ । संशोधन के लिए नया विधेयक लाना पड़ा ।

संविधान (75वां संशोधन) विधेयक, 1990 भी इसी प्रकार (1-10-1990) लोक सभा में पारित नहीं हो सका । यह भी पंजाब के संबंध में अनुच्छेद 356 का संशोधन करने के लिए था । 249 मत पक्ष में और 3 विपक्ष में पड़े । शीघ्र ही 76वां संशोधन विधेयक 4-10-1990 को लोक सभा से पारित कराया गया । यह राज्य सभा से पारित होकर 67वां संशोधन अधिनियम, 1990 बना (5-10-1990 से) ।

अतएव अनुच्छेद 368(2) द्वारा विहित प्रक्रिया अपने आप में नम्य नहीं कही जा सकती ।

10. पूर्ण अध्ययन के लिए देखिए बसु, *कांस्टिट्यूशन अमेंडमेंट ऐक्ट्स, विद ए क्रिटिकल सर्वे आफ दि फार्टी सेकेंड कांस्टिट्यूशन अमेंडमेंट ऐक्ट, 1976*, पृष्ठ 99-134 ।
11. तुलना कीजिए जैनिंग्स, *सम केरेक्टरिस्टिक्स आफ दि इंडियन कांस्टिट्यूशन*, पृष्ठ 9-10 ।
12. तुलना कीजिए कृष्ण स्वामी अइयर की *कांस्टिट्यूशन एंड फंडामेंटल राइट्स* में रामस्वामी अइयर की प्रस्तावना, पृष्ठ 1 ।
13. *बंगाल इम्यूनिटी कं.* बनाम *बिहार राज्य*, (1955) 2 एस.सी.आर. 603 में उच्चतम न्यायालय ने *मुम्बई राज्य* बनाम *यूनाइटेड मोटर्स*, (1953) एस.सी.आर. 1069 में दिए गए बहुमत के निर्णय को उलट दिया । यह निर्णय उस राज्य की, जिसमें माल उपभोग के लिए परिदत्त किए जाते हैं, ऐसे माल के जो अंतरराज्यिक व्यापार या वाणिज्य के प्रक्रम में है, क्रय या विक्रय पर कर लगाने की शक्ति के बारे में है । इस वाद में यह कहा गया है कि संविधान में यह उपबंध नहीं है कि उच्चतम न्यायालय अपने ही निर्णय से आबद्ध है ।

भाग 2

संघ का शासन

11

संघ की कार्यपालिका

1. राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति

राष्ट्रपति का निर्वाचन ।

संघ की कार्यपालिका के शीर्ष पर भारत का राष्ट्रपति है । भारत का राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से निर्वाचित होता है ।[1] अर्थात् आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत के माध्यम से एक निर्वाचकगण[2] द्वारा ।

निर्वाचकगण में होंगे —

(क) संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, और (ख) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य [अनुच्छेद 54] ।

जहां तक हो सके निर्वाचन में भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व में प्रत्येक राज्य की जनसंख्या और विधान सभा के लिए निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या के अनुसार एकरूपता होगी । संघ और समस्त राज्यों के बीच समतुल्यता रखी जाएगी [अनुच्छेद 55] । दूसरी शर्त यह सुनिश्चित करने के लिए है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन के निर्वाचकगण में समस्त राज्यों के मत इस देश की जनता के मत के बराबर होंगे । इस प्रकार राष्ट्रपति राष्ट्र का भी प्रतिनिधि होगा और विभिन्न राज्यों के लोगों का प्रतिनिधि भी होगा । इससे परिसंघ प्रणाली में राज्यों की प्रास्थिति को भी मान्यता मिलती है ।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति की इस आधार पर आलोचना की गई है कि यह सार्वजनिक मतदान प्रणाली के लोकतांत्रिक आदर्श तक नहीं पहुंचती । किंतु संविधान के रचनाकारों ने अप्रत्यक्ष निर्वाचन का इन आधारों पर समर्थन किया —

(i) 51 करोड़ लोगों के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन से समय, शक्ति और धन का बहुत व्यय होगा । (ii) संविधान द्वारा प्रारंभ की गई उत्तरदायी सरकार की प्रणाली में वास्तविक शक्ति तो मंत्रिमंडल में निहित होगी इसलिए राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष निर्वाचन करना और फिर उसे वास्तविक शक्ति न देना विचित्र सा होगा ।[3]

राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन के लिए अर्हता ।

कोई व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित होने का पात्र तभी होगा जब वह —

(क) भारत का नागरिक है,

(ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका है,

(ग) लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित है,

और

(घ) भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन या उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण नहीं करता है [अनुच्छेद 58] ।

किंतु संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य का राज्यपाल अथवा संघ

या किसी राज्य का मंत्री राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन के लिए निरर्हित नहीं होगा [अनुच्छेद 58] ।

राष्ट्रपति की पदावधि ।

राष्ट्रपति की पदावधि पद ग्रहण की तारीख से पांच वर्ष की होती है किंतु वह पुनर्निर्वाचन का पात्र है[4] [अनुच्छेद 56-57] ।

पांच वर्ष के भीतर राष्ट्रपति की पदावधि दो प्रकार से समाप्त हो सकती है —

(i) उपराष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग करके,

(ii) महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा संविधान के उल्लंघन के लिए हटाए जाने पर [अनुच्छेद 56] ।

राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की प्रक्रिया ।

महाभियोग न्यायिककल्प प्रक्रिया है जो संसद् में चलाई जाती है । संसद् का कोई भी सदन दूसरे सदन में संविधान के उल्लंघन का आरोप लगाएगा । दूसरा सदन उस आरोप का अन्वेषण करेगा या कराएगा ।

किंतु कोई सदन तब तक आरोप नहीं लगा सकता जब तक कि —

(क) चौदह दिन की लिखित सूचना देकर सदन की कुल सदस्य संख्या के कम से कम एक-चौथाई सदस्यों ने हस्ताक्षर करके प्रस्थापना अंतर्विष्ट करने वाला संकल्प प्रस्तावित नहीं किया है, और

(ख) उस सदन की कुल सदस्य संख्या के दो-तिहाई बहुमत द्वारा ऐसा संकल्प पारित नहीं किया गया है ।

राष्ट्रपति को ऐसे अन्वेषण में उपस्थित होने और अपना प्रतिनिधित्व कराने का अधिकार होगा । यदि ऐसे अन्वेषण के परिणामस्वरूप यह घोषित करने वाला संकल्प कि राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाया गया आरोप सिद्ध हो गया है, आरोप का अन्वेषण करने या कराने वाले सदन की कुल सदस्य संख्या के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर दिया जाता है तो ऐसे संकल्प का प्रभाव उसके इस प्रकार पारित किए जाने की तारीख से राष्ट्रपति को हटाना होगा [अनुच्छेद 61] ।

संविधान में राष्ट्रपति को हटाने का ढंग और आधार दिए गए हैं इसलिए उसे अनुच्छेद 56 और 61 के उपबंधों के अनुसार, महाभियोग के सिवाय किसी और ढंग से नहीं हटाया जा सकता ।

राष्ट्रपति के पद के लिए शर्तें ।

राष्ट्रपति संसद् के किसी सदन का या किसी राज्य के विधान मंडल के किसी सदन का सदस्य नहीं होगा और यदि संसद् के किसी सदन का या किसी राज्य के विधान मंडल के किसी सदन का कोई सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाता है तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन में अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है । राष्ट्रपति लाभ का कोई अन्य पद ग्रहण नहीं करेगा [अनुच्छेद 59(1) और (2)] ।

राष्ट्रपति की उपलब्धियां और भत्ते ।

राष्ट्रपति बिना किराया दिए, अपने शासकीय निवासों के उपयोग का हकदार होगा और ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का भी जो, संसद्, विधि द्वारा, अवधारित करे और जब तक इस निमित्त इस प्रकार उपबंध नहीं किया जाता तब तक ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का जो संविधान की दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं, हकदार होगा ।[5]

राष्ट्रपति पेंशन (संशोधन) अधिनियम, 1990 बनाकर (1990 का 16) राष्ट्रपति की उपलब्धियां बढ़ाकर 20,000 रु. प्रति मास कर दी गई हैं । राष्ट्रपति की उपलब्धियां और पेंशन उसकी पदावधि के दौरान कम नहीं किए जाएंगे [अनुच्छेद 59(3)] ।

1990 में यथासंशोधित पेंशन अधिनियम, 1951 में यह उपबंध है कि जिस व्यक्ति ने राष्ट्रपति का पद धारण किया है उसे पदावधि की समाप्ति पर या पद त्याग देने पर 1,20,000 रु. वार्षिक पेंशन दी जाएगी परंतु तब जबकि वह पुनः उस पद के लिए निर्वाचित न हुआ हो ।

राष्ट्रपति के पद में रिक्ति ।

राष्ट्रपति के पद में रिक्ति निम्नलिखित रीति से हो सकेगी —

(i) पांच वर्ष की अवधि की समाप्ति पर,

(ii) मृत्यु से

(iii) पदत्याग से,

(iv) महाभियोग द्वारा हटाए जाने पर,

(v) अन्यथा, जैसे राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन के अपास्त किए जाने पर [अनुच्छेद 65(1)] ।

(क) जब रिक्ति राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई है तो निर्वाचन पदावधि की समाप्ति के पहले ही कर लिया जाएगा [अनुच्छेद 62(1)] । किंतु यदि उसे पूरा करने में कोई विलंब हो जाता है तो "राज अंतराल" न होने पाए इसलिए यह उपबंध है कि राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक पद धारण करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी पद धारण नहीं कर लेता है । [अनुच्छेद 56(1)(ग)] (ऐसी दशा में उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य नहीं कर सकेगा) ।

(ख) पदासीन राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से भिन्न किसी कारण से उत्पन्न होने वाली रिक्ति की दशा में, निर्वाचन, रिक्ति होने की तारीख के पश्चात्, यथाशीघ्र, और प्रत्येक दशा में छह मास बीतने से पहले किया जाएगा ।

ऐसी रिक्ति होने पर, यथा, राष्ट्रपति की मृत्यु पर, उपराष्ट्रपति तुरंत राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा [अनुच्छेद 65(1)] । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जो नया राष्ट्रपति निर्वाचित होगा वह पद ग्रहण करने की तारीख से पूरे पांच वर्ष की पदावधि तक पद धारण करने का हकदार होगा ।

(ग) स्थायी रिक्ति के अतिरिक्त, यह भी हो सकता है कि राष्ट्रपति अस्थायी रूप से अपने कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ हो । यह भारत से बाहर अनुपस्थिति के कारण, बीमारी या अन्य कारण से हो सकता है । ऐसी दशा में उपराष्ट्रपति उसके कृत्यों का उस तारीख तक निर्वहन करेगा जिस तारीख को राष्ट्रपति अपने कृत्यों को फिर से संभालता है । [अनुच्छेद 65(3)] ।

उपराष्ट्रपति का निर्वाचन ।

राष्ट्रपति के समान ही उपराष्ट्रपति का निर्वाचन भी अप्रत्यक्ष होगा और आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा । किंतु उसका निर्वाचन राष्ट्रपति से भिन्न होगा क्योंकि उसमें राज्य विधान मंडल भाग नहीं लेंगे । उपराष्ट्रपति संसद् के दोनों सदनों से मिलकर बनने वाले निर्वाचकगण के सदस्यों से निर्वाचित होगा[6] [अनुच्छेद 66(1)] ।

राष्ट्रपति के समान ही उपराष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन के लिए अर्हित होने के लिए व्यक्ति को (क) भारत का नागरिक तथा (ख) पैंतीस वर्ष से ऊपर की आयु का होना चाहिए, और (ग) राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल या संघ या किसी राज्य के मंत्री का पद छोड़कर कोई और लाभ का पद धारण नहीं करना चाहिए [अनुच्छेद 66] ।

राष्ट्रपति बनने के लिए किसी व्यक्ति को लोक सभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित होने के लिए अर्हित होना चाहिए किंतु उपराष्ट्रपति होने के लिए राज्य सभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित होने के लिए अर्हित होना चाहिए । इस भिन्नता के लिए कारण स्पष्ट है । उपराष्ट्रपति सामान्यतया राज्य सभा का अध्यक्ष होता है ।

क्या किसी विधान मंडल का सदस्य राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति हो सकता है ।

संघ या राज्य के विधान मंडल के किसी सदस्य के राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने पर कोई प्रतिबंध नहीं है । किंतु ये दो पद एक साथ धारण नहीं किए जा सकते । यदि किसी विधान मंडल का सदस्य राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति निर्वाचित होता है तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन में अपना स्थान राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के रूप में अपने पदग्रहण करने की तारीख से रिक्त कर दिया है [अनुच्छेद 59(1), 66(2)] ।

उपराष्ट्रपति की पदावधि ।

उपराष्ट्रपति की पदावधि पांच वर्ष है । उसका पद नियत पदावधि के पहले पदत्याग या हटाए जाने से रिक्त हो सकता है । वह राज्य सभा के ऐसे संकल्प से हटाया जा सकता है जिसे राज्य सभा के सदस्यों ने बहुमत से पारित किया है और लोक सभा जिससे सहमत है । उसके हटाए जाने के लिए महाभियोग आवश्यक नहीं है ।

यद्यपि उपराष्ट्रपति को पुनर्निर्वाचन के लिए पात्र बनाने के लिए (अनुच्छेद 57 के तत्समान) कोई उपबंध नहीं है किंतु अनुच्छेद 66 के परंतुक से यह प्रतीत होता है कि उपराष्ट्रपति निर्वाचन के लिए पात्र है । डा. राधाकृष्णन 1957 में इस पद के लिए दुबारा निर्वाचित किए गए थे ।

उपराष्ट्रपति के कृत्य ।

राष्ट्रपति के पश्चात् उपराष्ट्रपति सर्वोच्च पदधारी है (देखिए सारणी 9) । उपराष्ट्रपति के पद के साथ कोई कृत्य नहीं जुड़े हैं । उपराष्ट्रपति का सामान्य कृत्य है पदेन राज्य सभा का सभापति होना । यदि राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग, पद से हटाए जाने या अन्य कारण से उसके पद में रिक्ति होती है तो जब तक नया राष्ट्रपति निर्वाचित होकर पद ग्रहण नहीं कर लेता तब तक उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा । [अनुच्छेद 65(1)] ।

जब राष्ट्रपति अनुपस्थिति, बीमारी या किसी अन्य कारण से अपने कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ है तब उपराष्ट्रपति उसके कृत्यों का निर्वहन करता है [अनुच्छेद 65(2)] । संविधान में यह अवधारणा करने के लिए कि कब राष्ट्रपति अनुपस्थिति या ऐसे ही कारणवश अपने कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ है, कोई तंत्र विहित नहीं किया गया है । अतएव इस विषय में कौन पहल करे ? यह बड़ा संवेदनशील मामला बन जाता है । यह ध्यान देने योग्य है कि 20 जून, 1960 के पहले संविधान के इस उपबंध का कोई उपयोग नहीं किया गया था यद्यपि डा. राजेन्द्र प्रसाद 1958 में अपनी विदेश यात्रा में काफी समय भारत के बाहर रहे । जून, 1960 में डा. राजेन्द्र प्रसाद की 15 दिन की सोवियत संघ की यात्रा के समय पहले पहल डा. राधाकृष्णन को राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करने का अवसर दिया गया ।

दूसरा अवसर मई, 1961 में आया जब राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद गंभीर रूप से बीमार होकर अपने कृत्यों के निर्वहन में असमर्थ हो गए । कुछ दिनों के संकट के पश्चात् राष्ट्रपति ने स्वयं यह सुझाव दिया कि जब तक वे स्वस्थ नहीं हो जाते तब तक उपराष्ट्रपति उनके कृत्यों का निर्वहन करे । ऐसा प्रतीत होता है कि यह अवधारणा करने की शक्ति कि कब राष्ट्रपति अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने में असमर्थ है और कब वह अपने कर्तव्यों

को पुनः ग्रहण कर लेगा, राष्ट्रपति में ही है । राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन की मृत्यु के पश्चात् उपराष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरि राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहे थे । उनके त्यागपत्र दे देने पर 20-7-1969 से भारत के मुख्य न्यायमूर्ति श्री हिदायतुल्ला ने राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन किया ।

उपलब्धियां ।

जब उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करता है तब उसे राष्ट्रपति की उपलब्धियां मिलती हैं अन्यथा उसे राज्य सभा के सभापति का वेतन मिलता है ।[7]

जब उपराष्ट्रपति इस प्रकार राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है, या राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करता है तो वह राज्य सभा के सभापति के कृत्यों का निर्वहन नहीं कर सकता । तब राज्य सभा का उपसभापति, सभापति के रूप में कार्य करेगा [अनुच्छेद 91] ।

राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के बारे में या उससे संबद्ध शंकाएं और विवाद ।

राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित संदेह और विवाद का निर्धारण अनुच्छेद 71 का विषय है । यह इस प्रकार है —

(क) ऐसे विवादों का विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा जिसकी अधिकारिता अनन्य और अंतिम होगी ।

(ख) राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करने वाले निर्वाचकगण के सदस्यों में विद्यमान किसी रिक्ति के आधार पर कोई विवाद नहीं होगा ।

(ग) यदि उच्चतम न्यायालय द्वारा राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन को शून्य घोषित कर दिया जाता है तो ऐसे विनिश्चय की तारीख से पहले किए गए कार्य अविधिमान्य नहीं होंगे ।

(घ) ऐसे विवादों को छोड़कर, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित विषयों का विनियमन संसद् विधि द्वारा कर सकेगी ।

संसद् ने इस निमित्त राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 (1952 का 31) बनाया है ।

2. राष्ट्रपति की शक्तियां और कर्तव्य

राष्ट्रपति की शक्तियों की प्रकृति ।

संविधान यह कहता है कि "संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी" [अनुच्छेद 53] इस प्रकार भारत का राष्ट्रपति संघ की "कार्यपालिका शक्ति" का प्रधान होगा ।

"कार्यपालिका शक्ति" का प्राथमिक अर्थ है विधान मंडल द्वारा अधिनियमित विधियों का कार्यपालन । किंतु आधुनिक राज्य में कार्यपालिका का कार्य उतना सादा नहीं है जितना अरस्तु के युग में था । राज्यों के कृत्यों में अनेक गुना विस्तार हो जाने कारण व्यवहार में सभी अवशिष्ट कृत्य कार्यपालिका के हाथों में पहुंच गए हैं । अतएव कार्यपालिका शक्ति की संक्षिप्त परिभाषा यह हो सकती है कि वह "सरकार की कामकाज करने की शक्ति है" या "राज्य के क्रियाकलाप के प्रशासन की शक्ति है" जिसमें वे शक्तियां नहीं हैं जो संविधान द्वारा किसी अन्य प्राधिकारी में निहित हैं । कार्यपालिका शक्ति की परिधि का हमारे उच्चतम न्यायालय ने इस प्रकार वर्णन किया है[8] —

"कार्यपालिका कृत्य का क्या अर्थ है और उसकी क्या विवक्षा है इसकी सर्वग्राही परिभाषा कर पाना संभव नहीं है । विधायी और न्यायिक शक्ति को निकाल देने पर शासकीय कृत्यों में जो भी अवशिष्ट रहता है वही सामान्यतया कार्यपालिका का कृत्य है । किंतु यह संविधान या किसी अन्य विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए हैं . . . ।

कार्यपालिका कृत्य में दोनों आते हैं नीति निर्धारण और उसकी कार्य में परिणति, व्यवस्था बनाए

रखना, सामाजिक और आर्थिक कल्याण का प्रोन्नयन, विदेश नीति का मार्गदर्शन, राज्य के साधारण प्रशासन को चलाना या उसका अधीक्षण ।"[8]

राष्ट्रपति की शक्ति पर सांविधानिक बंधन ।

भारत के राष्ट्रपति की विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण करने के पहले हमें उन सांविधानिक बंधनों को देखना होगा जिसके अधीन वह कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करता है ।

पहले, उसे इन शक्तियों का प्रयोग संविधान के अनुसार करना चाहिए [अनुच्छेद 53(1)] । अनुच्छेद 75(1) स्पष्ट रूप से यह अपेक्षा करता है कि राष्ट्रपति मंत्रियों को (प्रधान मंत्री से भिन्न) प्रधान मंत्री की सलाह पर ही नियुक्त कर सकेगा । यदि राष्ट्रपति किसी ऐसे व्यक्ति को मंत्री नियुक्त करता है जिसका नाम प्रधान मंत्री द्वारा दी गई सूची में नहीं है तो यह संविधान का उल्लंघन होगा । यदि राष्ट्रपति संविधान के किसी आज्ञापक उपबंध का उल्लंघन करता है तो उसे महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा हटाया जा सकेगा ।

दूसरे, भारत के राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार ही किया जा सकेगा [अनुच्छेद 74(1)] ।

42वां संशोधन ।

I. 1976 के पहले संविधान में यह अभिव्यक्त उपबंध नहीं था कि राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध है । यद्यपि न्यायालयों ने यह सुस्थिर कर दिया था[9] कि राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालक नहीं है बल्कि सांविधानिक प्रधान है जो जब तक मंत्रिपरिषद् को लोक सभा में बहुमत का विश्वास प्राप्त है तब तक उसकी सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध है [अनुच्छेद 75(3)] ।[9] 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 से अनुच्छेद 74(1) का संशोधन करके स्थिति स्पष्ट कर दी गई है ।

यथासंशोधित अनुच्छेद 74(1) इस प्रकार है :

"राष्ट्रपति को अपनी सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधान मंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा ।"

"कार्य करेगा" शब्द-प्रयोग से राष्ट्रपति मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध है ।

44वां संशोधन ।

II. जनता सरकार ने 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा यथासंशोधित अनुच्छेद 74(1) के उपर्युक्त पाठ को बने रहने दिया । किंतु 44वें संशोधन अधिनियम से अनुच्छेद 74(1) में एक परंतुक जोड़ा गया, जो इस प्रकार है,

"परन्तु राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् से ऐसी सलाह पर साधारणतया या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकेगा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गई सलाह के अनुसार कार्य करेगा ।"

44वें संशोधन का परिणाम यह है कि कुछ थोड़े से मामलों को छोड़कर जो उच्चतम न्यायालय[9] ने निर्दिष्ट किए हैं (जिन पर हम अभी विचार करेंगे), राष्ट्रपति को किसी मामले में अपने विवेकानुसार कार्य करने की शक्ति नहीं है । उसे प्रधान मंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह के अनुसार कार्य करना होगा । ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करने से इंकार करने पर उस पर संविधान के उल्लंघन के लिए महाभियोग चलाया जा सकेगा । राष्ट्रपति को एक नई शक्ति यह दी गई है कि वह किसी विषय को पुनर्विचार के लिए भेज सकेगा । यदि मंत्रिपरिषद् अपनी पहले वाली सलाह पर ही टिकी रहती

है तो राष्ट्रपति के पास उसके अनुसार कार्य करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहता। पुनर्विचार के लिए वापस करने की शक्ति का प्रयोग एक विषय के बारे में एक बार ही किया जा सकेगा ।

अतएव यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति की शक्तियां उसके मंत्रियों की शक्तियां हैं । उसी प्रकार जैसे इंग्लैंड के सम्राट के परमाधिकार "जनता के विशेषाधिकार" बन गए हैं (डाइसी)[10] । संघ सरकार की शक्तियों की खोज करने के लिए संविधान के उन उपबंधों का अध्ययन करना होगा जो राष्ट्रपति में शक्तियां और कृत्य निहित करते हैं।

आधुनिक राज्य में "कार्यपालिका शक्ति" अभिव्यक्ति में जो शक्तियां आती हैं उन्हें राजनीति शास्त्र के विद्वानों ने निम्नलिखित शीर्षों में विभाजित किया है ।

(क) *प्रशासनिक शक्ति,* अर्थात् विधियों का कार्यकरण और सरकार के विभागों का प्रशासन,

(ख) *सैन्य शक्ति,* अर्थात् सैन्य बलों का समादेश और युद्ध संचालन,

(ग) *विधायी शक्ति,* अर्थात् विधान मंडल को आहूत करना, सत्रावसान करना आदि और विधान प्रारंभ करना तथा अनुमति देना आदि,

(घ) *न्यायिक शक्ति,* अर्थात् अपराध के लिए दोषसिद्ध व्यक्तियों को क्षमादान, प्रविलंबन आदि ।

भारत का संविधान विभिन्न उपबंधों के द्वारा, पूर्वोक्त मर्यादाओं के अधीन रहते हुए, इन शीर्षों के अधीन राष्ट्रपति के हाथों में शक्ति निहित करता है ।

I. *प्रशासनिक शक्ति* — भारत का राष्ट्रपति, अमेरिकी राष्ट्रपति के समान वास्तविक कार्यपालक प्रधान नहीं है । इसलिए प्रशासन के विषय में राष्ट्रपति को कोई प्रशासनिक कृत्यों का वहन नहीं करना होता है । उसे सरकार के विभागों का नियंत्रण और पर्यवेक्षण करने की वैसी शक्ति नहीं है जैसी अमेरिकी राष्ट्रपति को है । संघ की सरकार के विभिन्न विभागों का कार्य उसके प्रभारी मंत्री के नियंत्रण और उत्तरदायित्व में किया जाता है किंतु राष्ट्रपति प्रशासन का औपचारिक प्रधान रहेगा । अतएव संघ की कार्यपालिका का सभी कार्य राष्ट्रपति के नाम से किया जाना चाहिए। कोई आदेश या लिखत भारत सरकार ने निष्पादित की है या नहीं यह जानने का एक ही ढंग है । वह यह कि क्या वह राष्ट्रपति के नाम से लिखी गई है और ऐसी रीति से अधिप्रमाणित की गई है जो राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए नियमों में विहित है [अनुच्छेद 77] । इसी कारण से भारत सरकार की ओर से की गई सभी संविदाएं और संपत्ति संबंधी हस्तांतरण पत्र राष्ट्रपति द्वारा किए गए कहे जाने चाहिए और ऐसी रीति में निष्पादित होने चाहिए जो वह निदिष्ट या प्राधिकृत करे [अनुच्छेद 299] ।

यद्यपि राष्ट्रपति प्रशासन का वास्तविक प्रधान नहीं है फिर भी संघ के सभी अधिकारी उसके "अधीनस्थ" होंगे [अनुच्छेद 53(1)] और उसे संघ के कार्यकलाप की जानकारी पाने का अधिकार होगा [अनुच्छेद 78(ख)] ।

प्रशासनिक शक्ति में राज्य के उच्च पदधारियों को नियुक्त करने और उन्हें हटाने की शक्ति भी है । हमारे संविधान के अधीन राष्ट्रपति को इन्हें नियुक्त करने की शक्ति है — (i) भारत का प्रधान मंत्री, (ii) संघ के अन्य मंत्री, (iii) भारत का महान्यायवादी, (iv) भारत का नियंत्रक महालेखापरीक्षक, (v) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, (vi) राज्य के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, (vii) राज्य के राज्यपाल, (viii) जल प्रदाय में हस्तक्षेप का अन्वेषण करने के लिए आयोग, (ix) वित्त आयोग, (x) संघ लोक सेवा आयोग और राज्यों के समूहों के लिए संयुक्त आयोग, (xi) मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयोग

के अन्य सदस्य, (xii) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष अधिकारी, (xiii) अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन पर प्रतिवेदन देने के लिए आयोग, (xiv) पिछड़े वर्गों की दशाओं का अन्वेषण करने के लिए आयोग, (xv) राजभाषा आयोग, (xvi) भाषायी अल्पसंख्यक आयोग ।

कुछ नियुक्तियां करने में संविधान में यह अपेक्षा है कि राष्ट्रपति अपने मंत्रियों से भिन्न कुछ व्यक्तियों से परामर्श करेगा । जैसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से तथा उच्चतम न्यायालय के और उच्च न्यायालय के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करेगा जो वह आवश्यक समझे [अनुच्छेद 124(2)] । इन शर्तों के बारे में हम विभिन्न पदों के संबंध में उचित स्थानों पर विचार करेंगे ।

राष्ट्रपति को इन्हें पद से हटाने की शक्ति है (i) मंत्री, व्यक्तिशः, (ii) भारत का महान्यायवादी, (iii) राज्य का राज्यपाल, (iv) उच्चतम न्यायालय के प्रतिवेदन पर, संघ या किसी राज्य के लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष या सदस्य, (v) संसद् के समावेदन पर उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय का न्यायाधीश या निर्वाचन आयुक्त ।

पद पुरस्कार पद्धति ।

यह ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त विनिर्दिष्ट पदों पर नियुक्ति करने के अतिरिक्त, भारत के संविधान में राष्ट्रपति को संघ के कनिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति की कोई आत्यंतिक शक्ति नहीं है जैसी कि अमेरिकी संविधान में है । इस प्रकार भारत के संविधान में अमेरिका की अवांछनीय "पद पुरस्कार पद्धति" से बचा गया है । उस पद्धति के अनुसार संघ के 20 प्रतिशत सिविल पद राष्ट्रपति द्वारा सिविल सेवा आयोग से परामर्श किए बिना भरे जाते हैं, जो पार्टी के प्रति निष्ठा के पुरस्कार के रूप में होते हैं । भारत के संविधान में इस दूषण से दूर रहने का प्रयत्न किया गया है । इसके लिए "संघ लोक सेवा और संघ लोक सेवा आयोग" को संसद् का विधायी विषय बनाया गया है । नियुक्ति के मामलों में संघ लोक सेवा आयोग से परामर्श करना राष्ट्रपति के लिए अनिवार्य है [अनुच्छेद 320(3)] । कुछ थोड़े से पद ही इसके लिए अपवाद हैं । यदि किसी मामले में राष्ट्रपति संघ लोक सेवा आयोग की सलाह स्वीकार करने में असमर्थ है तो सरकार को उसका स्पष्टीकरण संसद् में देना होगा । सिविल सेवकों के पद से हटाए जाने के विषय में स्थिति यह है कि संघ के अधीन सेवा करने वाले राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं किंतु राष्ट्रपति के प्रसाद के बारे में कुछ शर्तें और प्रक्रियाएं अधिकथित की गई हैं । इन्हीं के अधीन प्रसाद का प्रयोग किया जा सकेगा [अनुच्छेद 311(2)] ।

II. *सैन्य शक्ति* – भारत के राष्ट्रपति की सैन्य शक्तियां अमेरिकी राष्ट्रपति या इंग्लैंड के सम्राट की तुलना में कम हैं ।

रक्षा बलों का सर्वोत्तम समादेश राष्ट्रपति में निहित है किंतु संविधान यह अभिव्यक्त रूप से उपबंध करता है कि उसका प्रयोग विधि द्वारा विनियमित होगा । इसका यह अर्थ हुआ कि राष्ट्रपति को युद्ध या शांति की घोषणा करने या रक्षा बलों को अभिनियोजित करने की शक्ति है किंतु संसद् विधि द्वारा इन शक्तियों के प्रयोग को विनियमित या नियंत्रित कर सकती है । यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वोच्च समादेष्टा के रूप में राष्ट्रपति की शक्तियां विधायी नियंत्रण के बाहर हैं, जैसा कि अमेरिका में है ।

दूसरे, संविधान में यह उपबंध है कि विधि के प्राधिकार के बिना कुछ कार्य नहीं किए जा सकते अतएव इसका यह अर्थ होगा कि संसद् की मंजूरी के बिना राष्ट्रपति ऐसे कार्य नहीं कर सकता । उदाहरणार्थ, वे कार्य जिनमें धन का व्यय होगा [अनुच्छेद 114(3)] जैसे सैन्य बलों की भर्ती, प्रशिक्षण और अनुरक्षण ।

III. *राजनयिक शक्ति* — राजनयिक शक्ति एक व्यापक विषय है । कई बार इसे विदेश कार्य शक्ति के समानार्थी समझा जाता है जिसमें "वे सभी विषय आते हैं जो संघ को किसी विदेशी राज्य के संस्पर्श में लाते हैं" । इन विषयों के बारे में और साथ ही संधियां करने और उन्हें क्रियान्वित करने के बारे में विधायी शक्ति संसद् में है । चाहे इन बातों की अंतिम शक्ति संसद् में हो किंतु इन बातों में विधान मंडल प्रारंभ नहीं कर सकता । संसद् के अनुसमर्थन के अधीन रहते हुए अन्य देशों से संधि और करार करने का कार्य राष्ट्रपति को, मंत्रियों की सलाह के अनुसार करना होगा ।

विधान के विषय के रूप में राजनयिक प्रतिनिधित्व संसद् का विषय है किंतु राज्य के प्रधान होने के नाते भारत का राष्ट्रपति अंतरराष्ट्रीय क्रियाकलाप में भारत का प्रतिनिधित्व करेगा और अन्य देशों में भारत के प्रतिनिधि नियुक्त करने की और अन्य राज्यों के राजनयिक प्रतिनिधियों को ग्रहण करने की ऐसी शक्ति होगी जो संसद् को मान्य हो ।

IV. *विधायी शक्ति* — इंग्लैंड के सम्राट के समान, भारत का राष्ट्रपति भी संघ की संसद् का अंग है । यह एक ऐसा स्थल है जिसमें भारत का संविधान, अमेरिकी संविधान में स्वीकृत शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत से विचलन करता है । भारत के राष्ट्रपति की विधायी शक्तियां, जिनका प्रयोग मंत्रियों की सलाह पर ही होगा [अनुच्छेद 74(1)] कई प्रकार की हैं और उन पर निम्नलिखित शीर्षों की अधीन विचार किया जा सकता है ।

(क) *आहूत करना, सत्रावसान, विघटन*

इंग्लैंड के सम्राट के समान हमारे राष्ट्रपति को संसद् के सदनों को आहूत करने या उसका सत्रावसान करने और लोक सभा का विघटन करने की शक्ति है । गतिरोध हो जाने पर उसे संसद् के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आहूत करने की शक्ति है [अनुच्छेद 85, 108] ।

(ख) *आरंभिक अभिभाषण*

राष्ट्रपति लोक सभा के लिए प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात् प्रथम सत्र के आरंभ में और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरंभ में एक साथ समवेत संसद् के दोनों सदनों में अभिभाषण करेगा और संसद् को उसके आह्वान के कारण बताएगा [अनुच्छेद 87] ।

गत 41 वर्षों के व्यवहार से यह प्रकट होता है कि आरंभिक भाषण का वही उपयोग होता है जो इंग्लैंड में "सिंहासन से भाषण" का होता है । अर्थात् उस सत्र के लिए मंत्रिमंडल के कार्यक्रम की घोषणा और राजनीतिक, साधारण नीति के या प्रशासन के विषयों पर चर्चा का सूत्रपात करना । प्रत्येक सदन को यह शक्ति है कि वह प्रक्रिया का विनियमन करने वाले नियमों द्वारा ऐसे अभिभाषण में निर्दिष्ट विषयों की चर्चा के लिए समय नियत करे ।

(ग) *अभिभाषण करने और संदेश भेजने का अधिकार*

प्रत्येक सत्र के आरंभ पर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में अभिभाषण करने के अधिकार के अतिरिक्त राष्ट्रपति संसद् के किसी एक सदन में या एक साथ समवेत दोनों सदनों में अभिभाषण कर सकेगा और इस प्रयोजन के लिए सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा [अनुच्छेद 86(1)] । यह अधिकार इंग्लैंड के संविधान से लिया गया है किंतु वहां इसका उपयोग समारोहों के लिए ही किया जाता है अन्यथा नहीं ।

अभिभाषण करने के अधिकार के अतिरिक्त भारत के राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह संसद् में उस समय जब विधेयक लम्बित है किसी विधेयक के संबंध में या

किसी अन्य विषय के संबंध में संदेश किसी भी सदन को भेज सकेगा और वह सदन उस संदेश पर "सुविधानुसार शीघ्रता से" विचार करेगा [अनुच्छेद 86(2)] । जार्ज तृतीय के समय से इंग्लैंड का सम्राट विधान बनाने में भाग लेने या उसे प्रभावित करने से विरत रहा है और अब संदेश केवल औपचारिक विषय में ही भेजे जाते हैं । दूसरी ओर अमेरिका के राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह कांग्रेस को किसी भी विधायी अध्युपाय की सिफारिश संदेश के माध्यम से करे । किंतु कांग्रेस उन्हें स्वीकार करने के लिए आबद्ध नहीं है ।

भारत के राष्ट्रपति को केवल विधायी विषयों के बारे में ही नहीं अन्य विषयों के बारे में संदेश भेजने की शक्ति है । भारत की कार्यपालिका के प्रधान का प्रतिनिधित्व संसद् में उसके मंत्रियों द्वारा किया जाता है इसलिए राष्ट्रपति को विधान के बारे में संदेश भेजने की जो शक्ति दी गई है वह निरर्थक सी मालूम होती है । राष्ट्रपति को मंत्रियों को नीति से भिन्न संदेश भेजने की स्वतंत्रता होने पर यह उचित होता किंतु यदि ऐसी स्वतंत्रता होगी तो उससे राष्ट्रपति और मंत्रियों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो जाएगा ।

यह ध्यान देने योग्य है कि हमारे संविधान के 42 वर्षों के कार्यकरण में राष्ट्रपति ने संसद् को कोई संदेश नहीं भेजा है और न ही प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात् तथा प्रत्येक वर्ष के पहले सदन के आरम्भ को छोड़कर किसी अन्य अवसर पर उसे संबोधित किया है ।

(घ) *सदनों में सदस्यों का नामनिर्देशन*

संसद् के दोनों सदनों का गठन मुख्यतः निर्वाचन के द्वारा होता है चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष । किंतु राष्ट्रपति को दोनों सदनों में कुछ सदस्यों को नामनिर्दिष्ट करने की शक्ति दी गई है । यह इस धारणा पर है कि निर्वाचन की प्रतियोगी प्रणाली के माध्यम से कुछ हितों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं हो पाएगा । जैसे,

(i) राज्य सभा में राष्ट्रपति 12 ऐसे व्यक्तियों को नामनिर्दिष्ट करेगा जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक विषयों का विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है [अनुच्छेद 80(1)] । (ii) राष्ट्रपति को यह शक्ति भी दी गई है कि यदि उसकी यह राय है कि लोक सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वह लोक सभा में उस समुदाय के दो से अनधिक सदस्य नामनिर्दिष्ट कर सकेगा [अनुच्छेद 331] ।

(ङ) *संसद् के समक्ष प्रतिवेदन आदि का रखा जाना*

राष्ट्रपति की कुछ प्रतिवेदन और कथनों को संसद् के समक्ष रखने की शक्ति और कर्तव्य के माध्यम से वह संसद् के सम्पर्क में आता है । इस प्रकार रखे जाने का उद्देश्य यह है कि संसद् को उन पर कार्यवाही करने का अवसर प्राप्त हो । उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि वह संसद् के समक्ष यह दस्तावेज रखवाएगा — (क) वार्षिक वित्तीय विवरण (बजट) और अनुपूरक विवरण, यदि कोई हो, (ख) भारत सरकार के लेखाओं के संबंध में नियंत्रक महालेखापरीक्षक का प्रतिवेदन, (ग) वित्त आयोग की सिफारिश और उसके साथ उन पर की गई कार्यवाही का स्पष्टीकारक ज्ञापन, (घ) संघ लोक सेवा आयोग का प्रतिवेदन और जहां आयोग की सलाह स्वीकार नहीं की गई है वहां उसके कारण, (ङ) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विशेष अधिकारी का प्रतिवेदन, (च) पिछड़े वर्ग के आयोग का प्रतिवेदन, (छ) भाषाई अल्पसंख्यकों के विशेष अधिकारों का प्रतिवेदन ।

(च) *विधायन के लिए पूर्व मंजूरी*

संविधान में यह अपेक्षा है कि कुछ विषयों पर विधान पुरःस्थापित करने के लिए

राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी या सिफारिश की अपेक्षा होगी । वैसे न्यायालय किसी विधान को इस आधार पर अविधिमान्य नहीं घोषित कर सकते कि पूर्व मंजूरी नहीं दी गई थी, यदि अन्ततोगत्वा राष्ट्रपति ने विधान को अनुमति दे दी है [अनुच्छेद 255] । ये विषय हैं :

(i) नए राज्यों के निर्माण या वर्तमान राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन आदि [अनुच्छेद 3] । ऐसे विधान की सिफारिश करने की अनन्य शक्ति राष्ट्रपति को दी गई है जिससे वह ऐसा विधान प्रारंभ करने के पूर्व प्रभावित राज्यों के विचार प्राप्त कर सके ।

(ii) अनुच्छेद 31क(1) में विनिर्दिष्ट विषयों में से किसी का उपबंध करने के लिए विधेयक [अनुच्छेद 31क(1) का परन्तुक 1] ।

(iii) धन विधेयक [अनुच्छेद 117(1)] ।

(iv) कोई विधेयक जो सही अर्थों में धन विधेयक नहीं है किंतु जिससे भारत की संचित निधि में से व्यय करना पड़ेगा [अनुच्छेद 117(3)] ।

(v) कोई विधेयक जो ऐसे कराधान को प्रभावित करता है जिनसे राज्य हितबद्ध हैं या उन सिद्धांतों को प्रभावित करता है जिनसे राज्यों को धन का वितरण किया जाता है या आय-कर के प्रयोजनों के लिए "कृषि आय" पद के अर्थ में परिवर्तन करता है या भाग 12 के अध्याय 1 के अधीन संघ के प्रयोजनों के लिए अधिभार अधिरोपित करता है [अनुच्छेद 274(1)] ।

(vi) व्यापार की स्वतंत्रता पर निर्बन्धन अधिरोपित करने वाले राज्य विधेयक [अनुच्छेद 304 का परन्तुक] ।

(छ) *विधायन को अनुमति या वीटो*

(क) *संघ विधान पर वीटो* — कोई विधेयक भारत की संसद् का अधिनियम तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उसे राष्ट्रपति की अनुमति नहीं मिल जाती । जब दोनों सदनों से पारित किए जाने के पश्चात् कोई विधेयक राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया जाता है तो राष्ट्रपति निम्नलिखित तीन बातों में से कोई एक कर सकत्ता है ।

संघ विधान पर वीटो ।

(i) वह यह घोषित कर सकता है कि वह विधेयक को अनुमति देता है,

(ii) वह यह घोषित कर सकता है कि वह विधेयक को अनुमति विधारित करता है,

(iii) यदि वह धन विधेयक नहीं है तो उसे सदनों को इस संदेश के साथ लौटा सकेगा कि वे विधेयक पर पुनर्विचार करें । इसके साथ संशोधन के सुझाव का संदेश भी हो सकता है धन विधेयक को पुनर्विचार के लिए नहीं लौटाया जा सकता ।

ऊपर (iii) की दशा में यदि विधेयक सदनों द्वारा संशोधन सहित या उसके बिना फिर से पारित कर दिया जाता है और राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो राष्ट्रपति को अनिवार्यतः अनुमति देना होगा [अनुच्छेद 111] ।

साधारणतया, कार्यपालिका को यह शक्ति प्रदान करने का उद्देश्य विधान मंडल द्वारा शीघ्रता में और विचार किए बिना की गई कार्रवाई को रोकना होता है । किंतु ऐसी शक्ति की आवश्यकता तब समाप्त हो जाती है या कम हो जाती है जब स्वयं कार्यपालिका विधायन प्रारंभ करती है या संचालित करती है, जैसा कि संसदीय या मंत्रिमंडलीय प्रणाली में होता है । वस्तुस्थिति यह है कि सैद्धांतिक रूप से तो इंग्लैंड के सम्राट को वीटो की शक्ति है किंतु उसका प्रयोग सम्राज्ञी ऐन के समय से किया ही नहीं गया ।

वीटो शक्ति की प्रकृति ।

जहां कार्यपालिका और विधान मंडल एक दूसरे से पृथक् और स्वाधीन हैं वहां कार्यपालिका विधायन के लिए उत्तरदायी नहीं होती है । ऐसी स्थिति में यह उचित होगा कि उसे अवांछनीय विधायन रोकने के लिए कुछ नियंत्रण का अधिकार हो । इस प्रकार अमेरिका में राष्ट्रपति की वीटो की शक्ति का अनेक कारणों से समर्थन किया गया है जैसे (क) राष्ट्रपति को अपने पद की आक्रामक विधायन से रक्षा करने के लिए, (ख) कोई ऐसा विधायन न बनाया जाए जो राष्ट्रपति की राय में असांविधानिक है (उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति है कि वह किसी कानून को असांविधानिक होने के आधार पर बातिल कर दें किंतु वह इस शक्ति का प्रयोग संविधान के स्पष्ट उल्लंघन किए जाने पर ही कर सकता है और वह भी तब जब कि उस अधिनियम के बन जाने के पश्चात् कोई उचित कार्यवाही उसके समक्ष लाई जाती है), (ग) ऐसे विधान को रोकने के लिए जिसे वह व्यावहारिक रूप से समीचीन नहीं मानता या जो वह समझता है कि अमेरिकी जनता के मानस को प्रतिबिंबित नहीं करता है ।

विधान पर प्रभाव के दृष्टिकोण से, कार्यपालिका के वीटो का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है — आत्यंतिक, विशेषित, निलंबनकारी और जेबी ।

(ख) *आत्यंतिक वीटो* — इंग्लैंड के क्राउन के पास आत्यंतिक वीटो का परमाधिकार है । यदि वह किसी विधेयक को अनुमति नहीं देता है तो संसद् के मतों के होते हुए भी वह विधि नहीं बन सकता । मंत्रिमंडलीय प्रणाली के विकास के कारण सन् 1700 से यह शक्ति लुप्तप्रयोग हो चुकी है । इस प्रणाली में सभी सरकारी विधायन को मंत्रिमंडल ही सदन में प्रारंभ करता है और संचालित करता है । व्यवहार और आचरण की दृष्टि से इंग्लैंड में वर्तमान काल में वीटो की कार्यपालिका शक्ति नहीं है ।

(ग) *विशेषित वीटो* — वीटो "विशेषित" तब होता है जब विधान मंडल के असाधारण बहुमत से उसका अध्यारोहण किया जा सकता है और उस बहुमत से विधेयक को, कार्यपालिका के वीटो को रौंदकर, अधिनियम बनाया जा सकता है । अमेरिकी राष्ट्रपति का वीटो इसी वर्ग का है । जब राष्ट्रपति को कोई विधेयक प्रस्तुत किया जाता है और वह उसकी अनुमति नहीं देता है तो वह अपने आक्षेपों के कथन के साथ विधेयक को 10 दिन के भीतर कांग्रेस की उस शाखा को लौटाएगा जहां वह प्रारंभ हुआ था । तत्पश्चात् हर एक सदन विधेयक पर पुनर्विचार करता है और यदि वह प्रत्येक सदन द्वारा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार कर लिया जाता है तो वह इस बात के होते हुए भी विधि बन जाता है कि उस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर नहीं हैं । तब विशेषित वीटो का अध्यारोहण हो जाता है । यदि दो-तिहाई बहुमत नहीं मिलता तो वीटो बना रहता है और विधेयक विधि नहीं बन पाता । परिणामस्वरूप, विशेषित वीटो एक ऐसा माध्यम है जिससे कार्यपालिका विधान के दोष दिखाकर उस पर विधान मंडल से पुनर्विचार करा सकती है किंतु अंत में विधान मंडल का असाधारण बहुमत ही अभिभावी होता है । इस प्रकार अमेरिका में जहां कार्यपालिका, विधायिका को सत्रावसान, विघटन या अन्य किसी प्रकार से नियंत्रित नहीं कर सकती है वहां विशेषित वीटो एक उपयोगी साधन है ।

(घ) *निलंबनकारी वीटो* — जब कोई कार्यपालिका वीटो इस प्रकार का होता है कि विधान मंडल का सामान्य बहुमत उसका अध्यारोहण कर सकता है तो उसे निलंबनकारी वीटो कहते हैं । फ्रैंच राष्ट्रपति का वीटो इसी प्रकार का है । यदि पुनर्विचार करके संसद् उसे सादे बहुमत से पारित कर देती है तो राष्ट्रपति को उसे प्रख्यापित करना होता है ।

(ङ) *जेबी वीटो* — एक चौथा प्रकार है वीटो का "जेबी वीटो" । यह अमेरिका के राष्ट्रपति के पास है । जब कोई विधेयक उसे प्रस्तुत किया जाता है तो वह चाहे

तो न तो उस पर हस्ताक्षर करे और न उसे 10 दिन के भीतर लौटाए । वह उसे अपनी मेज पर तब तक पड़े रहने दे जब तक कि दस दिन की समय-सीमा समाप्त नहीं हो जाती । यदि इसी बीच (राष्ट्रपति को विधेयक प्रस्तुत किए जाने से दस दिन की अवधि की समाप्ति के पूर्व) कांग्रेस स्थगित हो जाती है तो विधेयक अधिनियम नहीं बन पाता । इस ढंग को "जेबी वीटो" कहते हैं । कांग्रेस के अधिवेशन के अंतिम थोड़े से दिनों में राष्ट्रपति, प्रस्तुत विधेयक पर अनुमति विधारित करके उसका विधि बनना रोक सकता है ।

भारत में । भारत के राष्ट्रपति की वीटो शक्ति आत्यंतिक, निलंबनकारी और जेबी वीटो का संयोजन है ।

(i) यदि राष्ट्रपति यह घोषित करता है कि वह अनुमति रोक लेता है तो इससे इंग्लैंड के समान ही, विधेयक समाप्त हो जाएगा । ऐसा इंकार इंग्लैंड में मंत्रिमंडलीय प्रणाली के उत्कर्ष के बाद लुप्तप्रयोग हो गया है क्योंकि उस प्रणाली में मंत्रिमंडल ही विधान प्रारंभ करता है और वही वीटो की सलाह देता है । किंतु ऐसा उपबंध भारत शासन अधिनियम, 1935 में किया गया था । भारत के संविधान में पूर्ण मंत्रिमंडलीय दायित्व होते हुए भी इस उपबंध को समाविष्ट किया गया है । सामान्यतया इस शक्ति का प्रयोग प्राइवेट सदस्यों के लिए ही किया जाएगा । सरकारी विधेयकों की दशा में ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है जिसमें विधेयक के पारित हो जाने के पश्चात् और राष्ट्रपति की अनुमति मिलने के पहले मंत्रिमंडल पदत्याग कर देता है और दूसरा मंत्रिमंडल जिसका संसद् में बहुमत है राष्ट्रपति को उस विधेयक के विरुद्ध वीटो के प्रयोग की सलाह देता है । ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रपति के लिए वीटो का प्रयोग सांविधानिक होगा यद्यपि वह विधेयक संसद् ने सम्यक्तः पारित किया था ।[11]

(ii) किंतु यदि अनुमति देने से स्पष्ट रूप से इंकार करने के स्थान पर राष्ट्रपति विधेयक को या उसके किसी भाग को पुनर्विचार के लिए भेजता है तो सामान्य बहुमत से विधेयक के पुनः पारित किए जाने पर राष्ट्रपति को अपनी अनुमति देने के लिए विवश होना पड़ेगा । भारत के राष्ट्रपति की यह शक्ति अमेरिका के विशेषित वीटो से भिन्न है । हमारे यहां लौटाए गए विधेयक को अधिनियमित करने के लिए असाधारण बहुमत आवश्यक नहीं है । भारत में राष्ट्रपति द्वारा लौटाए जाने का प्रभाव निलंबन मात्र होता है । [जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि यह शक्ति उन धन विधेयकों के संबंध में उपलब्ध नहीं है ।]

(iii) ध्यान देने योग्य एक और बात यह है कि संविधान कोई समय-सीमा विहित नहीं करता जिसके भीतर राष्ट्रपति विधेयक को अपनी अनुमति दे या इंकार करे या उसे वापस करे । अनुच्छेद 111 केवल यह कहता है कि यदि राष्ट्रपति विधेयक को लौटाना चाहता है तो वह विधेयक को उसे प्रस्तुत किए जाने के बाद यथाशीघ्र लौटा देगा । ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय-सीमा के अभाव में, भारत का राष्ट्रपति 'जेबी वीटो' शक्ति का प्रयोग कर सकेगा । इसके लिए उसे केवल यही करना होगा कि विधेयक को मेज पर पड़े रहने दे, विशेषकर तब जब वह पाता है कि मंत्रिमंडल का पतन शीघ्र हो सकता है । 1986 में संसद् ने भारतीय डाकघर (संशोधन) विधेयक पारित किया था । इसके कुछ उपबंधों पर प्रेस स्वातंत्र्य के विरुद्ध होने के आधार पर प्रेस ने आक्षेप किया गया था । राष्ट्रपति जैल सिंह ने इसे न तो अनुमति दी और न ही इंकार किया । अभी तक यह राष्ट्रपति की 'जेब' में ही है । इस अधिकार के प्रयोग का यह प्रथम उदाहरण है ।[12]

(च) *राज्य विधान को अननुज्ञात करना* — भारत के राष्ट्रपति को संघ के विधान

को वीटो करने की शक्ति के अतिरिक्त राज्य विधान मंडलों के ऐसे विधेयकों को जो राज्यपाल ने राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर लिए हैं अननुज्ञात करने या पुनर्विचार के लिए लौटाने की शक्ति है [अनुच्छेद 201] ।

राज्य विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए आरक्षित करना राज्यपाल के विवेकाधीन अधिकार है ।[13] जब कोई विधेयक राज्य के विधान मंडल के दोनों सदनों द्वारा पारित होकर राज्यपाल को उसकी अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो राज्यपाल उस पर अनुमति देने या अनुमति रोक देने के स्थान पर उस विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर सकता है ।

एक स्थिति में आरक्षण अनिवार्य है । अर्थात् जहां प्रश्नगत विधि से संविधान के अधीन उच्च न्यायालय की शक्तियों का अल्पीकरण होगा [अनुच्छेद 200] ।

यदि धन विधेयक इस प्रकार आरक्षित किया जाता है तो राष्ट्रपति या तो अनुमति देगा या देने से इंकार करेगा । किंतु धन विधेयक से भिन्न विधेयक की दशा में राष्ट्रपति अनुमति देने या इंकार करने के स्थान पर राज्यपाल को यह निदेश देगा कि वह विधेयक को पुनर्विचार के लिए विधान मंडल को लौटा दे । तब विधान मंडल छह मास की अवधि के भीतर विधेयक पर पुनर्विचार करेगा और यदि वह पुनः पारित किया जाता है तो उसे पुनः राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा । किंतु इस पर भी राष्ट्रपति उसे अनुमति दे यह अनिवार्य नहीं है ।

यह स्पष्ट है कि यदि कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किया जाता है तो उसका जब तक विधिक प्रभाव नहीं होगा जब तक राष्ट्रपति अपनी अनुमति की घोषणा न कर दे । संविधान ने अनुमति देने या विधारित करने की घोषणा करने के लिए कोई समय-सीमा नहीं बांधी है । परिणामस्वरूप राष्ट्रपति राज्य विधान मंडल के विधेयक को अपने विचार प्रकट किए बिना अनिश्चित काल के लिए अपने पास रख सकता है ।

राज्य विधान का अननुज्ञात किया जाना ।

विशुद्ध रूप से परिसंघीय संविधान में, जैसा कि संयुक्त राज्य का है, राज्य अपने क्षेत्र में स्वशासी होते हैं इस कारण परिसंघ की कार्यपालिका राज्य विधान मंडलों के विधेयकों को वीटो नहीं कर सकती । आस्ट्रेलिया के संविधान में भी गर्वनर जनरल की अनुमति के लिए विधेयकों के आरक्षण किए जाने का कोई उपबंध नहीं है और उसे राज्य विधान को अननुज्ञात करने की कोई शक्ति नहीं है ।

किंतु भारत ने कनाडा जैसा परिसंघ बनाया है । कनाडा के संविधान में गवर्नर-जनरल को यह शक्ति तो है ही कि वह गवर्नर द्वारा गवर्नर-जनरल की अनुमति के लिए आरक्षित प्रांतीय विधान को अनुमति देने से इंकार कर सकता है, वह ऐसे प्रांतीय अधिनियम को भी अननुज्ञात कर सकता है जो गवर्नर द्वारा आरक्षित न किया गया हो । इन शक्तियों से कनाडा के गवर्नर-जनरल को प्रांतीय विधान पर नियंत्रण प्राप्त होता है जिसके लिए अमेरिका या आस्ट्रेलिया में कोई स्थान नहीं है । कनाडा के गवर्नर-जनरल ने इस शक्ति का प्रयोग डोमिनियन की शक्तियों पर अतिक्रमण के आधार पर भी किया है और नीति के आधारों पर भी, जैसे अन्याय, आलोचना करने की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप आदि । इस विस्तार तक प्रांतीय विधान मंडल, डोमिनियन कार्यपालिका के अधीनस्थ हैं ।

भारत के संविधान में राष्ट्रपति को राज्य विधान को सीधे अननुज्ञात करने की शक्ति नहीं है । जो विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए राज्य के राज्यपाल द्वारा आरक्षित किए जाते हैं उन्हें अननुज्ञात करने का उपबंध है । राष्ट्रपति, राज्यपाल को यह निदेश

भी दे सकता है कि वह उस विधेयक को पुनर्विचार के लिए विधान मंडल को लौटा दे । यदि विधान मंडल सामान्य बहुमत से विधेयक को पुनः पारित कर देता है तो विधेयक राष्ट्रपति को पुनर्विचार के लिए प्रस्तुत किया जाएगा । यदि वह पुनः इंकार करता है तो विधेयक समाप्त हो जाता है । दूसरे शब्दों में राज्य विधान की दशा में राष्ट्रपति के वीटो के अध्यारोहण करने का कोई साधन नही है । इस प्रकार राज्य विधान पर संघ का नियंत्रण आत्यंतिक है । संविधान ने कोई आधार बताकर यह मर्यादा नहीं लगाई है कि इन्हीं आधारों पर राष्ट्रपति अनुमति देने से इंकार कर सकेगा । राज्यपाल द्वारा आरक्षण का विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है । अतएव प्रत्यक्ष रूप से अननुज्ञात करने की शक्ति का प्रयोग प्रकारांतर से राज्यपाल के माध्यम से, राष्ट्रपति ही करता है ।

राज्य विधान के संबंध में राष्ट्रपति की ये शक्तियां केन्द्रीय नियंत्रण के उन बंधनों को दृढ़ करती हैं जो भारत जैसे ऐकिकता की ओर झुकाव वाले परिसंघ में हैं ।

(ज) *अध्यादेश निर्माण की शक्ति* — राष्ट्रपति को उस समय अध्यादेश द्वारा विधान बनाने की शक्ति है जब उस विषय पर तुरंत ही संसदीय अधिनियमिति बनाना संभव नहीं है [अनुच्छेद 123] ।

राष्ट्रपति की अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति का विस्तार उतना ही है जितना संसद् की विधायी शक्ति का अर्थात् वह किसी भी ऐसे विषय से संबंधित हो सकता है जिसकी बाबत संसद् को विधायन का अधिकार है । इस पर भी वही सांविधानिक मर्यादाएं हैं जो संसदीय विधान पर लागू होती हैं । जैसे अध्यादेश से भी मूल अधिकारों का उल्लंघन नहीं हो सकता और संसद् के अधिनियम से भी । वस्तुतः अनुच्छेद 13(3)(क) इस स्थिति को भली-भांति सुनिश्चित करने के लिए अधिकथित करता है कि "विधि" में "अध्यादेश" सम्मिलित है ।

इस मर्यादा के अधीन रहते हुए अध्यादेश भी उसी प्रकार किसी भी प्रकृति का हो सकता है जैसे संसदीय विधान । अर्थात् वह भूतलक्षी भी हो सकता है या किसी भी विधि या संसद् के ही किसी अधिनियम का संशोधन या निरसन कर सकता है । अंतर इतना है कि अध्यादेश अस्थायी होता है ।

कार्यपालिका की अध्यादेश द्वारा विधायन की स्वतंत्र शक्ति भारत शासन अधिनियम का अवशेष चिह्न है । किंतु भारत के संविधान के उपबंध कई तात्विक बातों में 1935 के अधिनियम से भिन्न हैं ।

प्रथम, राष्ट्रपति इस शक्ति का प्रयोग अपनी मंत्रिपरिषद् की सलाह पर करेगा (भारत शासन अधिनियम, 1935 में गवर्नर-जनरल को अपने व्यक्तिगत निर्णय पर कार्य करने की शक्ति थी) ।

द्वितीय, जब संसद् का अधिवेशन होता है तब अध्यादेश संसद् के समक्ष रखा जाना चाहिए । यदि संसद् उसे पहले ही अनुमोदित नहीं कर देती तो वह अधिवेशन की तारीख से छह सप्ताह की समाप्ति पर अपने आप ही निष्प्रभाव हो जाएगा ।

तृतीय, राष्ट्रपति को अध्यादेश बनाने की शक्ति तभी होती है जब दोनों में से किसी एक सदन का सत्रावसान हो गया है या वह अन्थया सत्र में नहीं है और इसलिए संसद् द्वारा विधि अधिनियमित करना संभव नहीं है । जब दोनों सदन सत्र में होते हैं तब उसे यह शक्ति नहीं होती है । राष्ट्रपति की अध्यादेश निर्माण की शक्ति विधान बनाने की समानांतर या सहवर्ती शक्ति नहीं है । यह तब उपलब्ध नहीं होती जब विधान मंडल विधायन करने के लिए समर्थ है ।

अमेरिकी संविधान में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत के कारण कार्यपालिका की विधायी शक्ति कल्पना के बाहर की वस्तु है । इंग्लैंड में भी "केस आफ प्रोक्लेमेशंस" (1610) के पश्चात् यही स्थिति है । किंतु संसद् के अवकाश के समय अध्यादेश की शक्ति को भारत में इस आधार पर न्यायोचित ठहराया गया है कि जब दोनों सदन सत्र में नहीं हैं तब आवश्यकता की पूर्ति के लिए राष्ट्रपति को यह शक्ति होनी चाहिए ।

"ऐसी परिस्थितियों की कल्पना करना कठिन नहीं है जब किसी समय पर विद्यमान सामान्य विधि द्वारा प्रदत्त शक्तियों से किसी एकाएक उत्पन्न हुई परिस्थिति से निपटना कठिन हो । कार्यपालिका को ऐसे में अध्यादेश निकालने की शक्ति होनी चाहिए । क्योंकि विधान मंडल के सत्र में न होने के कारण कार्यपालिका विधि की सामान्य प्रक्रिया के द्वारा उस परिस्थिति से निपट नहीं सकती है ।"

विधान मंडल के सत्र में न होने पर भी राष्ट्रपति तब तक कोई अध्यादेश प्रख्यापित नहीं कर सकता जब तक कि उसका यह समाधान नहीं हो जाता कि ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनके कारण तुरंत कार्रवाई करना उसके लिए आवश्यक हो गया है । अनुच्छेद 123 का खंड (1) यह कहता है :

"उस समय को छोड़कर जब संसद् के दोनों सदन सत्र में हैं, यदि किसी समय राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनके कारण तुरंत कार्रवाई करना उसके लिए आवश्यक हो गया है तो वह ऐसे अध्यादेश प्रख्यापित कर सकेगा जो उसे उन परिस्थितियों में अपेक्षित प्रतीत हों ।"

अध्यादेश की शक्ति के दुरुपयोग की संभावना ।

"तुरंत कार्रवाई" का अनुच्छेद 352 के अधीन "आपात" से अनिवार्य संबंध नहीं है । अतएव अध्यादेश का प्रख्यापन किसी बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह होने पर निर्भर नहीं है । इस बात की कसौटी इतनी ही है कि जिन परिस्थितियों के कारण विधान आवश्यक हो गया है वे इतनी गंभीर और आसन्न हैं कि विधान मंडल को आहूत करने और विधान के सामान्य प्रक्रम में विधेयक को पारित कराने में जो विलंब लगेगा वह सहन नहीं किया जा सकता । किंतु ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है या नहीं इसका एक मात्र निर्णायक स्वयं राष्ट्रपति ही होता है । कुछ आरंभिक वादों में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि चाहे यह अभिकथन किया गया हो कि शक्ति का प्रयोग सद्भावपूर्वक नहीं किया गया था तो भी न्यायालय इस बात की जांच नहीं कर सकता कि समाधान का औचित्य था या नहीं ।[14] किंतु यदि अध्यादेश की अवधि समाप्त होते ही उसे पुनः प्रख्यापित किया जाता है और ऐसा बार-बार किया जाता है तो यह प्रयोग संविधान प्रदत्त अधिकार का दुरुपयोग और संविधान के प्रति कपट है ।[15]

कूपर के वाद में[16] उच्चतम न्यायालय ने यह मत अभिव्यक्त किया कि राष्ट्रपति के समाधान की वास्तविकता को न्यायालय में संभवतः इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह असद्भावपूर्ण था । उदाहरणार्थ, जहां राष्ट्रपति ने संसद् के किसी सदन का सत्रावसान किसी विवादास्पद विषय पर अध्यादेश बनाने के लिए किया है जिससे कि विधान मंडल के निर्णय से बच निकला जाए ।

38वां संशोधन ।

I. इंदिरा सरकार चाहती थी कि अध्यादेश निर्माण में न्यायिक हस्तक्षेप को रोक दिया जाए । इस उद्देश्य से अनुच्छेद 123 में खंड (4) जोड़कर यह अधिकथित किया गया कि राष्ट्रपति का समाधान अंतिम होगा और किसी न्यायालय में किसी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा ।

II. जनता सरकार ने इस परिवर्तन को उलट दिया । इसका अंतिम परिणाम यह है कि कूपर के वाद[16] में जो संप्रेक्षण किया गया है वह प्रतिष्ठित हो गया है और असद्भाव

की दशा में न्यायिक हस्तक्षेप के लिए द्वार खुला हुआ है ।[14] असद्भाव साबित करना कठिन होगा किंतु कूपर[16] के संप्रेक्षण के पुनरुज्जीवित हो जाने से अध्यादेश बनाने के उद्देश्य से संसद् के किसी सदन का सत्रावसान करने की मनमानी शक्ति पर रोध लग जाएगा ।

44वां संशोधन ।

यह सच है कि अध्यादेश बनाने की शक्ति का प्रयोग तो मंत्रिमंडल की सलाह पर किया जाता है । मंत्रिमंडल का संसद् में बहुमत होता है । अतएव इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि सरकार संसद् के अधिनियम के स्थान पर अध्यादेश द्वारा विधायन करना चाहती है । क्योंकि यदि अध्यादेश प्रख्यापित करने के स्थान पर विधेयक लाया जाता तो भी बहुमत से सुनिश्चित हो जाता है कि विधेयक पारित हो जाए । किंतु यदि तत्कालीन सरकार के साथ भारी बहुमत न हो तो यह तर्क नहीं चल सकता । ऐसी स्थिति में अनुच्छेद 123 सरकार को अस्थायी अवधि के लिए अध्यादेश से विधायन करने की सामर्थ्य देगा, जब सरकार निश्चित रूप से यह नहीं कह सकती है कि विधेयक का संसद् में समर्थन होगा । जब सरकार का संसद् में स्पष्ट बहुमत होता है तब भी जब विधेयक पुरःस्थापित होता है और संसद् में चर्चा होती है तो विधेयक के गुण-दोषों का राष्ट्रव्यापी प्रचार हो जाता है और दोनों सदनों को चर्चा से प्रकट होने वाले उसके दोषों को संशोधन करके सुधारने का अवसर मिल जाता है । जब सरकार अध्यादेश से विधान बनाती है तो यह सब नहीं हो सकता । यह स्पष्ट है कि यह शक्ति मंत्रिपरिषद्[17] की सलाह पर प्रयोग की जाएगी । फिर भी शक्ति के दुरुपयोग की संभावना है क्योंकि मंत्री भी संसद्[14] में चर्चा से बचने के लिए अध्यादेश के लालच में पड़ सकते हैं और इस उद्देश्य को सामने रखकर राष्ट्रपति को किसी भी समय संसद् का सत्रावसान करने की सलाह दे सकते हैं ।

यह स्पष्ट है कि इस दुरुपयोग के विरुद्ध कोई रक्षोपाय होना चाहिए । जहां तक अध्यादेश के गुणागुणों का प्रश्न है, यदि सरकार अध्यादेश का स्थान ग्रहण करने के लिए विधेयक पुरःस्थापित करके उसकी अवधि बढ़ाना चाहती है तो संसद् को अध्यादेश का पुनर्विलोकन करने का अवसर मिल जाता है । यदि सरकार को किसी अन्य प्रयोजन के लिए संसद् को आहूत करना पड़ता है तो वह अध्यादेश का निरनुमोदन करते हुए संकल्प पारित कर सकती है [अनुच्छेद 123(2)(क)] । किंतु वास्तविक प्रश्न यह है कि किस प्रकार बिना निंदा का प्रस्ताव या अविश्वास का प्रस्ताव पारित हुए संसद् सरकार को यह बता सके कि वह सरकार के विधेयक के स्थान पर अध्यादेश निकालने के आचरण का अनुमोदन नहीं करती है ? लोक सभा ने नियम बनाकर यह अपेक्षा की है कि जब कभी सरकार किसी विधेयक से अध्यादेश को प्रतिस्थापित करेगी तो ऐसे विधेयक के साथ एक कथन होगा जिसमें उन परिस्थितियों को स्पष्ट किया जाएगा जिनके कारण अध्यादेश द्वारा तुरंत विधान बनाना आवश्यक हो गया था । इस नियम में उक्त कथन पर किसी प्रकार की चर्चा या विचार-विमर्श का अवसर देने की व्यवस्था नहीं है । कथन केवल सदन को सरकार द्वारा दिए गए आधारों की सूचना देता है । यदि बिना किसी मतदान के साधारण चर्चा अनुज्ञात होती तो इससे सरकार को गिराए बिना संसद् सरकार को अपनी भावनाओं से अवगत करा देती ।

संसदीय रक्षोपाय ।

V. *क्षमादान की शक्ति* — लगभग सभी संविधान कार्यपालिका के प्रधान को ऐसे व्यक्तियों को क्षमा प्रदान करने की शक्ति देते हैं जिनका किसी अपराध के लिए विचारण और दोषसिद्धि हुई है । कार्यपालिका को न्यायिक शक्ति प्रदान करने का उद्देश्य यह है

कि यदि कोई न्यायिक भूल हुई हो तो उसे सुधारा जा सके । न्यायिक प्रशासन की कोई भी मानवीय प्रणाली पूर्णतः दोषमुक्त नहीं हो सकती । यही इसका कारण है ।

केहर सिंह[18] के वाद में उच्चतम न्यायालय ने क्षमादान की शक्ति के संबंध में निम्नलिखित सिद्धांत प्रतिपादित किए —

1. जो व्यक्ति राष्ट्रपति को क्षमादान के लिए आवेदन करता है उसे राष्ट्रपति के समक्ष मौखिक सुनवाई का अधिकार नहीं है ।
2. शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति के विवेकाधीन है । न्यायालय मार्गदर्शन के सिद्धांत अधिकथित करने की आवश्यकता नहीं समझता ।
3. शक्ति का प्रयोग केन्द्रीय सरकार की सलाह पर किया जाएगा ।
4. राष्ट्रपति न्यायालय के निर्णय पर विचार करके उससे भिन्न मत अपना सकता है ।
5. राष्ट्रपति के निर्णय का न्यायालय पुनर्विलोकन नहीं कर सकते ।

यह ध्यान देने योग्य है कि जिसे हमने ऊपर क्षमादान की शक्ति कहा है उसमें एक ही प्रकार की अनेक शक्तियां हैं जिनका सुभिन्न महत्व और सुभिन्न विधिक परिणाम है । उदाहरणार्थ क्षमा, प्रविलंबन, विराम, निलंबन और लघूकरण । क्षमा के द्वारा अध्यादेश और दोषसिद्धि दोनों विखंडित हो जाते हैं और अपराधी सभी दंड और निरर्हताओं से शुद्ध हो जाता है । लघूकरण में एक प्रकार के दंड के स्थान पर दूसरा उससे हल्का दंड आ जाता है । उदाहरण के लिए निम्नलिखित दंडादेशों में से प्रत्येक का उसके ठीक बाद में आने वाले दंडादेश द्वारा लघूकरण किया जा सकता है, — मृत्यु, निर्वासन, कठोर कारावास, सादा कारावास, जुर्माना । परिहार, दंडादेश की प्रकृति को परिवर्तित किए बिना उसे घटाता है । उदाहरण के लिए एक वर्ष के कारावास के दंडादेश को परिहार करके छह मास का किया जा सकता है । विराम का अर्थ यह है कि किसी विशेष तथ्य को देखते हुए विहित शास्ति के स्थान पर कोई छोटा दंडादेश दे दिया जाता है । उदाहरण के लिए किसी स्त्री अपराधी का गर्भवती होना । प्रविलंबन का अर्थ है कि दंडादेश के निष्पादन को रोक दिया गया है । उदाहरण के लिए क्षमा या लघूकरण की कार्यवाही के लम्बित रहने के दौरान ।

राष्ट्रपति और राज्यपाल की क्षमादान की शक्ति की तुलना ।

भारत के संविधान में क्रमशः अनुच्छेद 72 और 161 के अधीन राष्ट्रपति और राज्यों के राज्यपाल दोनों को ही क्षमादान की शक्ति है ।

राष्ट्रपति	*राज्यपाल*
1. सेना न्यायालय द्वारा दिए गए दंड या दंडादेश की बाबत क्षमादान, प्रविलंबन, विराम, निलंबन, परिहार या लघूकरण की शक्ति है ।	1. ऐसी कोई शक्ति नहीं है ।
2. जहां दंड या दंडादेश ऐसी विधि के विरुद्ध अपराध के लिए है जो ऐसे विषय से संबंधित है जिस पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है वहां उपरोक्त शक्ति है ।	2. ऐसी विधि के विरुद्ध अपराध के संबंध में जो ऐसे विषय से संबद्ध है जिस पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है राष्ट्रपति की शक्तियों के समान शक्तियां हैं (मृत्यु दंडादेश को छोड़कर जिसके लिए नीचे देखिए) ।

3. उन सभी दशाओं में जहां दंडादेश मृत्यु दंड है वहां उपरोक्त सभी प्रकार की शक्ति है ।	3. मृत्यु दंडादेश की दशा में क्षमा करने की शक्ति नहीं है । किंतु विधि द्वारा यदि निलंबन, परिहार या लघूकरण की शक्ति प्रदान की गई है तो वह अप्रभावित है ।

परिणामस्वरूप राष्ट्रपति को निम्नलिखित की बाबत क्षमादान की शक्ति है, —

(i) सैन्य न्यायालय द्वारा दंड के सभी मामले (राज्यपाल को इस प्रकार की कोई शक्ति नहीं है) ।

(ii) संघ और समवर्ती सूची के अधीन बनाई गई विधियों के अधीन अपराध । (समवर्ती क्षेत्र की विधियों के बारे में राष्ट्रपति की अधिकारिता राज्यपाल के समवर्ती होगी) दंडादेश के बारे में पृथक् उपबंध किया गया है ।

(iii) मृत्यु दंडादेश में क्षमादान करने का प्राधिकार केवल राष्ट्रपति को है ।

यद्यपि राज्यपाल को मृत्यु दंड का क्षमादान करने की शक्ति नहीं है किंतु उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 54 और दंड प्रक्रिया संहिता, 1974 की धारा 432-433 में कुछ परिस्थितियों में मृत्यु दंड को निलंबित करने, उसका परिहार करने या लघूकरण करने की शक्ति है । संविधान ने इस शक्ति को अछूता रखा है इसलिए निलंबन, परिहार या लघूकरण के बारे में राज्यपाल को राष्ट्रपति की समवर्ती अधिकारिता होगी ।

VI. *प्रकीर्ण शक्तियां* — कार्यपालिक शक्ति के प्रधान के नाते संविधान ने राष्ट्रपति में कुछ शक्तियां निहित की हैं जिन्हें अवशिष्ट शक्तियां कह सकते हैं और जो संविधान के अनेकों उपबंधों में बिखरी हुई पाई जाती हैं । उदाहरणार्थ,

(क) राष्ट्रपति को अनेक विषयों के संबंध में नियम और विनियम बनाने का सांविधानिक प्राधिकार है जैसे, कि प्रकार उसके आदेशों और लिखतों को प्राधिकृत किया जाएगा, भारत के लोक लेखाओं में धन जमा करना और वापस लेना, संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या, उनकी पदावधि और सेवा की शर्तें, संघ और संसद् के सचिवालय में सेवा करने वाले व्यक्तियों की भर्ती और सेवा की शर्तें, संसद् और राज्य विधान मंडलों की सहवर्ती सदस्यता का प्रतिषेध । संसद् के सदनों के संयुक्त अधिवेशन से संबंधित प्रक्रिया जो दोनों सदनों के सभापति और अध्यक्ष के परामर्श से बनाई जाएगी, उच्चतम न्यायालय के आदेशों को प्रवर्तित करने की रीति, दो या अधिक राज्यों के लिए राज्यपाल की नियुक्ति, राज्यपाल को संदेय परिलब्धियों का राज्यों में आबंटन, किसी ऐसी आकस्मिकता में जिसके लिए संविधान में उपबंध नहीं है राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों का विनिर्दिष्ट किया जाना, उन विषयों का विनिर्दिष्ट किया जाना जिन पर भारत सरकार को संघ लोक सेवा आयोग से परामर्श करना आवश्यक नहीं होगा ।

(ख) उसे अध्यादेश प्रख्यापित करने के लिए राज्यपाल को अनुदेश देने की शक्ति है यदि वैसे ही उपबंध अन्तर्विष्ट करने वाले विधेयक को संविधान के अधीन राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी की अपेक्षा होती [अनुच्छेद 213(1), परन्तुक] ।

(ग) उसे व्यापक महत्व के किसी प्रश्न को उच्चतम न्यायालय को निर्दिष्ट करने की शक्ति है । 1950 से अब तक ऐसे सात निर्देश हो चुके हैं [अनुच्छेद 143, देखिए आगे] ।

(घ) उसे विनिर्दिष्ट विषयों के बारे में प्रतिवेदन करने के प्रयोजन के लिए कुछ आयोग नियुक्त करने की शक्ति है । उदाहरण के लिए ये आयोग हैं, अनुसूचित क्षेत्रों

के प्रशासन तथा अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के कल्याण पर प्रतिवेदन देने के लिए आयोग, विधि आयोग, राजभाषा आयोग, अंतरराज्य परिषद् ।

(ङ) उसे संघ राज्यक्षेत्रों के संबंध में या संघ द्वारा सीधे प्रशासित राज्यक्षेत्रों के संबंध में कुछ विशेष शक्ति है, ऐसे राज्यक्षेत्रों का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा या उसी के प्रति उत्तरदायी प्रशासक के माध्यम से किया जाएगा, राष्ट्रपति को अंदमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप, दादरा और नागर हवेली के राज्यक्षेत्रों के सम्बन्ध में अन्तिम विधायी शक्ति (विनियम बनाने की) है[19] और वह ऐसे राज्यक्षेत्रों को लागू होने वाली संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि का भी निरसन या संशोधन कर सकता है [अनुच्छेद 240] ।

(च) राष्ट्रपति को अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातियों और असम के जनजाति क्षेत्रों के प्रशासन की बाबत कुछ विशेष शक्तियां हैं,

(i) संसद् द्वारा संशोधन के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति को यह शक्ति है कि वह आदेश द्वारा किसी क्षेत्र को अनुसूचित क्षेत्र घोषित कर सकेगा या यह घोषित कर सकेगा कि कोई क्षेत्र अनुसूचित क्षेत्र नहीं रहेगा या किसी अनुसूचित क्षेत्र की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगा, तथा इसी प्रकार की अन्य शक्तियां भी उसे हैं [पांचवीं अनुसूची, पैरा 6] ।

(ii) किसी भी राज्य में जिसमें अनुसूचित जनजातियां हैं किंतु अनुसूचित क्षेत्र नहीं हैं राष्ट्रपति के निदेशानुसार जनजाति परिषद् स्थापित की जा सकेगी [पांचवीं अनुसूची, पैरा 4] ।

(iii) राज्यपाल द्वारा किसी राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों की शांति और सुशासन के लिए बनाए गए सभी नियम राष्ट्रपति के समक्ष तुरंत रखे जाएंगे और जब तक वह उन पर अनुमति नहीं देता है तब तक उनका कोई प्रभाव नहीं होगा [पांचवीं अनुसूची, पैरा 5(4)] ।

(iv) राष्ट्रपति किसी भी समय किसी राज्य के राज्यपाल से यह अपेक्षा कर सकता है कि वह उस राज्य में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में प्रतिवेदन दे और ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में निदेश दे सकता है [अनुसूची 5, पैरा 3] ।

(छ) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के बारे में राष्ट्रपति की कुछ विशेष शक्तियां और उत्तरदायित्व हैं,

(i) संसद् द्वारा उपांतरण के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति को प्रत्येक राज्य और संघ राज्यक्षेत्र में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की सूची बनाने और उसे अधिसूचित करने की शक्ति है । राज्य से संबंधित सूची की दशा में राज्यपाल से परामर्श करने की अपेक्षा है [अनुच्छेद 341-342] ।

(ii) राष्ट्रपति अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए इस संविधान के अधीन उपबन्धित रक्षोपायों के अन्वेषण करने और उनके कार्यकरण के संबंध में प्रतिवेदन देने के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करेगा [अनुच्छेद 338] ।

(iii) राष्ट्रपति राज्यों में अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए आयोग की नियुक्ति किसी भी समय कर सकेगा और संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति तक करेगा [अनुच्छेद 339] ।

VII. *आपात शक्तियां* — पूर्वगामी विवरण में राष्ट्रपति की सामान्य शक्तियों का लेखा-जोखा दिया गया है । इनके अतिरिक्त आपात से निपटने के लिए उसे कुछ असाधारण शक्तियां हैं जिन पर अलग से विचार करना उचित होगा (आगे अध्याय 25) । इस प्रक्रम पर यह उल्लेख करना उचित होगा कि राष्ट्रपति की साधारण शक्तियों का प्रयोग करने की परिस्थितियां तीन प्रकार की हो सकती हैं, —

(क) *पहली,* राष्ट्रपति को युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके

किसी भाग की सुरक्षा संकट में होने के आधार पर "आपात की उद्घोषणा" करने की शक्ति है ।[20] इस उद्घोषणा का उद्देश्य भारत की सुरक्षा बनाए रखना है और अन्य बातों के साथ साथ उसका प्रभाव यह है कि संघ को राज्य के क्रियाकलाप पर या उनमें से ऐसे कार्य पर व्यापक नियंत्रण प्राप्त हो जाएगा जो सशस्त्र विद्रोह या बाह्य आक्रमण से प्रभावित हैं ।

(ख) *दूसरे*, राष्ट्रपति को यह उद्घोषणा करने की शक्ति है कि किसी राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है । सांविधानिक तंत्र या तो किसी राजनैतिक गत्यावरोध के परिणामस्वरूप टूट गया हो या राज्य द्वारा संघ के निदेशों का अनुपालन न करने के कारण [अनुच्छेद 356, 365] । इस प्रकार की उद्घोषणा द्वारा राष्ट्रपति राज्य की सरकार की शक्तियां अपने हाथ में ले सकता है और संसद् को राज्य के विधान मंडल की शक्तियां दे सकता है ।

(ग) *तीसरे*, राष्ट्रपति को यह घोषणा करने की शक्ति है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिस से भारत या उसके किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या प्रत्यय संकट में है [अनुच्छेद 360] । इस उद्घोषणा का उद्देश्य राज्यों के व्यय को नियंत्रित करके और लोक सेवकों के वेतन घटाकर तथा आवश्यकतानुसार वित्तीय औचित्य संबंधी सिद्धांतों का पालन करने के लिए राज्यों को निदेश देकर भारत का वित्तीय स्थायित्व बनाए रखना है ।

3. मंत्रिपरिषद्

हमारे संविधान के निर्माताओं का यह आशय था कि यद्यपि औपचारिक रूप से सभी कार्यपालिका शक्तियां राष्ट्रपति में निहित हैं फिर भी उसे इंग्लैंड के सम्राट के समान ही कार्यपालिका के सांविधानिक प्रधान के रूप में, विधान मंडल के निर्वाचित सदन के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह पर कार्य करना चाहिए ।

संविधान द्वारा मान्य निकाय ।

इंग्लैंड का संविधान मंत्रिमंडलीय शासन की प्रणाली को पूरी तरह से अभिसमय पर छोड़ देता है । वहां सम्राट को विधिक रूप से आत्यंतिक शक्तियां हैं और सैद्धांतिक रूप से मंत्री सम्राट के सेवक मात्र हैं । हमारे संविधान के निर्माताओं ने मंत्रिमंडलीय प्रणाली का आधार हमारे लिखित संविधान में स्थापित कर दिया । यह सही है कि इसके कार्यकरण के बारे में आवश्यक ब्योरे अभिसमय और प्रथा द्वारा धीरे-धीरे भरे जाने के लिए छोड़ दिए गए ।[21]

मंत्रियों की नियुक्ति ।

प्रधान मंत्री का चयन राष्ट्रपति करता है किंतु अन्य मंत्री प्रधान मंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं और प्रधान मंत्री ही उन्हें विषयों का आबंटन करता है [अनुच्छेद 75(1)] । किसी एक मंत्री को पदच्युत करने की राष्ट्रपति की शक्ति भी वास्तव में प्रधान मंत्री की शक्ति है । प्रधान मंत्री का चयन करने में राष्ट्रपति को लोक सभा में बहुमत वाले दल के नेता का ही चयन करना होगा या ऐसे व्यक्ति का जो उस सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त करने की स्थिति में हो ।

मंत्रिपरिषद् और मंत्रिमंडल ।

संविधान में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या विनिर्दिष्ट नहीं है । यह समीचीनता के आधार पर समय-समय पर अवधारित की जाती है । 1961 के अन्त में संघ की मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या 47 थी । 1975 के अन्त में 60 हो गई और 1977 में वह घटकर 24 हो गई । फरवरी, 1988 में यह संख्या 60 थी । 21 अप्रैल, 1990 को 50 मंत्री थे । नवंबर में चन्द्रशेखर के

नेतृत्व में बनी सरकार में 34 मंत्री थे । सभी मंत्री समान पंक्ति के नहीं होते हैं । उनका तीन पंक्तियों में वर्गीकरण किया जाता है (क) मंत्रिमंडलीय स्तर के मंत्री या "मंत्रिमंडल के सदस्य", (ख) राज्य मंत्री, (ग) उपमंत्री ।[22]

संविधान में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों को विभिन्न पंक्तियों में वर्गीकृत नहीं किया गया है । इंग्लैंड की पद्धति का अनुसरण करते हुए यह अनौपचारिक रूप से किया गया है । जहां तक संघ का प्रश्न है इसे विधायी मंजूरी प्राप्त है । मंत्रियों के संबलमों और भत्तों से संबंधित अधिनियम, 1952 की धारा 2 में मंत्रियों की परिभाषा में यह कहा गया है कि उसमें "मंत्रिपरिषद् का सदस्य है उसे चाहे जिस नाम से संबोधित किया जाए और इसके अन्तर्गत उपमंत्री है ।"

मंत्रियों के संबलम ।

इस प्रकार मंत्रिपरिषद् एक निकाय है जिसमें विभिन्न प्रवर्ग हैं । केन्द्र में जैसा ऊपर कहा गया है इसमें तीन प्रवर्ग हैं, 1985 में यथासंशोधित मंत्रियों के संबलमों और भत्तों से संबंधित अधिनियम, 1952 के अनुसार मंत्रियों को वही संबलम और भत्ते आदि मिलेंगे जो संसद् सदस्यों को संदेय हैं ।

इन संबलमों के अतिरिक्त प्रत्येक मंत्री को अपनी पंक्ति के अनुसार मापमान से सत्कार भत्ता मिलेगा और किराया मुक्त निवास मिलेगा ।

विभिन्न मंत्रियों की पंक्ति का अवधारण प्रधान मंत्री करता है और उसकी सलाह के अनुसार राष्ट्रपति मंत्री नियुक्त करता है [अनुच्छेद 75(1)] तथा उनके बीच कामकाज का आबंटन करता है [अनुच्छेद 77] । मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है [अनुच्छेद 75(3)] और अनुच्छेद 78(ग) में प्रधान मंत्री का यह कर्तव्य बताया गया है की जब राष्ट्रपति द्वारा अपेक्षा की जाए तो वह किसी विषय को जिस पर किसी मंत्री ने विनिश्चय कर दिया है किंतु जिस पर मंत्रिपरिषद् ने विचार नहीं किया है परिषद् के समक्ष विचार के लिए रखे । व्यवहार में मंत्रिपरिषद् निकाय के रूप में कभी अधिविष्ट नहीं होती है । मंत्रिपरिषद् के भीतर का छोटा निकाय मंत्रिमंडल शासन की नीतियों को रूप देता है ।

मंत्रिमंडल के मंत्री साधिकार मंत्रिमंडल की बैठकों में भाग लेते हैं । राज्य मंत्री, मंत्रिमंडल के सदस्य नहीं होते । यदि राज्य मंत्री को स्वतंत्र रूप से कोई विभाग दिया गया है तो जब उसके विभाग से संबंधित कोई बात विषय सूची में होती है तब वह मंत्रिमंडल की बैठक में भाग लेता है । उपमंत्री मंत्रालय के किसी विभाग का भारसाधक होता है और मंत्रिमंडल के विचार-विमर्श में उसकी कोई भागीदारी नहीं होती ।

मंत्री किसी भी सदन के सदस्यों में से चुने जा सकते हैं और कोई भी मंत्री जो एक सदन का सदस्य है दूसरे सदन में बोल सकता है और कार्यवाही में भाग ले सकता है । जिस सदन का वह सदस्य नहीं है उस सदन में उसे मत देने का अधिकार नहीं है [अनुच्छेद 88] ।

हमारे संविधान में किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति करना वर्जित नहीं जो किसी विधान मंडल का सदस्य नहीं है । किंतु यदि वह इसी बीच छह मास के भीतर संसद् के किसी सदन में स्थान नहीं प्राप्त कर लेता तो वह मंत्री नहीं बना रहेगा (वह निर्वाचन या नामनिर्देशन में स्थान प्राप्त कर सकता है) । अनुच्छेद 75(5) इस विषय में यह कहता है —

> "कोई मंत्री, जो निरंतर छह मास की किसी अवधि तक संसद् के किसी सदन का सदस्य नहीं है उस अवधि की समाप्ति पर मंत्री नहीं रहेगा ।"

इस उपबंध के आधार पर पंडित पंत को, जो संसद् के सदस्य नहीं थे, संघ का मंत्री नियुक्त किया गया था । इसी प्रकार श्री एम.जी.के. मेनन और श्री राजा रामन्ना की भी 1990 में नियुक्ति की गई । बाद में निर्वाचन द्वारा उन्हें राज्य सभा में स्थान मिला ।

संसद् के प्रति मंत्रियों का दायित्व ।

मंत्रियों के उत्तरदायित्व के विषय में संविधान इंग्लैंड के सिद्धांत का अनुसरण करता है । अंतर केवल राष्ट्रपति द्वारा या उसके निमित्त किए गए कार्य के लिए हरेक मंत्री के विधिक उत्तरदायित्व के बारे में है ।

सामूहिक उत्तरदायित्व ।

(क) सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धांत संविधान के अनुच्छेद 75(3) में संहिताबद्ध है :

"मंत्रिपरिषद् लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी ।"

मंत्रिमंडल की यह सांविधानिक बाध्यता है कि विधान मंडल के निर्वाचित सदन का विश्वास खोते ही तुरंत पदत्याग कर दे । यह सामूहिक उत्तरदायित्व लोक सभा के प्रति है चाहे वह मंत्री राज्य सभा के भी हों ।

यह ठीक है कि पदत्याग न करके मंत्रिमंडल राष्ट्रपति या राज्यपाल को यह सलाह दे कि वह विधान मंडल का विघटन कर दे क्योंकि सदन निर्वाचन मंडल के मत का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता है ।

राष्ट्रपति के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व ।

(ख) राज्य के प्रधान के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का सिद्धांत अनुच्छेद 75(2) में समाविष्ट है, —

"मंत्री राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपने पद धारण करेंगे ।"

इसका परिणाम यह है कि यद्यपि सामूहिक रूप से मंत्रीगण विधान मंडल को उत्तरदायी हैं वे व्यक्तिगत रूप से कार्यपालिका के प्रधान के प्रति उत्तरदायी होंगे और विधान मंडल का विश्वास उन्हें प्राप्त होने पर भी उन्हें पदच्युत किया जा सकेगा । अन्य मंत्रियों को व्यक्तिशः पदच्युत करने के लिए प्रधान मंत्री की सलाह उपलब्ध रहेगी इसलिए राष्ट्रपति की यह शक्ति वास्तव में प्रधान मंत्री की अपने सहकर्मियों के विरुद्ध शक्ति होगी, जैसा कि इंग्लैंड में है, जिससे वह अवांछित सहकर्मी से छुटकारा पा सकता है । चाहे उस मंत्री को लोक सभा में बहुमत का विश्वास प्राप्त हो । सामान्यतया इस शक्ति का प्रयोग करके प्रधान मंत्री अपने अवांछित सहकर्मी से पद त्याग करने के लिए कहता है और वह तदनुसार त्यागपत्र दे देता है जिससे कि उसे पदच्युति का कलंक न लगे (1975 में श्री मोहन धारिया का उदाहरण) ।

विधिक उत्तरदायित्व ।

(ग) जैसा हम ऊपर कह चुके हैं हमारे संविधान में विधिक उत्तरदायित्व का इंग्लैंड वाला सिद्धांत अंगीकार नहीं किया गया है । इंग्लैंड में सम्राट बिना किसी मंत्री के हस्ताक्षर के कोई लोक कार्य नहीं कर सकता । यदि जो कार्य किया गया है उससे देश की किसी विधि का उल्लंघन होता है और किसी व्यक्ति के पक्ष में वाद हेतुक का सृजन होता है तो न्यायालय में मंत्री उत्तरदायी होगा । हमारा संविधान अभिव्यक्त रूप से यह नहीं कहता कि राष्ट्रपति केवल मंत्रियों के माध्यम से ही कार्य कर सकता है । राष्ट्रपति पर ही यह छोड़ दिया गया है कि वह इस बात के नियम बनाए कि किस प्रकार उसके आदेश आदि अधिप्रमाणित किए जाएंगे । संविधान में यह उपबंध भी है कि कार्यपालिका के प्रधान को मंत्रियों ने क्या सलाह दी थी इसके विषय में न्यायालय कोई जांच नहीं कर सकेंगे । यदि राष्ट्रपति का

कोई कार्य, उसके द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार भारत सरकार के किसी सचिव द्वारा अधिप्रमाणित किया जाता है तो उस कार्य के लिए कोई मंत्री उत्तरदायी नहीं हो सकता चाहे वह कार्य मंत्री की सलाह पर ही किया गया हो ।

इंग्लैंड में प्रधान मंत्री "मंत्रिमंडल की मेहराब की चाबी है" । हमारे संविधान में अनुच्छेद 74(1) में यह अभिव्यक्त रूप से कहा गया है कि मंत्रिपरिषद् का प्रधान, प्रधान मंत्री होगा । अतएव जब प्रधान मंत्री की मृत्यु हो जाती है या वह पदत्याग कर देता है तो अन्य मंत्री कार्य नहीं कर सकते ।

मंत्रिपरिषद् में प्रधान मंत्री का विशेष स्थान ।

इंग्लैंड में लार्ड मार्ले ने प्रधान मंत्री की स्थिति का वर्णन करते हुए उसे "समान व्यक्तियों में प्रथम" (प्राइमस इंटर पेयस) कहा है । सैद्धांतिक रूप से मंत्रिमंडल के सभी सदस्यों की स्थिति समान होती है, सभी सम्राट के सलाहकार हैं, सभी संसद् को एक सी रीति से उत्तरदायी हैं । अभिसमय और प्रथा के आधार पर प्रधानमंत्री को विशेष स्थान मिला हुआ है ।

(क) विधान मंडल के निर्वाचित सदन में प्रधान मंत्री बहुमत वाले दल का नेता होता है ।

(ख) उसे अन्य मंत्री चुनने की, उनमें से किसी को भी पदच्युत करने की, सम्राट को सलाह देने की, या उनमें से किसी से पदत्याग करने की अपेक्षा करने की शक्ति है ।

(ग) मंत्रियों में कामकाज का आबंटन भी प्रधान मंत्री का कृत्य है । वह किसी भी मंत्री को एक विभाग से दूसरे विभाग में अंतरित कर सकता है ।

(घ) वह मंत्रिमंडल का अध्यक्ष है, उसकी बैठकें बुलाता है और उनका सभापतित्व करता है ।

(ङ) किसी भी मंत्री के पदत्याग से रिक्ति हो जाती है किंतु प्रधानमंत्री की मृत्यु या पदत्याग से मंत्रिमंडल का विघटन हो जाता है ।

(च) प्रधान मंत्री का स्थान सम्राट और मंत्रिमंडल के मध्य है । कोई भी मंत्री अपने विभाग से संबंधित मामलों में सम्राट तक पहुंचने का अधिकार रखता है किंतु कोई भी महत्वपूर्ण पत्रादि, विशेषकर नीति संबंधी, प्रधान मंत्री के माध्यम से ही भेजा जा सकता है ।

भारत में ये सब विशेष शक्तियां प्रधान मंत्री के पास हैं क्योंकि मंत्रिमंडलीय शासन प्रणाली से संबंधित सभी अभिसमय यहां लागू होते हैं । इनमें से कुछ तो संविधान में ही संहिताबद्ध हैं । जैसे राष्ट्रपति को अन्य मंत्रियों की नियुक्ति के संबंध में सलाह देने की शक्ति अनुच्छेद 75(1) में है । राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् के बीच संचार साधन के रूप में कार्य करने के बारे में अनुच्छेद 78 में यह उपबंध है, —

"प्रधान मंत्री का यह कर्तव्य होगा कि वह, —

(क) संघ के कार्यकलाप के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक प्रस्थापनाओं संबंधी मंत्रिपरिषद् के सभी विनिश्चय राष्ट्रपति को संसूचित करे,

(ख) संघ के कार्यकलाप के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक प्रस्थापनाओं संबंधी जो जानकारी राष्ट्रपति मांगे, वह दे, और

(ग) किसी विषय को जिस पर किसी मंत्री ने विनिश्चय कर दिया है किंतु मंत्रिपरिषद् ने विचार नहीं किया है, राष्ट्रपति द्वारा अपेक्षा किए जाने पर परिषद् के समक्ष विचार के लिए रखे ।"

यदि किसी मंत्री ने कोई सलाह प्रधान मंत्री को दी है और मंत्रिपरिषद् के समक्ष नहीं रखी है तो राष्ट्रपति को (प्रधान मंत्री के माध्यम से) यह शक्ति है कि वह उसे

मंत्रिपरिषद् के विचार के लिए निर्दिष्ट करे । भारत में लिखित संविधान के माध्यम से मंत्रिमंडल प्रणाली की एकता प्रवृत्त कराई जा सकती है ।

4. राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् का संबंध

हमारा राष्ट्रपति निर्वाचित राष्ट्रपति है जो नियत समय के लिए पद धारण करता है और मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व की मर्यादाओं में कार्य करता है फिर भी हमारे संविधान में उसे बहुत अधिक शक्तियां दी गई हैं । यह बात राजनीतिशास्त्रियों के लिए आर्कषण का विषय रही है ।

संसदीय शासन प्रणाली में असली कार्यपालिका की पदावधि विधान मंडल की इच्छा पर आधारित है (लीकाक) । संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति प्रणाली है — वहां राष्ट्रपति कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है जो नियत अवधि के लिए जनता द्वारा निर्वाचित होता है । उसकी पदावधि विधान मंडल के अधीन नहीं है और वह अपने कार्यों के लिए विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं है । वह चाहे तो मंत्रियों की सलाह से कार्य कर सकता है किंतु उनकी नियुक्ति उसके द्वारा परामर्शदाताओं के रूप में की जाती है और वे उसी को उत्तरदायी होते हैं विधान मंडल को नहीं । इंग्लैंड के नमूने वाली संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका का प्रधान (सम्राट) नाममात्र का प्रधान होता है । असली कार्यपालिका शक्ति तो मंत्रिमंडल में होती है जो विधान मंडल के सदस्यों द्वारा बनाया जाता है और जो अपनी पदावधि और कार्यों के लिए विधान मंडल के निर्वाचित सदन को उत्तरदायी होती है ।

भारत के राष्ट्रपति की अमेरिकी राष्ट्रपति और इंग्लैंड के सम्राट से तुलना ।

भारत गणराज्य है इसलिए यहां आनुवंशिक राजा नहीं हो सकता । इसलिए यहां एक निर्वाचित राष्ट्रपति कार्यपालिका शक्ति का प्रधान है । उसकी पदावधि अमेरिकी राष्ट्रपति की भांति पहले से नियत वर्षों के लिए है । वह एक बात में अमेरिका के राष्ट्रपति के समान है कि उसे भी विधान मंडल महाभियोग की न्यायिककल्प प्रक्रिया द्वारा पद से हटा सकता है । दूसरी ओर वह इंग्लैंड के राजा से अधिक मेल खाता है क्योंकि राजा के समान उसे अपने प्राधिकार से कोई कृत्य नहीं करना है । संविधान द्वारा राष्ट्रपति में निहित सभी शक्तियों और कृत्यों का प्रयोग [अनुच्छेद 74(1)] वह विधान मंडल को उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह पर ही कर सकता है, जैसा कि इंग्लैंड में है । अमेरिकी राष्ट्रपति का तथाकथित मंत्रिमंडल उसी के प्रति उत्तरदायी होता है, कांग्रेस के प्रति नहीं । हमारे राष्ट्रपति की मंत्रिपरिषद् संसद् के प्रति उत्तरदायी है ।

हमारे संविधान के निर्माताओं ने संघ और राज्य के विधान मंडलों से गठित निर्वाचकगण द्वारा गणराज्य के राष्ट्रपति के निर्वाचन की व्यवस्था करने के बाद अमेरिकी नमूने को क्यों हटा दिया, इसका यह स्पष्टीकरण दिया जाता है[23] । स्थायित्व और उत्तरदायित्व का समन्वय करने में उन्होंने उत्तरदायित्व को महत्व दिया और अमेरिकी प्रणाली के आधारस्तंभ "उत्तरदायित्व के कालिक निर्धारण के सिद्धांत" के स्थान पर "दैनिक निर्धारण के सिद्धांत" को अधिमान दिया । अमेरिकी प्रणाली में कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के बीच संघर्ष होना अनिवार्य है । कुछ आधुनिक अमेरिकी लेखकों के अनुसार विधायिका और कार्यपालिका के बीच समन्वय का न होना अमेरिकी राजनैतिक प्रणाली को दुर्बल बनाता है । भारत 150 वर्ष की दासता से मुक्त हुआ था । उसे ऐसी स्नेहिल शासन प्रणाली चाहिए थी जिसमें कम से कम घर्षण हो और जो देश के बहुमुखी विकास को गति दे सके । इस ध्येय से मंत्रिमंडलीय या संसदीय प्रणाली भारत के लिए

राष्ट्रपति प्रणाली की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है । भारत को इसका पहले से अनुभव भी था ।

एक प्रश्न जो विवाद का विषय है हाल ही में उपस्थित किया गया है — क्या संविधान राष्ट्रपति पर यह बाध्यता डालता है कि वह सभी विषयों पर केवल मंत्रिमंडल की सलाह पर ही कार्य करेगा । इस प्रश्न पर विवाद डा. राजेन्द्र प्रसाद के एक भाषण से प्रकाश में आया । यह भाषण इंडियन ला इंस्टीट्यूट के एक समारोह में (28 नवम्बर, 1960) को दिया गया था । इसमें डा. राजेन्द्र प्रसाद ने राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् के संबंधों का अध्ययन करने पर बल देते हुए यह कहा कि

"संविधान का कोई उपबंध स्पष्ट शब्दों में यह अधिकथित नहीं करता कि राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध है ।"

भारत में राष्ट्रपति की प्रास्थिति ।

यह संप्रेक्षण डा. राजेन्द्र प्रसाद के ही उस संप्रेक्षण के विपरीत था जो उन्होंने तब किया था जब वे संविधान सभा के अध्यक्ष के नाते प्रारूप संविधान के सुसंगत उपबंध पर चर्चा का समापन कर रहे थे ।[24]

"यद्यपि संविधान में कोई विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं है जो राष्ट्रपति को मंत्रिमंडल की सलाह स्वीकार करने के लिए आबद्ध करे । हम यह आशा करते हैं कि इंग्लैंड का अभिसमय जिसके अनुसार राजा को सदैव अपने मंत्रियों की सलाह पर ही कार्य करना होता है इस देश में प्रतिष्ठित हो जाएगा और राष्ट्रपति सभी विषयों के लिए सांविधानिक राष्ट्रपति होगा ।"

राजनीतिज्ञों और विद्वानों ने इस विवाद के एक न एक पक्ष का समर्थन किया और अपने पक्ष की पुष्टि में संविधान के विभिन्न उपबंधों को यह दर्शाने के लिए प्रस्तुत किया कि "हमारे संविधान के अधीन राष्ट्रपति अलंकारिक प्रधान नहीं है" (मुंशी)[25] या वह इंग्लैंड के सम्राट के समान सांविधानिक प्रधान ही है ।

जब यह प्रश्न उच्चतम न्यायालय में उपस्थित हुआ तो न्यायालय ने उपर्युक्त दूसरा मत अपनाया । "सहायता और सलाह" शब्दों के डोमिनियन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट्स में किए गए निर्वचन का अवलंब होते हुए *राम जवाया* के वाद में यह कहा गया[8] :

"हमारे संविधान के अनुच्छेद 53(1) के अधीन संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है । किंतु अनुच्छेद 74 के अधीन राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधान मंत्री होगा । इस प्रकार राष्ट्रपति को कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान बनाया गया है । वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रियों में या मंत्रिमंडल में निहित है । राज्यों के शासन में भी यही उपबंध है । राज्य की कार्यपालिका के प्रधान राज्यपाल हैं किंतु वास्तव में प्रत्येक राज्य में मंत्रिपरिषद् कार्यपालिका का कार्य करती है । अतएव भारत के संविधान में इंग्लैंड जैसी ही संसदीय कार्यपालिका प्रणाली है । मंत्रिपरिषद् जो विधान मंडल के सदस्यों से मिलकर बनती है ब्रिटिश मंत्रिमंडल के समान वह डोरी है जो राज्य की विधायिका को कार्यपालिका से जोड़ती है ।"[8]

उच्चतम न्यायालय ने पूर्वोक्त निर्वचन अनेक पश्चात्‌वर्ती निर्णयों में दुहराया[24] । अतएव न्यायिक निर्वचन द्वारा यह सुस्थिर हो चुका था कि राष्ट्रपति, इंग्लैंड के सम्राट के समान कार्यपालिका का सांविधानिक प्रधान है । *राव* बनाम *इंदिरा*[26] में न्यायालय ने एकमत से यह कहा "संविधान सभा ने शासन की राष्ट्रपति प्रणाली नहीं चुनी" ।

42वां संशोधन ।

इंदिरा सरकार ने यह प्रयत्न किया कि संविधान का संशोधन करके इस प्रश्न को संदेह से मुक्त कर दिया जाए । अतएव संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 से अनुच्छेद 74(1) का संशोधन किया गया —

"राष्ट्रपति को अपनी सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधान मंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा ।"

43वां और 44वां संशोधन ।

यद्यपि जनता सरकार चाहती थी कि जो मौलिक परिवर्तन श्रीमती इंदिरा गांधी की सरकार ने किए हैं उन्हें मिटा दिया जाए, फिर भी उसने अनुच्छेद 74(1) के उपर्युक्त संशोधन को नहीं छेड़ा है । 44वें संशोधन ने 1976 के उपबंध में इतना सा परिवर्तन किया है कि उसमें एक परंतुक जोड़कर राष्ट्रपति को यह अवसर दिया है कि वह सलाह को पुनर्विचार के लिए मंत्रिपरिषद् को लौटा दे किंतु यदि मंत्रिपरिषद् पहले वाली सलाह की ही पुष्टि करती है तो राष्ट्रपति उस सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध है । 44वें संशोधन के पश्चात् अनुच्छेद 74(1) इस प्रकार है :

"(1) राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधान मंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा :

परन्तु राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् से ऐसी सलाह पर साधारणतया या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकेगा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गई सलाह के अनुसार कार्य करेगा" ।

इसलिए वर्तमान स्थिति में इस बात पर विवाद करना कि क्या भारत के राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद् की सलाह के विपरीत कार्य करने की शक्ति है या नहीं, अर्थहीन है । 1976 और 1978 में संविधान का संशोधन करके उस विवाद को समाप्त कर दिया गया है जो डा. राजेन्द्र प्रसाद ने इंडियन ला इंस्टीट्यूट में विचार के लिए उपस्थित किया था[24] । डा. राजेन्द्र प्रसाद ने यह कहा था कि भारत के संविधान में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जो राष्ट्रपति पर यह बाध्यता डालें कि वह प्रत्येक अवसर पर और सभी परिस्थितियों में मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह के अनुसार कार्य करे ।

साथ ही इस संशोधन ने इस बात को आत्यंतिक रूप से रखकर भूल की है क्योंकि उन परिस्थितियों को आरक्षित नहीं किया गया है जिनमें प्रधान मंत्री की सलाह नहीं मिलेगी (उदाहरण के लिए मृत्यु की दशा में),[17] या प्रधान मंत्री द्वारा दी गई सलाह अनुचित है । इंग्लैंड के अभिसमय के अनुसार जब कोई प्रधान मंत्री संसद् में बारबार हार जाता है और विघटन की मांग करता तो यह अनुचित माना जाता है ।[27]

(क) प्रधान मंत्री की मृत्यु से उत्पन्न होने वाली परिस्थिति में विद्यमान मंत्रिपरिषद् तुरंत विघटित हो जाती है । इसलिए अनुच्छेद 74(1) में 1976-78 में किए गए संशोधनों के होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रपति को नए प्रधान मंत्री को चुनने के विषय में बिना मंत्रियों की सलाह के कार्य करने की शक्ति होगी । यह ठीक है कि जो प्रधान मंत्री चुना जाएगा उसे लोक सभा में बहुमत प्राप्त होना चाहिए । ऐसी परिस्थिति में पूर्व प्रधान मंत्री की मृत्यु पर मंत्रिपरिषद् विद्यमान नहीं रहती ।

(ख) लोक सभा में हारे हुए प्रधान मंत्री द्वारा विघटन की मांग से उत्पन्न होने वाली परिस्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि मंत्रिपरिषद् विद्यमान नहीं है । यथासंशोधित अनुच्छेद 74(1) के अनुसार राष्ट्रपति को हारे हुए मंत्रिपरिषद् के अनुरोध पर कार्य करना होगा चाहे ऐसा अनुरोध अनुचित ही क्यों न हो । उदाहरण के लिए वह हारने का दूसरा अवसर भी हो सकता है । ऐसा होने पर भारत की स्थिति इंग्लैंड में प्रचलित मंत्रिमंडल शासन के सिद्धांतों से भिन्न होगी ।[21]

5. भारत का महान्यायवादी

महान्यायवादी का पद उन पदों में से है जिसे संविधान में विशेष स्थान दिया गया है । वह भारत सरकार का सर्वप्रथम विधि अधिकारी है और इस रूप में उसके कर्तव्य हैं, —

(i) भारत सरकार को विधि संबंधी ऐसे विषयों पर सलाह देना और विधिक स्वरूप के ऐसे अन्य कार्यों का पालन करना जो राष्ट्रपति उसको समय-समय पर निर्देशित करे या सौंपे, और (ii) उन कृत्यों का निर्वहन करना जो उसको इस संविधान अथवा तत्समय प्रवृत्त किया अन्य विधि द्वारा प्रदान किए गए हों [अनुच्छेद 76] ।

भारत का महान्यायवादी मंत्रिमंडल का सदस्य नहीं होता (इंग्लैंड में वह सदस्य होता है) किंतु उसे किसी भी सदन में या उनकी समिति की बैठक में बोलने का अधिकार है परंतु उसे मत देने का अधिकार नहीं है [अनुच्छेद 88] । महान्यायवादी को अपने कर्तव्यों के पालन में भारत के राज्यक्षेत्र में सभी न्यायालयों में सुनवाई का अधिकार होगा ।

भारत के महान्यायवादी की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी और वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा । उसकी वही अर्हताएं होनी चाहिए जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अपेक्षित होती हैं । वह ऐसा पारिश्रमिक प्राप्त करेगा जो राष्ट्रपति अवधारित करे । राष्ट्रपति ने यह अवधारित किया है कि महान्यायवादी को चार हजार रुपए प्रतिमास का प्रतिधारण शुल्क दिया जाएगा ।

6. भारत का नियंत्रक-महालेखापरीक्षक

भारत सरकार में एक दूसरा महत्वपूर्ण पद नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का है जो देश की समस्त वित्तीय प्रणाली का नियंत्रण करता है — संघ और राज्य दोनों स्तरों का [अनुच्छेद 148] ।

जैसा डा. अम्बेडकर ने कहा था कि नियंत्रक-महालेखापरीक्षक भारत के संविधान के अधीन सर्वाधिक महत्व का अधिकारी होगा । वह सार्वजनिक धन का संरक्षक होगा और उसका यह कर्तव्य होगा कि वह यह देखे कि भारत की या किसी राज्य की संचित निधि में से समुचित विधान मंडल के प्राधिकार के बिना एक पैसा भी खर्च नहीं किया जाए । संक्षेप में वह भारत की संपरीक्षा और लेखा प्रणालियों का निष्पक्ष प्रधान होगा । वह अपने कर्तव्यों का निवर्हन उचित रूप से कर सके इसलिए यह ध्यान देना आवश्यक है कि उसका पद कार्यपालिका के नियंत्रण में और अधीनस्थ नहीं रहना चाहिए ।

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं शासन की संसदीय प्रणाली की नींव कार्यपालिका का विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होना है और इस नियंत्रण का सार विधान मंडल द्वारा वित्तीय नियंत्रण की प्रणाली में है । विधान मंडल अपने कृत्यों का निर्वहन उचित रूप से कर सके इसलिए यह आवश्यक है कि विधान मंडल को ऐसे अभिकरण से सहायता मिलनी चाहिए जो कार्यपालिका से मुक्त है और जो सरकार की वित्तीय संव्यवहारों की समीक्षा करेगा और उस संवीक्षा के परिणामों को विधान मंडल के समक्ष प्रस्तुत करेगा । भारत शासन अधिनियम के अधीन भी भारत का एक महालेखापरीक्षक था । उस अधिनियम में महालेखापरीक्षक की स्वाधीनता सुनिश्चित करने के लिए यह उपबंध किया गया था कि वह उसी रीति में और उन्हीं आधारों पर पद से हटाया जा सकेगा जैसे फेडरल न्यायालय का न्यायाधीश । संविधान में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का पद भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन महालेखापरीक्षक के नमूने पर ही बनाया गया है ।

संविधान के निम्नलिखित उपबंधों द्वारा नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की स्वाधीनता सुनिश्चित की गई है, —

सेवा की शर्तें ।

(क) यद्यपि नियंत्रक-महालेखापरीक्षक राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है किंतु उसे पद से संसद् के दोनों सदनों के समावेदन पर ही हटाया जा सकेगा और उसके आधार (i) साबित कदाचार या, (ii) असमर्थता हो सकेंगे ।

वह इस साधारण नियम का अपवाद है कि संघ के सभी सिविल सेवक राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं [तुलना कीजिए अनुच्छेद 310(1)] ।

(ख) उसके वेतन और सेवा की शर्तें कानूनी होंगी (अर्थात् संसद् द्वारा विधि द्वारा अधिकथित) और उसकी पदावधि के दौरान उनमें अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा। इस शक्ति के अधीन संसद् ने नियंत्रक-महालेखापरीक्षक (सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1971 अधिनियमित किया है (1953 के पूर्ववर्ती अधिनियम के स्थान पर) । 1976 में यथासंशोधित इस अधिनियम में यह उपबंध है :

(i) नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की पदावधि उसके पद ग्रहण करने की तारीख से छह वर्ष होगी । किंतु —

क. 65 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर छह वर्ष की अवधि की समाप्ति के पूर्व पद रिक्त हो जाएगा,

ख. वह किसी भी समय राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद त्याग सकेगा ।

(ग) उसे महाभियोग द्वारा हटाया जा सकेगा [अनुच्छेद 148(1), 124(4)] ।

(ii) उसका वेतन उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर होगा (जो अब 9,000 रुपए है) ।

(iii) सेवा-निवृत्ति पर उसे पंद्रह हजार रुपए की वार्षिक पेंशन मिलेगी ।

(iv) अन्य विषयों में उसकी सेवा की शर्तें उन्हीं नियमों से अवधारित होंगी जो भारत सरकार के सचिव की पंक्ति के भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य को लागू होती हैं ।

(v) वह सेवा-निवृत्ति के पश्चात् भारत सरकार के अधीन कोई अन्य पद धारण करने का पात्र नहीं होगा[28] — जिससे कि उसे संघ या राज्य की कार्यपालिका को प्रसन्न करने के लिए कोई लालच न हो ।

(vi) नियंत्रक-महालेखापरीक्षक और उसके कर्मचारिवृन्द के वेतन और प्रशासनिक व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होंगे और इन पर मतदान नहीं होगा [अनुच्छेद 148] ।

अन्य बातों के विषय में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की स्थिति उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के जैसी होगी ।[29]

कृत्य और शक्तियां ।

नियंत्रक-महालेखापरीक्षक संघ के और राज्यों के लेखाओं के संबंध में ऐसे कर्तव्यों का पालन और ऐसी शक्तियों का प्रयोग करेगा जो संसद् द्वारा विहित किए जाएं । इस शक्ति के प्रयोग में संसद् ने नियंत्रक-महालेखापरीक्षक (कर्तव्य, शक्तियां और सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1971 अधिनियमित किया है । 1976 में संशोधित इस अधिनियम द्वारा उसे संघ के लेखाओं को संकलित करने के संविधान के पूर्व के कर्तव्य से मुक्ति मिल गई है । राज्य भी इसी प्रकार के पूर्व अनुमोदन से विधान बना सकते हैं और राज्य स्तर पर लेखाओं को संपरीक्षा से अलग कर सकते हैं तथा नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को लेखा तैयार करने के विषय में राज्य और संघ दोनों के स्तर पर मुक्ति दे सकते हैं । नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के कर्तव्यों के विषय में इस अधिनियम के तात्विक उपबन्ध इस प्रकार हैं, —

(क) भारत और प्रत्येक राज्य तथा विधान सभा या प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र की संचित निधि से सभी व्यय की संपरीक्षा और उन पर यह प्रतिवेदन कि क्या ऐसा कोई व्यय विधि के अनुसार है,

(ख) इसी प्रकार संघ और राज्यों की आकस्मिकता निधि और लोक लेखाओं से सभी व्यय की संपरीक्षा और उन पर प्रतिवेदन,

(ग) संघ या राज्य के विभाग द्वारा किए गए सभी व्यापार और विनिर्माण के हानि और लाभ-हानि लेखाओं की संपरीक्षा और उन पर प्रतिवेदन,

(घ) संघ और प्रत्येक राज्य की आय और व्यय की संपरीक्षा जिससे कि उसका यह समाधान हो जाए कि राजस्व के निर्धारण, संग्रहण और उचित आबंटन के लिए पर्याप्त जांच करने के लिए इस निमित्त नियम और प्रक्रियाएं बनाई गई हैं,

(ङ) (i) संघ और राज्य के राजस्वों से पर्याप्त रूप से वित्तपोषित सभी निकायों और प्राधिकारियों की, (ii) सरकारी कंपनियों की, (iii) अन्य निगमों या निकायों की जब ऐसे निगमों या निकायों से संबंधित विधि द्वारा इस प्रकार अपेक्षित हो, प्राप्ति और व्यय की संपरीक्षा और उस पर प्रतिवेदन ।

समकक्ष ब्रिटिश पदधारी से तुलना ।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं लेखा तैयार करने का कृत्य भारत शासन अधिनियम, 1935 का अवशेष चिह्न था जिसके लिए ब्रिटिश प्रणाली में कोई पूर्व दृष्टांत नहीं था । ब्रिटेन की प्रणाली में लेखा विभिन्न विभागों द्वारा तैयार किए जाते हैं । नियंत्रक-महालेखापरीक्षक द्वारा नहीं । भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक से लेखा तैयार करने के कृत्य को पृथक् करने के लिए विधान बनाकर इस पद को इस विषय में उसके समकक्ष ब्रिटिश पदधारी के समान बना दिया गया है ।

किंतु अभी भी एक महत्वपूर्ण बात में अंतर बना हुआ है । उसके पदाभिधान से यह दर्शित होता है कि उसे नियंत्रक और लेखापरीक्षक दोनों के ही कृत्य करने हैं किंतु अभी तक नियंत्रक-महालेखापरीक्षक केवल लेखापरीक्षक का ही कर्तव्य कर रहा है । नियंत्रक के कृत्यों का प्रयोग करते हुए इंग्लैंड का नियंत्रक-महालेखापरीक्षक लोक धन की प्राप्ति और उसके निर्गम का भी नियंत्रण करता है तथा उसका यह कर्तव्य है कि वह यह देखे कि समस्त लोक राजस्व बैंक आफ इंग्लैंड में खजाने के खाते में जमा किया जाए और उसमें से कुछ भी विधिक प्राधिकार के बिना संदत्त नहीं किया जाए । इसलिए वहां पर शासन सार्वजनिक घोषणा से नियंत्रक के विनिर्दिष्ट प्राधिकार के बिना कोई धन प्राप्त नहीं कर सकता और यह प्राधिकार वह तभी देता है जब उसका यह समाधान हो जाता है कि ऐसे व्यय के लिए उचित विधिक प्राधिकार है । सार्वजनिक धन के निर्गम पर नियंत्रण की इस प्रणाली से अप्राधिकृत प्रयोजन के लिए धन निकलना रुक जाता है और साथ ही संसद् द्वारा दिए गए अनुदान के आधिक्य में व्यय भी नहीं हो सकता ।

भारत में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक भारत की संचित निधि से धन के निर्गम पर कोई नियंत्रण नहीं कर सकता । बहुत से विभागों को यह अधिकार है कि वे नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के विनिर्दिष्ट प्राधिकार के बिना चैक द्वारा धन निकाल सकते हैं । नियंत्रक-महालेखापरीक्षक इसके साथ संपरीक्षा के प्रक्रम पर ही जुड़ता है जब कि व्यय पहले से किया जा चुका है । यह प्रणाली भी हमारे भूतकाल का अवशिष्ट है । भारत शासन अधिनियम में नियंत्रक का पदाभिधान भी नहीं था और महालेखापरीक्षक का कार्य संपरीक्षा तक ही सीमित था । संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् यह वांछनीय समझा गया कि हमारे नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का इंग्लैंड के समान निर्गम पर भी नियंत्रण हो । विशेषकर यह सुनिश्चित करने के लिए कि संसद् द्वारा मतदान किए गए अनुदानों और विनियोजनों से अधिक व्यय न हो किंतु अभी तक निर्गम पर नियंत्रण की प्रणाली प्रारंभ करने के लिए कार्यवाही नहीं की गई है क्योंकि यह पाया गया है कि

नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के हाथ में इस नियंत्रण को केंद्रित करने के पहले लेखा और वित्तीय नियंत्रण की समस्त प्रणाली की नए सिरे से रचना करनी होगी ।

हाल ही में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के कृत्य विवाद का विषय हो गए हैं । इस पर दो प्रश्न उत्पन्न हुए हैं :

(क) पहला यह है कि क्या नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को संपरीक्षा का कार्य करने में यह अधिकारिता है कि वह कोई व्यय करने के लिए विधिक प्राधिकार देखने के अतिरिक्त फिजूलखर्ची की आलोचना करते हुए मितव्ययिता का सुझाव दे । पारंपरिक दृष्टिकोण तो यह है कि जब कोई कानून किसी प्राधिकारी को किसी व्यय की मंजूरी देने की शक्ति या विवेकाधिकार देता है तो संपरीक्षा का कार्य विशिष्ट मामलों में ऐसी शक्ति के प्रयोग के औचित्य की संपरीक्षा करना है । ऐसा करते समय अर्थव्यवस्था के हित को ध्यान में रखा जाएगा और संपरीक्षा में वैधता को तो देखा ही जाएगा । सरकारी विभाग इसका इस आधार पर विरोध करते हैं कि यह हस्तक्षेप उनके प्रशासन के लिए उत्तरदायित्व से मेल नहीं खाता । एपलबी जैसे आधुनिक विद्वान भी विभागों के इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं ।[30] मितव्ययिता के प्रश्न का प्रशासन की दक्षता से अटूट संबंध है । नियंत्रक-महालेखापरीक्षक और उनके कर्मचारिवृंद प्रशासन के लिए उत्तरदायी नहीं हैं इसलिए वे मितव्ययिता के बारे में कहने की पात्रता नहीं रखते ।

> "संपरीक्षक, अच्छे प्रशासन के बारे में कुछ नहीं जानते । उनसे यह आशा भी नहीं की जाती कि वे जानें । जो लोग प्रशासन के विषय में कुछ नहीं जानते उनमें संपरीक्षकों की प्रतिष्ठा सर्वाधिक है । . . . संपरीक्षा एक आवश्यक किंतु बहुत ही मामूली सा कार्य है जिसका दृष्टिकोण संकीर्ण और उपयोगिता सीमित है ।"[30]

(ख) दूसरा प्रश्न यह है कि क्या नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की संपरीक्षा का विस्तार सरकार के उन औद्योगिक या वाणिज्यिक उपक्रमों पर भी होना चाहिए जो प्राइवेट लिमिटेड कंपनी के या कानूनी लोक निगमों या उपक्रमों के माध्यम से चलाए जाते हैं । ये कंपनी या निगम अपने संगम अनुच्छेद या शासी अधिनियम द्वारा शासित होते हैं । एक पूर्व नियंत्रक-महालेखापरीक्षक[31] ने यह तर्क दिया था, जो सही प्रतीत होता है, कि इन कंपनियों या निगमों को सरकार के नाम से विनिधान के लिए धन भारत की संचित निधि से दिया जाता है इसलिए ऐसी कंपनियों की संपरीक्षा करना नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का अधिकार और दायित्व है । वर्तमान स्थिति यह है कि यदि ऐसी कंपनी के संगम अनुच्छेद या शासी अधिनियम में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक द्वारा संपरीक्षा का उपबंध नहीं है तो उसे ऐसा करने की शक्ति नहीं है । परिणामस्वरूप नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के प्रतिवेदन में इन निगमों के लेखाओं की संवीक्षा के परिणाम सम्मिलित नहीं होते और लोक लेखा समिति या संसद् के पास सार्वजनिक धन खर्च करने वाले इन महत्वपूर्ण निकायों के नियंत्रण के लिए सामग्री नहीं होती । नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के कृत्यों के विस्तार का सरकार प्रतिरोध करती है । सरकार के प्रतिरोध का आधार यह है कि नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को इन उद्यमों के लेखाओं के लिए आवश्यक कारबारी या औद्योगिक अनुभव नहीं है । यह भी कि नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के पारंपरिक तंत्र से ये उद्यम जो राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक हैं, जड़ हो जाएंगे ।

जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, यह दोष 1971 के अधिनियम द्वारा भागतः ठीक किया जा चुका है । इस अधिनियम में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को यह शक्ति दी है कि वह सरकारी कंपनियों और अन्य निकायों की, जो संघ या राज्य के राजस्व द्वारा पर्याप्त

रूप से वित्तपोषित हैं, प्राप्ति और व्यय की संपरीक्षा करे और प्रतिवेदन दे, चाहे इस विषय में कोई विनिर्दिष्ट विधान हो या नहीं ।

निर्देश

1. अभी तक के निर्वाचनों के परिणामों के लिए देखिए, सारणी 10 ।
2. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली किस प्रकार कार्य करेगी इसके बारे में देखिए बसु, *कमेंटरी आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया,* 6वां संस्करण, जिल्द ई, पृष्ठ 217-24 ।
3. सी.ए.डी., जिल्द I, पृष्ठ 736, 846 ।
4. संसद् में 1961 में अपने भाषण में प्रधान मंत्री नेहरू ने यह कहा कि हमें यह अभिसमय स्वीकार करना चाहिए कि कोई व्यक्ति दो पदावधियों से अधिक राष्ट्रपति नहीं रहेगा और ऐसा करने के लिए संविधान का संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है ।
5. मूलतः 10,000 रु. प्रति मास । 1985 में बढ़ाकर 15,000 रु. किया गया था ।
6. मूल संविधान में यह उपबंध था कि उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संयुक्त अधिवेशन में समवेत, संसद् के दोनों सदनों द्वारा होगा । संविधान (11वां संशोधन) अधिनियम, 1961 द्वारा इस प्रयोजन के लिए दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की दुरूह प्रक्रिया समाप्त कर दी गई है । संशोधन के बाद दोनों सदनों के सदस्य मतदाता हैं । वे संयुक्त अधिवेशन में समवेत हुए बिना गुप्त मतदान से मत देते हैं ।
7. अनुच्छेद 65(3) दूसरी अनुसूची के भाग क के पैरा 4 के साथ पढ़ा जाएगा । इसका परिणाम यह है कि जब तक संसद् इस विषय पर विधायन न करे (1987 तक ऐसा कोई विधायन नहीं हुआ है) उपराष्ट्रपति, जब राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा या राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करेगा तो उसे वही परिलब्धियां, विशेषाधिकार और भत्ते मिलेंगे जो राष्ट्रपति को अनुच्छेद 59(3) के अधीन मिलते हैं । 1990 से परिलब्धि 20,000 रु. प्रति मास है ।

   जब उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य नहीं करता है तब उसका एकमात्र कार्य है अनुच्छेद 97 के अधीन राज्य सभा का सभापतित्व करना । संसद् अधिकारी वेतन और भत्ता (संशोधन) अधिनियम, 1985 पारित करके राज्य सभा के सभापति का वेतन बढ़ाकर 7,500 रुपए प्रति मास कर दिया गया है । उसे वे सब भत्ते भी मिलेंगे जो संसद् सदस्यों को दिए जाते हैं ।
8. *राम जवाया* बनाम *पंजाब राज्य,* (1955) 2 एस.सी.आर. 225 (*238-39*) ।
9. *शमशेर सिंह* बनाम *पंजाब राज्य,* ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 2192; *राव* बनाम इंदिरा, *ए.आई.आर.* 1971 एस.सी. 1002 (*1005*); *संजीवी* बनाम *मद्रास राज्य,* ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 1102 (*1106*) ।
10. डाइसी, *ला आफ दि कांस्टिट्यूशन,* 10वां संस्करण, पृष्ठ 468 ।
11. अभी तक संसद् द्वारा पारित केवल एक ही विधेयक पर वीटो का प्रयोग किया गया । वह था पेप्सू विनियोजन विधेयक । वह अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा के आधार पर संसद् ने अनुच्छेद 357 के अधीन पारित किया था । उद्घोषणा 7-3-1954 को वापस ले ली गई और विधेयक 8-3-1954 को अनुमति के लिए प्रस्तुत किया गया । राष्ट्रपति ने विधेयक को अनुमति इस कारण नहीं दी कि 8-3-1954 को संसद् को यह शक्ति नहीं थी कि वह पेप्सू राज्य की विधायी शक्ति का प्रयोग करे । तदनुसार राष्ट्रपति विधेयक को अनुमति देकर ऐसी विधि नहीं बना सकते थे जो संसद् उस तारीख को बनाने के लिए सक्षम नहीं थी । संसद् सदस्य वेतन, भत्ता और पेंशन (संशोधन) विधेयक, 1991 को संसद् ने अपनी बैठक के अंतिम दिन पारित किया था । इसके लिए अनुच्छेद 117(1) द्वारा अपेक्षित राष्ट्रपति की सिफारिश प्राप्त नही की गई थी । राष्ट्रपति की अनुमति के लिए इसे 18 मार्च, 1991 को प्रस्तुत किया गया । राष्ट्रपति ने अपनी अनुमति विधारित कर ली (नहीं दी) । यह सूचना 9 मार्च, 1992 को राज्य सभा को दी गई ।

    इस उदाहरण से यह पता चलता है कि वीटो शक्ति उन विधेयकों के अधिनियमन को रोकने के लिए आवश्यक है जो उस समय शक्ति बाह्य या असांविधानिक प्रतीत होते हैं जब विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है । इससे यह भी प्रकट होता है कि ऐसे अवसर आ सकते हैं जब सरकार राष्ट्रपति को किसी विधेयक को वीटो करने की सलाह देगी यद्यपि विधेयक सरकार ने ही पुरःस्थापित किया था ।

12. दिसंबर, 1989 में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के बनने के पश्चात् राष्ट्रपति श्री रामस्वामी वेंकटरामन ने उसे 7-1-1990 को उसके खंड 16 पर पुनर्विचार के लिए भेजा । इसे राज्य सभा के पटल पर 12-3-1990 को रखा गया । प्रधान मंत्री ने घोषणा की कि समुचित परिवर्तन करके उसे संसद् में लाया जाएगा ।
13. *हेक्स्ट फर्मास्यूटिकल्स* बनाम *बिहार राज्य*, ए.आई.आर. 1953 एस.सी. 1019 (पैरा 89) ।
14. *लखीनारायन* बनाम *बिहार राज्य*, ए.आई.आर. 1950 एस.सी. 59; *पंजाब राज्य* बनाम *सत्यपाल*, ए.आई.आर. 1969 एस.सी. 903 (912) ।

    इन वादों में जो प्रस्थापनाएं स्थिर हुई थीं वे अब *वाधवा* बनाम *बिहार राज्य*, ए.आई.आर. 1987 एस.सी. 579 से उपांतरित हो गई है । इस वाद में यह साबित किया गया कि बिहार सरकार अध्यादेश को संविधान के अनुच्छेद 213(2)(क) [अनुच्छेद 123(2)(क) का तत्स्थानी] में यथा अपेक्षित विधान मंडल के समक्ष रखने या संविधान में विनिर्दिष्ट समय के समाप्त के होने पर अध्यादेश के पर्यवसान के पूर्व उसे विधान मंडल के अधिनियम से प्रतिस्थापित करने के स्थान पर, उसे ही पुनः प्रख्यापित करके उसकी अवधि बढ़ा देती थी । अर्थात् जिस अध्यादेश की अवधि समाप्त होती थी उसके स्थान पर दूसरा अध्यादेश प्रख्यापित कर देती थी । इस रीति से 256 अध्यादेश प्रवृत्त रखे गए (जिसमें से कुछ तो 14 वर्षों से चले आ रहे थे) । अध्यादेशों के स्थान पर राज्य विधान मंडल ने कोई अधिनियम नहीं बनाया । उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि राज्यपाल की अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति आपात शक्ति है । किसी विरले मामले में जिसमें कार्याधिक्य के कारण विधान मंडल समय रहते अध्यादेश का प्रतिस्थापन नहीं कर सका तब यह हो सकता है । किंतु यदि यह प्रथा ही बन जाती है और संविधान में यथा प्रकल्पित विधान मंडल द्वारा विधायन के स्थान पर कार्यपालिका द्वारा विधायन (या अध्यादेश राज) होता है तो यह संविधान के साथ कपट है । इस आधार पर न्यायालय पुनःप्रख्यापित अध्यादेश को विखंडित कर देगा । इस निर्णय का सार यह है कि जिन मामलों में अति हो गई है उनमें न्यायालय "कपट" के आधार पर अध्यादेश को अविधिमान्य कर देगा । यह "कूपर" के वाद से प्रारंभ हुई प्रवृत्ति दर्शाता है (नीचे पाद टिप्पण 16) ।
15. *वाधवा* बनाम *बिहार राज्य*, ए.आई.आर. 1987 एस.सी. 579 ।
16. *कूपर* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 564 (*588, 644*); *ए.के. राय* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1982 एस.सी. 710 ।
17. *शमशेर* बनाम *पंजाब राज्य*, ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 2192 (पैरा 30) ।
18. *केहर सिंह* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1989 एस.सी. 653 ।
19. (क) गोवा, दमण और दीव, (ख) पांडिचेरी, (ग) मिजोरम, और (घ) अरुणाचल प्रदेश के संघ राज्यक्षेत्रों के बारे में अनुच्छेद 240(1) का 1962, 1971 और 1975 में संशोधन हो जाने के पश्चात् राष्ट्रपति की विनियम बनाने की शक्ति समाप्त हो गई । मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश 1986 में राज्य बन गए । गोवा 1987 में राज्य बन गया । दमण और दीव संघ राज्यक्षेत्र हैं ।
20. 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा "आभ्यंतरिक अशांति" के स्थान पर "सशस्त्र विद्रोह" शब्द रखे गए ।
21. भारत में मंत्रिमंडल प्रणाली के और अध्ययन के लिए देखिए बसु, *कमेंटरी आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया* (छठा संस्करण), जिल्द ई, पृष्ठ 272-417 ।
22. 1982 के अंत में संख्या इस प्रकार थी (क) मंत्रिमंडल के सदस्य 20, (ख) राज्यमंत्री 36, (ग) उपमंत्री 4 । 25 जून, 1988 को स्थिति इस प्रकार थी : मंत्रिमंडल के सदस्य 16, राज्यमंत्री 37, उपमंत्री 7, कुल 60 । दिसम्बर, 1990 को क्रमशः 15, 15, और 4 थे । 1992 में कुल 57 मंत्री थे ।
23. सी.ए.डी., जिल्द IV, पृष्ठ 580, 734; जिल्द VII, पृष्ठ 32, 974, 984 ।
24. इंडियन ला इंस्टीट्यूट में राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद के सुझाव को कि भारत के राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटिश-सम्राट के समरूप नहीं है उनके संविधान सभा में किए गए संप्रेक्षण के साथ पढ़ा जाना चाहिए (X सी.ए.डी. 988) । समकालीन कथन होने के नाते संविधान निर्माताओं का आशय जानने और अनुच्छेद 74(1) का जैसा वह 1976 में था अर्थ समझने के लिए उसका विशेष महत्व है ।
25. क.मा. मुंशी, *दि प्रेसिडेंट अंडर दि इंडियन कांस्टिट्यूशन* (1963), पृष्ठ viii ।
26. *संजीवी* बनाम *मद्रास राज्य*, ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 1102 (*1106*); *राव* बनाम *इंदिरा*, ए.आई.आर. 1971 एस.सी. 1002 (*1005*); *शमशेर सिंह* बनाम *पंजाब राज्य*, ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 2192 ।

27. बसु, *कमेंटरी आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया,* 5वां संस्करण, जिल्द II, पृष्ठ 593 ।
"संविधान के लेखक इस बात पर सहमत हैं कि अब सम्राट द्वारा मंत्रिमंडल को पदच्युत किया जाना असांविधानिक होगा । यह उसी आपवादिक स्थिति में हो सकता है जब हाउस आफ कामंस में अविश्वास मत पारित हो जाने पर मंत्रिमंडल न तो त्यागपत्र दे और न नया निर्वाचन कराए ।" देखिए वे उदाहरण जो *शमशेर सिंह* के वाद में दिए गए हैं (ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 2192 (पैरा 153) ।
28. इस बात की बड़ी तीखी सार्वजनिक आलोचना हुई कि सेवा-निवृत्त नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को वित्त आयोग का अध्यक्ष बनाकर अनुच्छेद 148(4) का उल्लंघन किया गया है । न्यायिक विनिश्चयों के अनुसार कोई "पद" नियोजन है जिसमें पदावधि, परिलब्धियां और कर्तव्य हैं । वित्त आयोग एक "पद" है जो संविधान के अनुच्छेद 280 द्वारा बनाया गया है जिसकी उक्त अनुच्छेद के साथ पठित वित्त आयोग (प्रकीर्ण उपबंध) अधिनियम, 1951 द्वारा परिभाषित पदावधि, परिलब्धियां और कर्तव्य हैं । प्रकटतः वित्त आयोग, भारत सरकार के अधीन एक पद है जो अनुच्छेद 148(4) की परिधि में आता है ।
29. जैसा डा. अम्बेडकर ने संविधान सभा में बताया था (सी.ए.डी. VIII, पृष्ठ 407) एक विषय में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की स्वाधीनता उच्चतम न्यायालय से कम है । उच्चतम न्यायालय के कर्मचारिवृंद की नियुक्ति का अधिकार भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को दिया गया है [अनुच्छेद 146(1)] । नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को इस प्रकार की शक्ति नहीं है और परिणामस्वरूप उसे अपने अधीनस्थ व्यक्तियों पर अनुशासनिक नियंत्रण नहीं है । यह शक्ति भारत सरकार के पास है जो इस उच्च अधिकारी की प्रशासनिक दक्षता के हितों के प्रतिकूल है ।
30. एपलबी, ए., *रिएग्जामिनेशन आफ इंडियाज़ एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम,* पृष्ठ 28 ।
31. नरहरि राव का लोक लेखा समिति के समक्ष कथन, 1952 ।

12

संघ का विधान मंडल

जैसा हम ऊपर प्रारंभ में ही बता चुके हैं हमारे संविधान ने शासन की संसदीय प्रणाली स्वीकार की है, जिसमें विधायिका और कार्यपालिका का सुंदर समन्वय होता है । इसमें कार्यपालिका शक्ति विधान मंडल के सदस्यों के एक समूह के हाथ में होती है जो विधान मंडल के निर्वाचित सदन में बहुमत रखते हैं । यह शक्ति तभी तक उनके पास रहती है जब तक उन्हें बहुमत प्राप्त है । संसदीय प्रणाली के इस लक्षण से विधायी अंग के रूप में संसद् के निम्नलिखित कृत्य होते हैं :-

संसद् के कृत्य ।

I. *मंत्रिमंडल की रचना* — संसद् का पहला कृत्य मंत्रिमंडल की रचना और उन्हें उत्तरदायी ठहराना है । मंत्रिमंडल का उत्तरदायित्व निर्वाचित सदन के प्रति है किंतु मंत्रिमंडल के सदस्य अन्य सदन में भी हो सकते हैं और साधारणतया कुछ सदस्य अन्य सदन से लिए भी जाते हैं ।

II. *मंत्रिमंडल का नियंत्रण* — मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व के सिद्धांत का यह अनुषंग है कि निर्वाचित सदन का कार्य यह देखना है कि मंत्रिमंडल सत्ता में तभी तक रहता है जब तक उस सदन में मंत्रिमंडल को बहुमत का विश्वास प्राप्त रहता है । हमारे संविधान के अनुच्छेद 75(3) में यह अभिव्यक्त रूप से सुनिश्चित किया गया है ।

III. *मंत्रिमंडल और व्यक्तिशः मंत्रियों की आलोचना* — वर्तमान समय में मंत्रिमंडल ही कार्यपालक और विधायी नीति निर्धारित करता है । संसद् के विधायी कृत्य का महत्व कुछ सीमा तक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के स्तर से घट गया है । किंतु संसद् के आलोचक कृत्य का महत्व वृद्धिगत हुआ है और यदि मंत्रिमंडलीय शासन को उत्तरदायी शासन के रूप में रहना है, स्वेच्छाचारी नहीं बनना है तो इसका महत्व अवश्य ही बढ़ेगा । इस कृत्य में दोनों सदन भाग लेते हैं और भाग ले सकते हैं यद्यपि मंत्रिमंडल का पतन केवल निर्वाचित सदन ही करा सकता है (अर्थात् लोक सभा) [अनुच्छेद 75(3)] ।

मंत्रिमंडल नीति निर्धारण करता है । संसद् का कार्य है कि सदन के सभाकक्ष में उस नीति पर चर्चा करे और उसकी आलोचना करे जिससे मंत्रिमंडल को उसकी सलाह मिल सके तथा उसे अपनी गलतियों और कमियों का ज्ञान हो सके । इससे संपूर्ण राष्ट्र को भी एक आनुकल्पिक दृष्टिकोण मिलेगा । इसी के मूल्यांकन पर सैद्धांतिक रूप से प्रातिनिधिक लोकतंत्र टिका हुआ है ।

IV. *सूचना का अंग* — सूचना के अंग के रूप में संसद् प्रेस या किसी प्राइवेट अभिकरण से अधिक शक्तिशाली है । संसद् को आधिकारिक सूचना मिलती है और उनसे मिलती है जो उसका सही ज्ञान रखते हैं । यह सूचना चर्चा के माध्यम से भी संगृहीत और प्रसारित की जाती है और मंत्रियों को संबोधित प्रश्नों के माध्यम से भी ।

V. *विधायन* — विधान मंडल का दूसरा कृत्य विधि निर्माण करना है [अनुच्छेद 107-108, 245] । यह कृत्य राष्ट्रपति और संसदीय दोनों ही शासन प्रणालियों में विधान मंडल के जिम्मे होता है । भारत में संविधान के आरंभ के साथ ही विधान की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है । यह कल्याणकारी राज्य स्थापित करने के लिए आवश्यक अनेकविध अन्य अध्युपायों को क्रियान्वित करने के लिए है ।

VI. *वित्तीय नियंत्रण* — संसद् को लोक सेवाओं के लिए व्यय प्राधिकृत करने की और उन प्रयोजनों को विनिर्दिष्ट करने की शक्ति है जिनके लिए धन व्यय किया जाएगा । वह कर और अन्य लाग के माध्यम से अपेक्षित राजस्व प्राप्त करने के लिए अर्थोपाय बता सकती है । वह यह भी सुनिश्चित कर सकती है कि अनुदान धन का व्यय प्राधिकृत प्रयोजन के लिए ही हुआ है । इंग्लैंड की प्रणाली के जैसे ही हमारे संविधान में इस बाबत लोक सभा को प्रधान शक्ति है [अनुच्छेद 109] ।

संसद् का गठन ।

भारत की संसद् राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनती है । निचले सदन को लोक सभा और उच्च सदन को राज्य सभा कहते हैं[1] [अनुच्छेद 79] (इन सदनों ने अंग्रेजी नाम के स्थान पर हिंदी के नाम ही अपना लिए हैं) ।

राष्ट्रपति विधान मंडल का भाग है वैसे ही जैसे कि इंग्लैंड में सम्राट । वह आरंभिक अभिभाषण देने के प्रयोजन के लिए ही संसद् में बैठता है अन्यथा नहीं किंतु संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक उसकी अनुमति के बिना विधि नहीं बन सकता । राष्ट्रपति के अन्य विधायी कृत्यों पर, जैसे दोनों सदनों के सत्र में न होने पर अध्यादेश निकालना, हम पहले ही विचार कर चुके हैं ।

राज्य सभा का गठन ।

राज्य सभा में 250 से अधिक सदस्य नहीं होंगे । इनमें से (क) 12, राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्दिष्ट होंगे और (ख) शेष (अर्थात् 238) राज्य और संघ राज्यक्षेत्रों के प्रतिनिधि होंगे जो अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से चुने जाएंगे[2] [अनुच्छेद 80] ।

(क) *नामनिर्देशन* — 12 नामनिर्देशित सदस्य, राष्ट्रपति द्वारा ऐसे लोगों में से चुने जाएंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा के संबंध में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है । इस प्रकार संविधान ने 8 विशिष्ट व्यक्तियों को उच्च सदन में स्थान देने के लिए नामनिर्देशन का सिद्धांत अपनाया है ।

(ख) *राज्यों का प्रतिनिधित्व* — प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों का निर्वाचन उस राज्य की विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाएगा ।

(ग) *संघ राज्यक्षेत्रों का प्रतिनिधित्व* — संघ राज्यक्षेत्रों के प्रतिनिधि ऐसी रीति से निर्वाचित होंगे जो संसद् विधि द्वारा उपबंधित करे [अनुच्छेद 80(5)] । इस शक्ति के अधीन संसद् ने यह विहित किया है[2] कि राज्य सभा में संघ राज्यक्षेत्रों के प्रतिनिधि का निर्वाचन उस राज्यक्षेत्र के निर्वाचक मंडल द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाएगा ।

इस प्रकार राज्य सभा में परिसंघ की इकाइयों के प्रतिनिधि होते हैं । जिससे उसका परिसंघीय लक्षण प्रकट होता है । किंतु इसमें अमेरिका के द्वितीय सदन के गठन में प्रयुक्त राज्यों के समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का अनुसरण नहीं किया गया है । भारत में राज्य सभा में राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या 1 (नागालैंड) से 34 (उत्तर प्रदेश) तक है ।

लोक सभा का गठन कई प्रकार का है । संविधान में अधिकतम संख्या इस प्रकार विहित की गई है :

(क) राज्यों के प्रतिनिधि[3] 540[4] से अधिक नहीं होंगे [अनुच्छेद 81(1)(क)] ।

लोक सभा का गठन ।

(ख) संघ राज्यक्षेत्रों के प्रतिनिधि 20 से अधिक नहीं होंगे [अनुच्छेद 81(1)(ख)] ।

(ग) राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्देशित दो से अनधिक आंग्ल-भारतीय समुदाय के प्रतिनिधि होंगे यदि राष्ट्रपति की यह राय है कि लोक सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है [अनुच्छेद 331] ।

(i) राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर राज्य की जनता द्वारा किया जाएगा । प्रत्येक व्यक्ति जो नागरिक है, अठारह[5] वर्ष की आयु से कम का नहीं है और अनिवास, चित्त विकृति, अपराध या भ्रष्ट या अवैध आचरण के आधार पर अन्यथा निरर्हित नहीं है ऐसे निर्वाचन में मत देने का हकदार होगा [अनुच्छेद 326] ।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों को छोड़कर अन्य किसी अल्पसंख्यक वर्ग के लिए स्थानों का कोई आरक्षण नहीं होगा [अनुच्छेद 330, 341, 342] ।

इस प्रकार सदन के अधिकांश सदस्य जनता के प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं ।

(ii) संघ राज्यक्षेत्रों के सदस्यों का निर्वाचन ऐसी रीति से होगा जो संसद् विधि द्वारा विहित करे ।

इस शक्ति के प्रयोग में संसद् ने यह अधिनियमित[6] किया है कि संघ राज्यक्षेत्रों के सभी प्रतिनिधि प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाएंगे ।

(iii) राष्ट्रपति आंग्ल-भारतीय समुदाय के दो व्यक्तियों को नामनिर्देशित कर सकेगा यदि उसकी यह राय है कि लोक सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है [अनुच्छेद 331] (देखिए आगे सारणी 8) ।

लोक सभा के निर्वाचन के लिए प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र ।

लोक सभा के लिए निर्वाचन प्रत्यक्ष है इसलिए यह अपेक्षा है कि भारत के राज्यक्षेत्र को ऐसे निर्वाचनों के लिए उपयुक्त प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाए । संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम द्वारा यथासंशोधित अनुच्छेद 81(2) में दो बातों में प्रतिनिधित्व की समानता है (क) विभिन्न राज्यों के बीच, और (ख) एक ही राज्य के विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों के बीच, जैसे :

(क) प्रत्येक राज्य को लोक सभा में आंबटित स्थानों की संख्या ऐसी होगी कि उस संख्या से राज्य की जनसंख्या का अनुपात सभी राज्यों के लिए यथासाध्य एक ही हो, और

(ख) प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में ऐसी रीति से विभाजित किया जाएगा कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या का उसको आबंटित स्थानों की संख्या से अनुपात समस्त राज्य में यथासाध्य एक ही हो ।

राज्य सभा के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व ।

संविधान ने पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की प्रणाली का तो परित्याग कर दिया किंतु संघ और राज्य विधान मंडलों के द्वितीय सदन में आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति को भागतः अपनाया ।

(क) राज्य सभा के लिए, राज्य के प्रतिनिधियों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन

स्वीकार किया गया है जिससे अल्पसंख्यक समुदायों और दलों का प्रतिनिधित्व हो सके [अनुच्छेद 80(4)] ।

(ख) इसी प्रकार राज्य की विधान परिषद् के निर्वाचन के लिए नगरपालिका, जिला बोर्ड, और अन्य स्थानीय प्राधिकारी तथा उस राज्य में निवासी तीन वर्ष के स्नातकों से मिलकर बने निर्वाचकगण से आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति से होगा [अनुच्छेद 171(4)] ।

लोक सभा [अनुच्छेद 81] और राज्य की विधान सभाओं के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति का परित्याग किया गया है । संविधान ने इसके स्थान पर एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र और कुछ पिछड़े समुदायों के लिए, जैसे अनुसूचित जाति और जनजाति (साधारण निर्वाचन में) स्थानों का आरक्षण किया है [अनुच्छेद 330, 332] ।

लोक सभा के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति नहीं अपनाने के कारणों को संविधान सभा में इस प्रकार स्पष्ट किया गया था, —

लोक सभा और विधान सभा के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व क्यों नहीं अपनाया गया ।

(i) आनुपातिक प्रतिनिधित्व के लिए व्यापक साक्षरता होनी चाहिए । हम यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक मतदाता कम से कम इतना साक्षर होगा कि वह अंकों को पहचानता होगा और मत पत्र पर उन्हें लिख सकेगा, इस देश में साक्षरता की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह उपधारणा करना उचित नहीं होगा ।

(ii) संविधान में अधिकथित संसदीय शासन प्रणाली के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व उपयुक्त नहीं है । आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का एक दुष्परिणाम यह होता है कि विधान मंडल बहुत से छोटे-छोटे समूहों में बंट जाता है । ब्रिटिश संसद् ने 1910 में आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति स्वीकार करने के विषय में सलाह देने के लिए एक रायल कमीशन नियुक्त किया था । इस आयोग ने यह सिफारिश भी की थी किंतु अन्ततोगत्वा संसद् ने यह कहा कि सिफारिश को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया जाएगा कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व से स्थायी सरकार नहीं बन पाएगी । संसद् छोटे-छोटे समूहों में इस प्रकार बंट जाएगी कि जैसे ही कोई ऐसी बात होती है जिससे कोई गुट अप्रसन्न हो जाता है तो वह गुट सरकार से अपना समर्थन वापस ले लेगा । इसका परिणाम यह होगा कि कुछ गुटों का समर्थन वापस ले लिए जाने के कारण सरकार गिर जाएगी ।

विद्यमान परिस्थितियों में भारत को स्थायी सरकार की आवश्यकता थी और इसलिए निम्न सदन में जिसके प्रति सरकार उत्तरदायी होती है आनुपातिक प्रतिनिधित्व स्वीकार नहीं किया गया । इस संबंध में डा. अम्बेडकर ने संविधान सभा में यह कहा था :

> "मुझे इस बारे में बिल्कुल संदेह नहीं है कि चाहे भावी सरकार जनता को राहत दे या नहीं, हमारी भावी सरकार को एक बात अवश्य करनी है, वे स्थायी सरकार दें और विधि और व्यवस्था बनाए रखें ।"[7]

संसद् के सदनों की अवधि ।

(क) राज्य सभा का विघटन नहीं होता । वह स्थायी निकाय है किंतु उसके (यथासंभव) एक-तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष निवृत्त हो जाते हैं । यह संसद् द्वारा इस निमित्त बनाए गए उपबंधों के अनुसार होता है । इसका यह अर्थ हुआ कि हर दूसरे वर्ष के प्रारम्भ पर राज्य सभा के एक-तिहाई सदस्यों के लिए निर्वाचन होगा [अनुच्छेद 83(1)] । राज्य सभा के सदस्यों की निवृत्ति का क्रम राज्य सभा (सदस्यों की पदावधि) आदेश, 1952 द्वारा शासित होता है । यह आदेश राष्ट्रपति ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में बनाया है ।

(ख) लोक सभा का सामान्य जीवनकाल पांच वर्ष है[8] किंतु राष्ट्रपति उसे इसके पूर्व विघटित कर सकता है ।

जब अनुच्छेद 352 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा की गई आपात की उद्‌घोषणा प्रवृत्त रहती है तब उस अवधि में संसद् द्वारा पारित अधिनियम से इस सामान्य अवधि का विस्तार किया जा सकता है ।[9] किंतु संविधान ने आपात की अवधि के दौरान संसद् द्वारा अपने जीवनकाल को बढ़ाने की शक्ति को परिसीमित किया है । यह विस्तार एक बार में एक वर्ष से अधिक अवधि के लिए नहीं किया जा सकता (अर्थात् संसद् के एक ही अधिनियम द्वारा) और किसी भी दशा में आपात की उद्‌घोषणा के प्रवृत्त न रहने के पश्चात् यह अवधि छह मास के आगे विस्तारित नहीं की जा सकती [अनुच्छेद 83 का परन्तुक] ।

संसद् का सत्र ।

राष्ट्रपति को — (क) दोनों सदनों को आहूत करने की, (ख) दोनों सदनों का सत्रावसान करने की, और (ग) लोक सभा का विघटन करने की शक्ति है, इस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं ।

आहूत करने के बारे में संविधान ने राष्ट्रपति पर एक कर्तव्य अधिरोपित किया है वह यह है कि वह दोनों सदनों को ऐसे अंतराल पर आहूत करेगा कि एक सत्र की अंतिम बैठक और उसके बाद के सत्र की पहली बैठक के लिए नियत तारीख के बीच छह मास का अंतराल नहीं होगा [अनुच्छेद 85(1)] । इस उपबन्ध का परिणाम यह है कि संसद् की बैठक वर्ष में कम से कम दो बार होनी चाहिए और सदन के सत्रावसान की तारीख और उसके बाद के सत्र के प्रारंभ होने की तारीख के बीच छह मास से अधिक का समय नहीं होना चाहिए ।

इस संदर्भ में सत्रावसान और विघटन का स्थगन से विभेद करना उपयोगी होगा ।

स्थगन, सत्रावसान और विघटन ।

"सत्र", संसद् के प्रथम अधिवेशन और उसके सत्रावसान या विघटन के बीच की अवधि है । संसद् के सत्रावसान होने और नए सत्र में उसके समवेत होने के बीच के समय को "दीर्घविकाश" कहते हैं ।

किसी सत्र में प्रतिदिन बहुत सी "बैठकें" होती हैं जिन्हें स्थगन द्वारा अलग किया जाता है । स्थगन के द्वारा सदन के कामकाज पर विचार को विनिर्दिष्ट समय के लिए मुल्तवी किया जाता है । यह कुछ घंटे, दिन या सप्ताह की अवधि का भी हो सकता है ।

सदन की बैठक (क) विघटन, (ख) सत्रावसान, (ग) स्थगन द्वारा समाप्त की जा सकती है ।

(i) जैसा हम ऊपर बता चुके हैं केवल लोक सभा का ही विघटन हो सकता है । विघटन दो प्रकार से होता है — (क) समय व्यतीत हो जाने पर अर्थात् पांच वर्ष की अवधि की समाप्ति पर या आपात की उद्‌घोषणा के दौरान विस्तारित अवधि की समाप्ति पर । (ख) राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 85(2) के अधीन शक्ति के प्रयोग द्वारा ।

(ii) राष्ट्रपति विघटन और सत्रावसान की शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार करता है । लोक सभा और राज्य सभा की दैनिक बैठकों को स्थगित करने की शक्ति क्रमशः लोक सभा के अध्यक्ष और राज्य सभा के सभापति को है ।

विघटन से लोक सभा का अन्त हो जाता है (इसके कारण नए निर्वाचन की आवश्यकता होती है) । सत्रावसान से केवल सत्र की समाप्ति होती है । स्थगन से संसद् के सत्र की विधिमान्यता का अंत नहीं होता केवल विनिर्दिष्ट समय के लिए कामकाज का आगे चलना मुल्तवी हो जाता है, यह घंटे, दिन या सप्ताह के लिए हो सकता है ।

(iii) विघटन से विद्यमान लोक सभा के जीवनकाल का अंत हो जाता है जिससे सदन के समक्ष लम्बित सभी मामले विघटन पर व्यपगत हो जाते हैं । यदि इन विषयों को आगे बढ़ाना है तो उन्हें नए निर्वाचन के पश्चात् आगामी सदन में पुनः रखना होगा ।

इस लम्बित कामकाज के अन्तर्गत न केवल सूचना, प्रस्ताव आदि आते हैं बल्कि विधेयक भी आते हैं । वे विधेयक भी जो राज्य सभा में प्रारम्भ हुए थे और लोक सभा को भेजे गए तथा वे विधेयक भी जो लोक सभा में प्रारम्भ हुए थे और राज्य सभा को भेजे गए थे और विघटन की तारीख को राज्य सभा में लम्बित थे । किंतु ऐसा विधेयक जो राज्य सभा में लम्बित है किंतु लोक सभा द्वारा पारित नहीं किया गया है विघटन पर व्यपगत नहीं होगा । सदनों की संयुक्त बैठक आहूत करने के आशय की राष्ट्रपति की अधिसूचना के पश्चात् यदि लोक सभा का विघटन बीच में हो जाता है तो दोनों सदनों की संयुक्त बैठक पर इसका प्रभाव नहीं होगा [अनुच्छेद 108(5)] ।

यद्यपि इंग्लैंड में सत्रावसान की तारीख को लम्बित सभी कामकाज सत्रावसान के कारण मिट जाता है, भारत में अनुच्छेद 107(3) द्वारा संसद् में लम्बित सभी विधेयक अभिव्यक्त रूप से बचा लिए गए हैं । परिणामस्वरूप सत्रावसान का केवल यही प्रभाव होता है कि लम्बित सूचनाएं, प्रस्ताव और संकल्प व्यपगत हो जाते हैं किंतु विधेयकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

स्थगन का लम्बित कार्यवाही पर कोई प्रभाव नहीं होता ।

संसद् के सदस्यों की अर्हताएं । संसद् के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिए व्यक्ति को, (क) भारत का नागरिक होना चाहिए, (ख) राज्य सभा की दशा में तीस वर्ष से कम आयु का और लोक सभा की दशा में 25 वर्ष से कम आयु का नहीं होना चाहिए ।

संसद् विधि द्वारा अतिरिक्त अर्हताएं विहित कर सकती है [अनुच्छेद 84] । कोई भी व्यक्ति संसद् के किसी भी सदन का सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा –

सदस्यता के लिए निरर्हताएं ।

(क) यदि वह भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन (ऐसे पद को छोड़कर जिसे संसद् ने छूट दी है), कोई लाभ का पद धारण करता है, इसमें संघ या राज्य के मंत्री का पद नहीं है, या

(ख) यदि वह विकृत चित्त है और सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है,

(ग) यदि वह अनुन्मोचित दिवालिया है,

(घ) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है या उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है, या यह कि किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुषक्ति को अभिस्वीकार करता है,

(ङ) यदि वह संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस प्रकार निरर्हित हो जाता है [अनुच्छेद 102] ।

यह ध्यान देने योग्य है कि संसद् की सदस्यता में लिंग के आधार पर कोई निरर्हता नहीं है । पहली लोक सभा में 22 महिलाएं थीं, दूसरी में 27, तीसरी में 34, चौथी में 31, पांचवीं में 22, छठी में 19, सातवीं में 28, आठवीं में 44 थीं । नवीं में 27 हैं ।

यदि यह प्रश्न उठता है कि संसद् के किसी सदन का कोई सदस्य किसी निरर्हता से ग्रस्त हो गया है या नहीं तो वह प्रश्न राष्ट्रपति को विनिश्चय के लिए निर्देशित किया जाएगा । राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की राय के अनुसार कार्य करेगा और उसका विनिश्चय अन्तिम होगा [अनुच्छेद 103] ।

यदि कोई व्यक्ति जो संसद् के किसी सदन में यह जानते हुए कि वह अर्हित नहीं है या उसकी सदस्यता से निरर्हित कर दिया गया है उसमें बैठता है या मत देता है तो वह प्रतिदिन के लिए 500 रुपए की शास्ति का भागी होगा ।

संसद् का सदस्य निम्नलिखित दशाओं में अपना स्थान रिक्त करेगा [अनुच्छेद 101] ।

सदस्यों द्वारा स्थान की रिक्ति ।

(i) *दोहरी सदस्यता* — (क) यदि कोई व्यक्ति संसद् के दोनों सदनों का सदस्य चुन लिया जाता है तो वह एक या दूसरे सदन के स्थान को रिक्त करने के लिए संसद् द्वारा विधि द्वारा विहित रीति में अपना स्थान रिक्त करेगा । (ख) इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति संसद् या राज्य के विधान मंडल के किसी सदन के लिए निर्वाचित हो जाता है तो उसे राज्य विधान मंडल के स्थान के लिए पद त्याग करना होगा । यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए नियमों में विनिर्दिष्ट अवधि की समाप्ति पर संसद् में उसका स्थान रिक्त हो जाएगा ।

(ii) *निरर्हता* — यदि कोई व्यक्ति अनुच्छेद 102 में विनिर्दिष्ट निरर्हता से ग्रस्त हो जाता है (उदाहरणार्थ, विकृत चित्त हो जाना) तो उसका स्थान रिक्त हो जाएगा ।

(iii) *पद त्याग* — कोई सदस्य, यथास्थिति, राज्य सभा के सभापति या लोक सभा के अध्यक्ष को सम्बोधित त्यागपत्र द्वारा अपना स्थान त्याग सकता है और ऐसा करने पर उसका स्थान रिक्त हो जाएगा ।

(iv) *अनुमति के बिना अनुपस्थिति* — यदि कोई सदस्य सदन की अनुमति के बिना 60 दिन की अवधि से अधिक समय के लिए सदन के सभी अधिवेशनों से अनुपस्थित रहता है तो सदन उसका स्थान रिक्त घोषित कर सकता है ।

संसद् सदस्यों के वेतन और भत्ते ।

यथासंशोधित संसद् सदस्य वेतन, भत्ता और पेंशन अधिनियम, 1954 के अधीन संसद् के सदस्य को पदावधि के दौरान 1500 रुपए प्रति मास का वेतन, संसदीय काम काज के दिनों में 150 रु. दैनिक भत्ता, 3000 रु. प्रतिमास निर्वाचन क्षेत्र भत्ता, 1000 रु. प्रतिमास कार्यालय व्यय तथा आवास, दूरभाष, चिकित्सा आदि की सुविधाएं दी जाती हैं । इसके साथ ही उसे अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार यात्रा भत्ता, रेल, स्टीमर और अन्य सुविधाओं से निःशुल्क यात्रा करने का हक है । 1976 के संशोधन के पश्चात् उसे प्रत्येक सदन के सदस्य के रूप में पांच वर्ष की अवधि के लिए एक मापमान के अनुसार पेंशन पाने का अधिकार है ।

संसद् के अधिकारी ।

संसद् के प्रत्येक सदन का अपना सभापतित्व करने वाला अधिकारी और सचिवीय कर्मचारिवृन्द हैं ।

अध्यक्ष ।

लोक सभा का सभापतित्व करने के लिए एक अध्यक्ष होता है । साधारणतया उसकी स्थिति वही है जो इंग्लैंड के हाउस आफ कामंस में स्पीकर की है ।

लोक सभा अपनी पहली बैठक के पश्चात् यथाशीघ्र अपने दो सदस्यों को अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के रूप में चुनती है [अनुच्छेद 93] । अध्यक्ष या उपाध्यक्ष सदन के जीवनकाल पर्यन्त अपना पद धारण करेगा किंतु उसका पद निम्नलिखित रूप से इसके पहले भी समाप्त हो सकता है (i) उसके सदन के सदस्य न रहने पर, (ii) यदि वह अध्यक्ष है तो उपाध्यक्ष को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद त्याग करने पर (उपाध्यक्ष की दशा में त्यागपत्र अध्यक्ष को सम्बोधित होगा), (iii) लोक सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा उसे अपने पद से हटाए जाने पर [अनुच्छेद 94] । ऐसा संकल्प तब तक प्रस्तावित नहीं किया जाएगा जब तक कि उस संकल्प को प्रस्तावित करने के आशय की कम से कम 14 दिन की सूचना न दे दी गई हो । जब अध्यक्ष को हटाने के लिए संकल्प विचाराधीन है तो अध्यक्ष पीठासीन नहीं होगा किंतु उसे लोक सभा में बोलने और उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा । उसे मत देने

का भी अधिकार होगा किंतु मत बराबर होने की दशा में मत देने का अधिकार नहीं होगा ।

अध्यक्ष की शक्तियां ।

सदन के अन्य अधिवेशनों का सभापतित्व अध्यक्ष करेगा । अध्यक्ष पहली बार मत नहीं देगा किंतु मत बराबर होने की दशा में उसका निर्णायक मत होगा । पहली बार मत न देने के कारण उसकी उसी प्रकार निष्पक्ष स्थिति होगी जैसी इंग्लैंड में स्पीकर की होती है । उसे निर्णायक मत इस कारण दिया गया है कि वह गतिरोध को समाप्त कर सके ।

अध्यक्ष को लोक सभा के भीतर व्यवस्था बनाए रखने की और प्रक्रिया के नियमों का निर्वहन करने की अन्तिम शक्ति है । अध्यक्ष का यह कर्तव्य है कि गणपूर्ति के अभाव में सदन को स्थगित कर दे या गणपूर्ति होने तक अधिवेशन को निलम्बित कर दे ।

सदन की प्रक्रिया विनियमित करने या सदन में व्यवस्था बनाए रखने में अध्यक्ष का आरचण न्यायालय की अधिकारिता के अधीन नहीं होगा [अनुच्छेद 122] । अपने सदन का सभापतित्व करने के अतिरिक्त अध्यक्ष को कुछ ऐसी शक्तियां हैं जो राज्य सभा के सभापति को नहीं हैं —

(क) अध्यक्ष संसद् के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में पीठासीन होगा । [अनुच्छेद 118(4)] ।

(ख) जब कोई धन विधेयक निम्न सदन से उच्च सदन को प्रेषित किया जाता है तब अध्यक्ष उस विधेयक पर यह पृष्ठांकित करता है कि वह धन विधेयक है । कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं इस पर अध्यक्ष का विनिश्चय अन्तिम होता है और अध्यक्ष द्वारा एक बार प्रमाणित किए जाने के बाद उस विधेयक के पारित किए जाने की पश्चात्वर्ती प्रक्रिया धन विधेयक संबंधी उपबंधों के अनुसार शासित होगी ।

उपाध्यक्ष ।

जब अध्यक्ष का स्थान रिक्त होता है या अध्यक्ष सदन की किसी बैठक से अनुपस्थित होता है तो उपाध्यक्ष पीठासीन होता है । वह केवल उसी स्थिति में पीठासीन नहीं होगा जब उसको हटाने के लिए संकल्प विचाराधीन है ।

सभापति ।

लोक सभा का अध्यक्ष उसके सदस्यों द्वारा निर्वाचित होता है किंतु राज्य सभा का सभापति (जो सदन में पीठासीन होता है) अपने कृत्य पदेन करता है । भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है और वह सदन में पीठासीन होता है तथा जब तक किसी आकस्मिक रिक्ति के दौरान वह राष्ट्रपति के रूप में कार्य नहीं करता है तब तक वह उस सदन के पीठासीन अधिकारी के रूप में कार्य करता है । जब सभापति भारत के राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है तब राज्य सभा के सभापति का पद रिक्त हो जाता है और सभापति के कर्तव्य उपसभापति द्वारा किए जाते हैं । सभापति को अपने पद से तभी हटाया जा सकता है जब वह उपराष्ट्रपति के पद से हट जाए । इसके लिए जो प्रक्रिया है वह पहले ही बताई जा चुकी है । संसद् अधिकारी वेतन और भत्ता अधिनियम, 1953 के अधीन सभापति का वेतन अध्यक्ष के बराबर है अर्थात् 7,500 रुपए और इसके साथ 1,000 रुपए प्रतिमास का सत्कार भत्ता । किंतु जब उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है तो वह राष्ट्रपति की परिलब्धि और भत्ते पाने का हकदार होता है [अनुच्छेद 65(3)] । उस कालावधि में उसे राज्य सभा के सभापति का वेतन नहीं मिलेगा । राज्य सभा के सभापति के कृत्य लोक सभा के अध्यक्ष के कृत्यों के समान हैं । अंतर इतना ही है कि अध्यक्ष को संविधान के अनुसार कुछ विशेष शक्तियां हैं । उदाहरण के लिए धन विधेयक को

प्रमाणित करना या दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन का पीठासीन अधिकारी होना। इनका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं।

संसद् के दोनों सदनों के सामूहिक रूप से कुछ अधिकार हैं। कुछ ऐसे अधिकार हैं जो व्यक्तिगत रूप से उसके सदस्यों के हैं जिनके बिना सदन को अपने कार्य में स्वतंत्रता बनाए रखना और अपनी स्थिति की प्रतिष्ठा बनाए रखना संभव नहीं होगा। इन्हें विशेषाधिकार कहते हैं।

संसद् के दोनों सदनों के और राज्य के विधान मंडलों के हमारे संविधान के अधीन एक से विशेषाधिकार हैं।

संसद् और उसके सदस्यों की शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां।

संविधान के अनुच्छेद 105 और 194 के खंड (1) और (2) इन विषयों से सम्बद्ध हैं अर्थात् वाक्-स्वातंत्र्य और प्रकाशन का अधिकार।

अन्य विषयों से सम्बद्ध विशेषाधिकार के बारे में 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 के पश्चात् स्थिति इस प्रकार है, — हमारी संसद् के सदस्यों के विशेषाधिकार तब तक वही रहेंगे जो लोक सभा के सदस्यों के हैं (संविधान के प्रारम्भ पर यथाविद्यमान) जब तक कि हमारी संसद् इन सभी विशेषाधिकारों या इनमें से कुछ के बारे में विधान न बना दे। दूसरे शब्दों में यदि संसद् किसी विशेष विशेषाधिकार के संबंध में कोई विधान अधिनियमित करती है तो हमारी संसद् में लागू होने के बारे में उसी विस्तार तक इंग्लैंड के पूर्व दृष्टांतों का अधिक्रमण हो जाएगा। हमारी संसद् ने ऐसा कोई विधान नहीं बनाया था। इसलिए विशेषाधिकार वही थे जो हाउस आफ कामंस के थे। भारत में सांविधानिक ढांचा इंग्लैंड से भिन्न होने के कारण इस नियम के कुछ अपवाद थे। 1978 में हाउस आफ कामंस के प्रति निर्देश निकाल दिया गया।

एक पूर्वतर वाद में[10] उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यदि संसद् के विद्यमान विशेषाधिकारों और नागरिक के मूल अधिकारों के बीच संघर्ष होता है तो विशेषाधिकार को अधिमानता दी जाएगी। संविधान के अनुच्छेद 105(3) और 194(3) हमारे विधान मंडलों को वही विशेषाधिकार प्रदान करते हैं जो हाउस आफ कामंस के हैं। ये स्वतंत्र उपबंध हैं और यह अर्थान्वियन नहीं किया जाना चाहिए कि ये मूल अधिकारों को प्रत्याभूत करने वाले भाग 3 के अधीन है। उदाहरण के लिए यदि विधान मंडल का कोई सदन विवाद के किसी भाग को अपनी कार्यवाही में से निकाल देता है या अन्यथा उसके प्रकाशन का प्रतिषेध कर देता है तो जो कोई ऐसे प्रतिषिद्ध विवाद को प्रकाशित करता है वह संसद् के अवमान का दोषी होगा और सदन द्वारा दंडनीय होगा। वाक्-स्वातंत्र्य का मूल अधिकार [अनुच्छेद 19(1)(क)] इसके लिए प्रतिरक्षा नहीं होगी। किंतु एक पश्चात्वर्ती वाद में[11] उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि विद्यमान विशेषाधिकार अनुच्छेद 19(1)(क) के बंधन से मुक्त है वे अनुच्छेद 20-22 और 32 के अधीन माने जाएंगे।

प्रत्येक सदन के विशेषाधिकारों को दो समूहों में विभाजित किया जाना चाहिए

विशेषाधिकारों का वर्गीकरण।

(क) वे जो सदस्यों द्वारा व्यक्तिशः उपभोग किए जाते हैं और

(ख) वे जो संसद् के प्रत्येक सदन में सामूहिक रूप से हैं —

(क) हर सदस्य द्वारा व्यक्तिशः उपभोग किए जाने वाले विशेषाधिकार हैं (i) गिरफ्तार किए जाने से उन्मुक्ति, (ii) जूरी और साक्षी के रूप में हाजिर होने से छूट, (iii) वाक्-स्वातंत्र्य।

(i) *गिरफ्तारी से उन्मुक्ति* — 1976 के अधिनियम 104 द्वारा यथासंशोधित

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 135क, सदस्य को सदन या उसकी किसी समिति के जिसका वह सदस्य है अधिवेशन के चलते रहने के दौरान या सदनों या समितियों की संयुक्त बैठक के दौरान तथा अधिवेशन या बैठक के पूर्व या पश्चात् 40 दिन की अवधि के दौरान गिरफ्तारी से छूट देती है । यह उन्मुक्ति सिविल मामलों में गिरफ्तारी तक ही सीमित है, आपराधिक मामले में या निवारक निरोध की विधि के अधीन गिरफ्तारी में नहीं है ।

(ii) *साक्षी के रूप में हाजिरी से मुक्ति* — इंग्लैंड के व्यवहार के अनुसार जब संसद् सत्र में हो तब सदन की अनुमति के बिना किसी सदस्य को साक्ष्य देने के लिए समन नहीं किया जा सकता ।

(iii) *वाक्-स्वातंत्र्य* — जैसा इंग्लैंड में है प्रत्येक सदन की चारदीवारी में वाक्-स्वातंत्र्य होगा । इसका यह अर्थ है कि वहां कही गई किसी बात के लिए कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती । सामान्य नागरिक का वाक्-स्वातंत्र्य अनुच्छेद 19(2) में विनिर्दिष्ट निर्बन्धनों के अधीन है । उदाहरण के लिए मानहानि से संबंधित विधि के अधीन । संसद् के सदस्य को संसद् या उसकी समिति में कही गई किसी बात के लिए न्यायालय में दायी नहीं ठहराया जा सकता । इसका यह अर्थ नहीं है कि सदस्य, सदन की प्रतिष्ठा की परवाह किए बिना, इच्छानुसार कुछ भी कह सकने के लिए निर्बाध रूप से स्वतंत्र है । वाक्-स्वातंत्र्य सदन द्वारा अपनी आंतरिक प्रक्रिया विनियमित करने की शक्ति के प्रयोग में बनाए गए नियमों के अधीन है ।

संविधान भी संसद् में वाक्-स्वातंत्र्य पर एक और मर्यादा अधिरोपित करता है । उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के, अपने कर्तव्यों के निर्वहन में किए गए, आचरण के विषय में संसद् में कोई चर्चा, उस न्यायाधीश को हटाने की प्रार्थना करने वाले समावेदन को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करने के प्रस्ताव पर ही होगी, अन्यथा नहीं [अनुच्छेद 121] ।

(ख) सदन के सामूहिक विशेषाधिकार यह हैं — (i) चर्चा और कार्यवाहियां प्रकाशित करने और अन्य व्यक्तियों को प्रकाशित करने से रोकने का अधिकार, (ii) अन्य व्यक्तियों को अपवर्जित करने का अधिकार, (iii) सदन के आंतरिक मामलों को विनियमित करने का और चारदीवारी के भीतर उत्पन्न होने वाले मामलों को निपटाने का अधिकार, (iv) संसदीय कदाचार को प्रकाशित करने का अधिकार, (v) सदस्यों को और बाहरी व्यक्तियों को सदन के विशेषाधिकारों को भंग करने के लिए दंडित करने का अधिकार ।

संसद् के प्रत्येक सदन को ये शक्तियां हैं, —

(i) अन्य व्यक्तियों को किसी भी समय दीर्घा से हटाने की शक्ति । प्रक्रिया के नियमों के अधीन, अध्यक्ष और सभापति को यह आदेश करने का अधिकार है कि अजनबियों को सदन के किसी भाग से बाहर चले जाने का आदेश दे ।

(ii) अपने आंतरिक मामलों का विनियमन करने की शक्ति । संसद् के प्रत्येक सदन को यह शक्ति है कि वह अपनी कार्यवाहियों को नियंत्रित और विनियमित करे और चारदीवारी के भीतर उत्पन्न होने वाले मामलों का न्यायालय के हस्तक्षेप के बिना विनिश्चय करे । संसद् की चारदीवारी के भीतर जो कहा या किया जाता है उसके बारे में कोई न्यायालय कोई जांच नहीं कर सकता ।

(iii) सदस्यों और बाहरी व्यक्तियों को सदन के विशेषाधिकारों को भंग करने के लिए दंडित करने की शक्ति । प्रत्येक सदन विशेषाधिकारों के भंग या अवमान के लिए दंड दे सकता है । यह दंड भर्त्सना, धिग्दंड या कारावास के रूप में हो सकता है ।

ब्लिट्ज के विख्यात मामले में उस समाचार पत्र के सम्पादक को लोक सभा की ड्योढी पर बुलाया गया और संसद् के एक सदस्य की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल लेख प्रकाशित करने के लिए धिग्दंड दिया गया । 1990 में एक पूर्व मंत्री श्री के.के. तिवारी को राज्य सभा ने इसी प्रकार का दंड दिया । विशेषाधिकार का भंग या संसद् का अवमान एक से होते हैं, यह इंग्लैंड में और भारत में बहुत से पूर्व दृष्टांतों के आधार पर सुस्थिर हो चुका है । मोटे तौर से –

"कोई भी कार्य या लोप जिससे संसद् के दोनों सदनों के कार्यकरण या उनके कृत्यों में बाधा पहुंचती है या अड़चन आती है या संसद् के किसी सदन के सदस्य या अधिकारी को अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने में बाधा पहुंचती है या अड़चन आती है अथवा जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है अवमान समझा जा सकता है, चाहे ऐसे अपराध के लिए कोई पूर्व दृष्टांत न हों ।"[12]

संसद् की विधायी प्रक्रिया में धन विधेयक से भिन्न विधेयकों के संबंध में विभिन्न चरण इस प्रकार हैं :

विधायी प्रक्रिया
I. सामान्य विधेयक ।

1. *पुरःस्थापना* – धन या वित्त विधेयक से भिन्न विधेयक संसद् के किसी भी सदन में पुरःस्थापित किया जा सकता है [अनुच्छेद 107(1)] और राष्ट्रपति को अनुमति के लिए प्रस्तुत किए जाने के पहले दोनों सदनों से पारित किया जाना चाहिए । विधेयक या तो मंत्री द्वारा अथवा किसी प्राइवेट सदस्य द्वारा पुरःस्थापित किया जा सकता है । इन दोनों में अन्तर यह है कि मंत्री से भिन्न कोई सदस्य जब कोई विधेयक पुरःस्थापित करना चाहता है तो उसे अपने आशय की सूचना देनी होगी और सदन से पुरःस्थापित करने की इजाजत लेनी होगी । इस इजाजत का सामान्यतः विरोध नहीं किया जाता । यदि पुरःस्थापन के पहले कोई विधेयक राजपत्र में प्रकाशित कर दिया जाता है तो ऐसे विधेयक को पुरःस्थापित करने के लिए इजाजत के लिए प्रस्ताव आवश्यक नहीं होता । यदि विधेयक पहले प्रकाशित नहीं हुआ हो तो उसके पुरःस्थापित किए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र उसे राजपत्र में प्रकाशित किया जाता है ।

2. *पुरःस्थापन के पश्चात् प्रस्ताव* – जब विधेयक पुरःस्थापित कर लिया जाता है तब उसके पश्चात् किसी समय उस विधेयक का प्रभारी सदस्य विधेयक के बारे में निम्नलिखित में से कोई प्रस्ताव कर सकता है, अर्थात् –

(क) कि उस पर विचार किया जाए ।

(ख) कि उसे प्रवर समिति को निर्दिष्ट कर दिया जाए ।

(ग) कि उसे अन्य सदन की सहमति से सदनों की संयुक्त समिति को निर्दिष्ट कर दिया जाए ।

(घ) कि उसे जनता की राय जानने के प्रयोजन के लिए परिचालित कर दिया जाए ।

जिस दिन पूर्वोक्त प्रस्ताव किया जाता है उस दिन या उसकी पश्चात्वर्ती तारीख को जिस दिन विचार होता है उस विधेयक के सिद्धांत और उसके साधारण उपबंधों पर विचार किया जा सकता है । जब विधेयक पर विचार करने का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तब विधेयक में संशोधन और उसके उपबंधों पर खंडवार विचार किया जाता है ।

3. *प्रवर समिति का प्रतिवेदन* – यह पहले ही कहा जा चुका है कि विधेयक के पुरःस्थापन के पश्चात् उसका प्रभारी सदस्य या कोई अन्य सदस्य संशोधन के रूप में यह प्रस्ताव कर सकता है कि विधेयक को प्रवर समिति को निर्दिष्ट किया जाए । जब ऐसा प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तो सदन की प्रवर समिति विधेयक के उपबंधों पर विचार करती है (किंतु विधेयक के सिद्धांतों पर विचार नहीं हो सकता क्योंकि जब विधेयक को

प्रवर समिति को निर्दिष्ट किया गया था तब सदन ने उन्हें स्वीकार कर लिया था) । प्रवर समिति द्वारा विधेयक पर विचार किए जाने के पश्चात् वह सदन को अपना प्रतिवेदन देती है और प्रतिवेदन की प्राप्ति पर यह प्रस्ताव होता है कि प्रवर समिति द्वारा लौटाए गए विधेयक पर विचार किया जाए । जब यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तब विधेयक के खंडों पर विचार किया जा सकता है और अनुज्ञेय संशोधन किए जा सकते हैं ।

4. *जिस सदन में विधेयक पुरःस्थापित किया गया था उसमें विधेयक का पारित किया जाना* — जब यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है कि विधेयक पर विचार किया जाए और कोई संशोधन नहीं किया जाता या जब संशोधन समाप्त हो जाते हैं तब प्रभारी सदस्य यह प्रस्ताव करता है कि विधेयक पारित किया जाए । इस चरण की हाउस आफ कामंस में विधेयक के तृतीय वाचन से तुलना की जा सकती है । विधेयक पारित किया जाए यह प्रस्ताव स्वीकार किए[13] जाने के पश्चात् यह मान लिया जाता है कि उस सदन ने वह विधेयक पारित कर दिया है ।

5. *दूसरे सदन में पारित किया जाना* — जब विधेयक एक सदन से पारित हो जाता है तब उसे दूसरे सदन को पारेषित किया जाता है । जब दूसरे सदन में विधेयक प्राप्त होता है तब वह उन्हीं चरणों में से गुजरता है जिसमें पुरःस्थापन के पश्चात् आरंभिक सदनों में गुजरा था । अतएव वह सदन जिसे अन्य सदन से विधेयक प्राप्त हुआ है निम्नलिखित में से कोई भी मार्ग अपना सकता है :

(i) वह विधेयक को पूर्णतया अस्वीकार कर सकता है । ऐसी दशा में राष्ट्रपति संयुक्त बैठक के बारे में अनुच्छेद 108(1)(क) के उपबंधों को लागू कर सकता है ।

(ii) वह संशोधनों सहित विधेयक को पारित कर सकता है । ऐसी दशा में विधेयक आरम्भ करने वाले सदन को लौटाया जाएगा । यदि आरंभकर्ता सदन दूसरे सदन द्वारा यथासंशोधित विधेयक को स्वीकार कर लेता है तो वह राष्ट्रपति को उसकी अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाएगा [अनुच्छेद 111] । किंतु यदि आरंभकर्ता सदन दूसरे सदन द्वारा किए गए संशोधनों से सहमत नहीं है और दोनों सदनों के बीच अंतिम रूप से असहमति हो जाती है तो राष्ट्रपति गतिरोध तोड़ने के लिए संयुक्त बैठक आहूत कर सकता है [अनुच्छेद 108(1)(ख)] ।

(iii) वह विधेयक पर चाहे तो कोई कार्यवाही न करे अर्थात् उसे अपने पटल पर पड़े रहने दे । ऐसी दशा में यदि विधेयक की प्राप्ति की तारीख से छह मास की अवधि व्यतीत हो जाती है तो राष्ट्रपति संयुक्त बैठक आहूत कर सकता है [अनुच्छेद 108(1)(क)] ।

6. *राष्ट्रपति की अनुमति* — जब कोई विधेयक संसद् के दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग या अनुच्छेद 108 में उपबंधित संयुक्त बैठक में पारित कर दिया जाता है तब वह राष्ट्रपति को उसकी अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है । यदि राष्ट्रपति अपनी अनुमति विधारित करता है तो विधेयक समाप्त हो जाता है । यदि राष्ट्रपति अपनी अनुमति देता है तो विधेयक उसकी अनुमति की तारीख से अधिनियम बन जाता है । राष्ट्रपति अनुमति देने या देने से इंकार करने के स्थान पर विधेयक को सदन के पुनर्विचार के लिए निदेश भेजकर निर्देश करते हुए विधेयक को लौटा सकता है । किंतु यदि दोनों सदन विधेयक को संशोधनों सहित या बिना संशोधन के पुनः पारित कर देते हैं और विधेयक राष्ट्रपति को ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् प्रस्तुत किया जाता है तो राष्ट्रपति को अनुमति विधारित करने की शक्ति नहीं होगी ।

II. *धन विधेयक* ।

कोई विधेयक धन विधेयक समझा जाता है यदि उसमें केवल निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों से संबंधित उपबंध हैं —

(क) किसी कर का अधिरोपण, उत्सादन, परिहार, परिवर्तन या विनियमन, (ख) सरकार द्वारा धन उधार लेने का विनियमन, (ग) भारत की संचित निधि या आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा, ऐसी निधि में धन जमा करना या उसमें से धन निकालना, (घ) भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग, (ङ) किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना या ऐसे किसी व्यय की रकम को बढ़ाना, (च) भारत की संचित निधि या भारत के लोक लेखे मद्दे धन प्राप्त करने अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या उसके निर्गमन अथवा संघ या राज्य के लेखाओं की संपरीक्षा या (छ) उपखंड (क) से (च) में विनिर्दिष्ट किसी विषय का आनुषंगिक कोई विषय [अनुच्छेद 110] ।

कोई विधेयक केवल इसलिए धन विधेयक नहीं समझा जाएगा कि वह जुर्मानों या धन संबंधी शास्तियों के अधिरोपण का अथवा अनुज्ञप्तियों के लिए फीसों की या की गई सेवाओं के लिए फीसों की माँग का या उनके संदाय का उपबंध करता है अथवा इसलिए कि वह किसी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनों के लिए किसी कर के अधिरोपण, उत्सादन, परिहार, परिवर्तन या विनियमन का उपबंध करता है ।

यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस पर लोक सभा के अध्यक्ष का विनिश्चय अंतिम होगा । इसका यह अर्थ हुआ कि अध्यक्ष द्वारा धन विधेयक के रूप में प्रमाणित विधेयक की प्रकृति के प्रश्न पर न्यायालय में या किसी सदन में या राष्ट्रपति द्वारा विचार नहीं किया जाएगा ।[14] जब विधेयक राष्ट्रपति को पारेषित किया जाता है या राष्ट्रपति को अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तब उस पर लोक सभा के अध्यक्ष का यह पृष्ठांकन होगा कि यह धन विधेयक है । जैसा हम पहले बता चुके हैं अध्यक्ष की विशेष शक्तियों में से यह एक है ।

संसद् में धन विधेयक पारित करने की प्रक्रिया निम्नलिखित है —

धन विधेयक राज्य सभा में पुरःस्थापित नहीं किया जाएगा ।

धन विधेयक लोक सभा द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् राज्य सभा को उसकी सिफारिशों के साथ पारेषित किया जाएगा (उसके साथ अध्यक्ष का यह प्रमाणपत्र होगा कि यह धन विधेयक है) । राज्य सभा धन विधेयक को न तो अस्वीकार कर सकती है और न ही उसमें कोई संशोधन कर सकती है । वह विधेयक की प्राप्ति की तारीख से 14 दिन की अवधि के भीतर विधेयक को लोक सभा में लौटा देगी । लोक सभा, राज्य सभा की सिफारिशों को या तो स्वीकार करेगी या उनमें से सभी या किन्हीं को अस्वीकार करेगी ।

यदि लोक सभा, राज्य सभा की किसी सिंफारिश को स्वीकार कर लेती है तो यह समझा जाएगा कि धन विधेयक राज्य सभा द्वारा सिफारिश किए गए और लोक सभा द्वारा स्वीकार किए गए संशोधनों सहित दोनों सदनों द्वारा पारित किया गया है ।

यदि लोक सभा राज्य सभा की किसी सिफारिश को स्वीकार नहीं करती है तो धन विधेयक राज्य सभा द्वारा सिफारिश किए गए किसी संशोधन के बिना दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित किया गया समझा जाएगा जिसमें वह लोक सभा द्वारा पारित किया गया था ।

यदि लोक सभा द्वारा पारित और राज्य सभा को उसकी सिफारिशों के लिए पारेषित धन विधेयक उक्त 14 दिन की अवधि के भीतर लोक सभा को नहीं लौटाया जाता है तो उक्त अवधि की समाप्ति पर वह दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित किया गया समझा जाएगा जिसमें वह लोक सभा द्वारा पारित किया गया था । [अनुच्छेद 109] ।

साधारणतया वित्त विधेयक ऐसे विधेयक को कहते हैं जो राजस्व या व्यय से संबंधित है । किंतु संविधान में इस अभिव्यक्ति का प्रयोग तकनीकी अर्थ में किया गया है ।

धन विधेयक और वित्त विधेयक ।

I. धन विधेयक की परिभाषा अनुच्छेद 110 में दी गई है और कोई भी विधेयक धन विधेयक नहीं होगा जब तक कि वह उस अनुच्छेद की पूर्ति न करे । उसमें यह अधिकथित है कि कोई विधेयक धन विधेयक तभी होगा यदि उसमें उस अनुच्छेद में विनिर्दिष्ट छह विषयों में से सभी या किन्हीं के बारे में या उनके अनुषंगी विषयों के बारे में उपबंध है । इन छह विषयों का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं ।

यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक अनुच्छेद 110 के उपबंधों के अधीन आता है या नहीं तो लोक सभा के अध्यक्ष का विनिश्चय अंतिम होगा और उसका यह प्रमाणित करना कि कोई विधेयक धन विधेयक है न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जाएगा । संक्षेप में वे वित्त विधेयक धन विधेयक हैं जिन्हें अध्यक्ष ने इस रूप में प्रमाणित किया है ।[14]

II. जिन वित्त विधेयकों को अध्यक्ष द्वारा प्रमाणित नहीं किया जाता है वे दो वर्ग के होते हैं । इनके बारे में अनुच्छेद 117 में बताया गया है ।

(i) पहले वर्ग में वे विधेयक हैं जिनमें अनुच्छेद 110 में विनिर्दिष्ट विषयों में से कोई समाविष्ट है । किंतु उसमें केवल मात्र वही विषय नहीं है, उदाहरण के लिए किसी विधेयक में कराधान खंड है किंतु वह केवल कराधान से संबंधित नहीं है [अनुच्छेद 117(1)] ।

(ii) कोई सामान्य विधेयक जिसमें भारत की संचित निधि से व्यय अन्तर्वलित करने वाले उपबंध हैं दूसरे वर्ग का वित्त विधेयक है [अनुच्छेद 117(3)] ।

III. इन विभिन्न वर्गों के विधेयकों के अनुषंग इस प्रकार हैं : —

(i) धन विधेयक राज्य सभा में पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता और उसे राष्ट्रपति की सिफारिश पर ही पुरःस्थापित किया जा सकता है । राज्य सभा को ऐसे विधेयक का संशोधन करने या उसे नामंजूर करने की शक्ति नहीं है । राज्य सभा लोक सभा को संशोधनों की सिफारिश मात्र कर सकती है ।

(ii) प्रथम वर्ग के वित्त विधेयक के, अर्थात् वह विधेयक जिसमें अनुच्छेद 110 में विनिर्दिष्ट कोई विषय है किंतु जो अनन्य रूप से ऐसे विषय से संबद्ध नहीं है, धन विधेयक के साथ दो लक्षण सामान्य हैं अर्थात् वह राज्य सभा में पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता और राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता । किंतु वह धन विधेयक नहीं है इसलिए राज्य सभा को ऐसे वित्त विधेयक का नामंजूर करने या उसमें संशोधन करने की शक्ति है । यह शक्ति उसी प्रकार की है जैसी वित्त विधेयक से भिन्न विधेयकों के संबंध में होती है । इस शक्ति की मर्यादा यह है कि किसी कर को कम करने या उसका उत्सादन करने से भिन्न कोई संशोधन राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना सदन में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता । ऐसा विधेयक राज्य सभा में सामान्य विधेयकों के समान तीन वाचनों के माध्यम से पारित किया जाता है । यदि विधेयक पर दोनों सदनों के बीच अंतिम रूप से असहमति हो जाती है तो अनुच्छेद 108 के संयुक्त बैठकों से संबंधित उपबंध लागू होते हैं । संयुक्त बैठक से संबंधित उपबंधों का अपवाद धन विधेयक है [अनुच्छेद 108(1)] ।

(iii) कोई विधेयक जिसमें केवल व्यय अन्तर्वलित है और अनुच्छेद 110 में विनिर्दिष्ट

कोई विषय उसमें सम्मिलित नहीं है सामान्य विधेयक होता है और वह किसी भी सदन में प्रारम्भ किया जा सकता है तथा राज्य सभा को उसे नामंजूर करने या उसमें संशोधन करने की पूरी शक्ति होती है किंतु वित्तीय उपबंध को देखते हुए उसका इस विशेष अनुषंग होता है अर्थात् उसमें अन्तर्विष्ट व्यय से संबंधित उपबंध । इस उपबंध को दोनों सदनों में तब तक पारित नहीं किया जा सकता जब तक कि राष्ट्रपति ने उस विधेयक पर विचार करने की सिफारिश न की हो । दूसरे शब्दों में धन विधेयक और अन्य प्रथम वर्ग के वित्त विधेयकों की दशा में पुरःस्थापन के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश पुरोभावी शर्त है । किंतु इस मामले में यह पर्याप्त होगा कि राष्ट्रपति की सिफारिश विधेयक पर विचार करने के पहले प्राप्त हो जाए । ऐसी सिफारिश के बिना विधेयक पर विचार नहीं किया जा सकता [अनुच्छेद 117(3)] ।

इस विशेष अनुषंग को छोड़ कर वह विधेयक जिसमें व्यय अन्तर्वलित है उसी प्रक्रिया से शासित होता है जिससे कोई अन्य सामान्य विधेयक । इसमें दोनों सदनों में असहमति होने की दशा में संयुक्त बैठक का उपबंध भी सम्मिलित है ।

दोनों सदनों के बीच गतिरोध समाप्त करने के लिए उपबंध ।

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि धन विधेयक से भिन्न कोई विधेयक तभी विधि बन सकता है जब दोनों सदन संशोधनों सहित या बिना संशोधन के उस पर सहमत हो जाते हैं । यदि दोनों सदन पुरःस्थापित विधेयक के उपबंधों पर या किसी एक सदन द्वारा प्रस्तावित संशोधनों पर सहमत नहीं हो पाते हैं तो दोनों सदनों के बीच गतिरोध को समाप्त करने के लिए कोई तंत्र होना चाहिए ।

(क) धन विधेयकों के संबंध में यह प्रश्न नहीं उठता है क्योंकि लोक सभा को उसे पारित करने की अंतिम शक्ति है । दूसरे सदन को यह शक्ति है कि वह लोक सभा की स्वीकृति के लिए अपनी सिफारिश कर सकती है । धन विधेयक पर असहमति होने पर निचले सदन को उच्चतर सदन की इच्छाओं की अवहेलना करने की पूरी शक्ति है ।

(ख) अन्य विधेयकों के संबंध में (जिसमें वित्त विधेयक सम्मिलित हैं) संविधान ने संसद् के दोनों सदनों के बीच असहमति का हल ढूंढने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का उपबंध किया है [अनुच्छेद 108] ।

राष्ट्रपति दोनों सदनों के बीच असहमति होने पर उनकी संयुक्त बैठक आहूत करने के अपने आशय की अधिसूचना देगा । यह असहमति इस प्रकार हो सकती है :

यदि किसी विधेयक के एक सदन द्वारा पारित किए जाने और दूसरे सदन को पारेषित किए जाने के पश्चात्, —

(क) दूसरे सदन द्वारा विधेयक अस्वीकृत कर दिया गया है, या

(ख) विधेयक में किए जाने वाले संशोधनों के बारे में दोनों सदन अंतिम रूप से असहमत हो गए हैं, या

(ग) दूसरे सदन को विधेयक प्राप्त होने की तारीख से उसके द्वारा विधेयक पारित किए बिना छह मास से अधिक बीत गए हैं ।

यदि विधेयक लोक सभा का विघटन होने के कारण व्यपगत हो गया है तो राष्ट्रपति द्वारा ऐसी अधिसूचना नहीं निकाली जाएगी । किंतु यदि राष्ट्रपति ने संयुक्त बैठक करने के अपने आशय की अधिसूचना निकाल दी है तो लोक सभा के पश्चात्वर्ती विघटन से संयुक्त बैठक में कोई बाधा नहीं आएगी ।

संयुक्त बैठक की प्रक्रिया ।

जैसा हम पहले बता चुके हैं संयुक्त बैठक में अध्यक्ष पीठासीन होगा । अध्यक्ष की अनुपस्थिति में वह व्यक्ति पीठासीन होगा जो राष्ट्रपति

द्वारा बनाई गई प्रक्रिया के नियमों द्वारा अवधारित हो (यह नियम राज्य सभा के सभापति और लोक सभा के अध्यक्ष के परामर्श से बनाए जाएंगे) [अनुच्छेद 118(4)] । इस प्रकार बनाए गए नियमों में यह उपबंध है –

"संयुक्त बैठक से अध्यक्ष की अनुपस्थिति के दौरान सदन का उपाध्यक्ष या यदि वह भी अनुपस्थित है तो राज्य सभा का उपसभापति या यदि, वह भी अनुपस्थित है तो ऐसा अन्य व्यक्ति पीठासीन होगा जो उस बैठक में उपस्थित सदस्यों द्वारा अवधारित किया जाए ।"

विधेयक में किए जाने वाले संशोधनों पर कुछ निर्बंधन हैं :

(क) यदि एक सदन से पारित किए जाने के पश्चात् विधेयक दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत किया जाता है या वापस नहीं लौटाया जाता तो संयुक्त बैठक में केवल ऐसे संशोधन प्रस्तावित किए जाएंगे जो विधेयक के पारित होने में विलंब के कारण आवश्यक हो गए हों ।

(ख) यदि गतिरोध इस कारण हुआ है कि अन्य सदन ने ऐसे संशोधनों का प्रस्ताव किया है जिस पर आरंभकारी सदन सहमत नहीं होता है तो (i) विधेयक के पारित होने में विलंब के कारण आवश्यक संशोधन, और (ii) अन्य ऐसे संशोधन प्रस्तावित किए जा सकेंगे जो उन विषयों से सुसंगत हैं जिनकी बाबत सदनों में असहमति हुई है ।

यदि सदनों की संयुक्त बैठक में विधेयक ऐसे संशोधनों सहित, यदि कोई हो, जिन पर संयुक्त बैठक में सहमति हो जाती है, दोनों सदनों के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत द्वारा पारित हो जाता है तो इस संविधान के प्रयोजनों के लिए वह दोनों सदनों द्वारा पारित किया गया समझा जाएगा ।

संविधान संशोधन विधेयक पारित करने के लिए संयुक्त बैठक नहीं हो सकती ।

यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अनुच्छेद 108 द्वारा विहित संयुक्त बैठक की प्रक्रिया सामान्य विधायन तक ही सीमित है । संविधान संशोधन को यह नहीं लागू होती । वह अनुच्छेद 368(2) द्वारा शासित होता है । उसे प्रत्येक सदन द्वारा अलग-अलग विशेष बहुमत से पारित किया जाना चाहिए । इसी कारण 43वां संशोधन विधेयक जो लोक सभा में अप्रैल, 1977 में पुरःस्थापित किया गया था, राज्य सभा के विरोध का सामना नहीं कर सका । कुछ समाचारपत्रों ने बिना सोचे समझे संयुक्त बैठक का सुझाव दिया था जो हो नहीं सकती थी । इसी कारण 45वें संशोधन विधेयक में भी राज्य सभा में कांट छांट हो गई ।

संसद् में वित्तीय विधायन ।

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ पर राष्ट्रपति वित्तीय वर्ष के संबंध में संसद् के दोनों सदनों के समक्ष भारत सरकार की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों और व्यय का विवरण रखवाता है । इसे "वार्षिक वित्तीय विवरण" (अर्थात् बजट) कहा जाता है [अनुच्छेद 112] । इसमें प्राक्कलित व्यय की पूर्ति के लिए अर्थोपाय भी दिए जाते हैं ।

बजट में नीति का वक्तव्य ।

इंग्लैंड के संसदीय व्यवहार के अनुसार बजट में आगामी वर्ष के लिए प्राक्कलन तो दिए ही जाते हैं उसमें सरकार को यह अवसर भी प्रदान किया जाता है कि वह अपनी वित्तीय और आर्थिक नीति और कार्यक्रम स्पष्ट करे जिससे संसद् उस पर चर्चा कर सके और उसकी आलोचना कर सके । इस प्रकार हमारी संसद् में वार्षिक वित्तीय विवरण में व्यय के प्राक्कलन के साथ-साथ राजस्व प्राप्ति के अर्थोपाय भी अंतर्विष्ट होते हैं । इसके अतिरिक्त, –

(क) समाप्त होने वाले वर्ष के लिए वास्तविक प्राप्ति और राजस्व का विश्लेषण तथा ऐसे वर्ष के लिए अधिशेष या घाटे के कारण होते हैं, और

(ख) आगामी वर्ष के लिए सरकार की आर्थिक नीति और व्यय करने के कार्यक्रम का स्पष्टीकरण तथा राजस्व का प्राक्कलन स्पष्टीकरण होता है ।

व्यय जिस पर मतदान होगा या नहीं होगा ।

वार्षिक वित्तीय विवरण में दिए हुए व्यय के प्राक्कलनों में – (क) इस संविधान में भारत की संचित निधि पर भारित व्यय के रूप में वर्णित व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियां, और (ख) भारत की संचित निधि में से किए जाने के लिए प्रस्थापित अन्य व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियां, पृथक्-पृथक् दिखाई जाएंगी ।

(क) प्राक्कलनों में से जितने प्राक्कलन भारत की संचित निधि पर भारित व्यय से संबंधित हैं वे संसद् में मतदान के लिए नहीं रखे जाएंगे किंतु प्रत्येक सदन इन प्राक्कलनों पर चर्चा करने के लिए सक्षम है ।

(ख) उक्त प्राक्कलनों में से जितने प्राक्कलन अन्य व्यय से संबंधित हैं वे लोक सभा के समक्ष अनुदानों की मांगों के रूप में रखे जाएंगे और लोक सभा को शक्ति होगी कि वह किसी मांग को अनुमति दे या अनुमति देने से इंकार कर दे अथवा किसी मांग को, उसमें विनिर्दिष्ट रकम को कम करके, अनुमति दे । हरेक अनुदान की मांग राष्ट्रपति की सिफारिश पर ही की जाएगी, अन्यथा नहीं [अनुच्छेद 113] ।

व्यवहार में, वार्षिक वित्तीय विवरण के प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् संसद् के दोनों सदनों में साधारण चर्चा होती है । इसके पश्चात् भारित व्यय को छोड़कर व्यय के प्राक्कलन लोक सभा के समक्ष "अनुदान की मांग" के रूप में रखे जाते हैं ।

भारत की संचित निधि में से कोई धन, विनियोग विधेयक के अधीन ही निकाला जा सकता है, अन्यथा नहीं । विनियोग विधेयक इस प्रकार पारित होता है :

लोक सभा द्वारा अनुदान की मांगों पर मतदान किए जाने के पश्चात् भारत की संचित निधि में से –

(क) लोक सभा द्वारा इस प्रकार किए गए अनुदानों की, और (ख) भारत की संचित निधि पर भारित व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित धन के विनियोग का उपबंध करने के लिए विधेयक पुरःस्थापित किया जाएगा ।

यह विधेयक धन विधेयक के रूप में पारित किया जाएगा । वह इस शर्त के अधीन होगा कि इस प्रकार किए किसी अनुदान की रकम में परिवर्तन करने का, अनुदान के लक्ष्य को बदलने अथवा भारत की संचित निधि पर भारित व्यय की रकम में परिवर्तन करने का प्रभाव रखने वाला कोई संशोधन, ऐसे किसी विधेयक में संसद् के किसी सदन में प्रस्थापित नहीं किया जाएगा [अनुच्छेद 114] ।

निम्नलिखित व्यय भारत की संचित निधि पर भारित व्यय होगा [अनुच्छेद 112(3)] :

भारत की संचित निधि पर भारित व्यय ।

(क) राष्ट्रपति की परिलब्धियां और भत्ते तथा उसके पद से संबंधित अन्य व्यय, (ख) राज्य सभा के सभापति, और उपसभापति के तथा लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते, (ग) ऐसे ऋण जिनका दायित्व भारत सरकार पर है, (घ) (i) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके संबंध में संदेय वेतन, भत्ते और पेंशन, (ii) फेडरल न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके संबंध में संदेय पेंशन, (iii) किसी भी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की बाबत संदेय पेंशन, (ङ) भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को, या उसके संबंध में, संदेय वेतन, भत्ते और पेंशन, (च) किसी न्यायालय या माध्यस्थम् अधिकरण के निर्णय, डिक्री या पंचाट की तुष्टि के लिए अपेक्षित राशियां, (छ) कोई अन्य व्यय जो इस संविधान द्वारा या संसद् द्वारा, विधि द्वारा, इस प्रकार भारित घोषित किया गया है ।

जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है संसद् में वित्तीय कार्यों का प्रारंभ वार्षिक वित्तीय विवरण के प्रस्तुत किए जाने से होता है । यह विवरण राष्ट्रपति संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखवाता है [अनुच्छेद 112] । वार्षिक वित्तीय विवरण के प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् दोनों सदनों में विवरण पर साधारण चर्चा होती है । यह चर्चा नीति संबंधी साधारण चर्चा होती है जिसमें प्रशासन का पुनर्विलोकन और आलोचना होती है और जनता की शिकायतों का मूल्यांकन किया जाता है । इस चरण में कोई प्रस्ताव नहीं होता और बजट पर कोई मतदान भी नहीं होता ।

वित्तीय विधायन में दोनों सदनों की तुलनात्मक भूमिका ।

(ख) इस साधारण चर्चा के अतिरिक्त राज्य सभा का वार्षिक वित्तीय विवरण के संबंध में कोई कार्य नहीं होता । अनुदान पर, अर्थात् सरकार द्वारा की गई व्यय की मांग पर मतदान अनन्य रूप से लोक सभा का कार्य है । लोक सभा में, साधारण चर्चा समाप्त हो जाने के पश्चात् विशिष्ट शीर्षों पर अनुदान की मांगों के रूप में प्राक्कलन प्रस्तुत किए जाते हैं और इसके पश्चात् प्रत्येक शीर्ष पर सदन मतदान करता है [अनुच्छेद 113(2)] ।

(ग) इस प्रकार अनुदानों पर लोक सभा द्वारा मतदान किए जाने के पश्चात्, लोक सभा द्वारा अनुदान राशियों और भारत की संचित निधि पर भारित व्यय को विनियोग विधेयक में समाविष्ट कर लिया जाता है । इससे उस राशि को भारत की संचित निधि में से निकालने का प्राधिकार प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार बजट के कराधान संबंधी प्रस्ताव एक अन्य विधेयक में समाविष्ट किए जाते हैं जिसे वार्षिक वित्त विधेयक कहते हैं ।

यह दोनों विधेयक धन विधेयक होते हैं इसलिए धन विधेयकों से संबंधित विशेष प्रक्रिया का अनुसरण किया जाना चाहिए । इसका अर्थ यह हुआ कि वे लोक सभा में ही पुरःस्थापित किए जा सकते हैं और लोक सभा द्वारा पारित होने पर प्रत्येक विधेयक राज्य सभा को पारेषित किया जाता है । राज्य सभा को 14 दिन के भीतर लोक सभा को अपनी सिफारिश भेजने की ही शक्ति है । उसे संशोधन करने या अस्वीकार करने की शक्ति नहीं है । यह लोक सभा पर है कि वह राज्य सभा की सिफारिशों को स्वीकार करे या न करे । दोनों दशाओं में जैसे ही लोक सभा, राज्य सभा की सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार करती है वैसे ही विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति पाने पर विधि बन जाएगा ।

वित्तीय प्रणाली में दो शाखाएं हैं — राजस्व और व्यय ।

(i) राजस्व के विषय में, संविधान में यह अभिव्यक्त रूप से उपबंध है कि कोई कर विधि के प्राधिकार से ही अधिरोपित या संगृहीत किया जाएगा, अन्यथा नहीं [अनुच्छेद 265] । परिणामस्वरूप कार्यपालिका विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर अधिरोपित नहीं कर सकती है । यदि विधिक प्राधिकार के बिना कोई कर अधिरोपित किया जाता है तो व्यथित व्यक्ति न्यायालय में अनुतोष प्राप्त कर सकता है ।

वित्तीय प्रणाली पर संसद् का नियंत्रण ।

(ii) व्यय के विषय में, संसदीय नियंत्रण की धुरी है भारत की संचित निधि । यह एक जलाशय है जिसमें भारत सरकार को प्राप्त सभी राजस्व और उसके द्वारा लिए गए सभी उधार संदत्त किए जाएंगे । भारत की संचित निधि में से धनराशियां विधि के अनुसार ही व्यय की जाएंगी [अनुच्छेद 266(3)] । इस विधि का अर्थ है अनुच्छेद 114 के अनुसार पारित विनियोग अधिनियम । चाहे व्यय भारत की संचित निधि पर भारित हो या नहीं, भारत की संचित निधि में से इस अनुच्छेद के उपबंधों के अनुसार ही कोई

धन निकाला जाएगा, अन्यथा नहीं [अनुच्छेद 114(3)] । इसका यह परिणाम है कि कार्यपालिका संसद् की मंजूरी के बिना लोक राजस्व का व्यय नहीं कर सकती ।

विनियोग अधिनियम से यह सुनिश्चित हो जाता है कि संसद् की मंजूरी के बिना लोक राजस्व से कोई व्यय नहीं हो सकता । किंतु व्यय पर संसद् का पूर्ण नियंत्रण तब तक नहीं हो सकता जब तक वह व्यय की राशि में कमी नहीं ला सके । इस संबंध में दो परस्पर विरोधी सिद्धांतों में समन्वय लाना होगा अर्थात् संसदीय नियंत्रण की आवश्यकता और सत्तारूढ़ सरकार का अपने प्रशासन और नीतियों के लिए उत्तरदायी होना ।

प्राक्कलन समिति ।

सरकार ही अपनी नीति का निर्धारण कर सकती है और नीति को क्रियान्वित करने के लिए अपनी मांगें प्रस्तुत कर सकती है । सत्तारूढ़ सरकार की नीति और उत्तरदायित्व पर प्रभाव डाले बिना इन मांगों को अस्वीकार करना या उनमें भारी कमी करना संभव नहीं है । जब सदन में मतदान के लिए मांगें प्रस्तुत की जाती हैं तब व्यय की भिन्न-भिन्न मदों में कमी करना समीचीन नहीं होता क्योंकि संसद् को समय का अभाव रहता है । इसलिए सदन प्रस्तावित व्यय की संवीक्षा एक समिति के अनौपचारिक वातावरण में करता है । इसे प्राक्कलन समिति कहते हैं । लोक सभा में वार्षिक वित्तीय विवरण प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् यह समिति प्राक्कलनों की परीक्षा करती है । यह समिति प्रतिवर्ष गठित होती है । इस समिति द्वारा परीक्षा का उद्देश्य है —

(क) प्राक्कलन के पीछे जो नीति है उससे सुसंगत कौन सी मितव्ययिता, संगठन में सुधार, दक्षता की वृद्धि या प्रशासन में सुधार किया जा सकता है, इस पर प्रतिवेदन देना,

(ख) प्रशासन में दक्षता और मितव्ययिता लाने के लिए आनुकल्पिक नीतियों का सुझाव,

(ग) प्राक्कलन में विवक्षित नीति की सीमाओं के भीतर धन का वितरण उचित है या नहीं इसकी परीक्षा,

(घ) किस रूप में प्राक्कलन संसद् को प्रस्तुत किए जाएं, यह बताना ।

प्राक्कलन समिति के प्रतिवेदन पर सदन में बहस नहीं होती है किंतु यह समिति अपना कार्य वर्ष भर करती है और अपना दृष्टिकोण सदन के समक्ष रखती है । इससे आगामी वर्ष में सरकार की ओर से बहुत अधिक मांग करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लग जाता है और सदन में संघर्ष उत्पन्न किए बिना नीतियों को नया मोड़ दिया जा सकता है ।

तीसरी बात है संसद् का नियंत्रण जो यह सुनिश्चित करने के लिए होता है कि संसद् की विधि के, अर्थात् विनियोग अधिनियम के, अनुसार ही वास्तव में व्यय किया गया है या नहीं । इस कार्य में संसद् की सहायता नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का कार्यालय करता है । नियंत्रक-महालेखापरीक्षक जनता के धन का संरक्षक है । उसका कार्य है यह देखना कि संसद् के प्राधिकार के बिना एक पाई भी खर्च नहीं की जाती है । नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का यह कार्य है कि वह संघ के लेखाओं की संपरीक्षा करे और अपना यह समाधान करे कि उपगत व्यय की मंजूरी संसद् ने प्रदान की थी और वह संसद् के नियमों के अनुसार किया गया है । नियंत्रक-महालेखापरीक्षक संघ के लेखाओं से संबंधित संपरीक्षा का प्रतिवेदन राष्ट्रपति को देता है और राष्ट्रपति उसे संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखवाता है ।

नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का प्रतिवेदन संसद् के समक्ष रखे जाने के पश्चात् लोक

लेखा समिति उसकी परीक्षा करती है । यह लोक सभा की समिति है (उस सदन के इसमें 15 सदस्य होते हैं) किंतु दोनों सदनों में सहमति के आधार पर, राज्य सभा के सात सदस्य इस समिति से सहयुक्त होते हैं जिससे वह और सुदृढ़ हो जाए ।

लोक लेखा समिति ।

भारत सरकार के विनियोग लेखे और नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के प्रतिवेदन की संवीक्षा करने में लोक लेखा समिति का यह कर्तव्य होगा कि वह अपना यह समाधान कर ले कि –

(क) लेखाओं में जो धन संवितरित हुआ दिखाया गया है वह उस सेवा या प्रयोजन के लिए विधिक रूप से उपलब्ध और लागू था जिसके लिए उसे लागू या प्रभारित किया गया है,

(ख) व्यय उस प्राधिकार के अनुरूप है जिससे वह शासित होता है,

(ग) प्रत्येक पुनर्विनियोजन, सक्षम प्राधिकारी द्वारा विरचित नियमों के अधीन इस निमित्त बनाए गए उपबंधों के अनुसार किया गया है ।

संक्षेप में समिति नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के प्रतिवेदन की संवीक्षा करती है और अपना प्रतिवेदन लोक सभा को देती है जिससे कि जो अनियमितताएं उसके ध्यान में आई हैं उन पर संसद् में बहस हो और उन पर प्रभावी कदम उठाए जा सकें ।

भारत सरकार द्वारा या उसकी ओर से प्राप्त सभी धन दो निधियों में से किसी एक में जमा किए जाएंगे – भारत की संचित निधि या भारत का लोक लेखा । यह इस प्रकार होगा –

(क) कुछ करों के राज्यों को समनुदेशित किए जाने के अधीन रहते हुए, भारत सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, भारत सरकार द्वारा लिए गए सभी उधार, उधारों के प्रतिसंदायों से उस सरकार द्वारा प्राप्त सभी धनराशियों की एक संचित निधि बनेगी जो "भारत की संचित निधि" के नाम से ज्ञात होगी ।

(ख) भारत सरकार द्वारा या उसकी ओर से प्राप्त सभी अन्य लोक धनराशियां भारत के लोक लेखे में जमा की जाएंगी [अनुच्छेद 266] । उदाहरण के लिए, संघ के क्रियाकलाप के संबंध में किसी अधिकारी या न्यायालय द्वारा प्राप्त धन [अनुच्छेद 284] ।

भारत (या किसी राज्य) की संचित निधि से कोई धन विनियोग विधि के अनुसार ही विनियोजित किया जाएगा, अन्यथा नहीं । विनियोग अधिनियम पारित करने की प्रक्रिया पहले ही बताई जा चुकी है ।

(ग) संविधान का अनुच्छेद 267 संसद् और राज्य के विधान मंडल को, यथास्थिति, भारत या राज्य की आकस्मिकता निधि सर्जित करने की शक्ति देता है । यह निधि, भारत की आकस्मिकता निधि अधिनियम, 1950 द्वारा गठित की गई है । यह निधि कार्यपालिका के व्ययनाधीन है । जब तक विधान मंडल अनुपूरक, अतिरिक्त या अधिक अनुदान द्वारा ऐसे व्यय को प्राधिकृत नहीं करता है तब तक समय-समय पर अनवेक्षित व्यय करने के प्रयोजन के लिए कार्यपालिका इस निधि में से अग्रिम धन दे सकती है । इस निधि में कितनी रकम हो यह समुचित विधान मंडल विनियमित करेगा ।

भारत की संचित निधि और भारत की आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा, ऐसी निधियों में धनराशियों के संदाय, उनसे धनराशियों के निकाले जाने, ऐसी निधियों में जमा धनराशियों से भिन्न भारत सरकार द्वारा या उसकी ओर से प्राप्त लोक धनराशियों की अभिरक्षा, भारत के लोक लेखे में उनके संदाय और ऐसे लेखे से धनराशियों के निकाले जाने का तथा पूर्वोक्त विषयों से संबंधित या उनके आनुषंगिक अन्य सभी विषयों का विनियमन संसद् द्वारा बनाई

गई विधि द्वारा किया जाएगा और जब तक इस निमित्त इस प्रकार उपबंध नहीं किया जाता है तब तक राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा किया जाएगा ।

लोक सभा की तुलना में राज्य सभा की सांविधानिक स्थिति ।

हमारी सांविधानिक प्रणाली में राज्य सभा का स्थान उतना महत्व का नहीं है जितना अमेरिका में सीनेट का है । साथ ही उसकी स्थिति उतनी गिरी हुई भी नहीं है जितनी आज हाउस आफ लार्ड्स की है । धन विधेयक के विषय में निम्न सदन के विनिर्दिष्ट कृत्य हैं । उन विनिर्दिष्ट शक्तियों को छोड़कर, संविधान में दोनों सदनों को समान स्तर पर रखा गया है ।

पंडित नेहरू ने स्वयं ही इस समानता की प्रास्थिति को इन शब्दों में स्पष्ट किया था[15] —

"हमारे संविधान में संसद् दो सदनों से मिलकर बनती है । प्रत्येक सदन संविधान में अधिकथित अपने कार्यक्षेत्र में कार्य करता है । हम इसी संविधान से प्राधिकार प्राप्त करते हैं । कभी-कभी हम इंग्लैंड की संसद् की विद्यमान प्रथाओं और अभिसमयों के प्रति निर्देश करते हैं और कभी-कभी भूल से निम्न सदन और उच्च सदन भी कह बैठते हैं । मेरे विचार में यह सही नहीं है । ब्रिटिश पार्लमेंट की प्रक्रिया के प्रति निर्देश भी सदैव सहायक नहीं होता । वह पार्लमेंट सैकड़ों वर्षों के दौरान विकसित हुई है और आरंभ में सम्राट के प्राधिकार और बाद में कामंस और लार्ड्स के बीच में संघर्ष के परिणामस्वरूप यह विकास हुआ है । हमारे पीछे ऐसा कोई इतिहास नहीं है यद्यपि संविधान बनाने में हमने अन्य लोगों के अनुभव का लाभ उठाया है ।

अतएव हमारा मार्गदर्शन तो हमारे ही संविधान से होना चाहिए जिसमें लोक सभा और राज्य सभा के कृत्य स्पष्टतः विनिर्दिष्ट हैं । इनमें से एक सदन को उच्च सदन और दूसरे को निम्न सदन कहना ठीक नहीं है । प्रत्येक सदन को संविधान की परिसीमाओं के भीतर अपनी प्रक्रिया को विनियमित करने का पूरा प्राधिकार है । कोई एक सदन से संसद् गठित नहीं होती । ये दोनों सदन मिलकर भारत की संसद् हैं । ... संविधान दोनों सदनों से समानता का व्यवहार करता है । अपवादस्वरूप कुछ वित्तीय विषयों में लोक सभा को ही एकमात्र प्राधिकार है । इन विषयों के बारे में अध्यक्ष सर्वोपरि प्राधिकारी है ।"

मंत्रियों के चयन के विषय में भी संविधान दोनों सदनों में कोई भेद नहीं करता है । वस्तुतः इतने वर्षों के काल में अनेक मंत्रिमंडल स्तर के मंत्री राज्य सभा से थे । जैसे गृह मंत्री, विधि मंत्री, रेल और यातायात मंत्री, उत्पादन, निर्माण, आवासन और प्रदाय मंत्री । किंतु मंत्री के रूप में ऐसे सदस्य का उत्तरदायित्व लोक सभा के प्रति होता है [अनुच्छेद 75(3)] ।

लोक सभा की तुलना में राज्य सभा की शक्तियों पर मर्यादाएं अधिरोपित करने वाले आपवादिक उपबंध यह हैं :

(1) धन विधेयक राज्य सभा में पुरःस्थापित नहीं किया जाएगा । इसी प्रकार वित्तीय उपबंधों वाला विधेयक भी राज्य सभा में पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता ।

(2) राज्य सभा को यह शक्ति नहीं है कि वह धन विधेयक को अस्वीकृत या संशोधित करे । धन विधेयक के संबंध में उसे केवल सिफारिशें करने की शक्ति है । लोक सभा चाहे तो उन्हें स्वीकार करे या न करे । यदि राज्य सभा 14 दिन के भीतर विधेयक नहीं लौटाती है या उसकी सिफारिशें लोक सभा स्वीकार नहीं करती है तो राज्य सभा की सहमति के बिना ही यह समझ लिया जाएगा कि विधेयक दोनों सदनों ने पारित कर दिया है ।

(3) लोक सभा के अध्यक्ष को ही यह विनिश्चय करने की एकमात्र और निश्चायक शक्ति है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं ।

(4) राज्य सभा को बहस करने की शक्ति है किंतु उसे लोक व्यय के लिए धन

देने के लिए मतदान की शक्ति नहीं है । अनुदान की मांगे राज्य सभा के मत के लिए प्रस्तुत नहीं की जाती हैं ।

(5) मंत्रिपरिषद्, लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है राज्य सभा के प्रति नहीं [अनुच्छेद 75(3)] ।

(6) इसके अतिरिक्त जब राष्ट्रपति दोनों सदनों के बीच गतिरोध दूर करने के लिए संयुक्त अधिवेशन आहूत करते हैं तो संख्या बल में कमी होने के कारण राज्य सभा अपेक्षातर निर्बल हो जाती है [अनुच्छेद 108(4)] ।

दूसरी ओर राज्य सभा की कुछ विशेष शक्तियां हैं जो लोक सभा के पास नहीं हैं और इनसे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है ।

(क) अनुच्छेद 249 यह उपबंध करता है कि यदि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक है तो राज्य सूची के किसी विषय की बाबत संघ अस्थायी विधान बना सकता है । इस विषय में संविधान ने राज्य सभा को विशेष भूमिका प्रदान की है । संसद् राज्य विषय की बाबत विधायी शक्ति तभी ग्रहण कर सकती है जब राज्य सभा उपस्थित और मत देने वाले कम से कम दो-तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा यह घोषित करती है कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक या समीचीन है कि संसद् भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए उस विषय के संबंध में जब तक वह संकल्प प्रवृत्त बना रहे तब तक के लिए विधि बनाए (देखिए आगे, अध्याय 21) ।

(ख) इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 312 में संसद् को यह शक्ति दी गई है कि वह संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित, एक या अधिक, अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन के लिए उपबंध कर सकेगी यदि राज्य सभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम से कम दो-तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा यह घोषित किया है कि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक या समीचीन है ।

इन दोनों विषयों में संविधान ने राज्य सभा को विशेष स्थान दिया है क्योंकि उसकी प्रकृति परिसंघीय है साथ ही यह तथ्य भी है कि दो-तिहाई सदस्यों द्वारा पारित संकल्प से राज्यों की सम्मति प्रकट होगी ।

इन सब विशेष कृत्यों के होते हुए और पंडित नेहरू द्वारा प्रतिपादित समानता के सिद्धांत के होते हुए भी अपने गठन के कारण राज्य सभा लोक सभा के समान प्रास्थिति नहीं पा सकती । यद्यपि संविधान में राज्यों की विधान परिषद् से संबंधित अनुच्छेद 169 का तत्स्थानी कोई उपबंध संसद् में राज्य सभा के उत्सादन के लिए नहीं है किंतु संविधान के प्रारम्भ से ही लोक सभा में यह भावना रही है कि राज्य सभा की कोई उपयोगिता नहीं है और यह जनता की आवाज को अनसुनी करने के लिए एक उपाय मात्र है ।[15] इसी भावना के कारण एक प्राइवेट सदस्य ने राज्य सभा के उत्सदान के लिए संकल्प का प्रस्ताव किया था । प्रधान मंत्री पंडित नेहरू के हस्तक्षेप के कारण तत्समय इसे इस आधार पर रोक दिया गया कि राज्य सभा की उपयोगिता है या नहीं इसका निर्णय करने के लिए उसके कार्यकरण की अवधि अल्प है ।[15]

(ग) अपने कार्यकरण में राज्य सभा ने अपने महत्व का शीर्षस्थ उदाहरण संविधान संशोधन के मामले में हाल ही में दिया है । अनुच्छेद 368(2) के अधीन संविधान के संशोधन के लिए विधेयक संसद् के दोनों सदनों द्वारा विनिर्दिष्ट विशेष बहुमत से पारित किया जाएगा तभी बनेगा । अनुच्छेद 108 के अधीन संयुक्त बैठक का उपाय संविधान संशोधन विधेयक की बाबत राज्य सभा के विरोध को समाप्त करने के लिए उपलब्ध नहीं है । जनता पार्टी का लोक सभा में विपुल बहुमत था किंतु राज्य सभा में कांग्रेस (ओ)

और कांग्रेस (आई) मिलकर बहुमत में थी जिसके कारण अप्रैल, 1977 में विद्यमान राज्य सभा में 43वां संशोधन विधेयक, 1977 दो-तिहाई बहुमत से पारित किए जाने की संभावना नहीं थी । इसलिए 43वें संशोधन विधेयक को लोक सभा में पुरःस्थापित किए जाने के पश्चात् रोक दिया गया क्योंकि कांग्रेस दल ने विधेयक पर विचार किए जाने का विरोध करने के आशय की घोषणा की थी । दोनों कांग्रेस दलों के विरोध के कारण राज्य सभा में 45वें संविधान संशोधन विधेयक में कांट-छांट कर दी गई ।

संविधान (64वां संशोधन) विधेयक, 1989 और संविधान (65वां संशोधन) विधेयक, 1989 लोक सभा ने पारित कर दिए थे किंतु राज्य सभा में अपेक्षित बहुमत के अभाव में पारित नहीं हो सके (13-10-1989) ।

निर्देश

1. संविधान के अधीन पहला साधारण निर्वाचन 1951-52 के शीतकाल में हुआ । पहली लोक सभा की पहली बैठक 13-5-1952 को हुई और राष्ट्रपति द्वारा 4-4-1957 को विघटित कर दी गई ।

   दूसरा साधारण निर्वाचन 1956-57 के शीतकाल में हुआ और दूसरी लोक सभा की पहली बैठक 10-5-1957 को हुई ।

   तीसरा साधारण निर्वाचन फरवरी, 1962 में हुआ और तीसरी लोक सभा की पहली बैठक 16-4-1962 को हुई ।

   चौथा साधारण निर्वाचन फरवरी, 1967 में हुआ और चौथी लोक सभा की पहली बैठक 16-3-1967 को हुई और उसे अवधि के पहले 27-12-1971 को विघटित कर दिया गया ।

   पांचवां साधारण निर्वाचन जो मध्यवर्ती निर्वाचन था मार्च, 1971 में हुआ और पांचवीं लोक सभा की पहली बैठक 19 मार्च, 1971 को हुई ।

   छठा साधारण निर्वाचन 18 जनवरी, 1977 को लोक सभा के विघटन के पश्चात् मार्च, 1977 में हुआ । इसका विघटन उसकी विस्तारित अवधि के दौरान हुआ था । केरल को छोड़कर राज्यों की विधान सभाओं के लिए निर्वाचन इसके साथ नहीं किए गए । छठी लोक सभा की पहली बैठक 25-3-1977 को हुई ।

   सातवां साधारण निर्वाचन जनवरी, 1980 में हुआ । सातवीं लोक सभा की पहली बैठक 21-1-1980 को हुई ।

   आठवां साधारण निर्वाचन दिसम्बर, 1984 में हुआ । आठवीं लोक सभा की पहली बैठक 15-1-1985 को हुई ।

   नवां साधारण निर्वाचन नवंबर, 1989 में हुआ । नवीं लोक सभा की पहली बैठक 18-12-1989 को हुई ।

   दसवां साधारण निर्वाचन मई-जून, 1991 में हुआ । दसवीं लोक सभा की पहली बैठक 20-6-1991 को हुई ।

   राज्य सभा का गठन सर्वप्रथम 3-4-1952 को हुआ और उसकी पहली बैठक 13-5-1952 को हुई । राज्य सभा के सदस्यों के पहले समूह की सेवानिवृत्ति 2-4-1954 को हुई ।
2. लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 27क, 27ज ।
3. दोनों सदनों के सदस्यों की वास्तविक संख्या सारणी 8 में दी गई है ।
4. संविधान (31वां संशोधन) अधिनियम, 1973 और गोवा, दमण और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 द्वारा 30-5-1987 से यथासंशोधित ।
5. संविधान (61वां संशोधन) अधिनियम, 1988 द्वारा यथासंशोधित ।
6. संघ राज्यक्षेत्र (लोक सभा के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन) अधिनियम, 1965 ।
7. VII सी.ए.डी. 1262 ।
8. 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा इंदिरा सरकार ने इस अवधि को बढ़ाकर छह वर्ष कर दिया था । किंतु 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा इसे फिर से पांच वर्ष कर दिया गया ।
9. आपात में इस शक्ति का प्रयोग आभ्यंतरिक अंशाति के आधार पर किया गया था (1975-77) ।

10. *शर्मा* बनाम *श्रीकृष्ण*, ए.आई.आर. 1959 एस.सी. 395 ।
11. अनुच्छेद 143 के अधीन निर्देश, ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 745 (*746*) ।
12. मे, *पार्लियामेंट्री प्रैक्टिस*, 15वां संशोधन, पृष्ठ 109 ।
13. प्रत्येक सदन के समक्ष, संविधान के संशोधनों के लिए विधेयकों को छोड़कर [अनुच्छेद 368] सभी विधेयक और अन्य प्रश्न सादे बहुमत से पारित होते हैं या स्वीकार किए जाते हैं [अनुच्छेद 100(1)] ।
14. 1985 में राष्ट्रपति ने 92 विधेयकों को अनुमति दी । 1986 में 72 को, 1987 में 61 को, 1988 में 71 को । 8वीं लोक सभा ने कुल 333 विधेयक पारित किए । इनमें से 92 वित्त विधेयक थे ।
15. राज्य सभा में 6-5-1953 को किया गया कथन । इसी प्रकार के विचार अन्य सदन में भी अभिव्यक्त किए गए थे (लोक सभा डिबेट, 12-5-1953) ।

भाग 3

राज्यों का शासन

13

राज्य की कार्यपालिका

1. साधारण संरचना

जैसा हम पहले कह चुके हैं हमारे संविधान में परिसंघीय शासन की व्यवस्था है जिसमें संघ और उसकी इकाइयों के अतिरिक्त राज्यों के प्रशासन के लिए पृथक् प्रणालियां हैं । संविधान में दोनों के शासन के लिए उपबंध है । संविधान के भाग 6 में राज्य शासन के लिए एक सी संरचना अधिकथित की गई है । यह ज़म्मू-कश्मीर को छोड़कर सभी राज्यों को लागू होती है । जम्मू-कश्मीर के शासन के लिए एक पृथक् संविधान है जिसके कारण आगे अध्याय 15 में स्पष्ट किए जाएंगे ।

मोटे तौर से राज्यों में शासन की पद्धति संघ के समान है अर्थात् संसदीय प्रणाली । कार्यपालिका का प्रधान सांविधानिक शासक है जो राज्य के विधान मंडल को उत्तरदायी मंत्रियों का सलाह के अनुसार कार्य करेगा (जहां दो सदन हैं वहां मंत्रिपरिषद् विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होगी) । जिन विषयों की बाबत राज्य के राज्यपाल को संविधान द्वारा अपने विवेकानुसार कार्य करने की शक्ति दी गई है वहां उसे सलाह के अनुसार कार्य करना आवश्यक नहीं है [अनुच्छेद 163(1)] ।

2. राज्यपाल

राज्यपाल ।

राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रधान राज्यपाल है । उसी प्रकार जैसे संघ की कार्यपालिका शक्ति का प्रधान राष्ट्रपति है । राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होती है और राज्य की सभी कार्यवाही राज्यपाल के नाम से की जाती है । सामान्यतया प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा किंतु 1956 में किए गए संशोधन के अनुसार एक ही व्यक्ति को दो या अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है [अनुच्छेद 153] । इस उपबंध के अनुसार असम के राज्यपाल को मेघालय का राज्यपाल भी नियुक्त किया गया है । मणिपुर, नागालैंड और त्रिपुरा को एक दूसरे राज्यपाल के अधीन रखा गया है ।

राज्यपाल की नियुक्ति और उसकी पदावधि ।

राज्य का राज्यपाल निर्वाचित नहीं होता है । वह राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है । कोई भी भारत का नागरिक जो 35 वर्ष से अधिक आयु का है इस पद के लिए पात्र है किंतु उसे कोई लाभ का पद नहीं धारण करना चाहिए और न ही संघ या किसी राज्य के विधान मंडल का सदस्य होना चाहिए [अनुच्छेद 158] । विधान मंडल के सदस्यों में से किसी को राज्यपाल नियुक्त करने में कोई बाधा नहीं है किंतु यदि विधान मंडल का कोई सदस्य राज्यपाल नियुक्त किया जाता है तो ऐसी नियुक्ति पर तुरंत ही उसकी सदस्यता समाप्त हो जाएगी ।

सामान्यतया राज्यपाल की पदावधि पांच वर्ष है किंतु उसे –

(i) राष्ट्रपति द्वारा पहले ही पदच्युत किया जा सकता है क्योंकि वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपना पद धारण करता है [अनुच्छेद 156(1)] या वह पदत्याग कर सकता है [अनुच्छेद 156(2)] ।

राज्यपाल को किस आधार पर राष्ट्रपति हटा सकते हैं यह संविधान में अधिकथित नहीं है किंतु यह स्पष्ट है कि इस शक्ति का प्रयोग बहुत कम किया जाएगा और गंभीर अपराध के मामलों में ही किया जाएगा जैसे घूसखोरी, भ्रष्टाचार, राजद्रोह या संविधान का उल्लंघन ।[1]

कोई भी व्यक्ति एक से अधिक बार भी राज्यपाल हो सकता है ।[2]

प्रारूप संविधान में योजना थी कि राज्यपाल निर्वाचित हो । किंतु संविधान सभा में इसके स्थान पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था की गई जिसके लिए यह तर्क दिए गए :[3]

नियुक्त राज्यपाल क्यों ।

(क) इससे देश को ऐसे निर्वाचन के दुष्परिणामों से बचाया जा सकेगा जो व्यक्तिगत मुद्दों के आधार पर हों । करोड़ों मतदाताओं वाले प्रांतों को व्यक्तिगत आधार पर लड़े जाने वाले निर्वाचनों में ढकेलने से देश की प्रगति पर बुरा असर पड़ेगा ।

(ख) यदि राज्यपाल प्रत्यक्ष मत द्वारा निर्वाचित होगा तो वह अपने आपको मुख्यमंत्री से वरिष्ठ समझेगा क्योंकि मुख्यमंत्री तो एक ही निर्वाचन क्षेत्र से चुना जाता है । इसके कारण राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच अनेकों बार संघर्ष होगा ।

संविधान द्वारा विहित संसदीय शासन प्रणाली के अधीन राज्यपाल सांविधानिक प्रधान होगा । वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रिमंडल में निहित होगी जो विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होगा ।

"जब संपूर्ण कार्यपालिका शक्ति मंत्रिपरिषद् में निहित है तब यदि एक और व्यक्ति है जो यह समझता है कि उसके पीछे पूरा प्रांत है और इसलिए वह अपने विवेकानुसार आगे बढ़कर प्रांत के शासन में हस्तक्षेप कर सकता है तो इससे लोकतंत्र विनष्ट हो जाएगा ।"[3]

(ग) निर्वाचन में जो धन व्यय होगा और जो तंत्र लगेगा उसका राज्यपाल में निहित शक्तियों के साथ कोई अनुपात नहीं होगा । राज्यपाल तो केवल सांविधानिक प्रधान है ।

(घ) वयस्क मत के आधार पर राज्य के राजनीतिक जीवन में सर्वोच्च पद पर निर्वाचित राज्यपाल चाहेगा कि वह वास्तविक शक्ति धारण करने वाला मुख्यमंत्री या मंत्री बन जाए । सत्तारूढ़ दल स्वभावतः राज्यपाल के पद के लिए ऐसे व्यक्ति को खड़ा करेगा जो भावी मुख्यमंत्री की तुलना में श्रेष्ठतर नहीं है । इसके फलस्वरूप राज्य को दल का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति नहीं मिल पाएगा । निर्वाचन की पूरी प्रक्रिया केवल इसलिए होगी कि दल में एक दूसरे दर्जे के व्यक्ति को राज्यपाल निर्वाचित किया जाए । मुख्यमंत्री से गौड़ होने के कारण वह राज्य के मुख्य मंत्री का नामनिर्देशिती होगा जो वांछनीय नहीं होगा ।

(ङ) राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति के माध्यम से संघ सरकार, राज्यों पर अपना नियंत्रण बनाए रख सकेगी ।

(च) निर्वाचन की पद्धति से पृथक्‌तावाद को बढ़ावा मिलेगा । राज्यपाल तब उस राज्य की सरकार का नामनिर्देशिती होगा । देश के शासन तंत्र की स्थिरता और एकता तभी रखी जा सकेगी जब हम नामनिर्देशन की प्रणाली स्वीकार करें ।

"उसे एक तटस्थ व्यक्ति होना चाहिए जो प्रांत को स्वीकार हो । यदि ऐसा नहीं होगा तो वह कार्य नहीं कर सकेगा । किंतु उसे प्रांत के दल के तंत्र का भाग नहीं होना चाहिए । सब बातों को देखते हुए यह वांछनीय होगा कि वह बाहरी व्यक्ति हो जो शिक्षा या किसी अन्य क्षेत्र में विशेष योग्यता रखता

हो जो सरकार की नीतियों को क्रियान्वित करने में सरकार के साथ पूरा सहयोग करे और इस पर भी जनता के समक्ष ऐसा हो कि राजनीति से ऊपर दिखाई पड़े ।"[3]

संविधान सभा में नामनिर्देशन के विरुद्ध जो तर्क प्रस्तुत किए गए थे वे भी ध्यान देने योग्य हैं :

(i) नामनिर्दिष्ट राज्यपाल राज्य के कल्याण के लिए कार्य नहीं कर सकेगा क्योंकि वह राज्य के लिए परव्यक्ति होगा और उसकी विशेष आवश्यकताओं को समझ नहीं सकेगा ।

(ii) यदि राज्य का मुख्यमंत्री और नामनिर्दिष्ट राज्यपाल दोनों एक ही दल के न हुए तो नामनिर्देशन की पद्धति में भी राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच संघर्ष होने की संभावना होगी ।[4]

(iii) यह तर्क कि निर्वाचन की प्रणाली संसदीय या मंत्रिमंडलीय प्रणाली का तालमेल नहीं बैठाती है बहुत बल नहीं रखता क्योंकि केन्द्र में भी एक निर्वाचित राष्ट्रपति है जिसे मंत्रिपरिषद् सलाह देती है । यह ठीक है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से न होकर अप्रत्यक्ष रूप से होता है ।

(iv) यदि राज्यपाल नियुक्त किया जाता है तो हो सकता है कि वह केंद्र के अनुदेशों के अधीन, प्रशासन को मंत्रिमंडल की इच्छाओं के प्रतिकूल चलाना चाहे, इस खींचतान में मंत्रिमंडल अभिभावी होगा और राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्यपाल को वापस बुलाना पड़ेगा । इसलिए निर्वाचन की पद्धति अच्छे और दक्ष प्रशासन के लिए तथा स्वशासन के अधिकार से अधिक संगत जान पड़ती है ।

(v) राज्य की कार्यपालिका के प्रधान की परिसंघीय कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति अमेरिका और आस्ट्रेलिया की परिसंघीय प्रणाली के अनुकूल नहीं है ।

नियुक्त राज्यपाल की अब तक की प्रास्थिति ।

वास्तविक कार्यकरण में यह कहा जा सकता है कि उन राज्यों में जहां किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत है राज्यपाल की भूमिका सांविधानिक और निष्पक्ष प्रधान की है किंतु उन राज्यों में जहां बहुत से दल हैं और विधान मंडल में बहुमत अस्पष्ट है वहां राज्यपाल ने अनेक मामलों में केंद्र के अभिकर्ता के रूप में कार्य किया है । उदाहरण के लिए ऐसे व्यक्ति को मंत्रिमंडल बनाने का निमंत्रण देना जो केंद्र में सत्तारूढ़ दल का सदस्य है चाहे उसके पीछे स्पष्ट बहुमत न हो । (1952 में साधारण निर्वाचन के पश्चात् मद्रास में श्री राजगोपालाचारी का मामला) या विधान मंडल का विश्वास जिस मंत्रिमंडल को है उसे अनुच्छेद 356 के अधीन प्रतिवेदन के माध्यम से हटाना (1959 में केरल में नम्बूदिरिपाद के साम्यवादी मंत्रिमंडल के साथ यह हुआ) । किंतु एक पहलू है जिसमें केंद्र द्वारा बाहरी व्यक्ति को नियुक्त करने की पद्धति लाभप्रद हुई है और वह है राष्ट्रीय एकता और शक्ति को कम करने वाली विध्वंसकारी और पृथक्तावादी शक्तियों का निवारण । यदि ऐसा न होता तो यह संभव था कि केन्द्र की जानकारी के बिना स्थानीय रूप से निर्वाचित राज्यपाल ऐसी शक्तियों का साथ देता ।

केवल इसी दृष्टिकोण से भारतीय सिविल सेवा या भारतीय प्रशासनिक सेवा या सशस्त्र बलों के किसी सेवानिवृत्त होने वाले या सेवानिवृत्त सदस्य को नियुक्त करने के स्पष्ट रूप से अलोकतांत्रिक उदाहरण को सहन किया जा सकता है (ये सभी दीर्घकाल से नौकरशाही में रहे होते हैं) ।

राज्यपाल के पद की शर्तें ।

राज्यपाल को 11,000 रुपए मासिक परिलब्धि मिलती है और इसके साथ उसे बिना किराया दिए शासकीय निवास का उपयोग करने का और ऐसे

अन्य भत्ते पाने का तथा ऐसे विशेषाधिकार का उपभोग करने का अधिकार है जो राज्यपाल (परिलब्धियां, भत्ते और विशेषाधिकार) अधिनियम, 1982 में विनिर्दिष्ट हैं (1987 के अधिनियम 17 द्वारा यथासंशोधित राज्यपाल की परिलब्धियां और भत्ते उसकी पदावधि के दौरान कम नहीं किए जाएंगे) [अनुच्छेद 158(3)-(4)] ।

राज्यपाल की शक्तियां ।

राज्यपाल की कोई राजनयिक या सैन्य शक्तियां नहीं हैं जैसी कि राष्ट्रपति को हैं किंतु उसे राष्ट्रपति के समान ही कार्यपालिक, विधायी और न्यायिक शक्तियां हैं ।

I. *कार्यपालिक* — राज्यपाल अपनी मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति करता है और उसे महाधिवक्ता और राज्य लोक सेवा के सदस्यों को नियुक्त करने की शक्ति है । मंत्री और महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं किंतु वह राज्य लोक सेवा के सदस्यों को नहीं हटा सकता । आयोग के सदस्य उच्चतम न्यायालय के प्रतिवेदन पर और कुछ निरर्हताओं के होने पर ही राष्ट्रपति द्वारा हटाए जा सकते हैं [अनुच्छेद 317] ।

राज्यपाल को राज्य के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को नियुक्त करने की शक्ति नहीं है किंतु इस विषय में राष्ट्रपति उससे परामर्श करता है [अनुच्छेद 217(1)] ।

राष्ट्रपति के समान ही राज्यपाल अपने राज्य की विधान सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय के सदस्यों को नामनिर्दिष्ट करता है यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि उनका सभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है । राष्ट्रपति लोक सभा में इस शक्ति के प्रयोग में अधिक से अधिक दो सदस्य नियुक्त कर सकता है किंतु राज्यपाल की दशा में संविधान (23वें संशोधन) अधिनियम, 1969 के पश्चात् एक से अधिक सदस्य नियुक्त नहीं किए जा सकते [अनुच्छेद 333] ।

जिन राज्यों में विधान मंडल द्विसदनीय है वहां राज्य विधान मंडल के उच्च सदन के बारे में अर्थात् विधान परिषद् के बारे में राज्यपाल को सदस्यों को नामनिर्दिष्ट करने की शक्ति उसी प्रकार है जिस प्रकार राज्य सभा की दशा में राष्ट्रपति को है । इस शक्ति का प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के संबंध में किया जाएगा जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आंदोलन और सामाजिक सेवा के संबंध में विशेष ज्ञान या व्यवहारिक अनुभव है । [अनुच्छेद 171(5)] । यह ध्यान देने योग्य है कि राज्य सभा से संबंधित तत्समान सूची में "सहकारी आंदोलन" सम्मिलित नहीं है ।

II. *विधायी* — विधायी शक्ति के संबंध में राज्यपाल राज्य विधान मंडल का अंग होता है [अनुच्छेद 164] । उसी प्रकार जैसे राष्ट्रपति संसद् का अंग है । उसे राज्य विधान मंडल के संबंध में संबोधन करने का और संदेश भेजने का अधिकार है तथा आहूत करने, सत्रावसान करने और विघटन करने का अधिकार है । इसी प्रकार के अधिकार राष्ट्रपति को संसद् के संबंध में हैं ।[5] उसे राष्ट्रपति के समान ही राज्य विधान मंडल के समक्ष वार्षिक वित्तीय विवरण रखवाने की शक्ति है [अनुच्छेद 202] तथा "धन विधेयक" और अनुदान की मांगों की सिफारिश करने की शक्ति है [अनुच्छेद 207] ।

राज्यपाल की राज्य विधान का वीटो करने और अध्यादेश बनाने की शक्तियों पर हम पृथक् रूप से विचार करेंगे ।

III. *न्यायिक* — राज्यपाल किसी दंड को क्षमा, उसका प्रविलंबन, विराम या परिहार कर सकेगा या किसी दंडादेश का निलंबन, परिहार या लघूकरण कर सकेगा । यह ऐसे व्यक्ति के संबंध में होगा जिसे ऐसी विधि के अधीन अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया गया है जिसके संबंध में राज्य को कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है [अनुच्छेद 161] ।

IV. *आपात शक्ति* — राज्यपाल को बाह्य या आंतरिक आक्रमण से उत्पन्न होने वाली परिस्थिति का सामना करने वाली ऐसी कोई आपात शक्तियां नहीं हैं जैसी राष्ट्रपति को हैं किंतु जब भी उसका यह समाधान हो जाता है कि ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो गई हैं जिनमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो वह राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजकर [अनुच्छेद 356] यह कह सकता है कि राष्ट्रपति राज्य के शासन के सभी या कोई कृत्य स्वयं ग्रहण कर ले (इसे सामान्यतया "राष्ट्रपति शासन" कहा जाता है) ।

3. मंत्रिपरिषद्

जैसा ऊपर कहा गया है राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का सांविधानिक प्रधान है और उसे "नीचे दिए गए विवेकाधीन कृत्यों को छोड़कर" मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करना होता है [अनुच्छेद 163] । मंत्रिपरिषद् से संबंधित उपबंध उन अपवादों के अधीन हैं जिनका हम आगे वर्णन करेंगे । यह अपवाद इस प्रकार के हैं जिस प्रकार के राज्यपाल की मंत्रिपरिषद् के संबंध में हैं ।

मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति ।

राज्य की मंत्रिपरिषद् का प्रधान मुख्यमंत्री होता है (संघ में इसके तत्समान प्रधान मंत्री होता है) । मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है[6] और अन्य मंत्री मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा नियुक्त किए जाते हैं । मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति और व्यक्तिगत रूप से राज्यपाल के प्रति उत्तरदायी होती है । कोई भी व्यक्ति[7] मंत्री नियुक्त किया जा सकता है (परंतु उसे विधान सभा का विश्वास प्राप्त होना चाहिए) किंतु यदि वह लगातार छह मास की अवधि तक राज्य विधान मंडल का सदस्य नहीं रहता तो वह मंत्री नहीं रहेगा । मंत्री के वेतन और भत्ते विधान मंडल द्वारा बनाई गई विधि द्वारा शासित होते हैं [अनुच्छेद 164] ।

राज्यपाल और उसके मंत्रियों के बीच संबंध ।

यह कहा जा सकता है कि साधारणतया राज्यपाल और उसके मंत्रियों के बीच संबंध उसी प्रकार के हैं जैसे राष्ट्रपति और उसके मंत्रियों के हैं । इसमें यह महत्वपूर्ण अंतर है कि संविधान राष्ट्रपति को कोई कार्य अपने विवेकानुसार करने की शक्ति नहीं देता है किंतु राज्यपाल को कुछ कृत्य अपने विवेकानुसार करने का प्राधिकार है । इस संबंध में राज्य में मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व का सिद्धांत संघ से भिन्न है ।

अनुच्छेद 163(1) इस प्रकार है —

> "जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने कृत्यों या उनमें से किसी को अपने विवेकानुसार करे उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी . . . ।"

राज्यपाल की इस विवेकाधीन अधिकारिता के कारण 42वां संशोधन अधिनियम ने अनुच्छेद 163(1) में उस प्रकार का कोई संशोधन नहीं किया जैसा अनुच्छेद 74(1) में किया गया है । यह हम अध्याय 11 में दिखा चुके हैं ।

जो कृत्य अपने विवेकानुसार करने के लिए राज्यपाल को सशक्त किया गया है उनमें उससे यह अपेक्षा नहीं होगी कि वह मंत्रियों की सलाह के अनुसार के अनुसार काम करेगा या उनसे सलाह मांगेगा । यदि यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कोई विषय ऐसा विषय है या नहीं जिसमें संविधान के अनुसार राज्यपाल को अपने विवेकानुसार कार्य करना है वहां राज्यपाल का विनिश्चय अंतिम होगा और राज्यपाल द्वारा की गई किसी विधिमान्यता

को इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि उसे अपने विवेकानुसार कार्य करना चाहिए था या नहीं ।

क. संविधान में राज्यपाल द्वारा ऐसे विवेकानुसार निम्नलिखित कृत्य करने की विशेष रूप से अपेक्षा है, –

(क) *राज्यपाल के विवेकाधीन कृत्य* – छठी अनुसूची का पैरा 9(2) जिसमें यह उपबंध है कि असम का राज्यपाल अपने विवेक के अनुसार वह रकम अवधारित करेगा जो असम राज्य, खनिजों की अनुज्ञप्तियों से उद्भूत होने वाले स्वामिस्व के रूप में जिला परिषद् को देगा ।[8]

(ख) *अनुच्छेद 239(2) जो संविधान (7वें संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा जोड़ा गया है* – राष्ट्रपति को यह प्राधिकार देता है कि वह किसी राज्य के राज्यपाल को किसी निकटवर्ती संघ राज्यक्षेत्र के प्रशासक के रूप में नियुक्त कर सकेगा और यह उपबंध करता है कि जहां कोई राज्यपाल इस प्रकार नियुक्त किया जाता है वहां ऐसे प्रशासक के रूप में अपने कृत्यों का प्रयोग अपनी मंत्रिपरिषद् से स्वतंत्र रूप में करेगा ।

विशेष उत्तरदायित्व ।

ख. राज्यपाल द्वारा अपने विवेक के अनुसार प्रयोग किए जाने वाले उपर्युक्त कृत्यों के अतिरिक्त संशोधित संविधान के अधीन कुछ ऐसे कृत्य हैं जिनका प्रयोग राज्यपाल अपने विशेष उत्तरदायित्व पर करेगा । व्यवहार में इसका वही अर्थ है जो "विवेकानुसार" का है । यद्यपि विशेष उत्तरदायित्व के मामलों में उसे मंत्रिपरिषद् से परामर्श करना होता है किंतु अंतिम विनिश्चय उसका व्यक्तिगत निर्णय होता है । इसे किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता । ये कृत्य हैं –

(i) यथासंशोधित अनुच्छेद 371(2) के अधीन[9] राष्ट्रपति यह निदेश दे सकता है कि महाराष्ट्र या गुजरात के राज्यपाल का राज्य में कुछ क्षेत्रों में विकास के लिए विशेष कदम उठाने का विशेष उत्तरदायित्व होगा, जैसे विदर्भ या सौराष्ट्र ।

(ii) नागालैंड के राज्यपाल का (1962 में अन्तःस्थापित) अनुच्छेद 371क(1)(ख) के अधीन उस राज्य में विधि या व्यवस्था की बाबत इसी प्रकार का उत्तरदायित्व तब तक है जब तक कि उस राज्य में विद्रोही नागाओं के कारण आंतरिक अशांति बनी रहती है ।

(iii) इसी प्रकार 1971 में अंतःस्थापित अनुच्छेद 371ग(1) द्वारा राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि वह यह निदेश दे कि मणिपुर के राज्यपाल का उस राज्य के पहाड़ी क्षेत्रों से निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बनने वाली राज्य की विधान सभा की समिति का उचित कार्यकरण सुनिश्चित करना उसका विशेष उत्तरदायित्व होगा ।

(iv) संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा अंतःस्थापित अनुच्छेद 371च(छ) में इसी प्रकार सिक्किम के राज्यपाल का यह विशेष उत्तरदायित्व है कि वह "शांति के लिए और सिक्किम की जनता के विभिन्न विभागों की सामाजिक और आर्थिक उन्नति सुनिश्चित करने के लिए" कार्य करे ।

ऐसे विशेष उत्तरदायित्व के निर्वहन में राज्यपाल को समय-समय पर राष्ट्रपति द्वारा दिए गए निदेशों के अनुसार काम करना होगा और उसके अधीन रहते हुए वह "स्वविवेकानुसार" कार्य करेगा ।

कुछ विषयों में व्यवहार में स्वविवेक ।

ग. राज्यपाल के राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए और यह तथ्य दृष्टि में रखते हुए कि राज्यपाल को किसी विषय में अपने विवेकानुसार कार्य करना है या नहीं इस प्रश्न पर राज्यपाल का विनिश्चय अंतिम होगा [अनुच्छेद 163(2)] कुछ विषयों

में राज्यपाल के लिए मंत्रियों की सलाह के बिना, परिस्थितियों के अनुसार कार्य करना संभव है, यद्यपि संविधान में उनका विवेकाधीन कृत्य के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है ।[10]

(i) इस बात के उदाहरण के रूप में राष्ट्रपति को अनुच्छेद 356 के अधीन प्रतिवेदन भेजना है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता । यह संभव है कि यह प्रतिवेदन सत्तारूढ़ मंत्रिमंडल के विरुद्ध हो । उदाहरण के लिए यदि कोई मंत्रिमंडल संविधान का विध्वंस करने के लिए अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने का प्रयत्न करता है । यह संभव है कि ऐसी दशा में मंत्रिमंडल की सलाह के अनुसार प्रतिवेदन नहीं किया जा सकता । जब किसी मंत्रिमंडल ने पद त्याग कर दिया है और दूसरा आनुकल्पिक मंत्रिमंडल नहीं बनाया जा सकता तब भी ऐसी सलाह उपलब्ध नहीं होगी । अनुच्छेद 356 के अधीन ऐसा प्रतिवेदन देना ऐसा कृत्य है जो राज्यपाल अपने विवेक के अनुसार करेगा ।

यह भी स्पष्ट है कि राज्यपाल ऐसे माध्यम के रूप में कार्य करता है जिससे संघ को यह जानकारी मिलती है कि वह राज्य समय-समय पर संघ द्वारा दिए गए निदेशों का पालन कर रहा है या नहीं ।

(ii) जब राष्ट्रपति द्वारा राज्य में सांविधानिक तंत्र की असफलता के बारे में उद्घोषणा कर दी जाती है तब राज्यपाल राज्य सरकार के उन कृत्यों के बारे में जो उद्घोषणा के अधीन राष्ट्रपति द्वारा ग्रहण कर ली गई हैं, राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है [अनुच्छेद 356(1)(क)] ।

(iii) कुछ अन्य विषयों में, जैसे राष्ट्रपति के विचार के लिए विधेयक का आरक्षित किया जाना [अनुच्छेद 200], यह आवश्यक नहीं है कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद् से सदैव सहमत हो । विशेष रूप से जबकि राज्यपाल ऐसे दल का है जिसका मंत्रिमंडल नहीं है । ऐसी दशा में विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल के लिए यह उचित होगा कि वह मंत्रिमंडल की सलाह के बिना कार्य करे यदि वह समझता है कि प्रश्नगत विधेयक संघ की शक्तियों पर प्रभाव डालेगा या संविधान के उपबंधों का उल्लंघन करेगा, फिर चाहे मंत्रिमंडल की राय भिन्न ही क्यों न हो ।[11-12]

राज्यपाल पर राष्ट्रपति का नियंत्रण ।

यह स्पष्ट है कि जिन विषयों के बारे में राज्यपाल को अपने विवेकानुसार कार्य करना है या अपने विशेष उत्तरदायित्व पर काम करना है वहां राज्यपाल पूर्णतः राष्ट्रपति के नियंत्रण के अधीन होगा ।

अन्य विषयों के बारे में स्थिति यह है कि यद्यपि राष्ट्रपति का अपनी नियुक्ति करने और हटाने की शक्ति के माध्यम से राज्यपाल पर व्यक्तिगत नियंत्रण होगा[13] किंतु राष्ट्रपति राज्य विधान मंडल के विश्वास-भाजन मुख्यमंत्री की इच्छा के विरुद्ध राज्य सरकार पर प्रभावी नियंत्रण रखने का हकदार नहीं है । राष्ट्रपति राज्यपाल के प्रतिवेदन के माध्यम से राज्य के क्रियाकलाप के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकता है । इसके द्वारा जैसा ऊपर बताया गया है अनुच्छेद 356 के अधीन मंत्रिमंडल को हटाया भी जा सकता है ।

क्या राज्यपाल मुख्य मंत्री को पदच्युत कर सकता है ।

हाल ही में यह विवाद उग्र रूप से उत्पन्न हुआ है कि क्या राज्यपाल मुख्यमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद् को इस उपधारणा के आधार पर पदच्युत कर सकता है कि मुख्यमंत्री और मंत्रिमंडल ने विधान मंडल के निर्वाचित सदन में बहुमत खो दिया है । यह विवाद इसलिए और भी जटिल हो गया है कि एकसी परिस्थितियों में दो राज्यपालों ने परस्पर

विपरीत निदेश दिए हैं । पश्चिमी बंगाल में 1967 में राज्यपाल धर्मवीर का यह मत था कि अजय मुखर्जी के नेतृत्व वाले संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल ने उनके पक्ष से दल परिवर्तन के कारण विधान सभा में बहुमत खो दिया है इसलिए उन्होंने मुख्यमंत्री से यह कहा कि वे लघु सूचना पर विधान सभा का अधिवेशन बुलाएं और जब मुख्यमंत्री ने ऐसा करने से इंकार किया तो उन्होंने मुख्यमंत्री और उनके मंत्रिमंडल को पदच्युत कर दिया । दूसरी ओर 1970 में उत्तर प्रदेश में राज्यपाल गोपाल रेड्डी ने ऐसी ही उपधारणा के आधार पर मुख्यमंत्री चरण सिंह को पदच्युत कर दिया । उन्होंने विधान सभा के निर्णय की प्रतीक्षा नहीं की यद्यपि विधान सभा का कुछ दिनों बाद अधिवेशन होने वाला था ।

पूर्वगामी उदाहरणों के प्रति निर्देश से इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले यह ध्यान देने योग्य है कि हमने इंग्लैंड से अपने संविधान में मंत्रिमंडलीय शासन प्रणाली अपना ली है । ब्रिटिश प्रणाली में जो प्रमुख अभिसमय हैं उनमें से कुछ को हमने संविधान में संहिताबद्ध कर दिया है । संदर्भ में इससे प्रतिकूल किसी बात के न होने पर यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि हमारे संविधान में और इंग्लैंड में स्थिति एकसी है ।

इंग्लैंड में मंत्रिगण विधि के अनुसार सम्राट के सेवक होते हैं । विधि के अनुसार सम्राट को प्रत्येक मंत्री को व्यक्तिशः या सामूहिक रूप से पदच्युत करने की शक्ति है । किंतु संसदीय प्रणाली के विकसित होने पर यह सुस्थापित हो चुका है कि मंत्रिगण सामूहिक रूप से अपना पद तब तक धारण करते हैं जब तक कि उन्हें हाउस आफ कामंस में बहुमत प्राप्त रहता है । इसे मंत्रियों का “सामूहिक उत्तरदायित्व” कहते हैं । सामूहिक रूप से मंत्रिमंडल का सम्राट के प्रति जो व्यक्तिगत उत्तरदायित्व था उसका स्थान पार्लमेंट के प्रति मंत्रिमंडल के राजनैतिक उत्तरदायित्व ने ले लिया है । अब सम्राट की प्रधान मंत्री और उसके मंत्रिमंडल को पदच्युत करने की शक्ति लुप्तप्रयोग हो गई है । इस शक्ति का प्रयोग अंतिम बार 1783[14] में किया गया था । किंतु सम्रांट को व्यक्तिगत रूप से किसी मंत्री को पदच्युत करने की शक्ति है । व्यवहार में इस शक्ति का प्रयोग स्वयं प्रधान मंत्री की सलाह पर तब किया जाता है जब वह किसी अवांछनीय मंत्री को हटाना चाहता है ।

इंग्लैंड में ये दो प्रस्थापनाएं आज जीवित रूप में विद्यमान हैं । उन्हें हमारे संविधान के अनुच्छेद 164 के खंड (1) और (2) में निम्नलिखित रूप में संहिताबद्ध किया गया है –

> “(1) . . . तथा मंत्री, राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपने पद धारण करेंगे;
> (2) मंत्रिपरिषद् राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी ।”

उपर्युक्त संदर्भ में जो विधिक निष्कर्ष निकाला जा सकता है वह यह है कि, –

(क) राज्यपाल को किसी एक मंत्री को किसी भी समय पदच्युत करने की शक्ति है,

(ख) वह किसी मंत्रिपरिषद् को या मुख्यमंत्री को (जिसके पदच्युत किए जाने का अर्थ है मंत्रिपरिषद् का ढह जाना) तभी पदच्युत कर सकता है जब विधान सभा ने या तो अविश्वास के प्रस्ताव पर मत देकर या निन्दा के प्रस्ताव पर मत देकर या किसी महत्वपूर्ण अध्युपाय को गिराकर या किसी अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष मतदान द्वारा मंत्रिपरिषद् में विश्वास का न होना अभिव्यक्त किया है और राज्यपाल यह समझता है कि विधान सभा का विघटन करना ठीक नहीं होगा । राज्यपाल किसी भी समय विधान सभा में मुख्य मंत्री

की शक्ति का विधिपरक प्राक्कलन करके अपनी इच्छा से ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि मंत्रिपरिषद् के सामूहिक उत्तरदायित्व को प्रवृत्त करना विधान सभा का काम है । यह अनुच्छेद 164(2) के अधीन है ।

4. महाधिवक्ता

प्रत्येक राज्य का एक महाधिवक्ता होगा । यह भारत के महान्यायवादी के तत्समान राज्य का अधिकारी होगा और उसके राज्य में उसी प्रकार के कृत्य होंगे । वह राज्य के राज्यपाल द्वारा नियुक्त किया जाएगा और राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा । ऐसा ही व्यक्ति महाधिवक्ता नियुक्त किया जा सकेगा जो उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए अर्हित है । वह ऐसा पारिश्रमिक प्राप्त करेगा जो राज्यपाल अवधारित करेगा ।

महाधिवक्ता ।

उसे राज्य के विधान मंडल के सदनों में कार्यवाहियों में भाग लेने और बोलने का अधिकार है किंतु मतदान का अधिकार नहीं है [अनुच्छेद 165] ।

निर्देश

1. इस सुमान्य सिद्धांत का स्पष्ट अपवाद तब देखने में आया जब राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के प्रधान मंत्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह की सलाह पर राष्ट्रपति ने दिसंबर, 1989 में राज्यपालों से त्यागपत्र देने के लिए कहा । कारण यह दिया गया कि संघ में दूसरा दल सत्ता में आ गया था । बाद में उनमें से कुछ से कहा गया कि वे त्यागपत्र न दें ।
2. श्री वी.वी. गिरी को 1958 में उत्तर प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया था । उन्हें अपनी असमाप्त अवधि के लिए 1960 में केरल का राज्यपाल नियुक्त किया गया । जून, 1962 में उन्हें दूसरी अवधि के लिए केरल का राज्यपाल नियुक्त किया गया (*स्टेट्समैन*, 10-6-1962) श्रीमती पद्मजा नायडू को दूसरी अवधि के लिए पश्चिमी बंगाल का राज्यपाल नियुक्त किया गया ।
3. सी.ए.डी., जिल्द 7, पृष्ठ 455 ।
4. 1987-89 में आंध्र प्रदेश और केरल में राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच खींचतान हुई ! ये दोनों अलग-अलग दल के थे । आश्चर्य यह है कि बिहार में राज्यपाल गोविंद नारायण सिंह और मुख्यमंत्री के बीच (1985) तथा मध्य प्रदेश में राज्यपाल सरला ग्रेवाल और मुख्यमंत्री के बीच (1989) भी मतभेद रहा जबकि वे एक ही दल के थे ।
5. जैसा अन्य संदर्भ में बताया गया है संघ विधान मंडल का उच्च सदन, अर्थात् राज्य सभा और राज्य विधान मंडल का उच्च सदन अर्थात् विधान परिषद् विघटित नहीं हो सकती । उसमें कालिक सेवानिवृत्ति की प्रणाली लागू होती है । अतएव राष्ट्रपति या राज्यपाल की विघटन करने की शक्ति को क्रमशः लोक सभा और राज्य सभा के विघटन के प्रति निर्देश से ही समझा जाना चाहिए ।

   उन राज्यों में जहां विधान मंडल में एक ही सदन है [अनुच्छेद 167(1)(ख)] विधान सभा के विघटन से विधान मंडल का विघटन हो जाता है (क्योंकि कोई विधान परिषद् नहीं है) ।
6. राज्यपाल किसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त कर सकता है यदि उसके प्राक्कलन के अनुसार ऐसे व्यक्ति को राज्य विधान सभा में बहुमत प्राप्त हो जाएगा और वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग विधान सभा के पूरी तरह गठन के पहले भी कर सकता है । ऐसा करने पर राज्यपाल की दुर्भावना साबित नहीं होती [*राजनारायण* बनाम *भजन लाल*, (1982) पी. एण्ड एच., तारीख 20-10-1982: *स्टेट्समैन*, तारीख 21-10-1982] ।
7. यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि जम्मू-कश्मीर में 1975 में अब्दुल्ला मंत्रिमंडल का कोई भी सदस्य आरंभ में विधान मंडल का सदस्य नहीं था ।
8. दि नागा हिल त्युएनसांग क्षेत्र को विवेकाधीन क्षेत्र के बाहर कर दिया गया है क्योंकि नागालैंड के नाम से एक पृथक् राज्य बनाया गया है । अतएव 6ठी अनुसूची के पैरा 18 का 1971 में लोप कर दिया गया है ।

9. संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा और मुम्बई पुनर्गठन अधिनियम, 1960 द्वारा यथासंशोधित । संविधान (32वां संशोधन) अधिनियम, 1973 द्वारा आंध्र प्रदेश को अनुच्छेद 371 से निकाल कर एक नए अनुच्छेद 371घ में पृथक् रूप से रखा गया है ।
10. *शमशेर* बनाम *पंजाब राज्य,* ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 2192 (*47, 88, 153*) ।
11. यह केरल शिक्षा विधेयक के मामले में हुआ (देखिए केरल शिक्षा विधेयक का मामला, ए.आई.आर. 1968 एस.सी. 956) । *हैक्स्ट फर्मास्यूटिकल्स* बनाम *बिहार राज्य,* ए.आई.आर. 1953 एस.सी. 1019 (पैरा 89), अनुच्छेद 200 के अधीन कृत्य को विवेकाधीन अभिनिर्धारित किया गया ।
12. उच्चतम न्यायालय ने कुछ मामलों में यह संप्रेक्षण किया है कि जब तक संविधान अभिव्यक्त रूप से राज्यपाल से अपने विवेकानुसार कार्य करने के लिए विशिष्ट रूप से उपबंध न करे तब तक विवक्षा द्वारा यह नहीं कहा जा सकता कि उसे मंत्रिमंडल की सलाह के बिना कार्य करने की शक्ति है [*संजीवी* बनाम *मद्रास राज्य,* (1970) 2 एस.सी.सी. 672 (*677*)] । किंतु अब इस संप्रेक्षण का *शमशेर* बनाम *पंजाब राज्य,* ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 2192 में 7 न्यायाधीशों के विनिश्चय में उल्लिखित आपवादिक परिस्थितियों के अधीन रहते हुए समझा जाना चाहिए ।
13. तमिलनाडु के राज्यपाल प्रभुदास पटवारी को अक्तूबर, 1980 में (*स्टेट्समैन,* 31-10-1981) पदच्युत किए जाने से यह दर्शित होता है कि अनुच्छेद 156(1) के अधीन राष्ट्रपति के प्रसाद का प्रधान मंत्री द्वारा राजनीतिक कारणों से और बिना कारण बताए राज्यपाल को पदच्युत करने के लिए किया जा सकता है ।
14. देखिए हेल्सबरी, *लाज़ आफ इंग्लैंड* (4था संस्करण, 1974) जिल्द 8, पृष्ठ 696-97 ।

14

राज्य विधान मंडल

विधान मंडल के गठन के विषय में राज्यों के लिए शासन की एक सी प्रणाली विहित की गई है किंतु संविधान बड़े और छोटे राज्यों के बीच अन्तर करता है । प्रत्येक राज्य का विधान मंडल राज्यपाल और राज्य के विधान मंडल से मिलकर बनेगा । कुछ राज्यों में विधान मंडल के दो सदन होंगे अर्थात् विधान सभा और विधान परिषद् । शेष राज्यों में केवल एक सदन होगा अर्थात् विधान सभा [अनुच्छेद 168] ।

द्विसदनीय और एक-सदनीय राज्य ।

संविधान के प्रारंभ से किए गए परिवर्तन के कारण अनुच्छेद 169 में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार 1990 में दो सदन वाले राज्य[1] हैं बिहार, महाराष्ट्र,[2] कर्नाटक और उत्तर प्रदेश[3] [अनुच्छेद 168] । इनमें जम्मू-कश्मीर को भी जोड़ा जा सकता है जिसमें अपने राज्य के संविधान द्वारा द्विसदनीय विधान मंडल स्वीकार किया है ।

इसका यह अर्थ हुआ कि शेष राज्यों में[1,3] विधान मंडल एक-सदनीय है अर्थात् वह केवल विधान सभा से मिलकर बनता है [अनुच्छेद 168] किंतु यह सूची स्थायी नहीं है क्योंकि संविधान में यह उपबंध है कि जिन राज्यों में विधान परिषद् विद्यमान है वहां उसका उत्सादन किया जा सकता है और जहां वह विद्यमान नहीं है उस राज्य में उसका सृजन किया जा सकता है । ऐसा करने के लिए एस सादी प्रक्रिया है जिसमें संविधान के संशोधन की आवश्यकता नहीं होती । प्रक्रिया यह है कि उस राज्य की विधान सभा एक विशेष बहुमत द्वारा एक संकल्प पारित करेगी जिसके अनुसरण में संसद् अधिनियम बनाएगी । (संकल्प, कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित किया जाएगा) [अनुच्छेद 169] ।

राज्यों में दूसरे सदन का सृजन और उत्सादन ।

यह असाधारण उपबंध राज्यों के लिए किया गया था जिससे संविधान के बनाते समय की गई इस आलोचना का उत्तर दिया जा सके कि हमारे कुछ राज्य जो निर्धन हैं उन्हें दो सदनों पर खर्च करना ठीक नहीं रहेगा । तदनुसार यह उपाय किया गया कि प्रत्येक राज्य अपनी इच्छानुसार चाहे तो दूसरा सदन रखे या नहीं रखे । यह बड़ी रोचक बात है कि इस उपबंध का फायदा उठाकर आंध्र प्रदेश ने 1957 में संसद् द्वारा विधान परिषद् अधिनियम, 1957 पारित कराके विधान परिषद् का सृजन किया । इसी प्रक्रिया द्वारा 1985 में आंध्र प्रदेश की विधान परिषद् का उत्सादन हो गया ।[1]

दूसरी ओर पश्चिमी बंगाल और पंजाब ने इसी प्रक्रिया का अनुसरण करके अपने यहां द्वितीय सदन का उत्सादन कर दिया ।[3]

विधान परिषद् की सदस्य संख्या[4] विधान सभा के अनुसार कम या अधिक होती है । विधान परिषद् की सदस्य संख्या विधान सभा की सदस्य संख्या के एक-तिहाई से अधिक नहीं होगी किंतु कम से कम

विधान परिषद् की संरचना ।

40 सदस्य होंगे । यह उपबंध इसलिए किया गया है जिससे विधान मंडल में विधान परिषद् को प्रमुखता प्राप्त न हो [अनुच्छेद 171(1)] ।

संविधान में अधिकथित विधान परिषद् की संरचना अंतिम नहीं है । विधान मंडल के सदन की संरचना का उपंबध करने की अंतिम शक्ति संसद् को दी गई है [अनुच्छेद 171(2)] । जब तक संसद् इस विषय पर विधान नहीं बनाती तब तक इसकी संरचना उस प्रकार होगी जैसा कि संविधान में उल्लिखित है । संविधान में यह दिया गया है कि यह भागतः नामनिर्दिष्ट और भागतः निर्वाचित निकाय होगी । निर्वाचन अप्रत्यक्ष होगा और आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा ।

सदस्य विभिन्न स्रोतों से लिए जाएंगे । परिषद् की संरचना में अनेक प्रकार के लोग होंगे ।

मोटे तौर से परिषद् की कुल सदस्य संख्या के 5/6 सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होंगे और 1/6 सदस्य राज्यपाल द्वारा नामनिर्दिष्ट होंगे । इस प्रकार —

(क) परिषद् की कुल सदस्य संख्या का 1/3 भाग स्थानीय निकायों के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मंडलों द्वारा, जैसे नगरपालिका, जल बोर्ड आदि, निर्वाचित होगा ।

(ख) 1/12 उस राज्य में कम से कम तीन वर्ष के स्नातकों से मिलकर बनने वाले निर्वाचन मंडल द्वारा निर्वाचित होंगे ।

(ग) 1/12 राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशाला से अनिम्न स्तर की शिक्षण संस्था में कम से कम तीन वर्ष से पढ़ाने के काम में लगे हुए व्यक्तियों से मिल कर बनने वाले निर्वाचक मंडल द्वारा निर्वाचित होंगे ।

(घ) 1/3 राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों से निर्वाचित होंगे जो विधान सभा के सदस्य नहीं हैं ।

(ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से नामनिर्दिष्ट किए जाएंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आंदोलन और सामाजिक सेवा के संबंध में विशेष ज्ञान या जानकारी का अनुभव है (न्यायालय राज्यपाल के नामनिर्देशन की सद्भावना या औचित्य को प्रश्नगत नहीं कर सकता) ।

विधान सभा की संरचना ।

प्रत्येक राज्य की विधान सभा प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से वयस्क मतदान के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बनेगी । विधान सभा के सदस्यों की संख्या पांच सौ से अधिक और साठ से कम नहीं होगी ।

राज्य के भीतर प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र की बाबत जनसंख्या के अनुसार आनुपातिक रूप से समान प्रतिनिधित्व होगा । प्रत्येक जनगणना की समाप्ति के पश्चात् संसद् द्वारा विधि बनाकर समायोजन किया जाएगा [अनुच्छेद 170] ।

जैसा हम पहले कह चुके हैं राज्यपाल को यह शक्ति है कि यदि उसकी यह राय है कि आंग्ल-भारतीय समुदाय का विधान सभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह इतनी संख्या में उस समुदाय के सदस्यों को नामनिर्दिष्ट कर सकता है जितने वह ठीक समझे[5] [अनुच्छेद 333] । यह आरक्षण संविधान के प्रारंभ से 50[6] वर्ष बीत जाने पर समाप्त हो जाएगा [अनुच्छेद 334] ।

विधान सभा की अवधि ।

विधान सभा की अवधि पांच वर्ष है किंतु —

(i) राज्यपाल उसे पांच वर्ष के पहले विघटित कर सकता है ।[7]

(ii) राज्यपाल द्वारा आपात की उद्घोषणा की दशा में पांच

वर्ष की अवधि का उत्सादन किया जा सकता है । ऐसी दशा में संघ की संसद् को यह शक्ति होगी कि वह उद्घोषणा के प्रभावी न रहने के पश्चात् छह मास से अनधिक की अवधि के लिए विधान सभा के जीवन का विस्तार कर सकेगी । यह इस शर्त के अधीन रहते हुए है कि ऐसा विस्तार एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगा [अनुच्छेद 172(1)] ।

विधान परिषद् की अवधि ।

विधान परिषद् का विघटन नहीं हो सकता । किंतु उसके एक बटा तीन सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष की समाप्ति पर निवृत्त हो जाएंगे [अनुच्छेद 172(2)] । यह राज्य परिषद् के समान स्थायी निकाय होगी । उसके सदस्यों का एक अंश हर तीसरे वर्ष बदल जाएगा ।

विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष होंगे और विधान परिषद् के अपने सभापति और उपसभापति होंगे । इनके संबंध में जो उपबंध हैं वे संघ की संसद् के तत्समान अधिकारियों के उपबंधों के समान हैं ।

राज्य के विधान मंडल की सदस्यता के लिए अर्हता ।

कोई व्यक्ति किसी राज्य के विधान मंडल के किसी स्थान को भरने के लिए चुने जाने के लिए अर्हित तभी होगा जब —

(क) वह भारत का नागरिक हो,

(ख) वह विधान सभा के स्थान के लिए कम से कम पच्चीस वर्ष की आयु का और विधान परिषद् के स्थान के लिए कम से कम तीस वर्ष की आयु का हो, और

(ग) उसके पास ऐसी अन्य अर्हताएं हों, जो इस निमित्त संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन विहित की जाएं ।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में यह उपबंध किया गया है कि कोई व्यक्ति किसी विधान सभा या परिषद् के लिए निर्वाचित नहीं होगा जब तक कि वह उस राज्य में किसी विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र में मतदाता न हो ।

सदस्यता के लिए निरर्हताएं ।

संविधान के अनुच्छेद 191 में अधिकथित विधान मंडल की सदस्यता के लिए निरर्हताएं उसी प्रकार की हैं जैसी संसद् के किसी सदन की सदस्यता के संबंध में अनुच्छेद 102 में दी गई हैं । इस प्रकार —

कोई व्यक्ति किसी राज्य की विधान सभा या विधान परिषद् का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा, —

(क) यदि वह भारत सरकार के या राज्य की सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, ऐसे पद को छोड़कर जो भारत संघ या राज्य का पद नहीं है या ऐसा पद नहीं है जिसको धारण करने वाले का निरर्हित न होना राज्य के विधान मंडल ने विधि द्वारा घोषित किया है (बहुत से राज्यों ने विधि पारित करके कुछ पदों के बारे में यह घोषित किया है कि उन पदों को धारण करने वाले राज्य के विधान मंडल के सदस्य होने से निरर्हित नहीं होंगे),

(ख) यदि वह सक्षम न्यायालय द्वारा घोषित विकृत चित्त है,

(ग) यदि वह अनुन्मोचित दिवालिया है,

(घ) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है या उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है या वह किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुषक्ति को अभिस्वीकार करता है,

(ङ) यदि वह संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस प्रकार निरर्हित कर दिया जाता है (दूसरे शब्दों में संसद् की विधि किसी व्यक्ति को राज्य विधान मंडल की सदस्यता से भी ऐसे आधारों पर निरर्हित कर सकती है जो ऐसी विधि में

अधिकथित किए जाएं । लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में निरर्हता के कुछ आधार दिए गए हैं जैसे न्यायालय द्वारा दोषसिद्ध ठहराया जाना, निर्वाचन के संबंध में किसी भ्रष्ट या अवैध आचरण का दोषी होना, किसी ऐसे निगम का निदेशक या प्रबन्ध अभिकर्ता होना जिसमें सरकार का वित्तीय हित है (अधिनियम में अधिकथित शर्तों के अधीन) ।

अनुच्छेद 192 में यह अधिकथित है कि यदि यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किसी राज्य के विधान मंडल के किसी सदन का कोई सदस्य उसमें वर्णित किसी निरर्हता से ग्रस्त हो गया है तो यह प्रश्न राज्यपाल के विनिश्चय के लिए निर्देशित किया जाएगा । राज्यपाल निर्वाचन आयोग की राय के अनुसार कार्य करेगा । उसका विनिश्चय अन्तिम होगा और किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकेगा ।

द्विसदनीय विधान मंडल वाले राज्यों की विधायी प्रक्रिया की संसद् से तुलना ।

द्विसदनीय विधान मंडल वाले राज्यों की विधायी प्रक्रिया मोटे तौर से संसद् के समान है । कुछ बातों में अंतर है । इस अंतर को नीचे स्पष्ट किया जा रहा है :

I. *धन विधेयक* के बारे में स्थिति वही है । विधान परिषद् को केवल यह शक्ति है कि वह विधान सभा को संशोधनों की सिफारिश करे या विधेयक के प्राप्त होने की तारीख से 14 दिन की अवधि के लिए विधेयक को अपने पास रोक रखे । हरेक दशा में विधान सभा की इच्छा अभिभावी होगी । विधान सभा परिषद् की सिफारिशों को स्वीकार करने के लिए आबद्ध नहीं है ।

इसका यह अर्थ हुआ कि धन विधेयकों के बारे में दोनों सदनों में कोई गतिरोध नहीं हो सकता ।

राज्य परिषद् से विधान परिषद् की तुलना ।

II. *धन विधेयकों से भिन्न विधेयकों के बारे में* परिषद् को एकमात्र यह शक्ति है कि वह कुछ अवधि तक विधेयक के पारित होने को विलम्बित कर दे (तीन मास) [अनुच्छेद 197(1)(ख)] । यह अवधि धन विधेयकों के संबंध में अवधि से लम्बी है । इस प्रकार राज्य की विधान परिषद् पुनरीक्षण करने वाला सदन नहीं बल्कि सलाह देने वाला या विलम्ब करने वाला सदन है । यदि वह किसी विधेयक से असहमत है तो विधेयक विधान परिषद् से विधान सभा की यात्रा दुबारा करेगा, किंतु अंत में विधान सभा का मत ही अभिभावी होगा और दूसरी यात्रा में विधान परिषद् को एक मास से अधिक के लिए विधेयक रोक रखने की शक्ति नहीं होगी [अनुच्छेद 192(2)(ख)] ।

इन बातों में राज्य विधान मंडल की प्रक्रिया संघ की संसद् से भिन्न है । इससे विधान परिषद् की स्थिति राज्य परिषद् से भी अधिक निर्बल हो जाती है । यह अन्तर इस प्रकार है : —

दोनों सदनों के बीच गतिरोध को दूर करने के लिए उपबंध ।

संघ की संसद् के दोनों सदनों के बीच असहमति का निपटारा संयुक्त बैठक से होता है । किंतु राज्य की विधान मंडल के दोनों सदनों के बीच मतभेद को निपटाने के लिए ऐसा कोई उपबंध नहीं है । राज्य विधान मंडल की दशा में विधान सभा की इच्छा ही अंत में अभिभावी होती है । परिषद् को केवल इतनी ही शक्ति है कि वह जिस विधेयक से असहमत है उसके पारित करने में कुछ विलंब लगा दे ।

इन दो मामलों में भिन्न प्रक्रिया से व्यवहार करने का कारण संघ और राज्य के विधान मंडलों के बारे में दो अलग-अलग सुझावों का स्वीकार किया जाना है । (क) संघ की संसद् के बारे में यह कहा गया है कि राज्य सभा संविधान के परिसंघीय लक्षण का प्रतिनिधित्व है इसलिए उसकी स्थिति मात्र विलंबकारी निकाय से कुछ अच्छी होनी चाहिए ।

अतएव संविधान में लोक सभा और राज्य सभा के बीच असहमति होने की दशा में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का उपबंध है । यह ठीक है कि अंत में संयुक्त बैठक में संख्या-बल के कारण लोक सभा को अधिमान प्राप्त होगा । (ख) राज्य विधान मंडल के दोनों सदनों के बारे में भारत के संविधान ने पार्लमेंट ऐक्ट, 1911 पर आधारित इंग्लैंड की प्रणाली अपना ली अर्थात् निम्न सदन जनता की इच्छा को प्रतिबिंबित करता है और इसलिए अन्ततोगत्वा उच्च सदन को उसके सामने समर्पण करना होगा । इस प्रणाली में उच्च सदन कुछ विलंब ही कर सकता है । वह निर्वाचित सदन के कार्य में बाधा नहीं पहुंचा सकता । राज्य विधान मंडल की दशा में हमारे संविधान में इस लोकतांत्रिक उपबंध को स्वीकार किया गया है क्योंकि यहां पर उच्च सदन के परिसंघीय महत्व का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता ।

धन विधेयक से भिन्न अन्य विधेयकों के बारे में उपबंधों को अब संक्षेप में कहना उचित होगा :

संसद् और राज्य विधान मंडल में प्रक्रिया की तुलना ।

(क) *संघ की संसद्* — यदि (धन विधेयक से भिन्न) कोई विधेयक एक सदन द्वारा पारित किया जाता है और (i) दूसरा सदन उसे नामंजूर करता है या छह मास के भीतर उसे लौटाता नहीं है, या (ii) दोनों सदन संशोधन के बारे में असहमत हैं तो राष्ट्रपति उस विधेयक पर अंतिम रूप से विचार-विमर्श करने और मतदान करने के प्रयोजनों के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आहूत कर सकता है । ऐसी संयुक्त बैठक में दोनों सदनों के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की बहुसंख्या अभिभावी होगी और विधेयक दोनों सदनों द्वारा ऐसे संशोधन सहित पारित किया गया समझा जाएगा जिस पर बहुमत की सहमति हो और तत्पश्चात् विधेयक राष्ट्रपति को अनुमोदन के लिए प्रस्तुत किया जाएगा [अनुच्छेद 108] ।

(ख) *राज्य विधान मंडल* — (i) यदि (धन विधेयक से भिन्न) विधेयक विधान सभा द्वारा पारित किया जाता है और विधान परिषद् (i) विधेयक को स्वीकार करती है, या (ii) ऐसे संशोधनों सहित पारित करती है जिनसे विधान सभा सहमत नहीं है, या (iii) परिषद् में रखे जाने के समय से तीन मास के भीतर उसे पारित नहीं किया जाता है तो विधान सभा उस विधेयक को और संशोधनों सहित या बिना और संशोधनों के पुनः पारित कर सकेगी और विधान परिषद् को पुनः पारेषित कर सकेगी [अनुच्छेद 197(1)] ।

यदि राज्य सभा दूसरी बार (क) पुनः विधेयक को अस्वीकार करती है, या (ख) संशोधन प्रस्तावित करती है, या (ग) विधेयक के परिषद् में रखे जाने की तारीख से एक मास के भीतर उसे पारित नहीं करती है तो यह समझा जाएगा कि विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया है और उसे राज्यपाल को उसकी अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाएगा [अनुच्छेद 197(2)] ।

संक्षेप में राज्य विधान मंडल में ऐसा विधेयक जिसके बारे में परिषद् की विधान सभा से सहमति नहीं है विधान सभा से परिषद् की यात्रा दो बार करेगा । पहली यात्रा में परिषद् को यह शक्ति है कि उस विधेयक को तीन मास तक रोक रखे और दूसरी यात्रा में एक मास तक । इस अवधि की समाप्ति पर परिषद् के न चाहते हुए भी वह विधेयक विधि बन जाएगा [अनुच्छेद 197] ।

(ii) संविधान के उपबंध उन्हीं विधेयकों के बारे में लागू होते हैं जो विधान सभा में प्रारंभ होते हैं । परिषद् में प्रारंभ होने वाले विधेयक के बारे में इसके समान कोई उपबंध नहीं है । इसलिए यदि कोई विधेयक परिषद् द्वारा पारित होकर विधान सभा

को पारेषित किया जाता है और सभा उसे अस्वीकार कर देती है तो विधेयक समाप्त हो जाएगा ।

संघ की संसद् और राज्य के विधान मंडल के दोनों सदनों की तुलनात्मक स्थिति को इस प्रकार बताया जा सकता है :

संसद् *राज्य विधान मंडल*

I. धन विधेयक के बारे में संघ और राज्य में स्थिति एक सी है :

(क) धन विधेयक द्वितीय सदन या उच्च सदन (अर्थात् राज्य सभा या विधान परिषद्) में प्रारंभ नहीं हो सकता ।

(ख) उच्च सदन (अर्थात् राज्य सभा या विधान परिषद्) को ऐसे विधेयकों में संशोधन करने या उन्हें अस्वीकार करने की शक्ति नहीं है । दोनों दशाओं में जब निम्न सदन (अर्थात् लोक सभा या विधान सभा) कोई विधेयक पारित करके उसे पारेषित करता है तो उच्च सदन केवल सिफारिश कर सकता है । यह अंतिम रूप से निम्न सदन पर निर्भर रहता है कि वह उच्च सदन की सिफारिशों को स्वीकार करे या अस्वीकार । यदि (यथास्थिति) लोक सभा या विधान सभा उन सिफारिशों में से किसी को स्वीकार नहीं करता है तो विधेयक उसी रूप में विधान मंडल द्वारा पारित किया गया समझा जाएगा जिसमें निम्न सदन में पारित किया था और उसे (यथास्थिति) राष्ट्रपति या राज्यपाल की अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाएगा । यदि निम्न सदन, उच्च सदन की किसी सिफारिश को स्वीकार कर लेता है तो यह समझा जाएगा कि विधेयक विधान मंडल द्वारा उसी रूप में पारित किया गया है जिस रूप में वह ऐसी सिफारिश के स्वीकार किए जाने के पश्चात् होता है ।

यदि उच्च सदन, निम्न सदन द्वारा पारेषित धन विधेयक को उसे प्राप्त होने की तारीख से 14 दिन की अवधि के भीतर नहीं लौटाता है तो यह समझा जाएगा कि 14 दिन की अवधि की समाप्ति पर वह विधेयक विधान मंडल द्वारा पारित कर दिया गया है और उसे, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल को प्रस्तुत किया जाएगा चाहे उच्च सदन ने उसे अनुमति न दी हो या उस पर कोई सिफारिश की हो ।

(ग) दोनों सदनों के बीच धन विधेयक के संबंध में गतिरोध को निपटाने के लिए कोई उपबंध नहीं है क्योंकि संभवतः कोई गतिरोध हो ही नहीं सकता । चाहे संसद् हो या राज्य विधान मंडल यदि उच्च सदन, निम्न सदन द्वारा पारित रूप में विधेयक से सहमत नहीं है तो निम्न सदन (लोक सभा या विधान सभा) की इच्छा अभिभावी होगी ।

II. धन विधेयक से भिन्न विधेयकों के बारे में :

संसद् *राज्य विधान मंडल*

(क) ऐसे विधेयक संसद् के या राज्य विधान मंडल के किसी भी सदन में पारेषित किए जा सकते हैं ।

संसद्	राज्य विधान मंडल
(ख) कोई विधेयक संसद् द्वारा पारित	(ख) विधान परिषद् की कोई सह-

संसद्	*राज्य विधान मंडल*
तभी समझा जाता है जब दोनों सदन उस विधेयक पर मूल रूप में या दोनों सदनों द्वारा सहमत संशोधनों के साथ सहमत हो जाते हैं ।	व्यापी शक्ति नहीं है और दोनों सदनों के बीच असहमति होने पर अंततोगत्वा विधान सभा की इच्छा अभिभावी होगी । इसी कारण दोनों सदनों के बीच गतिरोध को निपटाने के लिए संयुक्त बैठक का कोई उपबंध नहीं है ।
(ग) दोनों सदनों के बीच असहमति की दशा में, जो निम्न रीति में से किसी में भी हो सकता है, गतिरोध को निपटाने के लिए राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आहूत की जाती है । असहमति तब हो सकती है जब एक सदन द्वारा पारित विधेयक की प्राप्ति पर दूसरा सदन, — (i) विधेयक को अस्वीकार करता है, या (ii) ऐसे संशोधन प्रस्तावित करता है जिनसे दूसरा सदन सहमत नहीं है, या (iii) विधेयक की प्राप्ति के छह मास के भीतर विधेयक को पारित नहीं करता है ।	(ग) दोनों सदनों के बीच असहमति तब होती है जब विधान सभा द्वारा पारित विधेयक की प्राप्ति पर विधान परिषद्, — (i) विधेयक को अस्वीकार करती है, या (ii) विधेयक में ऐसे संशोधन करती है जिनसे प्रारम्भकारी सदन सहमत नहीं है, या (iii) प्रारम्भकारी सदन से विधेयक की प्राप्ति की तारीख से तीन मास के भीतर विधेयक पारित नहीं करती है । राज्य सभा की दशा में निम्न सदन से विधेयक की प्राप्ति की तारीख से उसे पारित करने की अवधि छह मास है किंतु विधान परिषद् की दशा में यह अवधि तीन मास है ।
(घ) असहमति की दशा में लोक सभा द्वारा दुबारा विधेयक पारित किए जाने से राज्य सभा का अध्यारोहण नहीं हो सकता । इस गतिरोध को निपटाने का एकमात्र तरीका है दोनों सदनों की संयुक्त बैठक किंतु यदि राष्ट्रपति अपने विवेकानुसार संयुक्त बैठक आहूत नहीं करता है तो विधेयक समाप्त हो जाएगा । इस प्रकार संयुक्त बैठक के अधीन रहते हुए राज्य सभा को विधेयक के पारित होने को रोकने की प्रभावी शक्ति है ।	(घ) ऐसी असहमति की दशा में विधान सभा द्वारा विधेयक का दो बार पारित किया जाना विधान मंडल द्वारा विधेयक के पारित होने के लिए पर्याप्त है । यदि विधेयक इस प्रकार पारित किया जाता है और दुबारा विधान परिषद् को पारेषित किया जाता है तो विधान परिषद् दूसरी यात्रा में विधेयक की प्राप्ति की तारीख से एक मास की अवधि तक ही उसे रोक सकती है और कुछ नहीं कर सकती । यदि परिषद् विधेयक को पुनः अस्वीकार कर देती है या ऐसे संशोधन प्रस्तावित करती है जिनसे सभा सहमत नहीं है या विधेयक को पारित किए बिना एक मास व्यतीत हो जाता है तो यह समझा जाएगा कि विधेयक राज्य विधान मंडल द्वारा उसी रूप में पारित हो गया है जिसमें विधान सभा ने उसे दुबारा पारित किया था । यदि

संसद	*राज्य विधान मंडल*
	परिषद् द्वारा किए गए संशोधन विधान सभा को स्वीकार हैं तो वह ऐसे संशोधनों सहित पारित समझा जाएगा ।
	(ङ) पूर्वगामी प्रक्रिया विधान सभा में प्रारम्भ होने वाले विधेयकों के संबंध में असहमति की दशा में ही लागू होती है । यदि विधान परिषद् में प्रारम्भ हुआ विधेयक परिषद् द्वारा पारित करके विधान सभा को पारेषित किया जाता है और विधान सभा विधेयक को अस्वीकार कर देती है या उसमें ऐसे संशोधन करती है जिनसे परिषद् सहमत नहीं है तो विधेयक तुरंत समाप्त हो जाएगा और विधान सभा द्वारा उसे पारित करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा ।

राज्य में द्वितीय सदन की उपयोगिता ।

यह स्पष्ट है कि विधान परिषद् की स्थिति विधान सभा की अपेक्षा कम महत्व की है । इसका महत्व इतना कम है कि इसका अस्तित्व व्यर्थ जान पड़ता है ।

(क) विधान परिषद् की संरचना ही उसे निर्बल बनाती है । परिषद् भागतः निर्वाचित और भागतः नामनिर्दिष्ट होती है तथा विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करती है ।

(ख) इसकी विद्यमानता विधान सभा की इच्छा पर निर्भर होती है क्योंकि विधान सभा को यह शक्ति है कि वह संसद् के अधिनियम द्वारा द्वितीय सदन के उत्सादन के लिए संकल्प पारित कर सकती है ।

(ग) मंत्रिपरिषद् केवल विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है ।

(घ) विधान परिषद् धन विधेयक को न तो अस्वीकार कर सकती है और न ही उसमें कोई संशोधन कर सकती है । वह उस विधेयक को 14 दिन से अनधिक की अवधि के लिए रोक सकती है या उसमें संशोधनों की सिफारिश कर सकती है ।

(ङ) सामान्य विधान के संबंध में (अर्थात् धन विधेयक से भिन्न विधेयकों के संबंध में) विधान परिषद् की स्थिति विधान सभा के नीचे है । वह विधान सभा में प्रारम्भ होने वाले विधेयक के पारित होने में अधिक से अधिक चार मास का विलम्ब (दो यात्राओं में) कर सकती है और असहमति की दशा में विधान सभा की ही बात मानी जाएगी । परिषद् में प्रारम्भ होने वाले विधेयक की दशा में विधान सभा को यह शक्ति है कि वह उस विधेयक को अस्वीकार करके उसे तुरंत समाप्त कर दे ।

इस प्रकार यह दिखाई देता है कि राज्य में द्वितीय सदन संघ की संसद् के द्वितीय सदन के समान पुनरीक्षण करने वाला निकाय नहीं है जो अपनी विसम्मति द्वारा गतिरोध उत्पन्न करके विधेयक के पारित होने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक करना अनिवार्य कर दे (धन विधेयक से भिन्न विधेयकों की दशा में) । यह सब होते हुए भी अप्रत्यक्ष निर्वाचन और विशेष ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के नामनिर्देशन से विधान परिषद् की

संरचना होने के कारण परिषद् में अधिक मेधावी व्यक्ति होते हैं और अपनी विलम्बकारी शक्ति से भी वह जल्दी में विधान बनाने की प्रवृत्ति पर रोक लगाती है जिससे बिना विचारे लाए गए विधेयकों की कमियां या दोष सामने आ जाते हैं ।

जब कोई विधेयक राज्यपाल को विधान मंडल के दोनों सदनों द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् प्रस्तुत किया जाता है तब राज्यपाल निम्नलिखित में से कोई कदम उठा सकता है :

राज्यपाल की वीटो की शक्ति ।

(क) वह विधेयक को अनुमति देने की घोषणा कर सकता है जिसके परिणामस्वरूप वह तुरंत विधि बन जाएगा, या

(ख) वह यह घोषित कर सकता है कि वह विधेयक को अनुमति देना विधारित करता है । ऐसी दशा में वह विधि नहीं बनेगा, या

(ग) धन विधेयक से भिन्न किसी विधेयक की दशा में वह संदेश के साथ विधेयक को लौटा सकता है ।

(घ) राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रख सकता है ।[8] एक दशा में आरक्षण अनिवार्य है अर्थात् जहां प्रश्नगत विधि, संविधान के अधीन उच्च न्यायालय की शक्ति के अल्पीकरण में होगी ।

इस प्रकार आरक्षित धन विधेयक की दशा में राष्ट्रपति अपनी अनुमति देने या विधारित करने की घोषणा कर सकेगा । किंतु धन विधेयक से भिन्न विधेयक की दशा में राष्ट्रपति उस पर अनुमति देने या इंकार करने की घोषणा करने के स्थान पर राज्यपाल को यह निदेश दे सकता है कि वह विधेयक को पुनर्विचार के लिए विधान मंडल को लौटा दे । ऐसे लौटाए जाने पर विधान मंडल छह मास के भीतर उस विधेयक पर पुनर्विचार करेगा और यदि वह पुनः पारित किया जाता है तो विधेयक राष्ट्रपति को पुनः प्रस्तुत किया जाएगा किंतु इस पर भी राष्ट्रपति के लिए उसे अनुमति देना अनिवार्य नहीं है [अनुच्छेद 201] ।

यह स्पष्ट है कि कोई विधेयक जो राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किया जाता है तभी प्रभावी होगा जब राष्ट्रपति उसे अनुमति प्रदान कर दे । किंतु संविधान ने राष्ट्रपति द्वारा अनुमति दिए जाने या विधारित किए जाने की कोई समय-सीमा अधिरोपित नहीं की है । परिणामस्वरूप राष्ट्रपति चाहे तो राज्य विधान मंडल के विधेयक को बिना अपना मत व्यक्त किए अनिश्चितकाल तक लम्बित रख सकता है ।

यह ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रपति के पास एक तीसरा अनुकल्प भी है जिसका केरल शिक्षा विधेयक की दशा में प्रयोग किया गया था अर्थात् जब कोई आरक्षित विधेयक राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया जाता है और राष्ट्रपति के मस्तिष्क में विधेयक की सांविधानिकता के बारे में संदेह उत्पन्न होता है तो वह यह विनिश्चय करने के लिए कि उस विधेयक को अनुमति दे या उसे लौटा दे उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद 143 के अधीन उसकी राय के लिए भेज सकता है ।

राज्यपाल और राष्ट्रपति की वीटो शक्तियों की तुलना ।

राष्ट्रपति और राज्यपाल की वीटो शक्तियों को सारणी के रूप में इस प्रकार दिखाया जा सकता है ।

राष्ट्रपति	*राज्यपाल*
(अ) 1. संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक को अनुमति दे सकता है ।	1. राज्य विधान मंडल द्वारा पारित विधेयक को अनुमति दे सकता है ।

राष्ट्रपति	*राज्यपाल*
2. यह घोषित कर सकता है कि वह अपनी अनुमति विधारित करता है । इस दशा में संघ का विधेयक विधि नहीं बनता ।	2. यह घोषित कर सकेगा कि वह अपनी अनुमति विधारित करता है । इस दशा में वह विधि नहीं बनेगा ।
3. धन विधेयक से भिन्न विधेयक की दशा में उसे दोनों सदनों के लिए संदेश के साथ संसद् को पुनर्विचार के लिए लौटा सकेगा । यदि विधेयक संसद् द्वारा संशोधनों सहित या बिना संशोधनों के पुनः पारित कर दिया जाता है और पुनः राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया जाता है तो राष्ट्रपति को यह घोषित करना होगा कि वह उसे अनुमति देता है । राष्ट्रपति को और कोई विकल्प नहीं है ।	3. धन विधेयक से भिन्न विधेयक की दशा में उसे संदेश सहित राज्य विधान मंडल को विचार के लिए लौटा सकेगा । यदि विधान मंडल विधेयक को संशोधन सहित या बिना संशोधन के पुनः पारित करता है तो राज्यपाल को यह घोषित करना होगा कि वह अनुमति देता है । उसके पास और कोई विकल्प नहीं होगा ।
	4. राज्यपाल विधेयक को अनुमति देने या विधारित करने या उसे राज्य विधान मंडल को पुनः विचार करने के लिए लौटाने के स्थान पर उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर सकता है यदि वह ऐसा करना ठीक समझे । ऐसा आरक्षण उस समय अनिवार्य है जब विधेयक उच्च न्यायालय की शक्तियों का अल्पीकरण करता है जिससे यदि विधेयक विधि बन जाएगा तो उच्च न्यायालय की सांविधानिक स्थिति को खतरा होगा ।
(आ) राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित राज्य विधेयक की दशा में (जैसा स्तंभ 2 के पैरा 4 में कहा है) : (क) यदि वह धन विधेयक है तो राष्ट्रपति उसे अपनी अनुमति देने की या अनुमति विधारित करने की घोषणा कर सकेगा । (ख) यदि विधेयक धन विधेयक से भिन्न है तो राष्ट्रपति — (i) यह घोषणा कर सकेगा कि वह उसे अनुमति देता है या उसे अनुमति देना विधारित करता है, या (ii) विधेयक को पुनर्विचार किए जाने के लिए संदेश सहित राज्य के विधान मंडल	

राष्ट्रपति	*राज्यपाल*
को लौटा देगा । ऐसी दशा में राज्य विधान मंडल छह मास के भीतर उस विधेयक पर विचार करेगा और यदि वह पुनः पारित किया जाता है, चाहे संशोधनों के साथ या बिना संशोधनों के, तो वह पुनः सीधे राष्ट्रपति को उसकी अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाएगा । किंतु राष्ट्रपति अनुमति देने के लिए आबद्धकर नहीं है चाहे विधेयक को राज्य विधान मंडल ने दूसरी बार क्यों न पारित किया हो ।	जब एक बार राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर लेता है तो इसके पश्चात् विधेयक का अधिनियमित किया जाना राष्ट्रपति के हाथ में होता है । राज्यपाल की इसके आगे कोई भूमिका नहीं होती ।

राज्य विधान मंडल के अधिनियम का प्रभाव रखने वाले अध्यादेश बनाने की शक्ति [अनुच्छेद 213] निम्नलिखित बातों में राष्ट्रपति की अध्यादेश बनाने की शक्ति जैसी ही है ।

राज्यपाल की अध्यादेश बनाने की शक्ति ।

(क) राज्यपाल को यह शक्ति तभी होगी जब विधान मंडल या उसके दोनों सदन, सत्र में नहीं है ।

(ख) यह विवेकाधीन शक्ति नहीं है । इसका प्रयोग मंत्रियों की सलाह और सहायता से ही किया जाना चाहिए ।

(ग) अध्यादेश राज्य विधान मंडल के समक्ष उसके पुनः समवेत होने पर रखा जाना चाहिए और पुनः समवेत होने की तारीख से छह सप्ताह के पर्यवसान के पश्चात् वह अपने आप समाप्त हो जाएगा । यदि विधान मंडल इसके पहले ही उसका निरनुमोदन कर देता है तो वह पहले ही समाप्त हो जाएगा ।

(घ) राज्यपाल किसी भी समय किसी भी अध्यादेश को वापस लेने के लिए सक्षम है ।

(ङ) राज्यपाल की अध्यादेश बनाने की शक्ति की परिधि का विस्तार राज्य विधान मंडल की विधायी शक्ति के बराबर है और यह 7वीं अनुसूची की सूची 2 और 3 के विषयों तक ही सीमित है ।

यदि समवर्ती विषय से संबंधित संघ की किसी विधि से राज्यपाल के अध्यादेश का विरोध है तो इस विरोध के होते हुए भी वह अभिभावी होगा यदि अध्यादेश राज्यपाल के निदेशों के अनुसरण में बनाया गया है ।

राज्यपाल की अध्यादेश बनाने की शक्ति की विशेषता यह है कि वह राष्ट्रपति के अनुदेश के बिना अध्यादेश नहीं बना सकता यदि, —

(क) उन्हीं उपबंधों को अन्तर्विष्ट करने वाले विधेयक के विधान मंडल में पुरःस्थापन के लिए संविधान के अधीन राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी की अपेक्षा है,[9] या (ख) यदि उन्हीं उपबंधों को अन्तर्विष्ट करने वाले विधेयक को राज्यपाल राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करना आवश्यक समझता[10] है, या (ग) उन्हीं उपबंधों को अन्तर्विष्ट करने वाला राज्य विधान मंडल का अधिनियम संविधान के अधीन अविधिमान्य होता यदि राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किए जाने के पश्चात् उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त नहीं होती[11] [अनुच्छेद 213] ।

राष्ट्रपति और राज्यपाल की अध्यादेश बनाने की शक्ति की तुलना ।

राष्ट्रपति और राज्यपाल की अध्यादेश बनाने की शक्ति को सारणी के रूप में इस प्रकार दर्शाया जा सकता है ।

राष्ट्रपति	*राज्यपाल*
1. तभी अध्यादेश बना सकता है जब संसद् के दोनों सदनों में से कोई भी एक सत्र में न हो ।	1. तभी अध्यादेश बना सकता है जब राज्य विधान मंडल या दोनों सदनों में से कोई एक (जहां राज्य विधान मंडल द्विसदनीय है) सत्र में नहीं है ।

राष्ट्रपति या राज्यपाल का यह समाधान हो जाना चाहिए कि ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनके कारण तुरंत कार्यवाही करना उसके लिए आवश्यक हो गया है ।

राष्ट्रपति	*राज्यपाल*
	किंतु राज्यपाल तीन विनिर्दिष्ट मामलों के संबंध में राष्ट्रपति से अनुदेश के बिना कोई अध्यादेश नहीं बना सकता (देखिए ऊपर) ।
2. अध्यादेश का वही बल है जो संसद् के अधिनियम का और उसकी मर्यादाएं संसद् के अधिनियम के समान ही होती हैं ।	2. अध्यादेश का वही बल है जो राज्य विधान मंडल के अधिनियम का और उसकी मर्यादाएं राज्य विधान मंडल के अधिनियम के समान ही होती हैं । किंतु समवर्ती विषय से संबंधित संघ की विधि से विरोध के बारे में यदि राज्यपाल का अध्यादेश राष्ट्रपति के अनुदेशों के अनुसरण में बनाया गया है तो अध्यादेश उसी प्रकार अभिभावी होगा मानो वह राज्य विधान मंडल का ऐसा अधिनियम हो जिसे राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किया गया था और जिसे राष्ट्रपति ने अनुमति दी थी ।
3. (क) संसद् के दोनों सदनों के पुनः समवेत होने पर उनके समक्ष रखा जाएगा ।	3. (क) विधान मंडल के पुनः समवेत होने पर विधान सभा के समक्ष या विधान मंडल के दोनों सदनों के समक्ष (जहां वह द्विसदनीय है) रखा जाएगा ।
(ख) संसद् के पुनः समवेत होने से छह सप्ताह की समाप्ति पर या यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले दोनों सदन उसके निरनुमोदन का संकल्प पारित करते हैं तो इनमें से दूसरे संकल्प के पारित होने पर प्रवर्तन में नहीं रहेगा ।	(ख) राज्य विधान मंडल के पुनः समवेत होने से छह सप्ताह की समाप्ति पर या यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले विधान सभा उसके निरनुमोदन का संकल्प पारित कर देती है और यदि विधान परिषद् है तो वह उससे सहमत हो जाती है तो, यथास्थिति, विधान सभा द्वारा संकल्प के पारित होने पर या विधान परिषद् द्वारा संकल्प से सहमत होने पर प्रवर्तन में नहीं रहेगा ।

राज्य के विधान मंडल के विशेषाधिकार संघ की संसद् के विशेषाधिकार के समान हैं । इनका सांविधानिक उपबंध भी बिल्कुल एक जैसा है [अनुच्छेद 105 और 194] । विधान मंडल के विशेषाधिकार का प्रश्न जनता के ध्यान में विशेषकर विधान मंडल की अवमान के लिए दंड देने की शक्ति और उसकी बाबत न्यायालय की अधिकारिता के संबंध में आया है । इस प्रश्न के सभी पहलू अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाए हैं किंतु उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के अनुसार निम्नलिखित प्रस्थापनाएं सूत्रबद्ध की जा सकती हैं ।

राज्य विधान मंडल के विशेषाधिकार ।

(क) विधान मंडल के प्रत्येक सदन को ऐसे विशेषाधिकारों के भंग के लिए या अवमान के लिए दंड देने की शक्ति है ।

(ख) प्रत्येक सदन इस प्रश्न का एकमात्र निर्णायक है कि उसके क्या विशेषाधिकार हैं और क्या किसी विशिष्ट मामले में उनका अतिलंघन हुआ है, तथा न्यायालयों को इस बात पर सदन के विनिश्चय में हस्तक्षेप करने की अधिकारिता नहीं होगी ।

न्यायालय अवमान के लिए किसी कार्यवाही में हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा जब तक विधान मंडल या उसके द्वारा प्राधिकृत कोई अधिकारी किसी ऐसे विशेषाधिकार का दावा न कर रहा हो जो संसदीय विधि को अज्ञात है, या निकाली गई सूचना या की गई कार्यवाही अधिकारिता के बिना हो,

(ग) विधान मंडल के किसी सदन को यह शक्ति नहीं है कि वह कोई ऐसा नया विशेषाधिकार सृजित कर ले जो विधि को अज्ञात है और न्यायालयों को यह अवधारित करने की शक्ति है कि क्या किसी सदन को कोई विशिष्ट विशेषाधिकार है या नहीं ।

(घ) उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अधीन या उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 32 के अधीन विधान मंडल के अवमान के लिए अधिरोपित दंडादेश की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप करते हुए कि वह याची के मूल अधिकार का उल्लंघन करता है बंदी प्रत्यक्षीकरण के लिए याचिका ग्रहण करने के लिए और याचिका के निपटाने तक बंदी को जमानत पर छोड़ने के लिए सक्षम है ।

(ङ) जब एक बार यह अवधारित हो जाता है कि एक विशेषाधिकार विद्यमान है तो सदन ही यह निर्णय करेगा कि उसका कब और किस प्रकार प्रयोग किया जाए। विशेषाधिकार के भंग की बाबत यदि सदन या उसके अध्यक्ष ने कोई गलत विनिश्चय किया है तो न्यायालय उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता ।

1950 के बाद जोड़े गए नए राज्य

1950 के बाद कुछ राज्यों के नाम बदले गए हैं (उदाहरण के लिए मद्रास का नाम तमिलनाडु, मैसूर का कर्नाटक) । संयुक्त प्रांत का नाम संविधान के स्वीकार किए जाने के तुरंत पश्चात् बदलकर उत्तर प्रदेश रख दिया गया । संविधान की पहली अनुसूची में राज्यों की सूची में बहुत से नाम जोड़े गए हैं जिसके कारण उनकी पहचान के लिए पाठकों को उनके बारे में एक संक्षिप्त नोट देना उचित होगा ।

आन्ध्र राज्य अधिनियम, 1953 द्वारा आंध्र राज्य बनाया गया जिसमें मद्रास राज्य के कुछ क्षेत्र रखे गए । राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 द्वारा इसे आंध्र प्रदेश नाम दिया गया ।

आंध्र प्रदेश ।

मुम्बई पुनर्गठन अधिनियम, 1960 द्वारा मुम्बई राज्य को गुजरात और महाराष्ट्र दो राज्यों में विभाजित कर दिया गया ।

गुजरात ।

केरल । राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 द्वारा मूल संविधान के भाग ख राज्य, ट्रावनकोर-कोचीन, के स्थान पर केरल राज्य बनाया गया ।

महाराष्ट्र । देखिए ऊपर गुजरात ।

नागालैंड । असम राज्य से नागा हिल्स-त्युएन्सांग क्षेत्र को निकाल कर नागालैंड राज्य अधिनियम, 1962 द्वारा नागालैंड का पृथक् राज्य बनाया गया ।

हरियाणा । पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 द्वारा पंजाब राज्य के राज्यक्षेत्र के एक भाग को काटकर भारत संघ का 17वां राज्य हरियाणा गठित किया गया ।

कर्नाटक । राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 द्वारा मूलतः भाग ख के मैसूर राज्य से मैसूर राज्य बनाया गया । 1973 में इसे कनार्टक नाम दिया गया ।

गत कुछ वर्षों में संघ राज्यक्षेत्र भी राज्य बनने की मांग करते रहे हैं । इनमें से

हिमाचल प्रदेश । हिमाचल प्रदेश को सबसे पहले हिमाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1970 अधिनियमित करके राज्य की सूची में 18वां राज्य बनाया गया । संविधान की पहली अनुसूची के राज्यक्षेत्रों की सूची में से इसका लोप किया गया ।

इसी रीति से मणिपुर और त्रिपुरा को (जो मूलतः भाग ग राज्य थे) पूर्वोत्तर क्षेत्र

मणिपुर और त्रिपुरा । (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 द्वारा संघ राज्यक्षेत्र की स्थिति से उठाकर राज्य बनाया गया ।

पहले मेघालय असम राज्य के भीतर एक उपराज्य या स्वायत्त राज्य के रूप में

मेघालय । बनाया गया । यह संविधान (23वां संशोधन) अधिनियम, 1969 द्वारा अनुच्छेद 241 और 371क अन्तःस्थापित करके किया गया । बाद में इसे पूर्ण राज्य का दर्जा किया गया और पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 द्वारा पहली अनुसूची में 21वें राज्य के रूप में प्रविष्ट किया गया ।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है (भारत के एक रक्षित राज्य) सिक्किम को संविधान

सिक्किम । (35वां संशोधन) अधिनियम, 1974 द्वारा सहयुक्त राज्य का दर्जा दिया गया । बाद में संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा उसे पहली अनुसूची में 22वें राज्य के रूप में जोड़ा गया ।

मिजोरम राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा मिजोरम को संघ राज्यक्षेत्र के दर्जे से उठाकर

मिजोरम । संविधान की पहली अनुसूची के 23वें राज्य के रूप में रखा गया है ।

इसी प्रक्रिया से अरुणाचल प्रदेश अधिनियम, 1986 अधिनियमित करके

अरुणाचल प्रदेश । अरुणाचल प्रदेश के संघ राज्यक्षेत्र को राज्य का दर्जा दिया गया ।

ऐसे ही गोवा, दमण और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 द्वारा इस संघ राज्यक्षेत्र

गोवा । में से गोवा प्रदेश को अलग करके उसे राज्य बना दिया गया है । दमण और दीव संघ राज्यक्षेत्र बना हुआ है ।

निर्देश

1. (क) आंध्र प्रदेश की विधान परिषद् को आंध्र प्रदेश विधान परिषद् (उत्सादन) अधिनियम, 1985 द्वारा उत्सादित कर दिया गया है । (ख) संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 8(2) के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा इस प्रभाव की अधिसूचना निकाले जाने के पश्चात् मध्य प्रदेश में भी द्वितीय सदन (विधान परिषद्) होगी । अभी तक ऐसी कोई अधिसूचना नहीं निकाली गई है और मध्य प्रदेश में केवल एक ही सदन है । (ग) तमिलनाडु की विधान परिषद् का अगस्त, 1986 में, तमिलनाडु विधान परिषद् (उत्सादन) अधिनियम, 1986 पारित करके उत्सादन कर दिया गया है ।
2. मुम्बई पुनर्गठन अधिनियम, 1960 द्वारा मुम्बई राज्य से महाराष्ट्र बनाया गया है ।
3. पश्चिमी बंगाल विधान परिषद् (उत्सादन) अधिनियम, 1969 के अधीन अधिसूचना निकाल कर पश्चिमी बंगाल ने 1-8-1969 से विधान परिषद् का उत्सादन कर दिया है और पंजाब ने, पंजाब विधान परिषद् (उत्सादन) अधिनियम, 1969 के अधीन अपनी विधान परिषद् का उत्सादन कर दिया है ।
4. राज्य विधान मंडलों की सदस्यता के लिए देखिए सारणी 15 ।
5. अक्तूबर 1990 में विभिन्न राज्यों के राज्यपालों द्वारा इस प्रकार नामनिर्दिष्ट आंग्ल-भारतीय समुदाय के सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी : आंध्र 1, बिहार 1, केरल 1, कर्नाटक 1, मध्य प्रदेश 1, मद्रास 1, महाराष्ट्र 1, उत्तर प्रदेश 1, पश्चिमी बंगाल 1 ।
6. मूलतः यह अवधि दस वर्ष की थी जिसे संविधान (8वां संशोधन) अधिनियम, 1959, 23वें संशोधन अधिनियम, 1969, 45वें संशोधन अधिनियम, 1980 और 62वें संशोधन अधिनियम, 1989 द्वारा बढ़ाकर पचास वर्ष कर दिया गया है ।
7. इस संदर्भ में हम इस बहुचर्चित प्रश्न की ओर निर्देश करेंगे कि क्या राज्यपाल को मुख्यमंत्री की सलाह के बिना या उसके विरुद्ध विधान सभा को विघटित करने या अनुच्छेद 356 के अधीन राज्य के विधान मंडल को निलम्बित करने का विवेकाधिकार है । मार्च, 1977 में लोक सभा के लिए जो साधारण निर्वाचन हुए थे उसमें कांग्रेस दल को जनता पार्टी से पराजय मिली । केन्द्र में जनता सरकार ने यह कहा कि इस जनमत को देखते हुए कांग्रेस दल को 9 राज्यों में सत्ता में बने रहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है । ये 9 राज्य थे बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल । इस दृष्टिकोण को अपनाते हुए संघ के गृह मंत्री (श्री चरण सिंह) ने 9 राज्यों के मुख्यमंत्रियों को विधान मंडल विघटित करने की सलाह देते हुए उनसे यह कहा कि वे जून, 1977 तक निर्वाचन कराएं (उनके विस्तारित कार्यकाल की अवधि मार्च, 1978 में समाप्त होने वाली थी) । किंतु कांग्रेस दल ने मुख्यमंत्रियों को यह सलाह दी कि वे इस दबाव में न आएं और यह तर्क दिया कि यह प्रस्थापना कि इंग्लैंड का सम्राट प्रधान मंत्री की सलाह के बिना संसद् का विघटन कर सकता है गलत और लुप्तप्रयोग है । सम्राट का यह विशेषाधिकार अब प्रधान मंत्री का विशेषाधिकार बन गया है । संक्षेप में ब्रिटिश संसदीय प्रणाली में, जिसे हमने अपने संविधान में अपनाया है, राज्यपाल, राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह के विरुद्ध विधान सभा का विघटन नहीं कर सकता । इस बात पर भी बल दिया गया कि अनुच्छेद 356 का प्रयोग इस प्रयोजन के लिए नहीं किया जा सकता ।

   यह प्रश्न अन्ततोगत्वा कुछ प्रभावित राज्यों द्वारा भारत संघ के विरुद्ध वाद के रूप में [अनुच्छेद 131 के अधीन] उच्चतम न्यायालय में ले जाया गया । सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने अस्थायी व्यादेश की प्रार्थना पर सुनवाई करते हुए वाद को खारिज कर दिया । न्यायाधीशों ने छह सम्मत निर्णयों में अलग-अलग कारण दिए (*राजस्थान राज्य* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1977 एस.सी. 1361) । न्यायाधीश निम्नलिखित बातों पर सहमत थे (i) विधान मंडल का विघटन करने के विनिश्चय के पीछे कार्यपालिका के कारण राजनीतिक हैं और उनका न्यायालय द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता । (ii) अनुच्छेद 356 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करने के प्रयोजन के लिए समाधान का प्रश्न भी ऐसा ही है, — जब तक कि यह दर्शित न कर दिया जाए कि कोई समाधान नहीं था या समाधान बाह्य आधारों पर आधारित था (पैरा 59, 63 (मु. न्या. बेग), 124 (चन्द्रचूड़ न्या.), 144 (न्या. भगवती और गुप्ता), 170 (न्या. गोस्वामी), 179 (उंटवालिया), 206 (न्या. फजल अली) । सभी न्यायाधीशों ने अभिलेख के तथ्यों के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया

कि यह निर्णय लेना संभव नहीं है कि संबंधित राज्यों में सांविधानिक प्रणाली को निलम्बित करते हुए अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति का आदेश दुर्भावपूर्ण था या बाह्य कारणों पर आधारित था ।

इसका परिणाम यह हुआ कि यदि संघ की प्रेरणा पर अनुच्छेद 356 के अधीन दी गई शक्ति के प्रयोग से राज्य विधान मंडल का विघटन हो जाता है तो व्यथित राज्य या व्यक्ति को न्यायालयों से कोई उपचार नहीं मिलेगा । उसके राजनीतिक औचित्य का प्रश्न एक पृथक् प्रश्न है जिस पर आपात शक्ति के अध्याय में विचार किया जाएगा ।

8. आरक्षण और वीटो का समस्त कृत्य विवेकाधीन है और न्यायालयों द्वारा इसका निर्णय नहीं किया जा सकता (*हेक्स्ट फार्मास्युटिकल्स* बनाम *बिहार राज्य,* ए.आई.आर. 1953 एस.सी. 1019 (पैरा 89) ।
9. उदाहरण के लिए अन्तरराज्यिक व्यापार या वाणिज्य पर युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करने वाला अध्यादेश [अनुच्छेद 304 का परंतुक] ।
10. उदाहरणार्थ संघ की शक्तियों को प्रभावित करने वाला अध्यादेश [अनुच्छेद 220] ।
11. उदाहरणार्थ उच्च न्यायालय की शक्ति को प्रभावित करने वाला अध्यादेश [अनुच्छेद 200 का दूसरा परंतुक] ।

15

जम्मू-कश्मीर राज्य

भारत के संविधान के अधीन जम्मू-कश्मीर राज्य की अनोखी स्थिति है ।

राज्य की अनोखी स्थिति ।

यह संविधान के अनुच्छेद 1 में यथापरिभाषित भारत के राज्यक्षेत्र का भाग है । यह संविधान की यथासंशोधित पहली अनुसूची में सम्मिलित 15वां राज्य है । मूल संविधान में जम्मू-कश्मीर राज्य को भाग ख राज्य विनिर्दिष्ट किया गया था । राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 ने भाग ख राज्यों के प्रवर्ग का उत्सादन कर दिया और संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 ने, जिसके द्वारा उस अधिनियम से किए गए परिवर्तनों को लागू किया गया था, जम्मू-कश्मीर राज्य को भारत संघ की राज्यों की सूची में सम्मिलित कर लिया । अब सभी राज्य एक ही प्रवर्ग के हैं ।

यह सब होते हुए भी मूल संविधान के अधीन [अनुच्छेद 370] जम्मू-कश्मीर राज्य की जो विशेष सांविधानिक स्थिति थी वह अभी भी बनी हुई है जिससे भारत के संविधान के सभी उपबंध जो पहली अनुसूची के राज्यों से संबंधित हैं जम्मू-कश्मीर को लागू नहीं होते हैं यद्यपि वह उस अनुसूची में विनिर्दिष्ट राज्यों में से एक है ।

जम्मू-कश्मीर राज्य के भारत में सम्मिलन का इतिहास ।

यह समझने के लिए कि क्यों जम्मू-कश्मीर राज्य भारत के संविधान की पहली अनुसूची में सम्मिलित राज्य होते हुए भी इस प्रकार अलग रखा गया है । उस राज्य से भारत के सांविधानिक संबंधों के विकास का सिंहावलोकन करना आवश्यक हो जाता है । ब्रिटिश शासन में जम्मू-कश्मीर राज्य एक देशी रियासत थी जिस पर एक आनुवंशिक महाराजा शासन करता था । 26-10-1947 को, पाकिस्तान की सहायता से आज़ाद कश्मीर की सेनाओं ने उस राज्य पर आक्रमण किया । तब महाराजा (सर हरीसिंह) को अन्य देशी रियासतों के शासकों द्वारा निष्पादित अंगीकार पत्र के समान अंगीकार पत्र निष्पादित करके भारत से सहायता मांगनी पड़ी थी । इस अंगीकार किए जाने से भारत डोमिनियन को उस रियासत पर प्रतिरक्षा, विदेश कार्य और संचार की बाबत अधिकारिता प्राप्त हो गए । अन्य देशी रियासतों की भांति जो संविधान के निर्माण के समय राजनीतिक इकाइयों के रूप में बनी रहीं, जम्मू-कश्मीर राज्य को 1950 में यथाप्रख्यापित भारत के संविधान की पहली अनुसूची में भाग ख राज्य में सम्मिलित किया गया ।

भारत के मूल संविधान के अधीन राज्य की स्थिति ।

यद्यपि इस राज्य को भाग ख राज्य में सम्मिलित किया गया किंतु भाग ख राज्यों को लागू संविधान के सभी उपबंध जम्मू-कश्मीर राज्य पर विस्तारित नहीं किए गए । यह अनोखी स्थिति इस तथ्य के कारण थी कि उस राज्य के भारत में विलय के समय की परिस्थितियों को देखते हुए भारत सरकार ने यह घोषित किया कि जम्मू-कश्मीर राज्य

के लोग अपनी संविधान सभा के माध्यम से कार्य करते हुए यह अंतिम रूप से अवधारित करेंगे कि राज्य का संविधान क्या होगा और भारत संघ की अधिकारिता क्या होगी । तदनुसार उस राज्य के बारे में संविधान के उपबंधों को लागू होना एक अनंतिम व्यवस्था के रूप में था (यह बात सारवान् रूप में भारत के संविधान के अनुच्छेद 370 में उपबंधित की गई है) ।

अंगीकार करने के परिणाम ।

भारत सरकार की उदारता को कुछ लोगों ने गलत समझा है और उसका गलत अर्थ लगाया है । उन्होंने भारत में इस राज्य के विलय के विधिक परिणामों पर ध्यान नहीं दिया । अतएव हमें उन विधिक परिणामों को स्पष्ट करना चाहिए जिससे उस विलय के तथ्य पर भ्रम के बादल फैलाने वाली राजनीतिक घटनाओं के कारण वे ओझल न हो जाएं । पहली ध्यान देने योग्य बात यह है कि महाराज सर हरीसिंह द्वारा 26-10-1947 को हस्ताक्षरित अंगीकार पत्र उसी प्ररूप में[1] था जिसमें अन्य रियासतों के शासकों ने जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के अधिनियमित होने के पश्चात् भारत में विलय के लिए निष्पादित किया था । जम्मू-कश्मीर राज्य के शासक द्वारा अंगीकार पत्र के निष्पादन के विधिक परिणाम अन्य देशी रियासतों की दशा में उसी तथ्य से उत्पन्न होने वाले परिणामों से भिन्न नहीं हो सकते । यह स्मरण रखना चाहिए[2] कि भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 की धारा 7(1)(ख) के अधीन सर्वोच्चता के व्यपगत हो जाने के कारण देशी रियासतों को आत्यंतिक प्रभुता प्राप्त हो गई थी । उन्हें यह स्थिति ब्रिटिश सम्राट द्वारा प्रभुता ग्रहण करने के पहले भी थी । देशी रियासतों के शासक इस बात के लिए सक्षम हो गए थे कि वे अपनी प्रभुता का प्रयोग करते हुए नवनिर्मित भारत में या पाकिस्तान की डोमिनियन में अपना विलय कर दें । जिन रियासतों ने पाकिस्तान में या भारत में विलय किया उनकी दशा में अंगीकार का पत्र और उसके विधिक आधार[3] एक से थे । इसलिए इस बारे में कोई संदेह नहीं कि विलय के कार्य के द्वारा जम्मू-कश्मीर राज्य भारत के राज्यक्षेत्र का विधिक रूप से और अप्रतिसंहरणीय रूप से अंग हो गया और भारत सरकार अंगीकार पत्र में लिखित विषयों की बाबत राज्य की अधिकारिता का प्रयोग करने की हकदार हो गई । यदि इसके होते हुए भी भारत सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि भारत और उस रियासत के बीच सांविधानिक संबंध या विलय राज्य के लोगों द्वारा पुष्टि के अधीन होगा तो कोई तीसरा पक्षकार किसी भी परिस्थिति में इस विधि बाह्य आश्वासन का लाभ उठाकर यह दावा नहीं कर सकता कि विधिक कार्य को पूरा नहीं किया जाना चाहिए ।

संविधान के वे अनुच्छेद जो राज्य को स्वयमेव लागू होते हैं ।

जब भारत ने 1949 में अपना संविधान बनाया तब यह स्वाभाविक था कि भारत सरकार की द्वैध मनोवृति संविधान में जम्मू-कश्मीर राज्य के बारे में प्रकट होती । विलय के कार्य को असंदिग्ध रूप से विधिक प्रभाव देते हुए यह घोषणा की गई कि जम्मू-कश्मीर भारत के राज्यक्षेत्र का भाग है [अनुच्छेद 1] । किन्तु भारत के संविधान के अन्य उपबंधों को जम्मू-कश्मीर को लागू होने को एक प्रायोगिक आधार दिया गया और उसे राज्य की संविधान सभा के अंतिम अनुमोदन के अधीन रखा गया। संविधान में यह उपबंध किया गया कि संविधान के अनुच्छेद 1 और अनुच्छेद 370 स्वयमेव जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू होंगे । अन्य अनुच्छेदों का लागू होना राज्य की सरकार के परामर्श से राष्ट्रपति द्वारा अवधारित किया जाएगा [अनुच्छेद 370] । राज्य पर संसद् का विधायी प्राधिकार भी संघ और समवर्ती सूची की उन्हीं मदों तक सीमित रहेगा जो अंगीकार पत्र में विनिर्दिष्ट विषय में तत्स्थानी हैं । यह अंतरिम व्यवस्था तब तक चलती रहेगी जब तक जम्मू-कश्मीर

की सांविधानिक सभा अपना विनिश्चय न कर दे । तब संविधान सभा की सिफारिशें राष्ट्रपति को भेजी जाएंगी जो अनुच्छेद 370 को निराकृत करेगा या संविधान सभा द्वारा की गई सिफारिशों के अनुसार उपांतरण करेगा ।

1950 का संविधान आदेश ।

संविधान के उपर्युक्त उपबंधों के अनुसरण में राष्ट्रपति ने संविधान (जम्मू-कश्मीर को लागू होना) आदेश, 1950 निकाला । यह जम्मू-कश्मीर राज्य की सरकार के परामर्श से निकाला गया था और इसमें वे मामले विनिर्दिष्ट थे जिनकी बाबत संघ की संसद् जम्मू-कश्मीर राज्य के लिए विधि बनाने के लिए सक्षम होगी । यह मामले उन तीन विषयों से संबंधित थे, अर्थात् प्रतिरक्षा, विदेश कार्य और संचार, जिनकी बाबत जम्मू-कश्मीर ने भारत में विलय किया था ।

पश्चात्वर्ती आदेश ।

इसके बाद भारत सरकार और उस राज्य की सरकार में दिल्ली में जून, 1952 में एक करार हुआ । यह उन विषयों के बारे में था जिनके संबंध में संघ की अधिकारिता जम्मू-कश्मीर की संविधान सभा के लम्बित रहने तक राज्य पर होगी । जम्मू-कश्मीर की विधान सभा ने 1954 में भारत में विलय का अनुमोदन किया और राज्य के भारत से भावी संबंध के बारे में दिल्ली करार के विनिश्चय की पुष्टि की । इसके अनुसरण में राष्ट्रपति ने राज्य सरकार से परामर्श करके संविधान (जम्मू-कश्मीर को लागू होना) आदेश, 1954 निकाला जो 14 मई, 1954 को प्रवृत्त हुआ । इस आदेश से संविधान सभा द्वारा अनुसमर्थित दिल्ली करार को लागू किया गया और 1950 के आदेश को अधिक्रांत किया गया । इस आदेश के अनुसार संघ की अधिकारिता भारत के संविधान के अधीन सभी संघ के विषयों पर विस्तारित की गई (कुछ मामूली से परिवर्तनों के अधीन रहते हुए) । पहले यह केवल तीन विषयों तक ही सीमित थी अर्थात् प्रतिरक्षा, विदेश कार्य और संचार जिनकी बाबत राज्य ने 1947 में भारत में विलय किया था । 1963, 1964, 1965, 1966, 1972, 1974 और 1976 में यथासंशोधित यह आदेश भारत के संविधान के ढांचे के भीतर राज्य की समग्र सांविधानिक स्थिति की व्यवस्था करता है । इसके अपवादस्वरूप राज्य सरकार की आंतरिक संरचना है जिसके लिए राज्य की संविधान सभा द्वारा संविधान बनाया[4] गया है ।

राज्य के संविधान का निर्माण ।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि किस प्रकार आरंभ में ही भारत सरकार ने यह घोषणा की थी कि जम्मू-कश्मीर के शासक द्वारा राज्य के भारत में विलय के होते हुए भी राज्य का भावी संविधान और राज्य के भारत से संबंध उस राज्य की संविधान सभा द्वारा अंतिम रूप से अवधारित किए जाएंगे । इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए राज्य के लोगों ने प्रभुत्वसंपन्न संविधान सभा का निर्वाचन किया जिसका पहला अधिवेशन 31-10-1951 को हुआ ।

संविधान (जम्मू-कश्मीर को लागू होना) आदेश, 1954 ने जम्मू-कश्मीर राज्य की सांविधानिक स्थिति सुस्थिर कर दी किंतु इसने जम्मू-कश्मीर राज्य के लोगों द्वारा अपना आंतरिक संविधान बनाने के बारे में दिए गए आश्वासनों को यथावत् रखा । राज्यों का संविधान (1950 में प्रख्यापित) भारत के संविधान के भाग 7 में दिया गया था किंतु जम्मू-कश्मीर राज्य का संविधान उस राज्य की संविधान सभा द्वारा बनाया जाने वाला था । दूसरे शब्दों में जम्मू-कश्मीर राज्य की कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका को शासित करने वाला उपबंध उस राज्य के लोगों द्वारा बनाए गए संविधान में ढूंढा जाना था । भारत के संविधान के तत्समान उपबंध उस राज्य को लागू नहीं थे ।

राज्य की संविधान सभा ने पहला कार्य यह किया कि उसने महाराजा के आनुवंशिक शासन को समाप्त कर दिया । भारत सरकार ने जब विलय स्वीकार किया था तब यह शर्त रखी थी कि महाराजा अपने राज्य में निर्वाचित सरकार बनाएगा । इस समझौते के अनुसरण में विलय के ठीक पश्चात् महाराजा ने अखिल जम्मू-कश्मीर नेशनल कांफ्रेंस के सभापति शेख मुहम्मद अब्दुल्ला को अंतरिम सरकार बनाने और राज्य का प्रशासन चलाने का निमंत्रण दिया । बाद में अंतरिम सरकार पूर्ण मंत्रिमंडल में परिवर्तित हो गई और शेख अब्दुल्ला प्रधान मंत्री बने । किंतु अब्दुल्ला मंत्रिमंडल को महाराजा सर हरीसिंह के शासन को समाप्त किए बिना चैन नहीं आया । सन् 1949 में महाराजा सर हरीसिंह को बाध्य किया गया कि वे अपने पुत्र युवराज कर्ण सिंह के पक्ष में गद्दी छोड़ दें । बाद में युवराज को राज्य की संविधान सभा ने (जो 31 अक्तूबर, 1951 को अस्तित्व में आई) सदर-ए-रियासत के रूप में निर्वाचित किया । इस प्रकार जम्मू-कश्मीर राज्य में राजाओं का शासन समाप्त हो गया और राज्य का प्रधान निर्वाचित व्यक्ति होने लगा । भारत सरकार के संविधान के अनुच्छेद 370(3) के अधीन राष्ट्रपति ने यह घोषणा करके (15-11-1952) कि संविधान के प्रयोजनों के लिए, जम्मू-कश्मीर राज्य की सरकार का अर्थ होगा, राज्य की मंत्रिपरिषद् की सलाह पर कार्य करते हुए जम्मू-कश्मीर का सदर-ए-रियासत, इस स्थिति को स्वीकार कर लिया । बाद में सदर-ए-रियासत का नाम बदल कर राज्यपाल कर दिया गया ।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि फरवरी, 1954 में जम्मू-कश्मीर की संविधान सभा ने राज्य के प्रथम विलय का अनुमोदन किया और इस प्रकार भारत सरकार द्वारा इस निमित्त दिए गए नैतिक आश्वासन को पूरा किया । संविधान सभा के इस कार्य के बाद राष्ट्रपति ने संविधान (जम्मू-कश्मीर को लागू होना) आदेश, 1954 प्रख्यापित करके संघ और राज्य के संबंधों को शासित करने वाले भारत के संविधान के उपबंधों को लागू होने को स्थायी आधार दिया ।

राज्य के आंतरिक शासन के लिए राज्य का संविधान बनाने का कार्य राज्य की संविधान सभा पर छोड़ दिया गया । इसके पहले नवम्बर, 1951 में संविधान सभा ने जम्मू-कश्मीर संविधान (संशोधन) अधिनियम बनाया था जिसमें आनुवंशिक महाराजा से निर्वाचित सदर-ए-रियासत के अधीन जनाधारित सरकार को शक्ति के अन्तरण को विधिक मान्यता दी गई थी । अक्तूबर, 1956 में संविधान सभा ने राज्य का स्थायी संविधान बनाने के लिए अनेक समितियां गठित कीं । प्रारूप समिति ने प्रारूप संविधान प्रस्तुत किया जिसे विचार-विमर्श के पश्चात् 17-11-1957 को अंतिम रूप से अंगीकार कर लिया गया और 26-11-1957 से प्रवृत्त किया गया । जम्मू-कश्मीर राज्य की यह विशेष बात है कि भारत के सभी राज्यों को शासित करने वाले भारत के संविधान के भाग 6 के उपबंधों के स्थान पर उस राज्य के प्रशासन के लिए एक पृथक् संविधान है ।[5]

(1984 तक यथासंशोधित) जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान के कुछ महत्वपूर्ण उपबंध इस प्रकार हैं :

राज्य के संविधान के महत्वपूर्ण उपबंध ।

संविधान जम्मू-कश्मीर राज्य को भारत संघ का अविभाज्य अंग घोषित करता है ।

इस राज्य का राज्यक्षेत्र उन सभी प्रदेशों से मिलकर बनता है जो 15 अगस्त, 1947 को उस राज्य के शासक की प्रभुता के अधीन था (अर्थात् इसके अंतर्गत जम्मू-कश्मीर राज्य के वे क्षेत्र भी हैं जो पाकिस्तान के अधिभोग में हैं) । इस उपबंध का संशोधन नहीं किया जा सकता । राज्य की कार्यपालिका और विधायी शक्ति का विस्तार सभी विषयों पर

है उन विषयों को छोड़कर जिनकी बाबत भारत के संविधान के उपबंधों के अधीन संसद् को राज्य के लिए विधियां बनाने की शक्ति है ।

प्रत्येक व्यक्ति जो भारत का नागरिक है या भारत का नागरिक समझा जाता है उस राज्य का स्थायी निवासी है यदि 14-5-1954 को वह राज्य की वर्ग 1 या वर्ग 2 की प्रजा था अथवा उस राज्य में विद्यमान रूप से स्थावर सम्पत्ति अर्जित करके वह उस राज्य में उस तारीख से पूर्व कम से कम दस वर्ष तक सामान्यतया निवासी रहा है । कोई व्यक्ति जो 14-5-1954 के पहले उस राज्य की वर्ग 1 या वर्ग 2 की प्रजा था और जो 1 मार्च, 1947 के पश्चात् उस राज्यक्षेत्र में जो अब पाकिस्तान में सम्मिलित है आव्रजन करने के पश्चात् जम्मू-कश्मीर राज्य में पुनःस्थापन की या स्थायी लौटने की अनुज्ञा लेकर लौटता है और यह अनुज्ञा राज्य विधान मंडल द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन किसी प्राधिकृत अधिनियम द्वारा दी गई है तो ऐसे लौटने पर वह राज्य का स्थायी निवासी हो जाएगा ।[6] स्थायी निवासियों को वे सभी अधिकार होंगे जो भारत के संविधान के अधीन प्रत्याभूत हैं (धारा 10) ।

जम्मू-कश्मीर के मूल संविधान के अधीन उस राज्य और भारत के अन्य राज्यों के बीच राज्य सरकार के प्रधान के बारे में अंतर था । शेष भारत में राज्य की कार्यपालिका के प्रधान को राज्यपाल कहा जाता था और वह राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता था [अनुच्छेद 152, 155] किंतु जम्मू-कश्मीर राज्य की कार्यपालिका का प्रधान सदर-ए-रियासत कहा जाता था और वह राज्य की विधान सभा द्वारा निर्वाचित होता था । इस विषमता को जम्मू-कश्मीर संविधान (6ठा संशोधन) अधिनियम, 1965 द्वारा हटा दिया गया है जिसके परिणामस्वरूप सदर-ए-रियासत के स्थान पर राज्यपाल नाम हो गया है और वह राष्ट्रपति द्वारा अपनी मुद्रा और हस्ताक्षर से नियुक्त किया जाता है (धारा 26-27) जैसा अन्य राज्यों में है [अनुच्छेद 155] । परिणामस्वरूप जम्मू-कश्मीर और अन्य राज्यों में इस बात पर अब कोई अंतर नहीं है । अन्य राज्यों के समान ही राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी और वह मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार उसका प्रयोग करेगा [मुख्यमंत्री की नियुक्ति और सांविधानिक तंत्र के विफल होने की दशा में राज्यपाल का शासन लागू करने के लिए उद्घोषणा निकालने के विषयों को छोड़कर (धारा 92)] । राज्यपाल पांच वर्ष की अवधि के लिए पद धारण करेगा । मुख्यमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधान परिषद् के प्रति उत्तरदायी होगी ।

राज्य का विधान मंडल राज्यपाल और दो सदनों से मिलकर बनेगा जिन्हें विधान सभा और विधान परिषद् कहा जाएगा । विधान सभा में 100 सदस्य होंगे जो राज्य के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वचिन द्वारा चुने जाएंगे । दो महिला सदस्य राज्यपाल द्वारा नामनिर्दिष्ट होंगी । विधान सभा में 24 स्थान राज्य के उन क्षेत्रों के लोगों द्वारा भरे जाने के लिए रिक्त रहेंगे जो पाकिस्तान के अधिभाग में हैं । विधान परिषद् 36 सदस्यों से मिलकर बनेगी । 11 सदस्य विधान सभा के सदस्यों द्वारा उन व्यक्तियों से चुने जाएंगे जो जम्मू-कश्मीर राज्य के निवासी हैं । इस प्रकार निर्वाचित सदस्यों में से कम से कम एक लद्दाख तहसील का होगा और एक कारगिल तहसील का होगा । ये दोनों ही राज्य के दूरवर्ती क्षेत्र हैं । विधान सभा के सदस्यों द्वारा 11 सदस्य उन व्यक्तियों में से चुने जाएंगे जो जम्मू प्रांत के निवासी हैं । शेष 14 व्यक्ति विभिन्न निर्वाचक मंडलों द्वारा निर्वाचित किए जाएंगे जैसे नगरपालिका और अन्य स्थानीय निकाय ।

राज्य के उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायमूर्ति और दो या अधिक अन्य न्यायाधीश होंगे । उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश भारत के मुख्य न्यायामूर्ति और राज्यपाल

से परामर्श के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा और मुख्य न्यायमूर्ति से भी परामर्श किया जाएगा ।

राज्य के लिए एक लोक सेवा आयोग होगा । आयोग और उसके अध्यक्ष की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाएगी ।

सिविल सेवा का प्रत्येक सदस्य या सिविल पद धारण करने वाला प्रत्येक व्यक्ति राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा ।

राज्य की राजभाषा उर्दू होगी किंतु जब तक विधान मंडल विधि द्वारा अन्यथा उपबंधित न करे राज्य के शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग चलता रहेगा (धारा 145) ।

राज्य के संविधान का संशोधन विधान सभा में विधेयक पुरःस्थापित करके और उसे प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की कुल सदस्यता के कम से कम दो-तिहाई बहुमत से पारित करके किया जा सकता है । किंतु राज्य और भारत संघ के बीच संबंध, राज्य की विधायी और कार्यपालिका शक्ति का विस्तार या राज्य के संबंध में लागू भारत के संविधान के उपबंधों के बारे में किसी उपबंध में कोई परिवर्तन करने वाला कोई विधेयक या संशोधन विधान मंडल के किसी सदन में पुरःस्थापित या प्रस्तावित नहीं किया जाएगा (धारा 147)

1975 का इंदिरा-अब्दुल्ला करार ।

पृथक् राज्य संविधान को अंगीकार करके राज्य में जो उदार अध्युपाय किए गए हैं उनके होते हुए भी जम्मू-कश्मीर के पाकिस्तान समर्थक तथ्य इस बात के लिए लगातार आंदोलन करते रहे कि राज्य पाकिस्तान में मिले या भारत में, इसके लिए अंतिम रूप से अवधारण करने के लिए जनमत संग्रह होना चाहिए । पाकिस्तान के पक्षधर 'प्लैबिसिट फ्रंट' द्वारा हिंसात्मक कार्य किए गए । यह दल भारत से कश्मीर को विलग करने के उद्देश्य से ही बनाया गया था । शेख अब्दुल्ला भी इन भारत विरोधी आंदोलनों से जुड़ गए और राज्य के प्रति भारत की नीति की आलोचना करने लगे । परिणामस्वरूप 1955 में उन्हें निवारक निरोध में रखना पड़ा । 1964 में उन्हें कुछ समय के लिए इस आधार पर छोड़ा गया कि उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया है । किंतु पुनः वे गलत रास्ते पर आ गए और उन्हें 1965 में भारत रक्षा नियम के अधीन निरुद्ध किया गया और अन्ततोगत्वा मई, 1971 में राज्य से निष्कासित किया गया । इसके बाद वे कभी पक्ष में बोलते थे और कभी विपक्ष में । भारत और प्लैबिसिट फ्रंट के प्रतिनिधियों के बीच बहुत सी वार्ताएं हुई और अन्त में 24 फरवरी, 1975 को एक करार की घोषणा की गई ।[7] इस करार का शुद्ध राजनीतिक परिणाम यह हुआ कि जनमतसंग्रह की मांग को अब्दुल्ला और उनके अनुयायियों ने त्याग दिया और यह तय पाया गया कि जम्मू-कश्मीर राज्य की संविधान के अनुच्छेद 370 के उपबंधों के अधीन विशेष स्थिति बनी रहेगी । इस अनुच्छेद को मूल संविधान में एक अस्थायी अध्युपाय बताया गया था । इस प्रकार उस राज्य और भारत संघ के बीच पूर्ण समामेलन की प्रगति जो 1954 में प्रारंभ हुई थी रुक गई और कुछ विषयों में राज्य की विधान सभा को अधिक स्वायत्तता प्राप्त हो गई ।

यह उल्लेखनीय है कि इस करार से उत्पन्न विषयों पर मतभेद के कारण अभी तक (अप्रैल, 1992) अनुच्छेद 370 के अधीन कोई नया राष्ट्रपति आदेश निकाल कर इस करार को लागू नहीं किया गया है ।[4]

जम्मू-कश्मीर राज्य और संघ के संबंध में यथाउपांतरित सांविधानिक स्थिति के विशेष लक्षण संक्षेप में इस प्रकार बताए जा सकते हैं :

(क) *संसद् की अधिकारिता* — जम्मू-कश्मीर के संबंध में संसद् की अधिकारिता

संघ सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों तक ही इस उपांतर के अधीन रहते हुए सीमित होगी कि उसे समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के विषय में कोई अधिकारिता नहीं होगी ।[8] राज्यों के संबंध में संसद् को विधान बनाने की अवशिष्ट शक्ति है । जम्मू-कश्मीर की दशा में अवशिष्ट शक्ति राज्य के विधान मंडल को है । इसके अपवादस्वरूप कुछ विषय हैं जो 1969 में विनिर्दिष्ट किए गए थे और जिनके लिए संसद् को अपवर्जनकारी शक्ति है । उदाहरण के लिए अध्यर्पण या विलग होने के या भारत की प्रभुता या अखंडता को विनष्ट करने के क्रियाकलापों का निरोध । अनुच्छेद 22(7) के अधीन जम्मू-कश्मीर निवारक निरोध की बाबत विधान बनाने की शक्ति संसद् के स्थान पर राज्य के विधान मंडल को होगी । अतएव संसद् द्वारा बनाई गई निवारक निरोध की विधि का विस्तार राज्य पर नहीं होगा ।

जम्मू-कश्मीर की संघ के संबंध में सांविधानिक स्थिति ।

संविधान (जम्मू-कश्मीर को लागू होना) आदेश, 1986 द्वारा अनुच्छेद 249 का विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य पर कर दिया गया है जिससे अब राष्ट्रीय हित में राज्य सभा में संकल्प पारित करके संसद् की अधिकारिता का विस्तार उस राज्य पर किया जा सकेगा (उदाहरण के लिए पाकिस्तान या चीन के आक्रमण से राज्य की सीमाओं की रक्षा के लिए) (संविधान आदेश 129) ।

(ख) *कुछ विषयों में राज्य की स्वायत्तता* — कुछ अन्य विषयों में भारतीय संसद् की व्यापक शक्तियों को सीमित किया गया है । ये विषय ऐसे हैं जिनकी बाबत संसद् जम्मू-कश्मीर की विधान मंडल की सम्मति के बिना कार्य नहीं कर सकेगी यदि ऐसे विधान से राज्य प्रभावित होता है । उदाहरण के लिए (i) राज्य के नाम या राज्यक्षेत्र में परिवर्तन [अनुच्छेद 3], (ii) राज्य के राज्यक्षेत्र के किसी भाग के व्ययन को प्रभावित करने वाली कोई अंतरराष्ट्रीय संधि या करार [अनुच्छेद 253] । इसी प्रकार जम्मू-कश्मीर राज्य की स्वायत्तता की रक्षा करने के लिए संघ की कार्यपालिका शक्ति पर भी कुछ बंधन लगाए गए हैं । ये विशेषाधिकार संघ के अन्य राज्यों को नहीं हैं । इस प्रकार,

(i) अनुच्छेद 352 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा आभ्यंतरिक अशांति के आधार पर की गई आपात की उद्घोषणा जम्मू-कश्मीर राज्य की सरकार की सहमति के बिना उस राज्य में प्रभावी नहीं होगी ।

(ii) इसी प्रकार उस राज्य की सरकार की सहमति के बिना भारत सरकार उस राज्य के व्ययन को प्रभावित करने वाला कोई विनिश्चय नहीं कर सकेगी ।

(iii) संघ को यह शक्ति नहीं है कि वह उसके द्वारा दिए गए निदेशों के अनुपालन में असफल रहने के आधार पर ही अनुच्छेद 365 के अधीन राज्य के संविधान को निलंबित कर सके ।

सांविधानिक तंत्र के असफल हो जाने की दशा में,[9] राज्य के संविधान में किए गए उपबंध के अनुसार राज्यपाल को, राष्ट्रपति की सहमति से यह शक्ति होगी कि वह राज्य की सरकार के सभी या कोई कृत्य (उच्च न्यायालय के कृत्यों को छोड़कर) स्वयं ग्रहण कर ले ।

(iv) संघ को जम्मू-कश्मीर राज्य का बाबत अनुच्छेद 360 के अधीन वित्तीय आपात की उद्घोषणा की शक्ति नहीं होगी ।

दूसरे शब्दों में जम्मू-कश्मीर राज्य और भारत संघ के बीच परिसंघीय संबंधों में अन्य राज्यों की अपेक्षा जम्मू-कश्मीर की दशा में राज्य के अधिकारों को अधिक आदर किया गया है ।

(ग) *मूल अधिकार और निदेशक तत्व* — राज्य की नीति के निदेशक तत्वों से संबंधित भारत के संविधान के भाग 4 के उपबंध जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू नहीं होते हैं । अनुच्छेद 19 के उपबंध 25 वर्ष की अवधि तक विशेष निर्बन्धन के अधीन रखे गए हैं । नियोजन, संपत्ति के अर्जन और निवास के विशेष अधिकार राज्य के स्थायी निवासियों को प्रदान किए गए हैं । इसके लिए एक नया अनुच्छेद 35क अंतःस्थापित किया गया है । अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) का लोप किया गया है जिससे संपत्ति का अधिकार इस राज्य में राज्य द्वारा प्रत्याभूत अधिकार है ।

(घ) *राज्य के लिए पृथक् संविधान* — भारत संघ के सभी राज्यों के लिए संविधान की व्यवस्था भारत के संविधान के भाग 6 में दी गई है । किंतु जम्मू-कश्मीर राज्य का अपना संविधान है (जो एक पृथक् संविधान सभा द्वारा बनाया गया है और 1957 में प्रख्यापित किया गया है) ।

(ङ) *राज्य के संविधान के संशोधन की प्रक्रिया* — जैसा ऊपर बताया गया है भारत के संविधान के अनुच्छेद 368 के उपबंध जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान के संशोधन के लिए लागू नहीं होते हैं । भारत के संविधान के संशोधन के लिए संसद् के अधिनियम की अपेक्षा होती है । जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान के उपबंध (उस राज्य और भारत संघ के बीच संबंधों से संबंधित उपबंधों को छोड़कर) राज्य की विधान सभा द्वारा अपनी शक्ति के दो-तिहाई बहुमत से पारित अधिनियम द्वारा संशोधित किए जा सकते हैं । किंतु यदि ऐसे संशोधन से राज्यपाल या निर्वाचन आयुक्त की शक्तियों पर प्रभाव पड़ता है तो यह तब तक प्रभावी न होगा जब तक वह राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित न किया जाए और राष्ट्रपति उसे अपनी अनुमति न दे दे ।

यह ध्यान देने योग्य है कि भारत के संविधान का संशोधन जम्मू-कश्मीर पर तभी विस्तारित होता है जब वह अनुच्छेद 370(1) के अधीन राष्ट्रपति आदेश द्वारा विस्तारित किया जाए ।

(च) संसद् जम्मू-कश्मीर राज्य के विधान मंडल की सहमति के बिना उस राज्य के क्षेत्र या सीमाओं में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती ।

(छ) *अन्य अधिकारिताएं* — संविधान आदेश का संशोधन करके नियंत्रक-महालेखापरीक्षक, निर्वाचन आयोग और उच्चतम न्यायालय की विशेष इजाजत की अधिकारिता का विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य पर किया गया है ।

अनुच्छेद 370 को समाप्त करने की शक्ति । अनुच्छेद 370 के खंड (3) में यह उपबंध है कि

"इस अनुच्छेद के पूर्वगामी उपबंधों में किसी बात के होते हुए भी, राष्ट्रपति लोक अधिसूचना द्वारा घोषणा कर सकेगा कि यह अनुच्छेद प्रवर्तन में नहीं रहेगा या ऐसे अपवादों और उपांतरणों सहित ही और ऐसी तारीख से, प्रवर्तन में रहेगा, जो वह विनिर्दिष्ट करे :

परंतु राष्ट्रपति द्वारा ऐसी अधिसूचना निकाले जाने से पहले खंड (2) में निर्दिष्ट उस राज्य की संविधान सभा की सिफारिश आवश्यक होगी ।"

हाल ही में भारतीय जनता पार्टी ने इस बात पर बल दिया है कि राष्ट्रपति को यह घोषित कर देना चाहिए कि अनुच्छेद 370 प्रवृत्त नहीं रहा । इससे जम्मू-कश्मीर की विशेष प्रास्थिति समाप्त हो जाएगी और वह राज्य भी अन्य राज्यों के स्तर पर आ जाएगा और संविधान के भाग 6 के सभी उपबंध उस पर लागू हो जाएंगे ।

खंड (3) के परंतुक में निर्दिष्ट संविधान सभा विद्यमान नहीं है इसलिए राष्ट्रपति

की शक्ति पर अब कोई बंधन नहीं है । भा.ज.पा. ने विशेष प्रास्थिति समाप्त करने के लिए ये तर्क प्रस्तुत किए हैं, –

(क) संविधान निर्माताओं का आशय यह था कि जम्मू-कश्मीर को अस्थायी रूप से विशेष प्रास्थिति दी जाए । इसीलिए अनुच्छेद 370 को भाग 21 में स्थान दिया गया जिसका शीर्षक है "अस्थायी, संक्रमणकालीन और विशेष उपबंध" और इस अनुच्छेद में खंड (3) जोड़ा गया ।

(ख) जम्मू-कश्मीर के लोगों ने इस विशेष प्रास्थिति का दुरुपयोग करके पाकिस्तान सरकार पाक अधिकृत कश्मीर के नेताओं के साथ षड्यंत्र करके पाकिस्तान से छिपे तौर पर आक्रमण करवाया है ।

कांग्रेस सरकार ने राजनैतिक कारणों से भा.ज.पा. की मांग का विरोध किया है । जब कभी भा.ज.पा. का शासन में बोलबाला होगा तब क्या होगा यह तो इतिहास ही बताएगा ।

निर्देश

1. देखिए व्हाईट पेपर आन इंडियन स्टेट्स (एम एस) 6, पृष्ठ 111, 165) ।
2. देखिए बसु, *कमेंट्री आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया,* 5वां संस्करण, जिल्द 4, पृष्ठ 38 ।
3. भारत शासन अधिनियम , 1935 की धारा 5-6, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 की धारा 7(1)(ख) के साथ पठित ।
4. फरवरी, 1975 में भारत सरकार और शेख अब्दुल्ला के बीच करार होने के पश्चात् बहुत से महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए । किंतु ब्यौरे के मामले में मतभेद होने के कारण इस करार को लागू नहीं किया जा सका (देखिए पाद टिप्पण 8 नीचे) ।
5. भाग 6 के प्रयोजन के लिए (अनुच्छेद 152 में) राज्य की परिभाषा से जम्मू-कश्मीर राज्य को अलग किया गया है ।
6. जम्मू-कश्मीर विधान मंडल द्वारा पुनर्स्थापन विधेयक द्वारा इस स्थिति को अब अधिक परिवर्तित किया जा रहा है । परिणामस्वरूप इस विधेयक को उच्चतम न्यायालय को उसकी सांविधानिक विधिमान्यता पर अपनी राय देने के लिए निर्दिष्ट किया गया है ।
7. देखिए *स्टेट्समैन,* कलकत्ता 25-2-1975 (पृष्ठ 1-7) । इस करार के बाद उन्हें शीघ्र छोड़ दिया गया और फरवरी, 1975 में मीर कासिम मंत्रिमंडल के पद त्याग करने पर मुख्यमंत्री बना दिया गया । जुलाई, 1975 में हुए निर्वाचन में शेख अब्दुल्ला जम्मू-कश्मीर की विधान सभा के लिए निर्वाचित हुए और इस प्रकार निर्वाचन द्वारा उनकी मुख्यमंत्री के रूप में पुष्टि हुई । वे 1982 में अपनी मृत्यु तक इसी पद पर थे ।
8. 1963 में आदेश के संशोधित होने तक समस्त समवर्ती सूची जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू नहीं होती है । इसके लागू होने का विस्तार संशोधन आदेश, 1964 द्वारा किया गया । इसके कुछ अपवाद 1972 में बनाए गए ।

भाग 4

संघ राज्यक्षेत्र और विशेष क्षेत्रों का प्रशासन

16

संघ राज्यक्षेत्र और अर्जित राज्यक्षेत्रों का प्रशासन

संघ राज्यक्षेत्रों का उद्‌भव ।

जैसा हम पहले बता चुके हैं, 1949 के मूल संविधान में राज्यों को तीन प्रवर्गों में बांट कर संविधान की पहली अनुसूची के भाग क, ख, और ग में सम्मिलित किया गया था । भाग ग राज्यों की संख्या 10 थी । वे थे अजमेर, भोपाल, बिलासपुर, कोड़गू, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा और विंध्य प्रदेश कुछ छोटी-छोटी देशी रियासतों को मिलाकर बनाए गए । शेष अजमेर, दिल्ली और कोड़गू राज्य, भारत शासन अधिनियम, 1919 और 1935 के अधीन मुख्य आयुक्त के प्रांत थे और संविधान के लागू होने के पहले केंद्र द्वारा प्रशासित होते थे ।

ग राज्यों का विशेष लक्षण यह था कि उनका प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा मुख्य आयुक्त या उपराज्यपाल के माध्यम से चलाया जाता था । आयुक्त या उपराज्यपाल, राष्ट्रपति के अभिकर्ता होते थे । संसद् को भाग ग राज्यों की बाबत किसी भी विषय पर विधान बनाने की शक्ति थी । किंतु संविधान ने संसद् को यह शक्ति दी कि वह भाग ग राज्यों के लिए भी विधान मंडल और सलाहकार परिषद् या मंत्रिपरिषद् की रचना कर सके । इस शक्ति के प्रयोग में संसद् ने *भाग ग राज्य अधिनियम, 1951* अधिनियमित किया जिसके द्वारा प्रत्येक भाग ग राज्य में, राष्ट्रपति के नियंत्रण के अधीन मुख्य आयुक्त को सलाह देने के लिए एक सलाहकार या मंत्रिपरिषद् की रचना की गई तथा संसद् की व्यापक शक्तियों का अल्पीकरण किए बिना ही राज्य के विधान मंडल के रूप में कार्य करने के लिए एक विधान सभा भी बनाई गई ।

इन भाग ग राज्यों के स्थान पर, संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा संघ राज्यक्षेत्र का एक नया प्रवर्ग बनाया गया जिसका प्रशासन संघ द्वारा उसी प्रकार किया जाता है । राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 द्वारा राज्यों के पुनर्गठन के परिणामस्वरूप अजमेर, भोपाल, कोड़गू, कच्छ और विंध्य प्रदेश के भाग ग राज्य अपने सन्निकट राज्यों में विलीन कर दिए गए ।

संघ राज्यक्षेत्र ।

तदनुसार संघ राज्यक्षेत्र की सूची में निम्न भाग ग राज्य थे, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश[1] (जिसमें बिलासपुर सम्मिलित था), मणिपुर और त्रिपुरा[1] । इनमें अंदमान और निकोबार द्वीप समूह और लक्कादीव और अमीनदीवी द्वीप समूह को जोड़ दिया गया । मूल संविधान के अधीन, अंदमान और निकोबार द्वीप को पहली अनुसूची के भाग घ में सम्मिलित किया गया था । लक्कादीव, मिनिकाय और अमीनदीवी द्वीप समूहों को (जिसका नाम अब 1973 से लक्षद्वीप हो गया है) मद्रास राज्य

के राज्यक्षेत्र में सम्मिलित किया गया था । राज्य पुनर्गठन अधिनियम और संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा पहली अनुसूची के भाग घ का उत्सादन कर दिया गया और उसे एक पृथक् संघ राज्यक्षेत्र बनाया गया ।

संविधान (दसवां, बारहवां, चौदहवां और सत्ताईसवां) संशोधन अधिनियमों द्वारा कुछ और प्रदेशों को संघ राज्यक्षेत्र की सूची में सम्मिलित किया गया ।

इनमें से कुछ संघ राज्यक्षेत्र (हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोवा)[1] राज्य के प्रवर्ग में सम्मिलित कर लिए गए । अतएव 1992 में संघ राज्यक्षेत्रों की संख्या अब सात है ।[1] (देखिए आगे सारणी 3)

यद्यपि संघ राज्यक्षेत्र एक ही प्रवर्ग के हैं किंतु विभिन्न संघ राज्यक्षेत्रों के बीच प्रशासन की वास्तविक प्रणाली में अंतर है । यह संविधान के उपबंधों के कारण और संसद् के उन अधिनियमों के कारण है जो संविधान के उपबंधों के अनुसरण में बनाए गए हैं ।

प्रशासक ।

अनुच्छेद 239(1) में यह उपबंध है कि संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा यथाअन्यथा उपबन्धित के सिवाय, राष्ट्रपति प्रत्येक संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासन अपने द्वारा ऐसे पदाभिधान सहित, जो वह विनिर्दिष्ट करे, नियुक्त किए गए प्रशासक के माध्यम से उस मात्रा तक कार्य करते हुए करेगा जितनी वह ठीक समझता है ।[2] राष्ट्रपति बाहर के किसी प्रशासक को नियुक्त करने के स्थान पर किसी राज्य के राज्यपाल को किसी निकटवर्ती संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासक नियुक्त कर सकेगा और जहां कोई राज्यपाल इस प्रकार नियुक्त किया जाता है वहां वह ऐसे प्रशासक के रूप में अपने कृत्यों का प्रयोग अपनी मंत्रिपरिषद् से स्वतंत्र रूप से करेगा [अनुच्छेद 239(2)] ।

इस प्रकार सभी संघ राज्यक्षेत्र राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करते हुए प्रशासक द्वारा प्रशासित होते हैं । राज्य के प्रमुख के रूप में कार्य करते हुए राज्यपाल द्वारा नहीं ।

विधान सभा और मंत्रिपरिषद् के लिए उपबंध ।

1962 में संविधान का संशोधन करके अनुच्छेद 239क (37वें संशोधन अधिनियम द्वारा 1974 में यथासंशोधित) अन्तःस्थापित करके संसद् को यह शक्ति दी गई कि वह गोवा, दमण और दीव, पाण्डिचेरी, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश के संघ राज्यक्षेत्रों के लिए विधान मंडल या मंत्रिपरिषद् या दोनों का सृजन कर सकेगी । इस शक्ति के प्रयोग में संसद् ने संघ राज्यक्षेत्र शासन अधिनियम, 1963 अधिनियमित करके इन राज्यों में से प्रत्येक के लिए विधान सभा और प्रशासक को सलाह देने के लिए मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था की थी । अब केवल पांडिचेरी ही इस प्रवर्ग में है ।

संविधान (69वां संशोधन) अधिनियम, 1991 [देखिए सारणी 4] से दिल्ली को भी इस सूची में सम्मिलित किया गया है । यह अधिनियम 1-2-1992 को प्रवृत्त हुआ है । इस अधिनियम द्वारा संविधान में दो अनुच्छेद 239कक, 239कख अंतःस्थापित किए गए है । जब इस अधिनियम के अधीन निर्वाचन होंगे तब दिल्ली में महानगर परिषद् के स्थान पर विधान सभा स्थापित हो जाएगी ।

विधायी शक्ति ।

संसद् को संघ राज्यक्षेत्र पर अनन्य विधायी शक्ति है । इसमें वे विषय भी सम्मिलित हैं जो राज्य सूची में प्रगणित हैं [अनुच्छेद 246(4)] । किंतु द्वीप समूह वाले दोनों राज्यक्षेत्रों के लिए, दादरा और नागर हवेली, दमण और दीव और पाण्डिचेरी के लिए राष्ट्रपति को विधायी शक्ति है अर्थात् संघ राज्यक्षेत्रों की शांति, प्रगति और सुशासन के लिए विनियम बनाने की शक्ति है ।

राष्ट्रपति की यह शक्ति संसद् की विधायी शक्ति का अध्यारोहण करती है क्योंकि इन राज्यक्षेत्रों के बारे में राष्ट्रपति द्वारा बनाया गया विनियम संसद् के उस अधिनियम को निरसित या संशोधित कर सकता है जो तत्समय संघ राज्यक्षेत्र को लागू किया गया है [अनुच्छेद 240(2)] । किंतु जब ऐसे किसी राज्यक्षेत्र में विधान सभा कार्य करती है तब राष्ट्रपति की विनियम बनाने की शक्ति निलंबित रहेगी । विधान मंडल के विघटित या निलंबित किए जाने पर शक्ति जीवित हो जाएगी ।

राष्ट्रपति की अंदमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप और अन्य द्वीप समूहों के बारे में विनियम बनाने की शक्ति ।

संसद् विधि द्वारा किसी संघ राज्यक्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय गठित कर सकेगी या ऐसे किसी राज्यक्षेत्र में किसी न्यायालय को इस संविधान के सभी या किन्हीं प्रयोजनों के लिए उच्च न्यायालय घोषित कर सकेगी [अनुच्छेद 241] । जब तक ऐसा विधान नहीं बनाया जाता है तब तक ऐसे राज्यक्षेत्रों के संबंध में विद्यमान उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते रहेंगे । अभी पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ उच्च न्यायालय के रूप में कार्य कर रहा है । लक्षद्वीप, केरल उच्च न्यायालय की अधिकारिता के अधीन है । कलकत्ता उच्च न्यायालय की अधिकारिता अंदमान और निकोबार द्वीप पर है (देखिए सारणी 16) । मद्रास उच्च न्यायालय की अधिकारिता पाण्डिचेरी पर है । मुम्बई उच्च न्यायालय की दादरा और नागर हवेली पर तथा गुवाहाटी उच्च न्यायालय की मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश पर है । गोवा, दमण और दीव के संघ राज्यक्षेत्र में न्यायिक आयुक्त था किंतु हाल ही में इस राज्यक्षेत्र पर मुम्बई उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार कर दिया गया है । 1966 से दिल्ली का एक पृथक् उच्च न्यायालय है ।

संघ राज्यक्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय ।

संविधान में अर्जित राज्यक्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में पृथक् उपबंध नहीं हैं किंतु संघ राज्यक्षेत्र की परिभाषा के आधार पर इसके [अनुच्छेद 366(30)] अन्तर्गत "पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट कोई संघ राज्यक्षेत्र है और इसके अन्तर्गत ऐसा अन्य राज्यक्षेत्र है जो भारत के राज्यक्षेत्र में समाविष्ट है किंतु उस अनुसूची में विनिर्दिष्ट नहीं है" । इस प्रकार पाण्डिचेरी, करायकल, यनम और माहे का भारत के राष्ट्रपति द्वारा मुख्य आयुक्त के माध्यम से प्रशासन किया जा रहा था । यह तब तक चलता रहा जब तक 1962 में वह संघ राज्यक्षेत्र नहीं बन गया । संघ राज्यक्षेत्रों के समान ही ऐसे संघ राज्यक्षेत्र के बारे में संसद् को विधान बनाने की व्यापक शक्ति है [अनुच्छेद 246(4)] ।

अर्जित राज्यक्षेत्र ।

निर्देश

1. हिमाचल प्रदेश को हिमाचल प्रदेश अधिनियम, 1970 द्वारा मणिपुर और त्रिपुरा को पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन अधिनियम, 1971) द्वारा अब राज्यों के प्रवर्ग में अन्तरित कर दिया गया है । इसी प्रकार मिजोरम राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा और अरुणाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश के संघ राज्यक्षेत्रों को राज्य बना दिया गया है । गोवा, दमण और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 द्वारा गोवा को राज्य का दर्जा दिया गया है ।
2. विभिन्न संघ राज्यक्षेत्रों के बारे में राष्ट्रपति ने अलग-अलग पदनाम विनिर्दिष्ट किए हैं ।
   (क) प्रशासक — चंडीगढ़, दमण और दीव, दादरा और नागर हवेली, लक्षद्वीप ।
   (ख) उपराज्यपाल — दिल्ली, पाण्डिचेरी, अंदमान और निकोबार द्वीप ।

17

अनुसूचित और जनजाति क्षेत्रों का प्रशासन

अनुसूचित क्षेत्र ।

संविधान में असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम से भिन्न राज्यों में[1] "अनुसूचित क्षेत्र" कहलाने वाले कुछ क्षेत्रों के प्रशासन के लिए विशेष उपबंध हैं, चाहे ऐसे क्षेत्र किसी राज्य में अवस्थित हों या संघ राज्यक्षेत्र में [अनुच्छेद 244(1)] । सम्भवतः यह उन क्षेत्रों के लोगों के पिछड़ेपन के आधार पर किया गया है । संसद् द्वारा बनाए गए विधान के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति को वह शक्ति दी गई है कि वह किसी क्षेत्र को "अनुसूचित क्षेत्र" घोषित कर दे [पांचवीं अनुसूची, पैरा 6, 7] । राष्ट्रपति ने इस शक्ति के अनुसरण में अनुसूचित क्षेत्र आदेश, 1950 निकाला है । यह क्षेत्र असम, मेघालय, त्रिपुरा या मिजोरम[1] से भिन्न राज्यों में "अनुसूचित जनजाति" के रूप में विनिर्दिष्ट जनजातियों के निवास के क्षेत्र हैं[1] । ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन के विशेष उपबंध 5वीं अनुसूची में दिए गए हैं ।

जनजाति क्षेत्र ।

असम, मेघालय, त्रिपुरा[2] और मिजोरम के जनजाति क्षेत्रों के बारे में पृथक् व्यवस्था की गई है [अनुच्छेद 244(2)] और उनके प्रशासन के लिए उपबन्ध संविधान की छठी अनुसूची में किए गए हैं ।

पांचवी और छठी अनुसूची में दी गई प्रशासन की प्रणाली संक्षेप में इस प्रकार हैः

असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम से भिन्न राज्यों में अनुसूचित क्षेत्रों का प्रशासन ।

I. संविधान की पांचवीं अनुसूची में असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम से भिन्न राज्यों में अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन और नियंत्रण की व्यवस्था है । इस अनुसूची में उपबंधित प्रशासन के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैंः

संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार राज्य को उक्त क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में निर्देश देने तक होगा [अनुसूची 5, पैरा 3] । ऐसे राज्य का राज्यपाल, जिसमें अनुसूचित क्षेत्र है, प्रति वर्ष या जब भी राष्ट्रपति इस प्रकार अपेक्षा करे, उस राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देगा [अनुसूची 5, पैरा 3] । उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण और उन्नति से संबंधित ऐसे विषयों पर सलाह देने के लिए, जो उसको राज्यपाल द्वारा निर्देश किया जाए, जनजाति सलाहकार परिषदों का गठन किया जाएगा [अनुसूची 5, पैरा 4] ।

राज्यपाल को यह प्राधिकार दिया गया है कि वह यह निदेश दे सकेगा कि संसद् का या उस राज्य के विधान मंडल का कोई विशिष्ट अधिनियम उस राज्य के अनुसूचित क्षेत्र को लागू नहीं होगा या अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए लागू होगा । राज्यपाल को यह प्राधिकार भी दिया गया है कि वह अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों द्वारा या उनमें भूमि के अन्तरण का प्रतिषेध या निर्बन्धन कर सकेगा । वह भूमि के आबंटन

का और साहूकार के रूप में कारबार का विनियमन कर सकेगा । राज्यपाल द्वारा बनाए गए इन सभी विनियमों को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करनी होगी [अनुसूची 5, पैरा 5] ।

अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातियों के प्रशासन से संबंधित संविधान के इन उपबंधों को संसद् द्वारा सामान्य विधान द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है । इसके लिए संविधान के संशोधन से संबंधित औपचारिकताओं को करने की अपेक्षा नहीं होगी [अनुसूची 5, पैरा 7(2)] ।

संविधान में, अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और राज्यों में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था है । राष्ट्रपति ऐसे आयोग को कभी भी नियुक्त कर सकता है किंतु संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति पर ऐसे आयोग को नियुक्त करना आबद्धकर है [अनुच्छेद 339(1)] । 1960 में तदनुसार एक आयोग की नियुक्ति की गई थी (इसके अध्यक्ष श्री ढेबर थे) । उसने राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन 1961 के अंत में प्रस्तुत किया ।

असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के जनजाति क्षेत्र ।

II. असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के जनजाति क्षेत्र संविधान की छठी अनुसूची में दी गई सारणी में विनिर्दिष्ट हैं (पैरा 20) । इसमें अनेकों संशोधन किए गए हैं । मूलतः यह दो भागों में था — क और ख । किंतु नागालैंड राज्य की रचना के बाद (1972, 1984 और 1988 में यथासंशोधित) इस सारणी में 9 क्षेत्र हैं जो चार भागों में हैं :

भाग I—1. उत्तरी कछार पहाड़ी जिला, 2. कार्बी आंगलांग जिला ।

भाग II—1. खासी पहाड़ी जिला, 2. जयन्तिया पहाड़ी जिला, 3. गारो पहाड़ी जिला (मेघालय में) ।

भाग III—1. चकमा जिला, 2. मारा जिला, 3. लइ जिला । संविधान (49वां संशोधन) अधिनियम, 1984 द्वारा इसमें एक चौथा भाग — "भाग 2क — त्रिपुरा जनजाति क्षेत्र जिला" जोड़ा गया है ।

असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम[2] से भिन्न राज्यों में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में अनुसूची 5 में व्यवस्था की गई है । छठी अनुसूची में असम, मेघालय, त्रिपुरा[2] तथा मिजोरम के जनजाति क्षेत्रों के बारे में उपबंध है ।

ये जनजाति क्षेत्र स्वशासी जिले के रूप में प्रशासित किए जाएंगे । ये स्वशासी जिले राज्य सरकार के कार्यपालक प्राधिकार के बाहर नहीं हैं किंतु कुछ विधायी और न्यायिक कृत्यों के प्रयोग के लिए जिला परिषद् और प्रादेशिक परिषदों के सृजन का उपबन्ध किया गया है । ये परिषदें प्राथमिक रूप से पृथक् निकाय हैं और उन्हें कुछ विनिर्दिष्ट क्षेत्रों में विधान बनाने की शक्ति है[3] जैसे आरक्षित वन से भिन्न वन का प्रबन्ध, सम्पत्ति की विरासत, विवाह और सामाजिक रीति रिवाज़ । राज्यपाल इन परिषदों को कुछ वादों या अपराधों के विचारण की शक्ति भी प्रदान कर सकता है ।[4] इन परिषदों को भू-राजस्व के निर्धारण और संग्रहण की तथा कुछ विनिर्दिष्ट कर अधिरोपित करने की शक्ति भी है । इन परिषदों द्वारा बनाई गई विधि तब तक निष्प्रभावी होगी जब तक राज्यपाल उसे अनुमति प्रदान न करे ।

राज्य विधान मंडल के उन विषयों की बाबत अधिनियम, जिन पर जिला और प्रादेशिक परिषद् को विधि बनाने के लिए सशक्त किया गया है, ऐसे क्षेत्रों को विस्तारित नहीं होंगे जब तक कि सुसंगत जिला परिषद् लोक अधिसूचना द्वारा इस प्रकार निदेश न करे ।[5] अन्य विषयों के बारे में केंद्रीय अधिनियम के संबंध में राष्ट्रपति और राज्य

अधिनियम के संबंध में राज्यपाल यह निदेश दे सकता है कि संसद् या असम विधान मंडल का अधिनियम स्वशासी जिले को लागू नहीं होगा या ऐसे अपवादों या उपांतरणों के अधीन रहते हुए लागू होगा जो वह अधिसूचना में विनिर्दिष्ट करे ।

इन परिषदों को न्यायिक, सिविल और दाण्डिक शक्तियां होंगी और वे उच्च न्यायालय की अधिकारिता के इस प्रकार अधीन होंगे जो राज्यपाल समय-समय पर विनिर्दिष्ट करे ।

निर्देश

1. 1984 में ये राज्य थे आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और राजस्थान (*इंडिया* 1984, पृष्ठ 152) ।
2. इसमें मेघालय, पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 द्वारा: त्रिपुरा, संविधान (49वां संशोधन) अधिनियम, 1984 द्वारा और मिजोरम, मिजोरम राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा जोड़ा गया ।
3. पैरा 3, छठी अनुसूची ।
4. पैरा 4, छठी अनुसूची ।
5. पैरा 12, 12क, 12कक और 12ख, छठी अनुसूची ।

भाग 5

न्यायपालिका

18

न्यायपालिका का गठन — साधारण

न्यायिक शक्ति का परिसंघीय वितरण नहीं ।

जैसा हम पहले बता चुके हैं कि परिसंघ प्रणाली बनने पर भी भारत के संविधान ने उस प्रकार न्यायालयों की दोहरी प्रणाली नहीं रखी है जैसा अमेरिका में है । हमारे संविधान के अधीन संघ और राज्य दोनों के लिए न्याय की एक ही प्रणाली है जो संघ और राज्य की विधियों का प्रशासन करती है । इस समस्त प्रणाली के शीर्ष पर भारत का उच्चतम न्यायालय है । उच्चतम न्यायालय के नीचे विभिन्न राज्यों के उच्च न्यायालय हैं और प्रत्येक उच्च न्यायालय के नीचे अन्य न्यायालयों का सोपान क्रम है जिन्हें संविधान में अधीनस्थ न्यायालय कहा गया है अर्थात् वे न्यायालय जो उच्च न्यायालय के अधीनस्थ और उसके नियंत्रण के अधीन हैं [अनुच्छेद 233-237] ।

अधीनस्थ न्यायपालिका का गठन अलग-अलग राज्यों में किंचित्मात्र पृथक् है । किंतु इसके सारवान लक्षण को आगे सारणी के प्रति निर्देश से स्पष्ट किया जा सकेगा । यह सारणी अधिकांश राज्यों में प्रचलित प्रणाली के प्रति निर्देश से बनाई गई है ।

न्यायालयों का सोपान क्रम ।

सबसे निचले चरण में न्यायालय दो शाखाओं में — सिविल और दाण्डिक — विभाजित हैं । ग्राम स्वराज अधिनियम के अधीन संघ न्यायालय और पीठ न्यायालय बनाए गए थे जो सबसे निम्न सोपान के सिविल और दाण्डिक न्यायालय थे । उनके स्थान पर संविधान के पश्चात् बनाए गए राज्यों के विधानों द्वारा पंचायत न्यायालय आ गए हैं । पंचायत न्यायालय, सिविल और दाण्डिक दोनों पक्षों में विभिन्न देशी नामों से काम करते हैं जैसे न्याय पंचायत, पंचायत अदालत, ग्राम कचहरी आदि । कुछ राज्यों में पंचायत न्यायालय सबसे कम अधिकारिता वाले दाण्डिक न्यायालय हैं जिनमें छोटे-मोटे मामले आते हैं ।[1]

इसके ठीक बाद का उच्चतर सिविल न्यायालय है मुंसिफ का न्यायालय, जिसे एक हजार से पांच हजार रुपए तक के दावों की अधिकारिता है (कुछ विशेष रूप से शक्ति प्रदान किए गए मामले में) । मुंसिफ के ऊपर अधीनस्थ न्यायाधीश हैं जिनकी सिविल वादों में दंड संबंधी अधिकारिता असीमित है । ये मुंसिफों के निर्णयों से पहली अपील सुनते हैं । जिला न्यायाधीश, अधीनस्थ न्यायाधीश और मुंसिफों के (यदि वे अधीनस्थ न्यायाधीश को अंतरित नहीं किए गए हैं तो) विनिश्चयों से पहली अपील सुनते हैं । जिला न्यायाधीश को सिविल और दाण्डिक दोनों मामलों में बिना सीमा के आरम्भिक अधिकारिता है । कम मूल्यों के वादों का विचारण प्रांतीय लघुवाद न्यायालयों में होता है । जिलों में, जिला न्यायाधीश सर्वोपरि न्यायिक प्राधिकारी (सिविल और दाण्डिक) होता है । वह वरिष्ठ मजिस्ट्रेटों के विनिश्चयों से अपील सुनता है और कुछ गम्भीर दाण्डिक मामलों का विचारण करता है । इन मामलों को सेशन के मामले कहते हैं । कभी-कभी अधीनस्थ

न्यायाधीश को सहायक सेशन न्यायाधीश की शक्तियां दी जाती हैं । ऐसा होने पर जिला न्यायाधीश के समान उसे भी सिविल और दाण्डिक दोनों प्रकार की शक्तियां होती हैं ।[1]

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधिनियमित किए जाने के पश्चात् दाण्डिक मामलों का विचारण अनन्य रूप से न्यायिक मजिस्ट्रेटों द्वारा किया जाता है । जम्मू-कश्मीर और नागालैंड इसका अपवाद हैं । वहां यह संहिता लागू नहीं होती । जिले में दाण्डिक न्यायालयों का प्रमुख मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट होता है । कलकत्ता और अन्य महानगर क्षेत्रों में महानगर मजिस्ट्रेट होता है ।[1] न्यायिक कृत्यों का निर्वहन करने वाले न्यायिक और महानगर मजिस्ट्रेट राज्य के उच्चतम न्यायालय के प्रशासनिक नियंत्रण के अधीन होते हैं । ये कार्यपालिका मजिस्ट्रेट से भिन्न होते हैं जो राज्य की सरकार के नियंत्रण के अधीन विधि और व्यवस्था बनाए रखने का कार्यपालिका कृत्य करते हैं ।

प्रेसिडेंसी नगरों में जिन्हें अब महानगर क्षेत्र कहा जाता है न्यायिक प्रशासन के लिए विशेष प्रबन्ध हैं । कलकत्ता उच्च न्यायालय का आरम्भिक पक्ष प्रेसिडेंसी नगर के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले बड़े-बड़े सिविल वादों का विचारण करता है । नगर के भीतर कम मूल्य वाले वादों का विचारण नगर सिविल न्यायालय और प्रेसिडेंसी लघुवाद न्यायालय करता है किंतु कलकत्ता सहित सभी उच्च न्यायालयों की आरम्भिक दाण्डिक अधिकारिता, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 द्वारा छीन ली गई हैं ।[1]

उच्च न्यायालय राज्य का सर्वोपरि न्यायिक अधिकरण है जिसे आरम्भिक और अपीली दोनों अधिकारिताएं हैं । यह जिला और सेशन न्यायाधीश, प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट और उच्च न्यायालय के आरम्भिक पक्ष पर (जहां आरम्भिक पक्ष अभी भी विद्यमान है) अपीली अधिकारिता का प्रयोग करता है । मणिपुर, मेघालय, त्रिपुरा और नागालैंड को छोड़कर जिनके लिए (गुवाहाटी स्थित) असम का उच्च न्यायालय, सम्मिलित उच्च न्यायालय है, प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय है । हरियाणा का पंजाब के साथ (चंडीगढ़ स्थित) सम्मिलित उच्च न्यायालय है । इसी प्रकार गोवा और महाराष्ट्र का सम्मिलित उच्च न्यायालय है ।

संघ राज्यक्षेत्र की न्यायपालिका के बारे में देखिए 'संघ राज्यक्षेत्र' के अधीन ।

उच्चतम न्यायालय की उच्च न्यायालयों पर अपीली अधिकारिता है और वह देश का सर्वोच्च अधिकरण है । उच्चतम न्यायालय की आरम्भिक और सलाहकारी अधिकारिता भी है जिस पर आगे विस्तार से विचार किया जाएगा ।

निर्देश

1. देखिए डी.डी. बसु, *क्रिमिनल प्रोसीजर कोड,* 1973 (पी.एच.आई. 1979, पृष्ठ 29 और आगे) ।

19

उच्चतम न्यायालय

उच्चतम न्यायालय का गठन ।

संसद् को उच्चतम न्यायालय की स्थापना, गठन, अधिकारिता और शक्तियों का विनियमन करने के लिए विधि बनाने की शक्ति है । ऐसे विधान के अधीन रहते हुए उच्चतम न्यायालय एक मुख्य न्यायमूर्ति और 25[1] से अनधिक अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा [अनुच्छेद 124] ।

इसके अतिरिक्त भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को यह शक्ति है कि वह राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से उच्चतम न्यायालय के किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश को अस्थायी अवधि के लिए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में कार्य करने का अनुरोध करे । इसी प्रकार यदि स्थायी न्यायाधीशों में गणपूर्ति की कमी है तो किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को अस्थायी अवधि के लिए उच्चतम न्यायालय का तदर्थ न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकेगा [अनुच्छेद 127-128] ।

न्यायाधीशों की नियुक्ति ।

उच्चतम न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा । राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए मंत्रियों की सलाह के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से परामर्श कर सकेगा । भारत के मुख्य न्यायमूर्ति की दशा में वह उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करेगा जो वह आवश्यक समझे । उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति की दशा में इनके अतिरिक्त भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करना अनिवार्य है [अनुच्छेद 124(1)] । इस उपबंध से कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढंग उपांतरित हो जाता है क्योंकि इसमें यह उपबंध किया गया है कि कार्यपालिका को न्यायपालिका के सदस्यों से परामर्श करना चाहिए । कारण यह है कि वे इस विषय में अपनी राय देने के लिए अर्ह हैं ।[2]

न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति की अर्हताएं ।

कोई व्यक्ति उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए तभी अर्हित होगा जब वह (क) भारत का नागरिक हो, और (ख) या तो (i) पारंगत विधिवेत्ता हो या (ii) किसी उच्च न्यायालय का पांच वर्ष तक न्यायाधीश रहा हो या (iii) किसी उच्च न्यायालय का (या दो या अधिक उच्च न्यायालयों का) दस वर्ष तक अधिवक्ता रहा हो [अनुच्छेद 124(3)] ।

न्यायाधीशों की पदावधि ।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए कोई न्यूनतम आयु या नियत पदावधि विहित नहीं की गई है । एक बार नियुक्त किए जाने के पश्चात् उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश (मृत्यु से भिन्न) निम्नलिखित में से कोई आकस्मिकता घटने पर न्यायाधीश नहीं रहेगा —

(क) 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर, (ख) राष्ट्रपति को सम्बोधित लिखत द्वारा

अपना पद त्याग करने पर, (ग) संसद् के प्रत्येक सदन द्वारा विशेष बहुमत से पारित समावेदन पर राष्ट्रपति द्वारा हटाए जाने पर (अर्थात् उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा)।

ऐसा हटाया जाना केवल दो आधारों पर हो सकता है – (1) "साबित कदाचार" और (2) "असमर्थता" [अनुच्छेद 124(4)] ।

वेतन आदि ।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को 9,000 रुपए प्रतिमास[3] वेतन और निःशुल्क शासकीय निवास दिया जाता है । मुख्य न्यायमूर्ति का वेतन 10,000 रुपए है ।[3]

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतंत्रता किस प्रकार सुनिश्चित की गई है ।

संविधान में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की स्वतंत्रता कई प्रकार से सुनिश्चित की गई है :

(क) यद्यपि नियुक्ति करने वाला प्राधिकारी, मंत्रिपरिषद् की सलाह से कार्य करते हुए राष्ट्रपति है फिर भी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति को राजनीति के क्षेत्र से अलग करके यह अपेक्षा की गई है कि राष्ट्रपति इस विषय में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करेगा ।[2]

(ख) यह अधिकथित करके कि उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा संसद् के दोनों सदनों द्वारा समर्थित समावेदन पर ही साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर हटाया जाएगा (समावेदन को कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई सदस्यों का समर्थन होना चाहिए) [अनुच्छेद 124(4)] ।

यह उपबंध इंग्लैंड में ऐक्ट आफ सैटलमेंट, 1701 के समय से विद्यमान नियम के समान है । वह नियम यह है कि वरिष्ठ न्यायालयों के न्यायाधीश सम्राट द्वारा नियुक्त किए जाते हैं और वे उनके प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं । किन्तु वे सदाचारी रहने तक ही पद धारण करते हैं और सम्राट उन्हें संसद् के दोनों सदनों द्वारा दिए गए संयुक्त समावेदन पर ही हटा सकता है ।

(ग) संविधान द्वारा न्यायाधीशों के वेतन तय करके और यह उपबंध करके कि उनके भत्ते, छुट्टी और पेंशन, संसद् द्वारा विधि द्वारा अवधारित किए जा सकेंगे और उनमें न्यायाधीश की पदावधि के दौरान कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा । दूसरे शब्दों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् विधि में कोई परिवर्तन करके उस पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाला जा सकता [अनुच्छेद 125(2)] ।

किंतु वित्तीय आपात की उद्घोषणा होने पर राष्ट्रपति इस प्रत्याभूति का अधिहरण करने में सक्षम होगा [अनुच्छेद 360(4)(ख)] ।

(घ) यह उपबन्ध करके कि उच्चतम न्यायालय के प्रशासनिक व्यय और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और अन्य कर्मचारिवृन्द के वेतन, भत्ते आदि भारत के राजस्व पर भारित होंगे अर्थात् संसद् उन पर मतदान नहीं कर सकती [अनुच्छेद 146(3)] ।

(ङ) उच्चतम न्यायालय (या किसी उच्च न्यायालय) के किसी न्यायाधीश के आचरण के विषय में संसद् में कोई चर्चा उस न्यायाधीश को हटाने के समावेदन को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करने के प्रस्ताव पर ही होगी, अन्यथा नहीं [अनुच्छेद 121] ।

(च) यह अधिनियमित करके कि सेवानिवृत्ति के पश्चात् उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश किसी न्यायालय में भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय या किसी अन्य प्राधिकारी के समक्ष अभिवचन या कार्य नहीं करेगा[4] [अनुच्छेद 124(7)] ।

यह ध्यान देने योग्य है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के संबंध में इसी के समान उपबन्ध हैं (देखिए आगे अध्याय 20) ।

संविधान के अधीन उच्चतम न्यायालय की स्थिति ।

यह ठीक ही कहा गया है कि उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता और शक्तियां उनकी प्रकृति और विस्तार को देखते हुए किसी भी अन्य देश के सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में अधिक हैं ।[5] यह परिसंघ न्यायालय भी है, अपील न्यायालय भी है और संविधान का संरक्षक भी तथा उसके द्वारा संविधान के अधीन अपनी अधिकारिता के प्रयोग में घोषित विधि, भारत के राज्यक्षेत्र में अन्य सभी न्यायालयों पर आबद्धकर है [अनुच्छेद 141] ।

अमरीकी उच्चतम न्यायालय से तुलना ।

हमारे उच्चतम न्यायालय को अमरीकी उच्चतम न्यायालय की तुलना में कई बातों में व्यापक शक्तियां हैं, —

पहला, अमरीकी उच्चतम न्यायालय की अपीली अधिकारिता परिसंघीय संबंधों से उत्पन्न होने वाले या विधियों और संधियों की सांविधानिक विधिमान्यता से संबंधित मामलों तक ही सीमित है । किंतु हमारा उच्चतम न्यायालय परिसंघीय न्यायालय भी है, संविधान का संरक्षक भी है और संविधान के निर्वचन के संबंध में उत्पन्न होने वाले मामलों के अतिरिक्त सिविल और दाण्डिक मामलों के संबंध में यह देश का सर्वोच्च अपीली न्यायालय है [अनुच्छेद 133-134] ।

दूसरा, हमारे उच्चतम न्यायालय को भारत के राज्यक्षेत्र में किसी भी न्यायालय या अधिकरण के विनिश्चय से अपील ग्रहण करने की असाधारण शक्ति है । इस विवेकाधिकार की कोई सीमा नहीं है [अनुच्छेद 136] । अमरीकी उच्चतम न्यायालय को इस प्रकार की कोई शक्ति नहीं है ।

तीसरा, अमरीकी उच्चतम न्यायालय ने सरकार को सलाह देने की शक्ति ग्रहण करने से इंकार कर दिया और किसी भी विषय के पक्षकारों के बीच वास्तविक विवाद को निपटाने तक ही अपने को सीमित रखा है । संविधान ने हमारे उच्चतम न्यायालय को राष्ट्रपति द्वारा उसे निर्दिष्ट किसी तथ्य या विधि के प्रश्न पर सलाह के रूप में राय देने की शक्ति दी है [अनुच्छेद 143] ।

(i) परिसंघ न्यायालय के रूप में ।

प्रत्येक परिसंघीय संविधान, संघ और इकाइयों के बीच शक्तियों का वितरण करता है । संविधान में संसक्ति की मात्रा कुछ भी हो सकती है । संघ और राज्य दोनों सरकारें उसी से प्राधिकार प्राप्त करते हैं और उनकी सीमाएं भी संविधान निर्धारित करता है । इंग्लैंड जैसे ऐकिक संविधान में स्थानीय प्रशासनिक और विधायी निकाय, केन्द्रीय प्राधिकारी के अधीनस्थ निकाय होते हैं । इसलिए केन्द्रीय और स्थानीय प्राधिकारियों के बीच विवाद का न्यायिक अवधारण करने की आवश्यकता नहीं होती । किंतु परिसंघीय संविधान में शक्तियों का विभाजन राष्ट्रीय और राज्य सरकारों के बीच होता है इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि संघ और राज्यों के बीच या राज्यों में आपस में विवाद निपटाने के लिए और संविधान द्वारा किए गए शक्तियों के वितरण को बनाए रखने के लिए कोई प्राधिकरण हो ।

यद्यपि हमारा परिसंघ संघटक इकाइयों के बीच किसी संधि या करार की प्रकृति का नहीं है फिर भी संघ और राज्यों के बीच विधायी और प्रशासनिक शक्तियों का विभाजन किया गया है । हमारे संविधान के अनुच्छेद 131 ने उच्चतम न्यायालय को संघ और राज्यों के बीच या राज्यों में आपस में न्यायाधीन विवादों का अवधारण करने की आरम्भिक और अनन्य अधिकारिता दी है ।[6]

(ii) अपीली न्यायालय के रूप में ।

इंग्लैंड के हाउस आफ लार्ड्स के समान भारत का उच्चतम न्यायालय भी देश का अन्तिम अपीली अधिकरण है और कुछ विषयों की बाबत उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता हाउस आफ लार्ड्स से भी अधिक व्यापक है । दाण्डिक अपीलों के बारे में हाउस आफ लार्ड्स में अपील तभी हो सकती है जब महान्यायवादी यह प्रमाणित करता है कि दाण्डिक अपीली न्यायालय के विनिश्चय में व्यापक महत्व का कोई अतिविशिष्ट विधिक बिन्दु अन्तर्वलित है और लोकहित में यह वांछनीय है कि एक और अपील की जाए । किंतु हमारे संविधान के अनुच्छेद 134(1) के खंड (क) और (ख) में विनिर्दिष्ट मामलों में (मृत्यु दंड) उच्चतम न्यायालय में साधिकार अपील हो सकती है ।

सिविल मामलों में उच्च न्यायालय से अपील के बारे में स्थिति, संविधान (13वें संशोधन) अधिनियम, 1972 द्वारा अनुच्छेद 133 का संशोधन करके बदल दी गई है । इससे हमारी विधि इंग्लैंड की जैसी हो गई है । कोर्ट आफ अपील से सिविल अपील हाउस आफ लार्ड्स को तभी होती है जब कोर्ट आफ अपील या हाउस आफ लार्ड्स अपील की इजाजत प्रदान करे । हमारे संविधान के अनुच्छेद 133(1) के अधीन, जैसा कि वह आरम्भ में था उच्चतर मूल्य के (उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाणित) मामलों में उच्चतम न्यायालय को साधिकार अपील होती थी । किंतु 1972 के संशोधन द्वारा यह मूल्य संबंधी परीक्षण और साधिकार अपील का यह प्रवर्ग उत्सादित कर दिया गया है । यद्यपि उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय से सिविल मामले में उच्चतम न्यायालय को अपील तभी हो सकेगी जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि इस मामले में व्यापक महत्व का विधि का सारवान् प्रश्न अन्तर्वलित है और यह आवश्यक है कि इस प्रश्न का विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाए ।[6]

किंतु उच्चतम न्यायालय को विशेष इजाजत द्वारा भारत में किसी भी न्यायालय या अधिकरण द्वारा अवधारित, किसी वाद या मामले में अपील ग्रहण करने का अधिकार असीमित है । यह अनुच्छेद सशस्त्र बलों के अधिकरणों को लागू नहीं होता है ।

(iii) संविधान के संरक्षक के रूप में ।

कार्यपालिका के सांविधानिक कृत्यों के विरुद्ध न्यायालयों की अधिकारिता सभी सांविधानिक प्रणालियों में लगभग एक सी है । किंतु विधान मंडल का न्यायपालिका पर नियंत्रण एक सा नहीं है ।

यह ठीक है कि हमारे संविधान में कोई अभिव्यक्त उपबंध नहीं है जिससे न्यायालयों को विधियों को अविधिमान्य करने की शक्ति दी गई हो किंतु संविधान ने प्रत्येक अंग पर कुछ निश्चित मर्यादाएं लगाई हैं और उन मर्यादाओं का उल्लंघन करने से विधि शून्य हो जाएगी । यह न्यायालय विनिश्चय करेगा कि कोई सांविधानिक मर्यादा का उल्लंघन हुआ है या नहीं[7] क्योंकि संविधान ही ऐसी उच्च विधि है जिसके अधीन विधान मंडल,[*] जिसकी स्वयं की रचना संविधान द्वारा हुई है, सामान्य विधि बनाता है ।

अतः अनुच्छेद 13 यह घोषित करता है कि कोई विधि जो मूल अधिकारों वाले भाग का अतिलंघन करती है शून्य होगी । किंतु जैसा पहले उच्चतम न्यायालय ने संप्रेक्षण किया है[6] कि अनुच्छेद 13 के विनिर्दिष्ट उपबंध के बिना भी (जो अत्यधिक सावधानी बरतने के कारण अन्तःस्थापित किया गया है) न्यायालय को यह शक्ति होगी कि वह किसी ऐसी अधिनियमिति को जो मूल अधिकार का अतिलंघन करती है अविधिमान्य घोषित करे ।

इसी प्रकार अनुच्छेद 254 यह कहता है कि संघ और राज्य की विधियों में विरोध होने पर उस दशा में राज्य की विधि शून्य होगी ।

हमारे संविधान द्वारा विधान मंडल की शक्ति पर अधिरोपित मर्यादाएं हैं, (क) भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार, (ख) विधायी सक्षमता, (ग) संविधान के विनिर्दिष्ट उपबंध जो विशिष्ट विषयों के संबंध में मर्यादाएं अधिरोपित करते हैं ।[8]

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि (मूल अधिकारों को प्रवृत्त कराने के लिए रिट निकालने की अधिकारिता के अतिरिक्त) उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता तीन प्रकार की है : (क) आरम्भिक, (ख) अपीली, और (ग) सलाहकारी ।

क. उच्चतम न्यायालय की आरम्भिक अधिकारिता ।

उच्चतम न्यायालय की आरम्भिक अधिकारिता संविधान के अनुच्छेद 131 में दी गई है । अनुच्छेद 131 के अधीन उच्चतम न्यायालय के कृत्य शुद्ध रूप से परिसंघीय हैं और भारत सरकार और एक या अधिक राज्यों के बीच, एक ओर भारत सरकार और एक या अधिक राज्य और दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच या दो या अधिक राज्यों के बीच विवादों तक सीमित है । संक्षेप में ये परिसंघ की विभिन्न इकाइयों के बीच विवाद हैं जो उच्चतम न्यायालय की अनन्य आरम्भिक अधिकारिता के भीतर आएंगे । उच्चतम न्यायालय की आरम्भिक अधिकारिता अनन्य होगी जिसका अर्थ यह हुआ कि भारत में किसी अन्य न्यायालय को ऐसे वाद को ग्रहण करने की शक्ति नहीं होगी । दूसरी ओर उच्चतम न्यायालय अपनी आरम्भिक अधिकारिता में ऐसा कोई वाद ग्रहण नहीं कर सकेगा जिसमें दोनों पक्षकार परिसंघ की इकाई न हों । यदि कोई वाद किसी प्राइवेट नागरिक द्वारा राज्य या भारत सरकार के विरुद्ध लाया जाता है तो वह उच्चतम न्यायालय की आरम्भिक अधिकारिता के भीतर नहीं होगा । वह तो सामान्य विधि के अधीन सामान्य न्यायालय में लाया जाएगा ।

एक अन्य विवाद का वर्ग परिसंघीय है किंतु उसे उच्चतम न्यायालय की आरम्भिक अधिकारिता से अपवर्जित किया गया है । अर्थात् किसी ऐसी संधि, करार, प्रसंविदा, वचनबंध, सनद या अन्य लिखत से उत्पन्न हुए विवाद जो इस संविधान के प्रारम्भ के पहले की गई थी या निष्पादित की गई थी और ऐसे प्रारम्भ के पश्चात् प्रवर्तन में है या जो उपबंध करती है कि उक्त अधिकारिता का विस्तार ऐसे विवाद पर नहीं होगा ।[9] किंतु राष्ट्रपति ऐसे विवादों को उच्चतम न्यायालय की राय के लिए निर्दिष्ट कर सकता है ।

यह ध्यान देने योग्य है कि 1962 तक उच्चतम न्यायालय ने आरम्भिक अधिकारिता में किसी वाद का विनिश्चय नहीं किया था । ऐसा प्रतीत होता है कि संघ और इकाइयों के बीच या इकाइयों में आपस में विवाद न्यायनिर्णयन के स्थान पर वार्ता या बातचीत से निपटाया जाता था । इस प्रकार का पहला वाद पश्चिमी बंगाल राज्य ने भारत संघ के विरुद्ध 1961 में प्रस्तुत किया जिसमें कोयला धारक क्षेत्र (अर्जन और विकास) अधिनियम, 1957 को असांविधानिक घोषित करने की मांग की गई थी । उच्चतम न्यायालय ने उसे खारिज कर दिया ।[10]

इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि संविधान के कुछ उपबंध हैं जो कुछ विवादों को उच्चतम न्यायालय की आरम्भिक अधिकारिता से अपवर्जित करके उसके अवधारण की शक्ति अन्य अधिकरणों को देते हैं :

(i) अनुच्छेद 131 के परन्तुक और अनुच्छेद 363(1) में विनिर्दिष्ट विवाद ।

(ii) अंतरराज्य जल प्रदाय में हस्तक्षेप के परिवाद जो अनुच्छेद 262 में उल्लिखित कानूनी अधिकरण को निर्दिष्ट किए जाएं, यदि संसद् इस प्रकार का कोई विधान बनाती है ।

संसद् ने अंतरराज्य जल विवाद अधिनियम (1956 का 33) अधिनियमित कर दिया इसलिए अनुच्छेद 262 को उक्त अधिनियम की धारा 11 के साथ पढ़ा जाना चाहिए।

(iii) वित्त आयोग को निर्दिष्ट विषय [अनुच्छेद 280]।

(iv) संघ और राज्यों के बीच, अनुच्छेद 257(4), 258(3) के अधीन कुछ ब्यौरों का समायोजन।

(v) संघ और राज्यों के बीच ब्यौरों का समायोजन [अनुच्छेद 290]।

ख. रिट अधिकारिता।

मूल अधिकार के प्रवर्तन के लिए सांविधानिक रिट निकालने के लिए आवेदन ग्रहण करने की अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता को कभी-कभी उसकी आरम्भिक अधिकारिता माना जाता है। यह इस अर्थ में आरम्भिक है कि व्यथित पक्षकार को उच्चतम न्यायालय को याचिका प्रस्तुत करके अभ्यावेदन करने का अधिकार है। उसे उच्चतम न्यायालय में अपील के माध्यम से आने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी उसे एक पृथक् अधिकारिता के रूप में समझा जाना चाहिए क्योंकि इन मामलों में विवाद, संघ की इकाइयों के बीच नहीं है बल्कि व्यथित व्यक्ति और सरकार के अभिकरणों के बीच है। अतएव अनुच्छेद 32 के अधीन अधिकारिता की अनुच्छेद 131 के अधीन अधिकारिता से कोई समानता नहीं है।

ग. उच्चतम न्यायालय की अपीली अधिकारिता।

उच्चतम न्यायालय भारत के राज्यक्षेत्र में सभी न्यायालयों से अपील का सर्वोच्च न्यायालय है क्योंकि संविधान के पूर्व ही भारत से अपील सुनने की प्रिवी कौंसिल की अधिकारिता समाप्त कर दी गई थी। उच्चतम न्यायालय की अपीली अधिकारिता को तीन शीर्षों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) संविधान के निर्वचन के मामले — सिविल, दाण्डिक या अन्य,

(ii) सिविल मामले, जिसमें सांविधानिक प्रश्न चाहे हो या नहीं,

(iii) दाण्डिक मामले, जिसमें सांविधानिक प्रश्न चाहे हो या नहीं।

अनुच्छेद 136 के अधीन न्यायालय की विशेष इजाजत द्वारा उच्चतम न्यायालय में अपील के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय में दो प्रकार के मामलों में सिविल कार्यवाही में उच्च न्यायालय के निर्णय, डिक्री या अंतिम आदेश के विरुद्ध अपील हो सकती है।

(क) जहां संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का कोई सारवान् प्रश्न अन्तर्वलित है वहां उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित किए जाने पर कि ऐसा प्रश्न अन्तर्वलित है उच्चतम न्यायालय में अपील हो सकेगी अथवा जहां उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाणपत्र देने से इंकार कर दिया है वहां उच्चतम न्यायालय की इजाजत से हो सकेगी। यदि उच्चतम न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि उस निर्वचन के बारे में विधि का कोई सारवान् प्रश्न अन्तर्वलित है [अनुच्छेद 132]।

(ख) यदि कोई सांविधानिक प्रश्न अन्तर्वलित नहीं है तो उच्चतम न्यायालय को तभी अपील हो सकेगी जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करता है कि निम्न शर्तें पूरी हो गई हैं [अनुच्छेद 133(1)] —

(i) कि उस मामले में विधि का सारवान् प्रश्न अन्तर्वलित है,

(ii) कि उच्च न्यायालय की राय में उस प्रश्न का उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चय आवश्यक है।

संविधान के पहले, उच्च न्यायालयों के ऊपर दाण्डिक अपील का कोई न्यायालय नहीं था। कुछ सीमित अपराधों में प्रिवी कौंसिल विशेष इजाजत द्वारा उच्च न्यायालय

से दाण्डिक मामलों में अपीलें ग्रहण करती थी किंतु साधिकार कोई अपील नहीं होती थी ।

(i) दाण्डिक । संविधान के अनुच्छेद 134 में पहली बार उच्च न्यायालय की दाण्डिक कार्यवाही में दिए गए किसी निर्णय में अंतिम आदेश या दण्डादेश की अपील उच्चतम न्यायालय में साधिकार करने का उपबन्ध किया गया है । ऐसी अपील दो विनिर्दिष्ट वर्गों के मामलों में हो सकती हैं, —

(क) जहां उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति के दोषमुक्ति के आदेश को उलट दिया है और उसको मृत्यु दण्डादेश दिया है,

(ख) जहां उच्च न्यायालय ने अपने प्राधिकार के अधीन किसी न्यायालय से किसी मामले को विचारण के लिए अपने पास मंगा लिया है और ऐसे विचारण में अभियुक्त व्यक्ति को सिद्धदोष ठहराया है और उसको मृत्यु दण्डादेश दिया है ।

इन दो वर्गों के मामलों के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय में किसी दाण्डिक मामले में उच्चतम न्यायालय को अपील हो सकेगी यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करता है कि मामला उच्चतम न्यायालय में अपील किए जाने योग्य है । उच्च न्यायालय का प्रमाणपत्र तभी दिया जाएगा जब विधि का सारवान् प्रश्न हो या व्यापक सार्वजनिक महत्त्व का कोई विषय हो या न्याय के किसी सारवान् सिद्धांत का अतिलंघन हुआ हो [अनुच्छेद 132 के अधीन] । उच्चतम न्यायालय को उच्च न्यायालय से दाण्डिक कार्यवाही में अपील हो सकेगी यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करता है कि इस मामले में संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का सारवान् प्रश्न अन्तर्वलित है ।

उक्त मामलों को छोड़कर उच्चतम न्यायालय को उच्च न्यायालय से किसी दाण्डिक कार्यवाही में संविधान के अधीन कोई अपील नहीं होगी । किंतु संसद् को यह शक्ति दी गई है कि वह विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को दाण्डिक मामलों में अपील सुनने के लिए शक्ति प्रदान कर सकेगी ।

(ii) विशेष इजाजत से अपील । संविधान में उच्च न्यायालय के विनिश्चयों से उच्चतम न्यायालय में नियमित अपील के लिए अनुच्छेद 132 से 134 में उपबंध किया गया है किंतु कुछ ऐसे भी मामले हो सकते हैं जिनमें न्याय करने के लिए यह अपेक्षा हो कि उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय के ऐसे विनिश्चय में हस्तक्षेप करे जो अनुच्छेद 132-134 की परिधि के बाहर हो । भारत के राज्यक्षेत्र में स्थित अन्य न्यायालय या अधिकरणों के भी इस प्रकार के विनिश्चय हो सकते हैं । अपील की सामान्य विधि के बाहर इस प्रकार की अवशिष्ट शक्ति अनुच्छेद 136 द्वारा उच्चतम न्यायालय को प्रदान की गई है । इस अनुच्छेद की शब्दावली बहुत व्यापक है, —

> "136. (1) इस अध्याय में किसी बात के होते हुए भी, उच्चतम न्यायालय अपने विवेकानुसार भारत के राज्यक्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकरण द्वारा किसी वाद या मामले में पारित किए गए या दिए गए किसी निर्णय, डिक्री, अवधारण, दण्डादेश या आदेश की अपील के लिए विशेष इजाजत दे सकेगा ।
>
> (2) खंड (1) की कोई बात सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि द्वारा या उसके अधीन गठित किसी न्यायालय या अधिकरण द्वारा पारित किए गए या दिए गए किसी निर्णय, अवधारण, दण्डादेश या आदेश को लागू नहीं होगी ।"

इसमें उच्चतम न्यायालय को विशेष इजाजत देकर किसी भी कार्यवाही में किसी भी न्यायालय या अधिकरण द्वारा दिए गए किसी निर्णय या आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत देकर अपील ग्रहण करने और सुनवाई करने की व्यापक अधिकारिता उच्चतम न्यायालय को दी गई है (सैन्य अधिकरण को छोड़कर) । इस शक्ति का प्रयोग उच्चतम न्यायालय

के विवेक पर छोड़ दिया गया है, इस पर कोई निर्बन्धन नहीं है । इस शक्ति को अनुच्छेद का संशोधन करके ही कम किया जा सकता है किसी विधान द्वारा इसे कम नहीं किया जा सकता । इस व्यापक शक्ति का प्रयोग उच्चतम न्यायालय द्वारा ऐसे मामलों में अपील ग्रहण करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए जहां विधि या संविधान द्वारा अपील का कोई उपबन्ध नहीं किया गया है । यह एक विशेष शक्ति है जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिए । उच्चतम न्यायालय ने वे सिद्धांत अधिकथित कर दिए हैं जिनके अनुसार इस असाधारण शक्ति का प्रयोग किया जाएगा । उदाहरण के लिए जहां नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन हुआ है । सिविल मामलों में इस अनुच्छेद के अधीन अपील करने की विशेष इजाजत तब तक नहीं दी जाएगी जब तक साधारण व्यापक महत्व या कोई सारवान् विधिक प्रश्न अन्तर्वलित न हो । इसी प्रकार उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 136 के अधीन दाण्डिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा जब तक यह दर्शित न किया जाए कि आपवादिक और विशेष परिस्थितियां विद्यमान हैं और सारवान् और गम्भीर रूप से अन्याय हुआ है, तथा प्रश्नगत मामले में ऐसी गम्भीर बातें हैं जिनसे उस विनिश्चय का पुनर्विलोकन करना अनिवार्य हो गया है जिसके विरुद्ध अपील की गई है ।[11] इसी प्रकार उच्चतम न्यायालय किसी अधिकरण के अवधारण के स्थान पर अपने विनिश्चय नहीं रखेगा किंतु वह अनुच्छेद 136 द्वारा प्रदत्त असाधारण शक्ति के अधीन किसी न्यायिककल्प अधिकरण के विनिश्चय को विखण्डित कर देगा यदि अधिकरण ने अपनी अधिकारिता के आधिक्य में कोई कार्य किया है या प्रश्न पर इस प्रकार विचार किया है जिसके फलस्वरूप अन्याय होना संभव है या ऐसी प्रक्रिया अपनाई है जो नैसर्गिक न्याय के सुस्थिर नियमों के विपरीत है ।[12]

घ. सलाहकारी अधिकारिता ।

उच्चतम न्यायालय की इस नियमित अधिकारिता के अतिरिक्त उसे सलाहकारी अधिकारिता भी है अर्थात् ऐसे लोक महत्व के विधि या तथ्य के प्रश्न पर अपनी राय देना जो उसे राष्ट्रपति द्वारा विचारार्थ निर्दिष्ट किए जाएं ।

संविधान के अनुच्छेद 143 में यह अधिकथित है कि उच्चतम न्यायालय से दो प्रकार के मामलों में अपनी राय अभिव्यक्त करने की अपेक्षा की जाती है । यह सलाहकारी हैसियत में होगा न्यायिक हैसियत में नहीं :

(क) पहले वर्ग में यदि राष्ट्रपति को प्रतीत होता है कि कोई विधि का प्रश्न ऐसी प्रकृति का और ऐसे सार्वजनिक महत्व का है कि उस पर उच्चतम न्यायालय की राय प्राप्त करना समीचीन है तो वह उस विधिक प्रश्न को उच्चतम न्यायालय को राय देने के लिए निर्दिष्ट कर सकेगा । यह उच्चतम न्यायालय के सामने सामान्य न्यायनिर्णयन से भिन्न है क्योंकि ऐसे मामले में दो पक्षकारों के बीच कोई वाद नहीं है और उच्चतम न्यायालय द्वारा ऐसे निर्देश में दी गई राय सरकार पर भी आबद्धकर नहीं है । इस राय को उच्चतम न्यायालय के निर्णय के रूप में निष्पादित नहीं किया जा सकता । यह राय केवल सलाहकारी है और सरकार किसी विषय पर कार्यवाही करने में उस पर विचार कर सकती है किंतु इस प्रकार प्राप्त राय के अनुरूप कार्य करने के लिए वह आबद्ध नहीं है । ऐसी सलाहकारी न्यायिक राय की मुख्य उपयोगिता यह है कि उससे सरकार को किसी विधायी अध्युपाय की विधिमान्यता के बारे में उसके अधिनियमित होने के पहले अथवा किसी ऐसे विषय के बारे में जो सामान्य प्रक्रम में न्यायालय के समक्ष जाएगा प्राधिकारिक राय मिल जाती है । यह तभी होता है जब सरकार कोई कार्यवाही करने के पहले प्राधिकृत विधिक राय पाने के लिए आतुर हो ।

1981 तक राष्ट्रपति द्वारा इस वर्ग के 7 निर्देश[13-19] किए गए हैं । यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि उच्चतम न्यायालय की ऐसे निर्देश पर राय सरकार पर आबद्धकर नहीं है फिर भी ऐसे निर्देश पर उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधिक सिद्धान्त अधीनस्थ न्यायालयों पर आबद्धकर हैं । वस्तुतः *दिल्ली विधि वाले मामले* में[13] अधिकथित सिद्धांतों का अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा अनेकों बार निर्देश और अनुसरण किया गया है ।

(ख) दूसरे वर्ग के मामले में संविधान के प्रारम्भ से पहले की गई संधियों और करारों से उद्भूत विवाद आते हैं जिनको अनुच्छेद 131 के परन्तुक द्वारा उच्चतम न्यायालय की आरम्भिक अधिकारिता से अपवर्जित किया गया है । यह हम पहले ही देख चुके हैं । दूसरे शब्दों में अब ऐसा विवाद उच्चतम न्यायालय में आरम्भिक अधिकारिता के अधीन नहीं आ सकता किंतु राष्ट्रपति ऐसे विवाद की विषय-वस्तु को उच्चतम न्यायालय को सलाहकारी हैसियत में राय देने के लिए विनिर्दिष्ट कर सकता है ।

ङ. प्रकीर्ण अधिकारिता ।

संविधान के अनुच्छेद 317, आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 257, एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969 की धारा 7, सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 130क और केंद्रीय उत्पाद-शुल्क और नमक अधिनियम, 1944 की धारा 35ज में उच्चतम न्यायालय को निर्देश करने के बारे में उपबंध है ।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, अधिवक्ता अधिनियम, न्यायालय अवमान अधिनियम, केंद्रीय उत्पाद-शुल्क और नमक अधिनियम, आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1984, और आतंकवादी तथा विध्वंसक क्रियाकलाप निवारण अधिनियम, 1985 में उच्चतम न्यायालय को अपील किए जाने का उपबंध है ।

राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 के अधीन निर्वाचन अर्जियां सीधे उच्चतम न्यायालय में फाइल की जाती हैं ।

42वां, 43वां और 44वां संशोधन ।

पूर्वगामी पृष्ठों में बताया गया है कि उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता को संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनेक प्रकार से छोटा किया गया । किंतु इनमें से कुछ परिवर्तन जनता सरकार ने 43वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा निरसित करके स्थिति पहले जैसी कर दी । इसलिए उसके बारे में बहुत विचार करना निरर्थक है । जो अनुच्छेद निरसित किए गए वे हैं अनुच्छेद 32क, 144क ।

बहुत से अन्य उपबंध 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अन्तर्विष्ट किए गए थे किंतु जनता सरकार राज्य सभा में कांग्रेस दल के विरोध के कारण उन्हें नहीं हटा सकी । ये हैं, —

(i) *अनुच्छेद 323क-ख* — इन दो नए अनुच्छेदों का आशय प्रशासनिक अधिकरणों के उद्देश्यों और विनिश्चयों पर अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता हटा देना था । इन अनुच्छेदों को कार्यान्वित करने के लिए विधान बनाना आवश्यक था किंतु श्रीमती गांधी की पहली सरकार को ऐसा करने का समय नहीं मिला ।

अनुच्छेद 323क को प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 द्वारा क्रियान्वित किया गया है (देखिए आगे अध्याय 27) ।

(ii) *अनुच्छेद 368(4)-(5)* — ये दो खंड अनुच्छेद 368 में इस उद्देश्य से अन्तःस्थापित किए गए थे कि उच्चतम न्यायालय को संविधान के आधारिक लक्षण या इसी प्रकार के

किसी अन्य सिद्धान्त के आधार पर संविधान संशोधन अधिनियमों को अविधिमान्य करने से निवारित किया जा सके ।

विचित्र तो यह है कि इन खंडों को उच्चतम न्यायालय ने ही एक प्रकार से विनष्ट कर दिया । उच्चतम न्यायालय ने उन्हें इस आधार पर अविधिमान्य घोषित कर दिया कि वे संविधान के दो आधारिक लक्षणों का उल्लंघन करते हैं । वे लक्षण हैं (क) अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधनकारी शक्ति का सीमित होना और (ख) न्यायिक पुनर्विलोकन । यह *मिनर्वा मिल्स*[20] के मामले में किया गया है ।

निर्देश

1. संविधान में संसद् द्वारा बनाए जाने वाले विधान के अधीन रहते हुए मुख्य न्यायमूर्ति के अतिरिक्त सात न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई थी । संसद् ने उच्चतम न्यायालय (न्यायाधीश संख्या) अधिनियम, 1956 अधिनियमित करके इस संख्या को दस कर दिया । उच्चतम न्यायालय (न्यायाधीश संख्या) संशोधन अधिनियम, 1960 द्वारा इसे दस से बढ़ाकर तेरह किया गया और 1977 के संशोधन अधिनियम द्वारा सत्रह किया गया । 1986 के संशोधन अधिनियम द्वारा अब यह संख्या 25 हो गई है ।
2. सी.ए.डी., जिल्द 8, पृष्ठ 258 । किंतु मुख्य न्यायमूर्ति की दशा में कोई रक्षोपाय नहीं हैं । जब न्या. ए.एन. रे को श्री हेगड़े, ग्रोवर और शेलात इन तीनों ज्येष्ठ न्यायाधीशों को अधिक्रान्त करते हुए मुख्य न्यायमूर्ति नियुक्त किया गया तो इसका बहुत विरोध हुआ । उच्चतम न्यायालय की बार एसोसिएशन ने भी उसमें भाग लिया और यह कहा कि ज्येष्ठ न्यायाधीशों का केवल इस आधार पर अधिक्रमण किया गया कि केशवानंद के मामले में (ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1461) उन्होंने जो निर्णय दिया था वह सरकार के पक्ष में नहीं था ।
3. संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1986 द्वारा उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन में वृद्धि की गई है ।
4. किंतु यह विचित्र सा है कि सेवानिवृत्त न्यायाधीश को सरकार के अधीन किसी पद पर नियुक्त करने का कोई वर्जन नहीं है (जैसा कि नियंत्रक महालेखापरीक्षक की दशा में है) [अनुच्छेद 148(4)] । सेवानिवृत्त होने के पश्चात् इस प्रकार के नियोजन की आशा से अप्रत्यक्ष रूप से न्यायाधीश की स्वतंत्रता कम होती है और वह कार्यपालिका के असर में आ जाता है । वस्तुतः सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को राज्यपाल, राजदूत और इसी प्रकार के अन्य पद पर नियुक्त किया गया है । उन्हें अनेकों आयोगों या बोर्डों का सदस्य भी बनाया गया है ।
5. *अटर्नी जनरल आफ इंडिया,* (1956) एस.सी.आर. 8; ए.के. अय्यर, *कांस्टिट्यूशन एण्ड फंडामेंटल राइट्स,* 1955, पृष्ठ 15 ।
6. देखिए डी.डी. बसु, *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया* (1991), पृष्ठ 168 और आगे ।
7. *गोपालन* बनाम *मद्रास राज्य,* (1950) एस.सी.आर. 88 (*100*); अनुच्छेद 143 के अधीन निर्देश, ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 745 (*762*) ।
8. देखिए डी.डी. बसु, *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया* (1991), पृष्ठ 270 ।
9. संविधान (7वां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा यथासंशोधित अनुच्छेद 131 का परंतुक ।
10. *पश्चिमी बंगाल राज्य* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1241 ।
11. *प्रीतम सिंह* बनाम *राज्य,* ए.आई.आर. 1950 एस.सी. 169.
12. *डी.सी. मिल्स* बनाम *आय-कर आयुक्त,* ए.आई.आर. 1955 एस.सी. 65 ।
13. *दिल्ली विधि अधिनियम, 1912,* (1951) एस.सी.आर. 747 (दिल्ली विधि अधिनियम, 1912 की विधिमान्यता के बारे में) ।
14. *केरल शिक्षा विधेयक,* ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 956 (केरल शिक्षा विधेयक की सांविधानिकता के बारे में) ।
15. *बेरुबारी संघ,* (1960) 3 एस.सी.आर. 250 (बेरुबारी संघ से संबंधित भारत-पाकिस्तान करार के क्रियान्वयन की प्रक्रिया के बारे में) ।

16. *सागर सीमा-शुल्क*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1760 (संविधान के अनुच्छेद 289 के प्रति निर्देश से सागर सीमा-शुल्क संशोधन विधेयक की सांविधानिकता के बारे में) ।
17. *1964 का विशेष निर्देश* (उत्तर प्रदेश विधान मंडल के बारे में) ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 745 ।
18. *राष्ट्रपति निर्वाचन, 1974 के बारे में*, ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 1662 ।
19. *विशेष न्यायालय विधेयक, 1978 के बारे में*, ए.आई.आर. 1979 एस.सी. 478 (तारीख 1-12-1978) ।
20. *मिनर्वा मिल्स* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1789 (पैरा 22-26, 28, 93-94) ।

20

उच्च न्यायालय

राज्य का उच्च न्यायालय ।

प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय होगा [अनुच्छेद 214] । किंतु संसद् को यह शक्ति है कि वह दो या अधिक राज्यों के लिए एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना कर सकेगी[1] [अनुच्छेद 231] । उच्च न्यायालय राज्य की न्यायपालिका के शीर्ष पर स्थित होता है (देखिए सारणी 17) ।

उच्च न्यायालय का गठन ।

(क) प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायमूर्ति और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे ।

(ख) इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को निम्नलिखित को नियुक्त करने की शक्ति है : — (i) उच्च न्यायालय के बकाया कार्य को निपटाने के लिए दो वर्ष से अनधिक की अस्थायी अवधि के लिए अपर न्यायाधीश, (ii) जब किसी उच्च न्यायालय का कोई स्थायी न्यायाधीश (मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न) अस्थायी रूप से अनुपस्थिति के कारण या किसी अन्य कारण से अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है या मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में अस्थायी रूप से काम करने के लिए नियुक्त किया जाता है तब कार्यकारी न्यायाधीश । कार्यकारी न्यायाधीश तब तक पद धारण करता है जब तक स्थायी न्यायाधीश अपना पद भार फिर से नहीं संभाल लेता है । किंतु अपर या कार्यकारी न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु के पश्चात् पद धारण नहीं कर सकता ।[2]

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति और उसके पद की शर्तें ।

उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा । नियुक्ति करने में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से, उस राज्य के राज्यपाल से और मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायामूर्ति से परामर्श करेगा ।

उच्च न्यायालय का न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु तक अपना पद धारण करेगा ।[2]

प्रत्येक न्यायाधीश — स्थायी, अपर या कार्यकारी — इसके पहले ही निम्न रीति से अपना पद त्याग कर सकेगा :

(i) राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा,

(ii) राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति पर या किसी अन्य उच्च न्यायालय को अन्तरित किए जाने पर,

(iii) साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर संसद् के दोनों सदनों द्वारा (उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई मत से समर्थित) समावेदन पर राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकेगा । इस प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के हटाने का ढंग वही होगा जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश का है । दोनों ही सदाचरण के दौरान पद धारण करेंगे [अनुच्छेद 217(1)] ।

वेतन आदि ।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को 8,000 रु. प्रतिमास और मुख्य न्यायमूर्ति को 9,000 रु. प्रतिमास वेतन मिलता है ।[3] वह ऐसे भत्तों का हकदार है और उसे छुट्टी और पेंशन की बाबत ऐसे अधिकार हैं जो संसद् समय-समय पर अवधारित करे । ऐसे भत्तों और अधिकारों में, उसकी नियुक्ति के पश्चात्, संसद् द्वारा उसके लिए अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा [अनुच्छेद 221] ।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अर्हताएं ।

संविधान में उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए पात्र होने के लिए जो अर्हताएं अधिकथित हैं वे ये हैं : —

(क) उसे भारत का नागरिक और 62 वर्ष से कम आयु का होना चाहिए,

(ख) (i) उसने भारत के राज्यक्षेत्र में कोई न्यायिक पद धारण किया हो, या

(ii) किसी उच्च न्यायालय का या दो या अधिक ऐसे न्यायालयों का लगातार अधिवक्ता रहा हो [अनुच्छेद 217(2)] ।

न्यायाधीशों की स्वाधीनता ।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के समान ही संविधान में बहुत से उपबंध बनाकर उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वाधीनता कायम रखी गई है ।

(क) यह अधिकथित करके कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को उसके पद से उसी रीति से हटाया जाएगा जिस रीति से उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जाता है अर्थात् विशेष बहुमत द्वारा पारित, संसद् के प्रत्येक सदन द्वारा राष्ट्रपति को सम्बोधित समावेदन पर जो साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर हो [अनुच्छेद 218] ।

(ख) यह उपबन्ध करके कि न्यायाधीशों के वेतन और भत्ते की बाबत व्यय राज्य की संचित निधि पर भारित होगा [अनुच्छेद 203(3)(घ)] ।

(ग) संविधान में यह विनिर्दिष्ट करके कि न्यायाधीशों को संदेय वेतन और भत्ते या अनुपस्थिति या पेंशन की बाबत उनके अधिकार संसद् द्वारा उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिए अलाभकारी रूप से परिवर्तित नहीं किए जाएंगे [अनुच्छेद 221] । वित्तीय आपात की उद्‌घोषणा होने पर ही ऐसा हो सकेगा [अनुच्छेद 360(4)(ख)] ।

(घ) यह अधिकथित करके कि उच्च न्यायालय का स्थायी न्यायाधीश सेवानिवृत्ति के पश्चात् उच्चतम न्यायालय और अन्य उच्च न्यायालयों के सिवाय भारत में किसी न्यायालय या किसी प्राधिकारी के समक्ष अभिवचन या कार्य नहीं करेगा [अनुच्छेद 220] ।

उच्च न्यायालयों पर संघ का नियंत्रण ।

सर अल्लादि कृष्णस्वामी ने संविधान सभा में न्यायपालिका की स्वाधीनता को सुनिश्चित करते हुए सिफारिश की थी[4] कि संविधान ने कुछ महत्वपूर्ण मामलों में उच्च न्यायालय को संघ के नियंत्रण में रखा है जिससे कि वे प्रान्तीय राजनीति की परिधि से बाहर रहें । इसलिए यद्यपि उच्च न्यायालय राज्य की न्यायपालिका के शीर्ष पर है फिर भी वह राज्य सरकार से उतना ही विलग है जितना किसी अमेरीकी राज्य का उच्च न्यायालय (जिसे वहां राज्य का उच्चतम न्यायालय कहते हैं) । भारत में उच्च न्यायालय पर संघ का नियंत्रण निम्नलिखित रूप से रखा जाता है : —

(क) नियुक्ति [अनुच्छेद (217)], एक उच्च न्यायालय से दूसरे को अन्तरण[5] [अनुच्छेद

222] और हटाया जाना [अनुच्छेद 217(1), परन्तुक (ख)] और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के बारे में आयु का निर्धारण [अनुच्छेद 217(3)] ।

(ख) उच्च न्यायालयों की संरचना और गठन और दो या अधिक राज्यों के लिए एक ही उच्च न्यायालय स्थापित करने की शक्ति तथा उच्च न्यायालय की अधिकारिता का किसी संघ राज्यक्षेत्र पर विस्तार करने या किसी संघ राज्यक्षेत्र को उसकी अधिकारिता से अपवर्जित करने की शक्ति आदि सभी संघ की संसद् की अनन्य शक्तियां हैं ।

प्रस्तुत संदर्भ में यह बता देना उचित होगा कि मूल संविधान में पश्चात्वर्ती संशोधनों द्वारा कुछ उपबन्ध अन्तर्विष्ट किए गए हैं जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की तुलना में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वाधीनता पर प्रभाव डालते हैं :

(क) 1956 में विद्यमान अनुच्छेद 224 के स्थान पर नया अनुच्छेद 224 लाया गया । इसमें यह उपबन्ध किया कि उच्च न्यायालय के कार्य में अस्थायी वृद्धि के कारण अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति की जा सकेगी । इस प्रकार नियुक्त प्रत्येक न्यायाधीश दो वर्ष तक पद धारण करता है किंतु उक्त अवधि की समाप्ति के पहले उसे स्थायी किया जा सकता है । उच्चतम न्यायालय के लिए इसके समान कोई उपबन्ध नहीं है । यह उपबन्ध उच्च न्यायालयों के लिए इसलिए बनाया गया कि कार्य के बकाया की समस्या थी और यह आशा थी कि निकट भविष्य में यह समस्या समाप्त हो जाएगी । अब बकाया की समस्या स्थायी हो गई है और इसके लिए अनेकों अपर न्यायाधीश नियुक्त किए जा रहे हैं । अतएव अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति की तत्कालीन व्यवस्था को बनाए रखने का कोई औचित्य नहीं है । इस युक्ति का दोष यह है कि अपर न्यायाधीश परिवीक्षाधीन तो होता ही है वह मुख्य न्यायमूर्ति और सरकार के दबाव में भी होता है क्योंकि वह यह नहीं जानता कि दो वर्ष बाद उसे स्थायी किया जाएगा या नहीं ।[5] जहां तक उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की न्यायिक शक्ति का प्रश्न है प्रत्येक न्यायाधीश पीठ के दूसरे सदस्यों के समान पंक्ति में ही रहता है, यदि उसके ज्ञान, चेतना या प्रज्ञा के अनुसार मुख्य न्यायमूर्ति या पीठ के किसी अन्य ज्येष्ठ सदस्य से उसे सहमत नहीं होना चाहिए तो न्यायिक प्रशासन से संबंधित किसी सिद्धांत के अनुसार यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सहमत हो । इसी प्रकार उससे यह आशा नहीं है कि यदि मामले के गुणागुण के आधार पर सरकार के विरुद्ध निर्णय देने की अपेक्षा हो तो वह न दे । दो वर्ष की समाप्ति के पश्चात् अपनी नौकरी खो देने का भय अपर न्यायाधीश पर प्रच्छन्न रूप से दबाव का काम करता है ।

(ख) इसी प्रकार 1963 में अनुच्छेद 217 में खंड (3) अन्तःस्थापित किया गया था जिससे राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई कि यदि किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की आयु के बारे में कोई व्यक्ति कोई प्रश्न उपस्थित करता है तो राष्ट्रपति भारत के न्यायमूर्ति से परामर्श के पश्चात् उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की आयु अवधारित करेगा । 1963 के उसी संशोधन द्वारा (15वां संशोधन) अनुच्छेद 129 में खंड (2क) अन्तःस्थापित किया गया है जिसमें यह अधिकथित किया गया कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की आयु के बारे में इसी प्रकार के प्रश्न का अवधारण ऐसी रीति से किया जाएगा जो संसद् विधि द्वारा अवधारित करे । इस प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की स्थिति उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश से अनावश्यक रूप से नीची हो गई है, यही नहीं वह अधीनस्थ न्यायिक अधिकारियों से भी नीची हो गई है क्योंकि यदि अधीनस्थ न्यायिक अधिकारी की आयु का अवधारण प्रशासन द्वारा होता है तो वह उस पर न्यायालय में आक्षेप कर सकता है किंतु उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की दशा में संविधान ने उसे

अन्तिम कर दिया है ।[6] प्रकटतः ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता कि क्यों अनुच्छेद 124 के खंड (2क) के समान कोई उपबन्ध अनुच्छेद 217 में प्रश्नगत खंड (3) के स्थान पर अन्तर्विष्ट नहीं किया जा सकता ।

उच्च न्यायालय की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता ।

जहां संसद् दो या अधिक राज्यों के लिए एक उच्च न्यायालय की स्थापना का उपबन्ध करती है [अनुच्छेद 231] या किसी उच्च न्यायालय की अधिकारिता का किसी संघ राज्यक्षेत्र पर विस्तार करती है, उसे छोड़कर, राज्य के उच्च न्यायालय की अधिकारिता राज्य की राज्यक्षेत्रीय सीमाओं तक होती है ।[7]

जैसा हम पहले बता चुके हैं संसद् ने कुछ उच्च न्यायालयों की अधिकारिता का विस्तार निकटस्थ संघ राज्यक्षेत्रों पर राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 द्वारा किया है । जैसे कलकत्ता उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार अंदमान और निकोबार द्वीप पर है, केरल उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार लक्षद्वीप पर है (देखिए सारणी 17) ।

उच्च न्यायालय की सामान्य अधिकारिता ।

संविधान उच्च न्यायालय की साधारण अधिकारिता के सम्बन्ध में कोई उपबन्ध नहीं करता । किंतु यह घोषित करता है कि संविधान के प्रारम्भ पर विद्यमान उनकी अधिकारिता बनी रहेगी । इसमें यह सुधार किया गया है कि संविधान के प्रारम्भ के पहले राजस्व के मामलों में अधिकारिता पर जो निर्बन्धन थे वे आगे नहीं लागू होंगे [अनुच्छेद 225] ।

उच्च न्यायालयों की विद्यमान अधिकारिता लैटर्स पेटेंट तथा केन्द्र और राज्य अधिनियमों द्वारा शासित होती है । विशेष रूप से उनकी सिविल और दाण्डिक अधिकारिता, सिविल और दाण्डिक प्रक्रिया संहिताओं द्वारा शासित होती है ।

(क) आरम्भिक ।

(क) कलकत्ता, मुम्बई और मद्रास के अधीन प्रेसिडेंसी नगरों के उच्च न्यायालयों की सिविल और दाण्डिक प्रयोजनों में आरम्भिक अधिकारिता है । यह अधिकारिता उन प्रेसिडेंसी नगरों से उद्भूत होने वाले मामलों पर है । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 ने उच्च न्यायालयों की दाण्डिक अधिकारिता को बिल्कुल समाप्त कर दिया है ।[8]

उसी क्षेत्र में सिविल मामलों के विचारण के लिए नगर सिविल न्यायालयों की स्थापना हुई है किंतु उच्च न्यायालयों की आरम्भिक सिविल अधिकारिता पूर्णतः उत्सादित नहीं हुई है, कुछ उच्च मूल्य की कार्यवाहियों की बाबत उसे बनाए रखा गया है ।

(ख) अपीली ।

(ख) उच्च न्यायालय की अपीली अधिकारिता सिविल और दाण्डिक दोनों मामलों में है : (I) सिविल पक्ष में उच्च न्यायालय को की जाने वाली अपील या तो प्रथम अपील होती है या दूसरी ।

(i) जिला न्यायाधीशों और अन्य अधीनस्थ न्यायाधीशों से ऊंचे मूल्य वाले वादों में तथ्य और विधि दोनों के प्रश्नों पर अपील सीधे उच्च न्यायालय को होती है ।

(ii) जहां उच्च न्यायालय के अधीनस्थ कोई न्यायालय (अर्थात् जिला न्यायाधीश या अधीनस्थ न्यायाधीश) किसी निचले न्यायालय के विनिश्चय से अपील सुनकर उसका अवधारण करता है वहां ऐसे निचले अपीली न्यायालय के विनिश्चय से उच्च न्यायालय को अपील होती है । किंतु यह अपील केवल विधि और प्रक्रिया के प्रश्न पर होगी तथ्यों के प्रश्न पर नहीं [धारा 100, सिविल प्रक्रिया संहिता] ।

(iii) इसके अतिरिक्त इलाहाबाद, मुम्बई, कलकत्ता, मद्रास और पटना उच्च न्यायालय के लैटर्स पेटेंट के अधीन अपील का उपबन्ध है । ये अपीलें उच्च न्यायालय के एकल

न्यायाधीश के विनिश्चय से उच्च न्यायालय के अपील पक्ष को होती हैं चाहे ऐसा विनिश्चय आरम्भिक अधिकारिता के प्रयोग में दिया गया हो या अपीली अधिकारिता के ।

(II) उच्च न्यायालय की दाण्डिक अपीली अधिकारिता भी ऐसी ही जटिल है । इसमें, —

(क) सेशन न्यायाधीश या अपर सेशन न्यायाधीश के विनिश्चय से अपील होती है जहां कारावास का दण्डादेश सात वर्ष से अधिक का है ।

(ख) सहायक सेशन न्यायाधीश या महानगर मजिस्ट्रेट या अन्य न्यायिक मजिस्ट्रेटों के विनिश्चयों से ऐसे विनिर्दिष्ट मामलों में अपीलें होती हैं जो तुच्छ मामले नहीं हैं (दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 374, 376, 376छ) ।

उच्च न्यायालय की अधीक्षण की शक्ति ।

प्रत्येक उच्च न्यायालय को उन राज्यक्षेत्रों में सभी न्यायालयों और अधिकरणों पर अधीक्षण की शक्ति होगी जिनके संबंध में वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है, सैन्य अधिकरणों को छोड़कर [अनुच्छेद 227] । वह अधीक्षण की शक्ति बहुत व्यापक है । इसका विस्तार राज्य के भीतर सभी न्यायालयों और अधिकरणों पर है चाहे ऐसे न्यायालय या अधिकरण[9] उच्च न्यायालय की अपीली अधिकारिता के अधीन हों या नहीं । इसके अतिरिक्त इस अधीक्षण की शक्ति में घोर अन्याय या अधिकारिता के प्रयोग या दुरुपयोग की दशा में पुनरीक्षण की अधिकारिता भी होती है चाहे ऐसे अधिकरण के उद्देश्यों के विरुद्ध अपील या पुनरीक्षण अन्यथा उपलब्ध हो या नहीं ।

प्रशासनिक अधिकरणों पर अधिकारिता ।

सरकारी गतिविधियों में विस्तार के कारण और प्रशासन द्वारा किए जाने वाले काम की जटिल प्रकृति के कारण बहुत से आधुनिक कानूनों से प्रशासनिक निकायों को ऐसी विधि के प्रशासन के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले विवादों और न्यायिककल्प विवादों का विनिश्चय करने की शक्ति दी गई है । इसका कारण यह है कि या तो सामान्य न्यायालयों को इन नए विषयों या विवादों को जो तकनीकी प्रकृति के हैं विनिश्चय करने के लिए समय नहीं है क्योंकि उन पर कार्यभार पहले से ही अधिक है या इनका विनिश्चय ऐसे व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है जिन्हें उससे संबंधित अधिनियम के कार्यकरण का विशेष ज्ञान है । इस प्रकार भारत में मोटर यान अधिनियम, 1988 के अधीन परिवहन प्राधिकारियों जैसे प्रशासनिक अधिकारियों पर, राज्य के भाटक अधिनियमों के अधीन भाटक नियंत्रक को न्यायिककल्प शक्तियां प्रदान की गई हैं । इसके अतिरिक्त कुछ विशेष अधिकरण हैं जो न्यायिक प्रशासन के अंग नहीं हैं किंतु उन्हें न्यायालय के जैसी सभी साज-सज्जा दी गई है, यह होते हुए भी वे सही अर्थ में न्यायालय नहीं है क्योंकि वे एक विशेष प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं । इन सभी अधिकरणों का एक सामान्य लक्षण है अर्थात् वे नागरिकों के अधिकारों को प्रभावित करने वाले प्रश्नों का अवधारण करते हैं और उनके विनिश्चय नागरिकों पर आबद्धकर हैं ।

इन अधिकरणों के विनिश्चयों का पक्षकारों पर न्यायिक विनिश्चय के समान ही बल या प्रभाव है । और फिर भी ये अधिकरण न्यायालय द्वारा अंगीकृत प्रक्रिया का ठीक-ठीक अनुसरण नहीं करते हैं इसलिए इस बात की आवश्यकता उत्पन्न होती है कि उन्हें वरिष्ठ न्यायालय के नियंत्रण के अधीन रखा जाए जिससे वे अपनी अधिकारिता की उच्च सीमाओं के भीतर रहें और घोर अन्याय न कर पाएं ।

इंग्लैंड में उच्च न्यायालय परमाधिकार रिट निकालने की अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए न्यायिककल्प विनिश्चयों का न्यायिक पुनर्विलोकन करते हैं ।

भारत के संविधान में ऐसे अनेकों उपबन्ध हैं जो इन अधिकरणों को हमारे देश के वरिष्ठ न्यायालयों अर्थात् उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के नियंत्रण और अधीक्षण के अधीन रखते हैं :

(i) यदि अधिकरण ऐसा आदेश करता है जो किसी व्यक्ति के मूल अधिकार का अतिलंघन करता है तो वह उस विनिश्चय को विखंडित करने के लिए उत्प्रेषण की रिट के लिए अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय को या अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों को आवेदन कर सकता है । मूल अधिकार का अतिलंघन न होने पर भी उच्च न्यायालय उत्प्रेषण की रिट प्रदान करने के लिए सक्षम है यदि अधिकरण अधिकारिता के बिना कोई कार्य करता है या उस अधिकरण का गठन करने वाले कानून द्वारा दी गई अधिकारिता के बाहर कोई कार्य करता है या कोई ऐसे आदेश देता है जो नैसर्गिक न्याय के नियमों के प्रतिकूल हैं या अभिलेख से प्रकट होने वाली कोई विधिक भूल हैं ।

(ii) प्रत्येक न्यायालय को रिट निकालने की शक्ति के अतिरिक्त उसकी अधिकारिता के भीतर कार्य करने वाले सभी अधिकरणों पर साधारण अधीक्षण की शक्ति अनुच्छेद 227 के अधीन है और इस अधीक्षण को निर्वचन करके प्रशासनिक और न्यायिक दोनों माना गया है । अतएव जहां उत्प्रेषण की रिट उपलब्ध नहीं है किंतु स्पष्ट रूप से अन्याय हुआ है या होने वाला है तो उच्च न्यायालय अनुच्छेद 227 के अधीन हस्तक्षेप कर सकेगा और अधिकरण के आदेश को विखंडित कर सकेगा ।[9]

(iii) इन सबके ऊपर उच्चतम न्यायालय भारत में किसी भी अधिकरण के अवधारण के विरुद्ध अपील करने की विशेष इजाजत अनुच्छेद 136 के अधीन दे सकता है । जहां कहीं भी उच्चतम न्यायालय के हस्तक्षेप की मांग करते हुए असाधारण परिस्थितियां हों वहां वह ऐसा करता है । मोटे तौर से उच्चतम न्यायालय किसी अधिकरण पर अनुच्छेद 136 की शक्तियों का प्रयोग करेगा जहां अधिकरण के विरुद्ध उत्प्रेषण की रिट दी जा सकती है । उदाहरण के लिए जहां अधिकरण ने अपनी अधिकारिता के बाहर कार्य किया है या उसे विनिर्दिष्ट प्रश्न को ऐसी रीति से अवधारित किया है जिससे अन्याय होगा या ऐसी प्रक्रिया अपनाई है जो नैसर्गिक न्याय के सुस्थापित नियमों के विपरीत है । उच्चतम न्यायालय इस असाधारण शक्ति का प्रयोग बहुत कम मामलों में और आपवादिक परिस्थितियों में करेगा और जहां तक हो सके अपील न्यायालय के रूप में ऐसे अधिकरणों के विनिश्चय में हस्तक्षेप नहीं करेगा ।

उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता ।

उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को संविधान के क्रमशः अनुच्छेद 32 और 226 के अधीन असाधारण अधिकारिता है । इस अधिकारिता का विस्तार निचले न्यायालयों और अधिकरणों के अतिरिक्त राज्य या ऐसे प्राधिकारी या व्यक्ति पर है जिसे राज्य का प्राधिकार सौंपा गया है । इस अधिकारिता की विशेषता यह है कि संविधान द्वारा प्रदत्त होने के कारण इसे संविधान के संशोधन से ही छीना जा सकता है या कम किया जा सकता है । यह हम पहले ही बता चुके हैं कि उच्चतम न्यायालय की रिट निकालने की अधिकारिता अधिक विस्तारवान है । उच्चतम न्यायालय तभी रिट निकाल सकता है जब किसी मूल अधिकार का अतिलंघन हुआ है । उच्च न्यायालय मूल अधिकार के मामलों में तो रिट निकाल ही सकता है वह सामान्य विधिक अधिकार के अतिलंघन के मामले में भी रिट निकाल सकता है यदि सुस्थापित सिद्धांतों के अनुसार ऐसे मामलों से रिट ही उचित उपचार है ।

उच्च न्यायालय को, राज्य की न्यायपालिका के शीर्ष पर होने के नाते कुछ विषयों

की बाबत राज्य की अधीनस्थ न्यायपालिका पर प्रशासनिक नियंत्रण है । यह अपीली और अधीक्षण अधिकारिता के अतिरिक्त है । अधीनस्थ न्यायालयों में आते हैं जिला न्यायाधीश, नगर सिविल न्यायालय के न्यायाधीश, महानगर मजिस्ट्रेट और राज्य की न्यायिक सेवा के सदस्य ।

अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण ।

उच्च न्यायालय द्वारा अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों के ऊपर नियंत्रण का प्रयोग निम्न रीति से किया जाता है : —

(क) जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदस्थापना और प्रोन्नति के मामले में राज्यपाल उच्च न्यायालय से परामर्श करेगा [अनुच्छेद 233] ।

(ख) राज्यपाल उच्च न्यायालय और राज्य लोक सेवा आयोग के परामर्श से राज्य की न्यायिक सेवा में नियुक्तियां करता है (जिला न्यायाधीश से भिन्न) [अनुच्छेद 234] ।

(ग) जिला न्यायालयों और उनके अधीनस्थ न्यायालयों का नियंत्रण, जिसके अन्तर्गत राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों और जिला न्यायाधीश के पद से अवर किसी पद को धारण करने वाले व्यक्तियों की पदस्थापना, प्रोन्नति और उनको छुट्टी देना है, उच्च न्यायालय में निहित होगा [अनुच्छेद 235] ।

संविधान के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनेक प्रकार से कांट-छांट दिया गया था । इस पर हम पहले ही अध्याय 19 के अंत में उच्चतम न्यायालय के संदर्भ में निर्देश कर चुके हैं । किंतु संविधान (42वें संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा नए अनुच्छेद 226क और 228क का 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा लोप कर दिया गया है और आरम्भ की स्थिति वापस आ गई है ।

42वां, 43वां, और 44वां संशोधन ।

किंतु अनुच्छेद 323क, 323ख का उल्लेख करना होगा जिन्हें 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा अन्तःस्थापित किया गया किंतु जो 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा निरसित नहीं किया जा सका । इन अनुच्छेदों से उच्च न्यायालय की, सेवा सम्बन्धी, कराधान, विदेशी मुद्रा, श्रम विवाद, भूमि-सुधार, निर्वाचन और आवश्यक वस्तु के बारे में अधिकारिता को संकट उत्पन्न हो गया है ।

संसद् ने अनुच्छेद 323क को क्रियान्वित करते हुए प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 पारित किया है जिसके अधीन केन्द्रीय सरकार ने संघ की सेवाओं की बाबत केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण स्थापित किए हैं ।

इसके परिणामस्वरूप उच्च न्यायालय सहित सभी न्यायालयों को संघ की लोक सेवाओं में नियुक्त व्यक्तियों के सम्बन्ध में भर्ती और अन्य सेवा संबंधी विषयों के बारे में वाद ग्रहण करने की कोई अधिकारिता नहीं होगी । न तो आरम्भिक और न अपीली । उच्चतम न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन ऐसे अधिकरणों से विशेष इजाजत देकर अपील सुनने की या अनुच्छेद 32 के अधीन रिट निकालने की अधिकारिता यथावत् है ।

निर्देश

1. इस उपबन्ध के अधीन असम का उच्च न्यायालय (गुवाहाटी स्थित) असम, नागालैंड, मणिपुर, मेघालय, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम का सम्मिलित न्यायालय है (सारणी 17) ।
2. संविधान (15वां संशोधन) अधिनियम, 1963 द्वारा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु को 60 से बढ़ाकर 62 वर्ष कर दिया गया है ।

3. यह वेतन संविधान (54वां संशोधन) अधिनियम, 1986 द्वारा बढ़ाया गया है । इसे उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय न्यायाधीश (सेवा की शर्तें) संशोधन अधिनियम, 1986 के साथ पढ़ा जाना चाहिए ।
4. सी.ए.डी., तारीख 22-11-1948 ।
5. देखिए *गुप्ता* बनाम *भारत का राष्ट्रपति*, ए.आई.आर. 1982 एस.सी. 149 (7 न्यायाधीशों की न्यायपीठ) ।
6. इस संदर्भ में देखिए *भारत संघ* बनाम *ज्योति प्रकाश*, ए.आई.आर. 1971 एस.सी. 1093, और उस पर लेखक की टिप्पणी के लिए देखिए डी.डी. बसु, *कमेंट्री आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया* (छठा संस्करण), जिल्द जी, पृष्ठ 246 ।
7. विभिन्न उच्च न्यायालयों की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के बारे में देखिए सारणी 17 । दिल्ली पहले पंजाब उच्च न्यायालय की अधिकारिता के अन्तर्गत थी किंतु अब 1966 से उसका अपना उच्च न्यायालय है ।
8. बसु, *क्रिमिनल प्रोसीजर कोड* (प्रेंटिस हाल, 1979), पृष्ठ 29 ।
9. 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 से उच्च न्यायालयों के अनुच्छेद 227(1) के अधीन अधिकरणों पर अधिकारिता को उक्त अनुच्छेद से "अधिकरण" शब्द का लोप करके छीन लिया गया था । 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 ने इस शब्द को वापस रख दिया जिससे उच्च न्यायालय को अपनी राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर प्रत्येक अधिकरण पर अधीक्षण की शक्ति प्राप्त हो गई है । किंतु उच्च न्यायालय की इस अधिकारिता को अनुच्छेद 323क के अधीन स्थापित प्रशासनिक अधिकरणों की बाबत, प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 द्वारा छीन लिया गया है ।

भाग 6

परिसंघ प्रणाली

21

विधायी और कार्यपालिका शक्तियों का वितरण

संघ की प्रकृति ।

हमारे संविधान द्वारा स्थापित परिसंघ प्रणाली की प्रकृति को पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है (अध्याय 5) । इसके आवश्यक लक्षणों पर पुनः दृष्टिपात करने पर निम्नलिखित बाते सम्मुख आती हैं :

इसमें ऐकिकता की ओर झुकाव बहुत अधिक है तथा पारंपरिक परिसंघीय स्कीम के बहुत से अपवाद है फिर हमारे देश के शासन के आधारभूत ढांचे के रूप में संविधान ने परिसंघीय प्रणाली अपनाई है । 1992 के अंत में संघ में 25 राज्य[1] हैं और संघ तथा राज्य दोनों ही संविधान से प्राधिकार प्राप्त करते हैं । संविधान ने विधायी, कार्यपालिका और वित्तीय इन सभी शक्तियों का विभाजन इनके बीच किया है [जैसा हम पहले बता चुके हैं (अध्याय 19) न्यायिक शक्तियों का विभाजन नहीं किया गया है । संघ और राज्य दोनों के लिए एक ही न्यायपालिका हैं] । परिणाम यह है कि राज्य संघ के प्रत्यायोजिती नहीं है । संघ के पास बहुत से अभिकरण और युक्तियां ऐसी हैं जिनके द्वारा अनेकों विषयों में राज्य पर नियंत्रण किया जा सकता है । इन अपवादों के अधीन रहते हुए राज्य संविधान द्वारा आबंटित अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र हैं । संघ और राज्य दोनों समान रूप से संघ द्वारा अधिरोपित मर्यादाओं के अधीन हैं । उदाहरण के लिए विधायी शक्ति का प्रयोग मूल अधिकारों द्वारा मर्यादि त है ।

न तो संघ विधान मंडल (संसद्) और न ही राज्य विधान मंडल विधिक अर्थ में "प्रभुत्व संपन्न" हैं । प्रत्येक की संविधान के उपबन्धों द्वारा बनाई गई परिसीमाएं हैं । ये उपबन्ध उनके बीच विधायी शक्तियों का वितरण करते हैं । इसके अतिरिक्त मूल अधिकार और कुछ अन्य विनिर्दिष्ट उपबन्ध भी कुछ विषयों में उनकी शक्ति को निर्बन्धित करते हैं । उदाहरण के लिए अनुच्छेद 276(2) (राज्य विधान मंडल की किसी वृत्ति पर कर अधिरोपित करने की शक्ति की सीमा) और अनुच्छेद 303 (व्यापार और वाणिज्य से संबंधित विधान के बारे में संसद् और राज्य विधान मंडल दोनों की शक्तियों की सीमा)। यदि इन सांविधानिक मर्यादाओं में से किसी का उल्लंघन किया जाता है तो सम्पृक्त विधान मंडल की विधि को न्यायालय अविधिमान्य घोषित कर सकता है ।

विधायी शक्ति के वितरण की स्कीम ।

जैसा प्रारम्भ में बताया गया है परिसंघ प्रणाली में परिसंघ और इकाइयों के बीच शक्तियों का वितरण किया जाता है । प्रत्येक देश की स्थानीय परिस्थितियों और राजनीतिक पृष्ठभूमि के अनुसार यह वितरण अलग-अलग होता है । वितरण दो प्रकार से होता है : —

(क) वह राज्यक्षेत्र जिस पर परिसंघ और इकाइयां अपनी-अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते हैं,

(ख) वे विषय जिन पर उनकी अधिकारिता का विस्तार होता है ।

हमारे संविधान में इन दोनों शीर्षों के अधीन विधायी शक्ति का वितरण इस प्रकार है :

संघ और राज्य के विधान मंडल का राज्यक्षेत्रीय विस्तार ।

I. विधान मंडल किसी राज्यक्षेत्र की बाबत विधान बना सकेगा । इस बारे में संभवतः राज्य विधान मंडल कुछ मर्यादा के अधीन है जिसके अधीन संसद् नहीं है । उदाहरण के लिए संघ का राज्यक्षेत्र राज्यों के बीच विभाजित है इसलिए प्रत्येक राज्य की अधिकारिता उसके अपने राज्यक्षेत्र तक ही सीमित होनी चाहिए । जब कोई राज्य का विधान मंडल अपनी शक्ति के भीतर आने वाले किसी विषय पर विधि बनाता है तो यह समझा जाना चाहिए कि वह उस राज्य के राज्यक्षेत्र के भीतर स्थित व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति ही निर्देश कर रहा है । राज्य का विधान मंडल संपूर्ण राज्य या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकता है [अनुच्छेद 245(1)] । राज्य विधान मंडल अपनी राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता का किसी भी परिस्थिति में विस्तार नहीं कर सकता । इसका विस्तार तभी हो सकता है जब संसद् के अधिनियम द्वारा राज्य की सीमाएं बढ़ा दी जाएं ।

संघ की संसद् को भारत के संपूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बनाने की शक्ति है । इसमें न केवल राज्य आते हैं बल्कि संघ राज्यक्षेत्र या ऐसा कोई क्षेत्र भी आ जाता है जो तत्समय भारत के राज्यक्षेत्र में सम्मिलित है [अनुच्छेद 246(4)] । उसे राज्यक्षेत्रातीत विधान बनाने की शक्ति भी है [अनुच्छेद 245(2)] । यह शक्ति किसी राज्य विधान मंडल को नहीं है । इसका यह अर्थ हुआ कि संसद् द्वारा बनाई गई विधियां न केवल भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर स्थित व्यक्तियों और संपत्तियों को शासित करेंगी बल्कि विश्व के किसी भाग में भी निवास करने वाली भारत की प्रजा और उनकी वहां स्थित सम्पत्ति को लागू होंगी । भारत में राज्य के विधान मंडलों द्वारा अपने राज्य की सीमाओं के बाहर व्यक्तियों या संपत्ति को प्रभावित करने की शक्ति का दावा नहीं किया जा सकता ।

संसद् की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता की परिसीमाएं ।

संसद् की व्यापक राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता, संविधान के कुछ विशेष उपबंधों के अधीन है, —

(i) अंदमान और निकोबार द्वीप और लक्षद्वीप जैसे संघ राज्यक्षेत्रों के बारे में राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए विनियमों का वही बल होगा जो संसद् के अधिनियमों का होता है और ऐसे विनियम ऐसे राज्यक्षेत्र के संबंध में संसद् द्वारा बनाई गई विधि को निरसित या संशोधित कर सकते हैं [अनुच्छेद 240(2)] ।[2]

(ii) राज्यपाल संसद् के किसी अधिनियम को किसी अनुसूचित क्षेत्र में लागू होने से अधिसूचना द्वारा वर्जित कर सकता है या उपांतरित कर सकता है [पांचवीं अनुसूची का पैरा 5] ।[2]

(iii) असम का राज्यपाल, लोक अधिसूचना द्वारा यह निदेश दे सकता है कि संसद् का कोई अधिनियम असम राज्य के किसी स्वशासी जिले को या किसी स्वशासी क्षेत्र को लागू नहीं होगा या ऐसे जिले या क्षेत्र या उसके किसी भाग को ऐसे अपवादों या उपान्तरणों के अधीन लागू होगा जो वह अधिसूचना में विनिर्दिष्ट करे [छठी अनुसूची का पैरा 12(1)(ख)] ।[3] मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के जिले या स्वशासी क्षेत्र के बारे में इसी प्रकार का अधिकार छठी अनुसूची के पैरा 12क, 12कक और 12ख द्वारा राष्ट्रपति को दिया गया है ।

यह स्पष्ट है कि पूर्वगामी विशेष उपबंध विनिर्दिष्ट क्षेत्रों के पिछड़ेपन को देखते

हुए अन्तःस्थापित किए गए हैं क्योंकि साधारण विधियों को वहां लागू करने से कठिनाई हो सकती है या उसके कुछ दुष्परिणाम हो सकते हैं ।

विधायी विषयों का वितरण ।

II. विषयों के वितरण के बारे में संविधान ने भारत शासन अधिनियम, 1935 से संघ और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों का तीन प्रकार से वितरण किया है [अनुच्छेद 246] । संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया में शक्तियों का एक ही प्रगणन किया गया है — केवल परिसंघ विधान मंडल की शक्तियां गिनाई गई हैं । कनाडा में दोहरा प्रगणन है । भारत शासन अधिनियम, 1935 में तीन प्रगणन थे अर्थात् परिसंघीय, प्रान्तीय और समवर्ती । संविधान ने 1935 के अधिनियम से यह स्कीम ले ली और विधान के सभी संभावित विषयों को संविधान की अनुसूची 7 में तीन विधायी सूचियों में विभाजित कर दिया (देखिए सारणी 18) ।[4]

सूची 1 या संघ सूची में (1992 के अंत तक) 99 मद या विषय ऐसे हैं जिन पर संघ को विधि बनाने की अनन्य शक्ति है । इसके अन्तर्गत प्रतिरक्षा, विदेश कार्य, बैंककारी, करेंसी और सिक्के, संघ के शुल्क और कर हैं ।

सूची 2 या राज्य सूची में 61 मदें या प्रविष्टियां हैं जिन पर विधान बनाने की अनन्य शक्ति राज्य विधान मंडल को है । इनमें हैं लोक व्यवस्था और पुलिस, स्थानीय शासन, लोक स्वास्थ्य, कृषि, वन, मात्स्यिकी, राज्य के कर और शुल्क ।

सूची 3 संघ और राज्य के विधान मंडल को 52 मदों पर समवर्ती शक्ति प्रदान करती है जैसे दाण्डिक विधि और प्रक्रिया, सिविल प्रक्रिया, विवाह, संविदा, अपकृत्य, न्यास, श्रम कल्याण, बीमा, आर्थिक और सामाजिक योजना तथा शिक्षा ।

तीनों सूचियों में परस्पर व्याप्ति होने की दशा में संघ विधान मंडल को उसी प्रकार प्रधानता दी गई है जैसे भारत शासन अधिनियम, 1935 में थी । राज्य विधान मंडल की राज्य सूची में प्रगणित विषयों पर विधान बनाने की शक्ति संघ की संसद् की संघ सूची और समवर्ती सूचियों में प्रगणित विषयों की बाबत विधान बनाने की शक्ति के अधीन है । राज्य की सूची की प्रविष्टियों का निर्वचन तदनुसार किया जाएगा ।

समवर्ती क्षेत्र में एक ही विषय पर संघ और राज्य की विधि में विरोध होने की दशा में ही संघ की विधि अभिभावी होती है । यदि राज्य की विधि को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखा गया है और उस पर अनुमति मिल गई है तो वह विधि उस राज्य में अभिभावी होगी । किंतु संसद् पश्चात्वर्ती विधान द्वारा राज्य विधि का अध्यारोहण कर सकती है [अनुच्छेद 254(2)] ।[5]

अवशिष्ट शक्तियां ।

हमारे संविधान में अवशिष्ट शक्तियों के निहित करने के बारे में कनाडा के पूर्व दृष्टांत का अनुसरण किया गया है । हमारे यहां अवशिष्ट शक्ति संघ को दी गई है राज्यों को नहीं (अमरीका और आस्ट्रेलिया में यह शक्ति राज्यों को है) । इस विषय में संविधान और भारत शासन अधिनियम, 1935 में अन्तर है । उस अधिनियम में अवशिष्ट शक्तियां न तो परिसंघ में निहित थीं और न ही राज्य विधान मंडल में किंतु वे गर्वनर जनरल के हाथों में थी । संविधान अवशिष्ट शक्ति अर्थात् ऐसे विषय पर जो सूचियों में से किसी में प्रगणित नहीं है, विधि बनाने की शक्ति संघ विधान मंडल में निहित करता है [अनुच्छेद 248] ।[6] कोई विशिष्ट विषय अवशिष्ट शक्ति के अधीन आता है या नहीं इस बात का अवधारण न्यायालय करेंगे ।

यह ध्यान देने योग्य है कि ये तीनों सूचियां विधायन के सभी संभव विषयों को निःशेषकारी रूप से प्रगणित करती हैं । न्यायालय इन प्रगणित विषयों की परिधि का निर्वचन उदारता से करते हैं परिणामतः अवशिष्ट शक्ति के लागू किए जाने का क्षेत्र संकीर्ण

हो जाता है । इसलिए इस बात में आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि संविधान के कार्यकरण के 42 वर्ष के दौरान ऐसे विनिश्चय बहुत कम हुए हैं जिनमें संघ के विधान को अवशिष्ट शक्ति का प्रयोग करके बनाया गया माना गया हो ।[7]

ऊपर जो कहा गया है वह विधायी शक्तियों के प्रसामान्य वितरण का वर्णन है । कुछ आपवादिक परिस्थितियां हैं जिनमें वितरण की उपरोक्त प्रणाली निलम्बित हो जाती है और संघ की संसद् की शक्ति राज्य के विषयों पर छा जाती है । ये आपवादिक और असाधारण परिस्थितियां निम्नलिखित हैं —

विभिन्न परिस्थितियों में संघ की विधायी शक्ति का विस्तार ।

(क) *राष्ट्रीय हित* — यदि राज्य सभा उपस्थित और मत देने वाले दो-तिहाई सदस्यों के संकल्प से यह घोषित करती है कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक है कि संसद् को राज्य सूची के विषयों पर विधान बनाने की शक्ति हो तो एक अस्थायी अवधि के लिए संसद् को राज्य सूची में सम्मिलित विषयों की बाबत विधि बनाने की शक्ति होगी । ऐसे प्रत्येक संकल्प से प्रश्नगत विधि को एक वर्ष की अवधि मिलती रहेगी ।

संसद् द्वारा बनाई गई कोई विधि जिसे संसद् ऐसे संकल्प के पारित होने के अभाव में बनाने के लिए सक्षम नहीं होती, संकल्प के प्रवृत्त न रहने के पश्चात् छह मास की अवधि की समाप्ति पर अक्षमता की मात्रा तक उन बातों के सिवाय प्रभावी नहीं रहेगी जिन्हें उक्त अवधि की समाप्ति से पहले किया गया है या करने का लोप किया गया है [अनुच्छेद 249] । राज्य सभा के संकल्प को एक बार में एक वर्ष की अवधि के लिए नवीकृत किया जा सकता है ।

(ख) *आपात की उद्घोषणा के अधीन* — जब राष्ट्रपति द्वारा आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है तब संसद् को राज्य के विषयों की बाबत विधान बनाने की ऐसी ही शक्ति होगी ।

संसद् द्वारा बनाई गई कोई विधि जिसे संसद् आपात की उद्घोषणा के अभाव में बनाने के लिए सक्षम नहीं होती, उद्घोषणा के प्रवर्तन में न रहने के पश्चात् छह मास की अवधि की समाप्ति पर अक्षमता की मात्रा तक उन बातों के सिवाय प्रभावी नहीं रहेगी जिन्हें उक्त अवधि की समाप्ति से पहले किया गया है या करने का लोप किया गया है । [अनुच्छेद 250] ।

(ग) *राज्यों के बीच करार द्वारा* — यदि दो या अधिक राज्यों के विधान मंडल यह संकल्प करते हैं कि संसद् के लिए उन राज्यों के सम्बन्ध में राज्य सूची में सम्मिलित किसी विषय की बाबत विधि बनाना विधिपूर्ण होगा तो संसद् को ऐसे राज्यों के बारे में ऐसी शक्ति होगी । कोई अन्य राज्य, राज्य के विधान मंडल में इस निमित्त पारित संकल्प द्वारा संघ के ऐसे विधान को अपने लिए अंगीकार कर सकेगा । संक्षेप में यह राज्यों के विधान मंडलों की सहमति से संघ की अधिकारिता का विस्तार है [अनुच्छेद 252] ।[8]

जैसे संसद् को कृषि भूमि की बाबत संपदा-शुल्क अधिरोपित करने की क्षमता नहीं है, किंतु संसद् ने संपदा-शुल्क अधिनियम, 1953 (अब निरसित) में कुछ राज्यों में स्थित कृषि भूमियों को सम्मिलित कर लिया है । यह अनुच्छेद 252 के अधीन ऐसे राज्यों के विधान मंडलों द्वारा पारित संकल्पों के आधार पर किया गया है जिनमें संसद् को ऐसी शक्ति प्रदान की गई थी ।

(घ) *संधियों को क्रियान्वित करने के लिए* — संसद् को किसी संधि, अंतरराष्ट्रीय करार या अभिसमय के प्रयोजन के लिए किसी विषय की बाबत विधान बनाने की शक्ति है । दूसरे शब्दों में अन्तरराष्ट्रीय बाध्यताओं को क्रियान्वित करने के लिए विधान बनाने

में संसद् के मार्ग में शक्तियों का प्रसामान्य वितरण बाधा उत्पन्न नहीं करेगा चाहे ऐसा विधान राज्य के विषय के संबंध में ही क्यों न हो [अनुच्छेद 253] ।

(ङ) *राज्य में सांविधानिक तंत्र की विफलता की उद्घोषणा के अधीन* — जहां राष्ट्रपति द्वारा ऐसी उद्घोषणा की जाती है वहां राष्ट्रपति यह घोषित कर सकता है कि राज्य के विधान मंडल की शक्तियों का प्रयोग संसद् द्वारा या संसद् के प्राधिकार के अधीन किया जाएगा [अनुच्छेद 356(1)(ख)] ।

विधायी सूचियों का निर्वचन ।

न्यायालयों के लिए इन तीन विधायी सूचियों की 200 से अधिक प्रविष्टियों का निर्वचन कोई सरल काम नहीं है । न्यायालयों को विभिन्न प्रविष्टियों में समन्वय करने के लिए अनेक न्यायिक सिद्धांतों को लागू करना पड़ता है । उन सब पर विचार करना इस पुस्तक की परिधि के बाहर है ।[9] इतना कहना पर्याप्त होगा कि, —

(क) प्रत्येक प्रविष्टि को उसके शब्दों को ध्यान में रखते हुए और किसी अन्य प्रविष्टि को व्यर्थ न करते हुए अधिक से अधिक व्यापक महत्व दिया जाता है ।[10]

(ख) यह अवधारित करने के लिए कि कोई विशिष्ट अधिनियमिति किस प्रविष्टि में आती है उस अधिनियमिति का सार और तत्व जाना चाहिए । उस पर लगाए गए विधायी नामपट्ट पर ध्यान नहीं दिया जाता ।[11] यदि अधिनियमिति सारवान् रूप से ऐसी प्रविष्टि के अधीन आती है जिस पर विधान मंडल की अधिकारिता है और आनुषंगिक रूप से ऐसी प्रविष्टि में वह प्रवेश करती है जिसके बारे में वह सक्षम नहीं है तो इससे विधि अविधिमान्य नहीं हो जाएगी ।[10]

(ग) दूसरी ओर, जब विधान मंडल को किसी विषय के बारे में विधान बनाने की शक्ति नहीं है तो न्यायालय ऐसे विधान मंडल को अपनी शक्ति के बाहर जाकर या किसी अन्य विधि की शक्ति पर अधिक्रमण करके कोई अन्य युक्ति या "आभासी विधान" बनाकर ऐसा करने की अनुमति नहीं दे सकता ।[12]

(घ) विधान मंडल ने विधायी शक्ति की सांविधानिक सीमाओं का उल्लंघन किया है या नहीं यह अवधारित करने के लिए विधान मंडल के उद्देश्य पर विचार करना असंगत है ।[12]

कार्यपालिका शक्ति का वितरण ।

संघ और राज्य के बीच कार्यपालिका शक्ति का वितरण, विधायी शक्तियों के वितरण की अपेक्षा अधिक जटिल है ।

I. साधारणतया यह वितरण विधायी शक्तियों के वितरण की स्कीम का अनुसरण करता है । परिणामस्वरूप राज्य की कार्यपालिका शक्ति मुख्यतया विधायी शक्ति के समान विस्तारवान है, इसका यह अर्थ हुआ कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उसके अपने राज्यक्षेत्र पर होगा और ऐसे विषयों की बाबत होगा जिन पर उसकी विधायी क्षमता है [अनुच्छेद 162] । इसके विपरीत संघ की निम्नलिखित विषयों पर अनन्य कार्यपालिका शक्ति होगी, — (क) उन विषयों पर जिनकी बाबत संसद् को विधि बनाने की अनन्य शक्ति है (अर्थात् 7वीं अनुसूची की सूची 1 के विषय) और (ख) किसी संधि या करार द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग [अनुच्छेद 73] । दूसरी ओर राज्य को सूची 2 में सम्मिलित सभी विषयों पर अनन्य विधायी शक्तियां होगी [अनुच्छेद 162] ।

II. समवर्ती क्षेत्र में वितरण के सम्बन्ध में कुछ नवीनता है । समवर्ती विधायी सूची (अर्थात् सूची 3) में सम्मिलित विधायी शक्ति की बाबत, सामान्यतया कार्यपालिका शक्ति राज्यों को होगी किंतु संविधान या संसद् की किसी विधि के संघ को अभिव्यक्त रूप से ऐसे कृत्य प्रदत्त करने वाले उपबन्धों के अधीन रहते हुए ही राज्यों को शक्ति

मिलेगी । भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन केन्द्र को प्रान्तीय कार्यपालिका को समवर्ती विषय से सम्बन्धित केन्द्रीय विधि के क्रियान्वयन के लिए निदेश देने की शक्ति थी किंतु निदेश देने की यह शक्ति निष्प्रभावी साबित हुई । इसलिए संविधान में यह उपबंध किया गया कि संघ यदि ठीक समझे तो समवर्ती विषयों से सम्बन्धित संघ की विधि का प्रशासन स्वयं कर सकेगा ।

परिणामस्वरूप समवर्ती विषयों से संबंधित कार्यपालिका शक्ति राज्यों के पास है । इसके दो अपवाद हैं, –

(क) जब ऐसे विषय से संबंधित संघ की विधि कोई कार्यपालिका कृत्य को विनिर्दिष्ट रूप से संघ में निहित करती है । उदाहरणार्थ भूमि अर्जन अधिनियम, 1894, औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 [अनुच्छेद 73(1) का परन्तुक] । इन संघ विधियों में विनिर्दिष्ट कृत्यों की बाबत कार्यपालिका शक्ति संघ को होगी राज्यों को नहीं । अन्य विषयों की बाबत कार्यपालिका शक्ति राज्यों में ही होगी ।

(ख) जहां संविधान के उपबंध कोई कार्यपालिका कृत्य संघ को सौंपते हैं, जैसे,

(i) किसी संधि या अंतरराष्ट्रीय करार को क्रियान्वित करने की कार्यपालिका की शक्ति अनन्यतः संघ को है चाहे वह विषय संघ, राज्य या समवर्ती सूची में हो [अनुच्छेद 73(1)(ख)] ।

(ii) संघ को अपनी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में कुछ विषयों में राज्य सरकार को निदेश देने की शक्ति है । ये विषय हैं –

(अ) प्रसामान्य समय में :

(क) उस राज्य में लागू संघ विधि और विद्यमान विधियों के सम्यक् अनुपालन को सुनिश्चित करने के लिए [अनुच्छेद 256] ।

(ख) यह सुनिश्चित करने के लिए कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में हस्तक्षेप नहीं करता है [अनुच्छेद 257(1)] ।

(ग) यह सुनिश्चित करने के लिए कि राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के संचार साधनों का राज्य द्वारा निर्माण किया जाएगा और उन्हें बनाए रखा जाएगा [अनुच्छेद 257(2)] ।

(घ) राज्य के भीतर रेलों का संरक्षण सुनिश्चित करने के लिए [अनुच्छेद 257(3)] ।

(ङ) निदेशों में विनिर्दिष्ट ऐसी स्कीमों के बनाने और निष्पादन के लिए जो राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए आवश्यक समझे [अनुच्छेद 339(2)] ।

(च) भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएं सुनिश्चित करने के लिए [अनुच्छेद 350क] ।

(छ) हिन्दी भाषा का विकास सुनिश्चित करने के लिए [अनुच्छेद 351] ।

(ज) यह सुनिश्चित करने के लिए कि राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाई जाए [अनुच्छेद 355] ।

(आ) आपात में :

(क) आपात की उद्घोषणा के दौरान संघ की शक्ति का विस्तार यह निदेश देने के लिए भी किया जाता है कि किस प्रकार किसी विषय के संबंध में राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किया जाएगा [अनुच्छेद 353(क)] (जिससे राज्य सरकार को निलम्बित किए बिना पूर्णतः संघ के नियंत्रण में ले आया जाता है) ।

(ख) राज्य में सांविधानिक तंत्र की विफलता की उद्घोषणा पर राष्ट्रपति राज्य की समस्त या किन्हीं कार्यपालिका शक्तियों को अपने हाथ में ले सकेगा [अनुच्छेद 356(1)] ।

(इ) वित्तीय आपात की उदघोषणा के दौरान :

(i) वित्तीय औचित्य संबंधी ऐसे सिद्धांतों का पालन करने के लिए जो निदेशों के अनुसार विनिर्दिष्ट किया जाए [अनुच्छेद 360(3)] ।

(ii) राज्य के कार्यकलाप के सम्बन्ध में सेवा करने वाले सभी या किसी वर्ग के व्यक्तियों के, जिनके अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश हैं, वेतनों और भत्तों में कमी करने के लिए [अनुच्छेद 360(4)(ख)] ।

(iii) धन विधेयकों या अन्य ऐसे विधेयकों को राज्य के विधान मंडल द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करने की अपेक्षा करना [अनुच्छेद 360(4)] ।

III. विधायी शक्तियों के बारे में संघ [अनुच्छेद 252 को छोड़कर] और राज्य को पारस्परिक सहमति से एक दूसरे की अनन्य अधिकारिता का अतिक्रमण करने की क्षमता नहीं है किंतु यह कार्यपालिका शक्ति के बारे में सम्भव हो सकता है, जैसे किसी राज्य की सरकार की सहमति से संघ किसी विषय से सम्बन्धित अपने कार्यपालिका कृत्य ऐसे राज्य सरकार या उसके अधिकारियों को सौंप सकता है [अनुच्छेद 258(1)]। इसके विपरीत संघ सरकार की सहमति से, राज्य सरकार उसे अपने कार्यपालिका कृत्य सौंप सकती है [अनुच्छेद 258क] ।

IV. अनुच्छेद 258(2) के अधीन संसद् द्वारा संघ के विषय में बनाई गई विधि केन्द्रीय सरकार को इस बात के लिए प्राधिकृत कर सकती है कि वह सरकार अपने कार्य या कृत्य राज्य सरकार या उसके अधिकारियों को प्रत्यायोजित कर दे (ऐसी राज्य सरकार की सम्मति लिए बिना) ।

निर्देश

1. अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम और गोवा को संघ राज्यक्षेत्र से राज्य बना देने पर, 1987 में राज्यों की संख्या 25 हो गई ।
2. देखिए डा. बसु का *कांस्टिट्यूश्नल ला आफ इंडिया* (6ठा संस्करण, 1991) पृष्ठ 265, 458 ।
3. वही, पृष्ठ 467 ।
4. जैसा पहले कहा गया है यह वितरण संघ राज्यक्षेत्रों को लागू नहीं होता । इनके बारे में संसद् किसी भी विषय में विधान बनाने के लिए सक्षम है । इसमें वे विषय भी आते हैं जो राज्य सूची में प्रगणित हैं ।
5. देखिए डा. डी.डी. बसु का *कांस्टिट्यूश्नल ला आफ इंडिया* (प्रेंटिस हाल, 1991), पृष्ठ 281-84 ।
6. वही, पृष्ठ 279 ।
7. देखिए द्वितीय *दान-कर अधिकारी* बनाम *हाजेरथ*, ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 999; *भारत संघ* बनाम *ढिल्लों*, (1971) 2 एस.सी.सी. 779; *आजम* बनाम *व्यय कर अधिकारी*, (1971) 3 एस.सी.सी. 621; *शार्टर कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया*, नवां संस्करण, पृष्ठ 607, 929 ।
8. देखिए डा. डी.डी. बसु का *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया* (पी.एच.आई. 1991), पृष्ठ 280 ।
9. डा. डी.डी. बसु की *कमेंट्री आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया*, 5वां संस्करण, जिल्द 4, पृष्ठ 95 और आगे; *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया*, छठा संस्करण, पृष्ठ 475-500 ।
10. *मुम्बई राज्य* बनाम *बलसारा*, (1951) एस.सी.आर. 682; *रामकृष्ण* बनाम *म्युनिसिपल कमेटी*, (1950) एस.सी.आर. 15 (25) ।
11. *अमर सिंह* बनाम *राजस्थान राज्य*, (1955) 2 एस.सी.आर. 303 (*325*) ।
12. *के.सी.जी. नारायण देव* बनाम *उड़ीसा राज्य*, (1954) एस.सी.आर. 1 ।

22

वित्तीय शक्तियों का वितरण

वित्तीय संसाधनों के वितरण की आवश्यकता ।

कोई भी परिसंघ प्रणाली तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि संघ और राज्य दोनों के पास ऐसे पर्याप्त वित्तीय संसाधन न हों जिनसे वे संविधान के अधीन अपने-अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन कर सकें ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमारे संविधान ने विस्तृत उपबन्ध बनाए हैं । इनमें मुख्यतः भारत शासन अधिनियम, 1935 की करों के और कर से भिन्न राजस्व के वितरण के संबंध में तथा उधार लेने की शक्ति के बारे में उपबन्धों का अनुसरण किया गया है । इसकी अनुपूर्ति में संघ द्वारा राज्य को सहायता अनुदान के उपबन्ध रखे गए हैं ।

इन विस्तृत उपबन्धों पर, जो देश के वित्तीय संसाधनों के वितरण के लिए एक जटिल व्यवस्था बनाते हैं, विचार करने के पहले इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि इस जटिल तंत्र का उद्देश्य परिसंघ की दोनों इकाइयों के बीच वित्तीय संसाधनों का साम्यापूर्ण वितरण करना है । इसका उद्देश्य सामान्य परिसंघीय प्रणाली के अधीन दो इकाइयों में संसाधनों का जलरोधी विभाजन करना नहीं है । उच्चतम न्यायालय ने इस व्यवस्था के लिए इन शब्दों में एक सुंदर भूमिका दी है ।[1]

"संघ को राजस्व के जो स्रोत आबंटित किए गए हैं वे समग्र रूप से संघ के प्रयोजनों के लिए नहीं हैं किंतु उपर्युक्त अनुच्छेदों में प्रकल्पित संसदीय विधान में उल्लिखित सिद्धांतों के अनुसार उनका वितरण किया जाना है । संघ द्वारा उद्गृहीत सभी कर और शुल्क भारत की संचित निधि के भाग नहीं होते । इनमें से बहुत से कर और शुल्क राज्यों में वितरित किए जाते हैं और राज्यों की संचित निधि के भाग होते हैं । उन करों और शुल्कों को भी जो भारत की संचित निधि गठित करते हैं आवश्यकतानुसार राज्य के राजस्व की अनुपूर्ति करने के प्रयोजन के लिए उपयोग किया जा सकता है । पूर्वोक्त करों और शुल्कों का राज्य में वितरण करने का प्रश्न और उनको शासित करने वाले सिद्धांत तथा सहायता अनुदान को शासित करने वाले तत्व . . . ऐसे विषय हैं जिनका विनिश्चय एक उच्च शक्तिसम्पन्न वित्त आयोग द्वारा किया जाता है । इस निकाय को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया है कि वह वस्तुनिष्ठ रीति से इन विषयों का अवधारण करे . . . संविधान निर्माताओं ने यह अनुभव किया था कि राज्यों को आबंटित राजस्व के ये स्रोत अनेक प्रयोजनों के लिए, हो सकता है पर्याप्त न हों और भारत सरकार को उनके कल्याणकारी कार्यों में साहाय्यिकी देना आवश्यक होगा . . . । राज्यों के वित्तीय स्रोतों की सीमाओं को देखते हुए और कल्याणकारी राज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संविधान ने . . . संसद् को यह शक्ति दी है कि वह अपने राजस्व का एक हिस्सा . . . राज्यों के फायदे के लिए ही अलग कर दे । यह पूर्वकथित अनुपात में नहीं होगा किंतु आवश्यकता के अनुसार होगा . . . । संघ सरकार के संसाधन अनन्य रूप से संघ के क्रियाकलापों के फायदे के लिए नहीं हैं . . . दूसरे शब्दों में संघ और राज्य मिलकर एक इकाई बनाते हैं जो भारत के समस्त राज्यक्षेत्र के संसाधनों का उपयोग करती है ।"

कर राजस्व के वितरण के सिद्धांत ।

संविधान, कर उद्ग्रहण करने की विधायी शक्ति और इस प्रकार उद्गृहीत कर के आगम का विनियोग करने की शक्तियों में विभेद करता

है । भारत में इन दो बातों के सम्बन्ध में विधान मंडल की शक्तियां एक सी नहीं हैं ।

कर उद्ग्रहण करने की विधायी शक्तियों का वितरण ।

(अ) कर अधिरोपित करने के लिए विधि बनाने की विधायी शक्ति संघ और राज्यों के बीच अनुसूची 7 की संघ और राज्य की विधायी सूचियों में विनिर्दिष्ट प्रविष्टियों के माध्यम से विभाजित की गई है (देखिए सारणी 18) । उदाहरणार्थ राज्य विधान मंडल को कृषि भूमि की बाबत संपदा-शुल्क उद्ग्रहण करने की शक्ति है (सूची 2 की प्रविष्टि 48), कृषिकेतर भूमि की बाबत संपदा-शुल्क उद्ग्रहण करने की शक्ति संसद् की है (सूची 1 की प्रविष्टि 87) । इसी प्रकार राज्य का विधान मंडल कृषि आय पर कर उद्ग्रहण करने के लिए सक्षम है (सूची 2 की प्रविष्टि 46), किंतु संसद् को कृषि आय से भिन्न सभी आय पर आय-कर उद्ग्रहण करने की शक्ति है (सूची 1 की प्रविष्टि 82) ।

कराधान के बारे में (साधारण विधान के बारे में भी) अवशिष्ट शक्ति संसद् को है (सूची 1 की प्रविष्टि 97) । दान-कर और व्यय-कर के संबंध में यह अभिनिर्धारित हुआ है कि उनके लिए प्राधिकार अवशिष्ट शक्ति से ही प्राप्त होता है । कर संबंधी विधान के विषय में कोई समवर्ती क्षेत्र नहीं है ।

इस विषय को समाप्त करने के पहले यह बताना उचित होगा कि यद्यपि राज्य विधान मंडल को राज्य की विधायी सूची में प्रगणित कर उद्ग्रहण करने की शक्ति है फिर भी कुछ करों की दशा में यह शक्ति संविधान के अधिष्ठायी उपबन्धों द्वारा अधिरोपित परिसीमाओं के अधीन है । जैसे, —

(क) वृत्ति-कर ।

अनुसूची 7 की सूची 2 की प्रविष्टि 60 राज्य विधान मंडल को वृत्ति, व्यापार, आजीविका या नियोजन पर कर लगाने के लिए प्राधिकृत करती है, — राज्य या राज्य में किसी अन्य प्राधिकारी को किसी एक व्यक्ति के बारे में ऐसे कर के रूप में संदेय राशि 2,500 रुपए[2] प्रतिवर्ष से अधिक नहीं होगी [अनुच्छेद 276(2)] ।

(ख) विक्रय-कर ।

(ख) "समाचार पत्रों से भिन्न माल के क्रय या विक्रय पर कर" अधिरोपित करने की शक्ति राज्य को है (सूची 2, प्रविष्टि 54) किंतु आयात और निर्यात पर कर (सूची 1, प्रविष्टि 83) और अन्तरराज्यिक व्यापार या वाणिज्य के दौरान विक्रय पर कर (सूची 1 की प्रविष्टि 92क) अनन्य रूप से संघ के विषय हैं । अनुच्छेद 286 यह सुनिश्चित करने के लिए है कि राज्य द्वारा अधिरोपित विक्रय-कर अन्तरराज्यिक व्यापार और वाणिज्य या आयात और निर्यात में हस्तक्षेप नहीं करते हैं क्योंकि वे राष्ट्रीय महत्व के प्रश्न हैं इसलिए इन्हें राज्यों की अधिकारिता से बाहर रखा जाना चाहिए । इसलिए अनुच्छेद 286 ने विक्रय-कर विधान बनाने की राज्यों की शक्तियों पर कुछ मर्यादाएं अधिरोपित की हैं ।

1. (क) ऐसे कर या विक्रय पर कोई कर अधिरोपित नहीं किया जाएगा जो राज्य के बाहर होता है ।

(ख) माल के भारत में आयात या भारत से बाहर निर्यात के दौरान होने वाले क्रय या विक्रय पर कोई कर अधिरोपित नहीं किया जाएगा ।[3]

2. अन्तरराज्यिक व्यापार और वाणिज्य के संबंध में दो मर्यादाएं हैं, —

(i) अन्तरराज्यिक व्यापार और वाणिज्य[4] के दौरान होने वाले विक्रय पर कर लगाने की शक्ति अनन्य रूप से संसद् में है (सूची 1 की प्रविष्टि 92क) ।

(ii) यद्यपि कोई विक्रय अन्तरराज्यिक व्यापार और वाणिज्य के दौरान नहीं होता

है तो भी राज्य का कराधान संसद् द्वारा अधिरोपित निर्बन्धनों और शर्तों के अधीन होगा यदि विक्रय ऐसे माल के संबंध में है जिसे संसद् ने अन्तरराज्यिक व्यापार और वाणिज्य के लिए विशेष महत्व का घोषित किया है । इस शर्त के अनुसरण में संसद् ने चीनी, तम्बाकू, कपास, रेशम और ऊनी फेब्रिक को अन्तरराज्यिक व्यापार और वाणिज्य में विशेष महत्व का माल घोषित किया है । इसके लिए अतिरिक्त उत्पाद-शुल्क (विशेष महल का माल) अधिनियम, 1957 (धारा 7) अधिनियमित किया गया और ऐसे माल के विक्रय पर कर उद्ग्रहण करने के लिए राज्यों पर विशेष निर्बन्धन लगाए गए ।

(ग) विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर ।

(ग) वहां तक के सिवाय जहां तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध करे किसी राज्य की कोई विधि (किसी सरकार द्वारा या अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पादित) विद्युत के उपभोग या विक्रय पर जिसका, —

(i) भारत सरकार द्वारा उपभोग किया जाता है या भारत सरकार द्वारा उपभोग किए जाने के लिए उस सरकार को विक्रय किया जाता है, या

(ii) किसी रेल के निर्माण, बनाए रखने या चलाने में भारत सरकार या किसी रेल कंपनी द्वारा, जो उस रेल को चलाती है, उपभोग किया जाता है अथवा किसी रेल के निर्माण, बनाए रखने या चलाने में उपभोग के लिए उस सरकार या किसी ऐसी रेल कंपनी को विक्रय किया जाता है

कोई कर अधिरोपित नहीं करेगी या कर का अधिरोपण प्राधिकृत नहीं करेगी [अनुच्छेद 287] ।

(घ) संघ और राज्य की संपत्तियों पर परस्पर कराधान से छूट ।

(घ) वहां तक के सिवाय, जहां तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध करे, किसी राज्य द्वारा या राज्य के भीतर किसी प्राधिकारी द्वारा अधिरोपित सभी करों से संघ की सम्पत्ति को छूट होगी [अनुच्छेद 285(1)] । इसके विपरीत, राज्य की सम्पत्ति और आय को संघ के कराधान से छूट होगी [अनुच्छेद 289(1)] । किंतु इसके बारे में एक अपवाद है । यदि कोई राज्य कोई व्यापार या कारबार करता है जो ऐसा कारबार नहीं है जिसे संसद् ने सरकार के सामान्य कामकाज का अनुषंगी व्यापार या कारबार घोषित किया है तो उसे संघ के कराधान से छूट नहीं होगी [अनुच्छेद 289(2)] । यह उन्मुक्ति संपत्ति पर कर के सम्बन्ध में है । अतएव राज्य की सम्पत्ति को सीमा-शुल्क से छूट नहीं है ।[1]

कर आगमों का वितरण ।

(आ) यद्यपि किसी विधान मंडल को कराधान की विषयवस्तु की निकटता के आधार पर कर उद्ग्रहण करने की शक्ति दी गई है किंतु राज्य विधान मंडल की परिधि में आने वाले विभिन्न करों से प्राप्त रकमें राज्य के प्रयोजन के लिए, हो सकता है पर्याप्त न हों । इस स्थिति से निपटने के लिए संविधान ने कुछ विशेष उपबंध किए हैं ।

(i) कुछ शुल्क संघ द्वारा उद्ग्रहणीय हैं किंतु वे राज्यों द्वारा संगृहीत किए जाते हैं और संग्रहण के पश्चात् राज्य ही उन्हें पूरी तरह से विनियोजित करते हैं ।

(ii) कुछ ऐसे कर हैं जिनका उद्ग्रहण और संग्रहण संघ द्वारा किया जाता है किंतु उनके आगम संघ द्वारा उन राज्यों को समनुदेशित किए जाते हैं जिनमें वे संगृहीत किए गए थे ।

(iii) कुछ ऐसे कर हैं जिनका उद्ग्रहण और संग्रहण संघ द्वारा किया जाता है किंतु जिनके आगम संघ और राज्यों के बीच वितरित किए जाते हैं ।

पूर्वगामी सिद्धांतों के अनुसार संघ और राज्यों के बीच कर राजस्व का वितरण इस प्रकार होता है, —

(अ) अनन्य रूप से संघ के अधिकार :

1. सीमा-शुल्क, 2. निगम कर, 3. व्यष्टि और कंपनियों की आस्तियों के पूंजी मूल्य पर कर, 4. आय-कर पर अधिभार आदि, 5. संघ सूची के विषयों की बाबत फीस (सूची 1) ।

(आ) अनन्य रूप से राज्यों के अधिकार :

1. भू-राजस्व, 2. संघ सूची में सम्मिलित दस्तावेजों को छोड़कर अन्य दस्तावेजों पर स्टांप शुल्क, 3. उत्तराधिकार शुल्क, संपदा शुल्क और कृषि भूमि पर आय-कर, 4. अंतर्देशीय जल मार्गों द्वारा ले जाए जाने वाले माल और यात्रियों पर कर, 5. भूमि और भवनों पर कर, खनिज अधिकारों पर, 6. जीव-जंतु और नौकाओं पर कर, सड़क-यानों पर कर, विज्ञापनों पर कर, विद्युत के उपभोग पर कर, विलास-वस्तुओं और मनोरंजन पर कर आदि, 7. स्थानीय क्षेत्रों में माल के प्रवेश पर कर, 8. विक्रय कर, 9. पथ कर, 10. राज्य सूची के विषयों की बाबत फीस, 11. वृत्ति, व्यापार आदि पर कर जो 2,500 रुपए प्रति वर्ष से अधिक नहीं होगा (सूची 2) ।

(इ) संघ द्वारा उद्‌गृहीत शुल्क जो राज्यों द्वारा संगृहीत और विनियोजित किए जाते हैं :

विनिमय पत्रों पर स्टांप शुल्क आदि, औषधीय और प्रशासन विनिर्मितियों पर उत्पाद-शुल्क, यद्यपि ये संघ सूची में सम्मिलित हैं और संघ द्वारा उद्‌गृहीत किए जाते हैं, इनका संग्रहण राज्य द्वारा अपने-अपने राज्यक्षेत्र में किया जाएगा और वे उन राज्यों की निधि के भाग होंगे जो संग्रहण करते हैं [अनुच्छेद 268] ।

(ई) संघ द्वारा उद्‌गृहीत और संगृहीत कर जो राज्य को समनुदेशित किए जाते हैं :

(क) कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति के उत्तराधिकार के संबंध में शुल्क, (ख) कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति के संबंध में संपदा-शुल्क, (ग) रेल, समुद्र या वायु मार्ग द्वारा ले जाए जाने वाले माल या यात्रियों पर सीमा-कर, (घ) रेल भाड़ों और माल भाड़ों पर कर, (ङ) समाचारपत्रों के क्रय या विक्रय पर और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर, (च) समाचारपत्रों से भिन्न माल के क्रय या विक्रय पर उस दशा में कर जिसमें ऐसा क्रय या विक्रय अंतरराज्यिक व्यापार या वाणिज्य के दौरान होता है । (छ) माल के अंतरराज्यिक पारेषण पर कर [अनुच्छेद 269] ।

(उ) संघ द्वारा उद्‌गृहीत और संगृहीत तथा संघ और राज्यों के बीच वितरित किए जाने वाले कर :

कुछ कर संघ द्वारा उद्‌गृहीत या संगृहीत किए जाएंगे, किंतु उनके आगम निश्चित अनुपात में संघ और राज्यों के बीच वितरित किए जाएंगे जिससे वित्तीय संसाधनों का साम्यापूर्ण विभाजन हो सके । ये हैं —

(क) कृषि आय से भिन्न आय पर कर [अनुच्छेद 270] ।

(ख) संघ सूची में सम्मिलित उत्पाद-शुल्क, यदि संसद् विधि द्वारा इस प्रकार उपबन्ध करे तो वितरित किए जाएंगे । औषधीय और प्रसाधन विनिर्मितियों पर उत्पाद-शुल्क इसके अन्तर्गत नहीं हैं [अनुच्छेद 272] ।

(ऊ) संघ को कर भिन्न राजस्व से होने वाली प्राप्तियों के मुख्य स्रोत इस प्रकार हैं : —

कर भिन्न राजस्व का वितरण ।

रेल, डाक और तार, प्रसारण, अफीम, करेंसी और टकसाल, केन्द्रीय सरकार के ऐसे औद्योगिक और वाणिज्यिक उपक्रम जो संघ की अधिकारिता के अधीन आने वाले विषयों से संबंधित हैं ।

केन्द्रीय विषयों से संबंधित औद्योगिक और वाणिज्यिक उपक्रमों में से कुछ निम्नलिखित हैं :

औद्योगिक वित्त निगम, वायु निगम, वे उद्योग जिनमें भारत सरकार ने विनिधान किया है जैसे सिंदरी फर्टिलाइजर्स एण्ड कैमिकल्स लिमिटेड, हिंदुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड, इंडियन टेलीफोन इंडस्ट्रीज़ लिमिटेड ।

(ए) इसी प्रकार राज्यों को निम्नलिखित प्राप्तियां होती हैं :

वन, सिंचाई और वाणिज्यिक उपक्रम (जैसे विद्युत, सड़क परिवहन) और औद्योगिक उपक्रम (जैसे कर्नाटक में साबुन, चंदन की लकड़ी, लोहा और इस्पात, मध्य प्रदेश में कागज, मुम्बई में दुग्ध प्रदाय, पश्चिमी बंगाल में गहरे समुद्र में मछली पकड़ना और रेशम) ।

सहायता अनुदान ।

केन्द्रीय करों में राज्यों को अंश देने के पश्चात् भी सभी राज्यों के संसाधन पर्याप्त हों यह आवश्यक नहीं है । संविधान ने इसलिए यह उपबन्ध किया है कि प्रत्येक वर्ष संघ ऐसे राज्यों को सहायता अनुदान देगा जिनके बारे में संसद् यह अवधारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है । विशेषकर जनजाति क्षेत्रों के कल्याण के लिए अनुदान दिए जाएंगे जिसमें इस बाबत असम को दी जाने वाली सहायता भी सम्मिलित है [अनुच्छेद 275] ।

वित्त आयोग का गठन और उसके कृत्य ।

अनुच्छेद 270, 273, 275 और 280 एक वित्त आयोग के गठन का उपबन्ध करते हैं जो (निश्चित अंतराल पर गठित किया जाएगा) राष्ट्रपति को संघ और राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों के वितरण के संबंध में सिफारिशें करेगा । उदाहरण के लिए संघ और राज्यों के बीच आय-कर के शुद्ध आगम के आबंटन के बारे में और राज्यों के बीच वितरण करने की रीति के बारे में [अनुच्छेद 280] ।

वित्त आयोग का गठन अनुच्छेद 280 में अधिकथित है । इसे वित्त आयोग (प्रकीर्ण उपबन्ध) अधिनियम, 1951 के साथ पढ़ा जाना चाहिए । यह अधिनियम संविधान के उपबन्धों की अनुपूर्ति करता है । संक्षेप में राष्ट्रपति हर पांच वर्ष के बाद आयोग गठित करेगा । इसका अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होगा जिसे सार्वजनिक कार्यों के बारे में अनुभव होगा और अन्य चार सदस्य निम्नलिखित में से नियुक्त किए जाएंगे : —

(क) एक उच्च न्यायालय का न्यायाधीश या ऐसा व्यक्ति जो इस प्रकार नियुक्ति के लिए अर्हित है, (ख) एक व्यक्ति जिसे सरकार के वित्त और लेखाओं का विशेष ज्ञान है, (ग) एक व्यक्ति जिसे वित्तीय विषयों और प्रशासन के बारे में व्यापक अनुभव है, (घ) एस व्यक्ति जिसे अर्थशास्त्र का विशेष ज्ञान है ।

आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह, —

(क) संघ और राज्यों के बीच करों के शुद्ध आगमों के जो इस अध्याय के अधीन उनमें विभाजित किए जाते हैं या किए जाएं, वितरण के बारे में राज्यों के बीच ऐसे आगमों के तत्संबंधी भाग के आबंटन के बारे में,

(ख) भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्वों में सहायता अनुदान को शासित करने वाले सिद्धांतों के बारे में,

अनुच्छेद 280(3) वित्त आयोग को यह कर्तव्य सौंपता है कि वह राष्ट्रपति को सिफारिश करे । अनुच्छेद 287 द्वारा राष्ट्रपति पर यह कर्तव्य अधिरोपित किया गया है कि वह संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष आयोग की सिफारिश रखवाए । संविधान में यह कहीं नहीं कहा गया है कि आयोग की सिफारिशें भारत सरकार पर आबद्धकर होंगी या यह कि आयोग द्वारा जिन राज्यों को धन देने की सिफारिश की गई है उन राज्यों के पक्ष में कोई विधिक अधिकार होगा । यह ठीक है कि उसे क्रियान्वित न करने से राज्यों को कठिनाई होगी जो आयोग की रिपोर्ट के आधार पर पहले से कुछ कार्य कर चुकी होंगी । इस अव्यवस्था या अन्याय का उपचार मतदान पेटी के माध्यम से ही है । वस्तुतः दिसम्बर के संसदीय चुनाव में पश्चिमी बंगाल में सत्तारूढ़ दल का संघ में सत्तारूढ़ दल के प्रति निर्वाचन में यह एक मुख्य अभियान था कि राज्य के प्रति अन्याय किया गया है जिसके पीछे राजनीतिक उद्देश्य है ।

दुर्भाग्यवश पश्चिमी बंगाल के बाहर के राज्यों के अधिकांश मतदाताओं पर इस अभियान का कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

नवां वित्त आयोग ।

नवें वित्त आयोग के अध्यक्ष श्री एन.के.पी. साल्वे थे । इसने अपनी रिपोर्ट 1988 और 89 में दी । सरकार ने इसकी सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली हैं[5] ।

दसवां वित्त आयोग ।

15 जून, 1992 को दसवां वित्त आयोग गठित किया गया है । श्री कृष्णचंद्र पंत इसके अध्यक्ष हैं । आयोग 30 नवंबर, 1993 तक अपनी रिपोर्ट दे देगा । 1 अप्रैल, 1995 से प्रारंभ होने वाली पांच वर्ष की अवधि के लिए यह मार्गदर्शक होगी ।

करों की हिस्सेदारी में राज्यों के हितों का संरक्षण ।

संघ के ऐसे करों में जो पूर्वोक्त उपबन्धों के अनुसार विभाज्य हैं राज्य के हितों का संरक्षण करने के लिए संविधान में यह उपबन्ध है [अनुच्छेद 274] कि कोई विधेयक या संशोधन जो, —

(क) ऐसे कर या शुल्क में, जिसमें राज्य हितबद्ध है कोई परिवर्तन करता है, या

(ख) जो उन सिद्धांतों को प्रभावित करता है जिनसे संविधान के पूर्वोक्त उपबन्धों के अनुसार धनराशियां वितरणीय हैं, या

(ग) संघ के प्रयोजनों के लिए ऐसे कर या शुल्क पर कोई अधिभार अधिरोपित करता है, तो वह राष्ट्रपति की सिफारिश से ही संसद् में पुरःस्थापित या प्रस्थापित किया जाएगा अन्यथा नहीं ।

इन शर्तों के अधीन रहते हुए संसद्, संघ के प्रयोजनों के लिए ऐसे कर या शुल्क की दर में (अधिभार अधिरोपित करके) वृद्धि कर सकेगी [अनुच्छेद 271] ।

आपात में संघ द्वारा वित्तीय नियंत्रण ।

जिस प्रकार विधायी और प्रशासनिक क्षेत्र में संघ और राज्यों के प्रसामान्य संबंध विभिन्न आपात में उपांतरित हो जाते हैं उसी प्रकार वित्तीय विषय में भी होता है [अनुच्छेद 268-279] । उदाहरण के लिए,

(क) जब अनुच्छेद 352(1) के अधीन कोई आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में होती है तब राष्ट्रपति यह निदेश दे सकता है कि वह उद्घोषणा जिस वित्तीय वर्ष में समाप्त होती है उस वर्ष की अवधि तक संघ और राज्य के बीच करों के विभाजन और सहायता अनुदान से संबंधित सभी या कोई उपबंध निलम्बित रहेंगे [अनुच्छेद 354] । परिणामस्वरूप, यदि राष्ट्रपति ऐसा कोई आदेश करता है तो राज्यों के पास अपनी संकीर्ण राज्य सूची

के अधीन राजस्व के संशोधन बचे रह जाएंगे । संघ से अभिदाय पाकर उसमें वृद्धि नहीं होगी ।

(ख) जब राष्ट्रपति द्वारा वित्तीय आपात की उद्घोषणा [अनुच्छेद 360(1)] की जाती है तब संघ राज्यों को यह निदेश देने के लिए सक्षम होगा कि, —

(i) वे वित्तीय औचित्य संबंधी ऐसे सिद्धांतों और अन्य रक्षोपायों का पालन करें जो निदेशों में विनिर्दिष्ट किए जाएं,

(ii) राज्य के कार्यकलाप के संबंध में सेवा करने वाले सभी व्यक्तियों के वेतन और भत्ते कम कर दिए जाएं । इसमें उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश भी सम्मिलित होंगे,

(iii) राज्य के विधान मंडल द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् सभी धन और वित्त विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किए जाएं [अनुच्छेद 360] ।

संघ और राज्य की उधार लेने की शक्ति ।

संघ को भारत के राजस्व की प्रतिभूति पर भारत में या उसके बाहर उधार लेने की असीमित शक्ति है । संघ की कार्यपालिका इस शक्ति का प्रयोग ऐसी मर्यादाओं के अधीन रहते हुए करेगी जो संसद् समय-समय पर नियत करे [अनुच्छेद 292] ।

राज्य की उधार लेने की शक्ति कुछ सांविधानिक परिसीमाओं के अधीन है :

(i) राज्य भारत से बाहर उधार नहीं ले सकते । भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन राज्यों को केन्द्र की सम्मति से भारत से बाहर उधार लेने की शक्ति थी । संविधान ने राज्य को यह शक्ति बिल्कुल नहीं दी है । अंतरराष्ट्रीय पूंजी बाजार से धन उधार लेने की शक्ति केवल संघ को है ।

(ii) राज्य की कार्यपालिका को अपने राज्य के राजस्व की प्रतिभूति पर निम्नलिखित शर्तों के अधीन रहते हुए भारत के राज्यक्षेत्र में उधार लेने की शक्ति है :

(क) ऐसे परिसीमाएं जो राज्य विधान मंडल अधिरोपित करे ।

(ख) यदि संघ ने राज्य के किसी बकाया उधार की प्रत्याभूति दी है तो संघ सरकार की सम्मति के बिना राज्य कोई नया ऋण नहीं ले सकता ।

(ग) भारत सरकार संसद् द्वारा बनाई गई विधि के अधीन स्वयं ही राज्य को उधार देने का प्रस्ताव कर सकती है । जब तक ऐसा ऋण या उसका कोई भाग बकाया रहता है तब तक भारत सरकार की सम्मति के बिना राज्य कोई नया ऋण नहीं ले सकता । भारत सरकार अपनी सम्मति देने में निर्बन्धन भी अधिरोपित कर सकती है [अनुच्छेद 293] ।

राज्यों द्वारा अधिक वित्तीय शक्ति की मांग ।

इस अध्याय को समाप्त करने के पहले यह बताना उचित होगा कि राज्य यह मांग कर रहे हैं कि आवश्यकतानुसार संविधान का संशोधन करके उन्हें और अधिक वित्तीय शक्तियां दी जाएं । प्रधान मंत्री श्री देसाई ने इसका प्रबल विरोध किया था ।[6]

इस विवाद्यक पर विचार करने के लिए दो बातें सुसंगत हैं,

(i) पाकिस्तान ने अणुबम बनाने के लिए जो कदम उठाए हैं और चीन की जो असमंजसपूर्ण स्थिति है उसके कारण प्रतिरक्षा के मामले में संतोष करके बैठना उचित नहीं होगा । अतएव संघ अपने संसाधनों को इस प्रकार शिथिल नहीं कर सकता कि देश की प्रतिरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े ।

(ii) दूसरी ओर राज्य के कल्याणकारी क्रियाकलापों में प्राकृतिक विपदाओं के कारण अत्यधिक व्यय हो रहा है । 1950 में इसकी पूरी तरह से कल्पना नहीं की गई थी । इसलिए संविधान के वित्तीय उपबन्धों के पुनरीक्षण की आवश्यकता है ।[7]

"केन्द्र-राज्य संबंधों" का विषय सरकारिया आयोग को सौंपा गया था । इस आयोग ने फरवरी, 1988 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की ।

निर्देश

1. *काफी बोर्ड* बनाम *सी.टी.ओ.*, ए.आई.आर. 1971 एस.सी. 870 ।
2. संविधान (60वां संशोधन) अधिनियम, 1988 द्वारा वृत्ति कर की अधिकतम सीमा को 250 रुपए से बढ़ाकर 2,500 रुपए कर दिया गया है ।
3. *जम्मू-कश्मीर राज्य* बनाम *कालटैक्स*, ए.आई.आर. 1966 एस.सी. 1350 ।
4. सागर सीमा-शुल्क अधिनियम का मामला, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1760 (*1771*) ।
5. देखिए *इंडिया, 1990*, पृष्ठ 349 ।
6. श्रीमती गांधी की दूसरी सरकार ने भी प्रशासनिक सुधार आयोग की यह सिफारिश मानी है कि संघ और राज्यों के बीच संबंधों में परिवर्तन करने के लिए संविधान का संशोधन आवश्यक नहीं है । इसका आधार अन्य बातों के साथ-साथ यह है कि विशिष्ट राज्यों में वित्त की कमी की समय-समय पर वित्त आयोग द्वारा परीक्षा की जाती है और संघ के राजस्व से उन राज्यों को अधिक अनुदान देकर संविधान के उपबन्धों के अनुसार व्यवस्था की जाती है ।
7. देखिए डा. डी.डी. बसु, *कंपेरेटिव फेडरलिज्म* (पी.एच.आई. 1987) ।

23

संघ और राज्यों के बीच प्रशासनिक संबंध

परिसंघ की इकाइयों के बीच समन्वय की आवश्यकता ।

परिसंघीय प्रणाली में दो सरकारें होती हैं और उनके बीच शक्तियों का विभाजन किया जाता है । परिसंघीय राज्य व्यवस्था की सफलता और उसकी शक्ति इन दोनों सरकारों के बीच सहकार्य और समन्वय पर निर्भर करती है । इस विषय पर हम दो शीर्षों के अधीन विचार करेंगे :

(क) संघ और राज्यों के बीच संबंध,

(ख) राज्यों के बीच परस्पर संबंध,

इस अध्याय में हम प्रथम पहलू पर विचार करेंगे और अंतरराज्यिक संबंधों पर इसके बाद के अध्याय में ।

(अ) संघ के राज्यों पर नियंत्रण की पद्धति

इस विषय पर दो शीर्षों के अधीन विचार करना अच्छा होगा, — (i) आपात में, (ii) सामान्य काल में ।

I. *आपात में* — यह हम पहले ही बता चुके हैं कि आपात में भारत के संविधान के अधीन सरकार इस प्रकार कार्य करती है मानो वह ऐकिक सरकार है । इस पहलू पर आगे अध्याय 25 में विस्तार से विचार किया जाएगा ।

II. *सामान्य काल में* — सामान्य काल में भी संविधान में संघ द्वारा राज्यों पर नियंत्रण के तरीके निकाले गए हैं जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि राज्य सरकारें संघ की विधायी और कार्यपालिका नीति में हस्तक्षेप न करें और साथ ही इकाइयों में दक्षता हो और वे शक्ति-संपन्न हों क्योंकि ऐसा हुए बिना संघ का सामर्थ्य नहीं टिक सकता ।

राज्यों के संबंध में ये नियंत्रण राष्ट्रपति में निहित कार्यपालिका और विधायी शक्ति से उत्पन्न होते हैं । उदाहरण के लिए,

(i) राज्यपालों को नियुक्त करने और पदच्युत करने की शक्ति [अनुच्छेद 155-156] राज्य के अन्य उच्च पदधारियों को नियुक्त करने की शक्ति जैसे उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, संघ लोक सेवा आयोग के सदस्य [अनुच्छेद 217, 317] ।

(ii) विधायी शक्तियां, उदाहरण के लिए राज्य विधान मंडल में विधान पुरःस्थापित करने के लिए पूर्व मंजूरी [अनुच्छेद 304 का परन्तुक] राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित विनिर्दिष्ट विधान को अनुमति [अनुच्छेद 31क(1) का परन्तुक 1, 31ग का परन्तुक, 288(2)], विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में अध्यादेश बनाने के लिए राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति से अनुदेश लेने की अपेक्षा [अनुच्छेद 213(1) का परन्तुक], राज्यपाल द्वारा आरक्षित अन्य राज्य विधेयकों की बाबत वीटो की शक्ति [अनुच्छेद 200 का परन्तुक 1] ।

पूर्वगामी अध्याय में इनकी व्याख्या हो चुकी है इसलिए इस अध्याय में हम संघ के नियंत्रण के विनिर्दिष्ट अभिकरणों तक ही अपने विचार को सीमित रखेंगे, अर्थात्,

(i) राज्य सरकार को निदेश,
(ii) संघ के कृत्यों का प्रत्यायोजन,
(iii) अखिल भारतीय सेवा,
(iv) सहायता अनुदान,
(v) अंतरराज्य परिषद्,
(vi) अंतरराज्य वाणिज्य आयोग [अनुच्छेद 307] ।

राज्य सरकारों को संघ द्वारा निर्देश ।

संघ द्वारा राज्यों को निर्देश देना सच्ची परिसंघीय प्रणाली के लिए अपरिचित और विरोधास्पद है । किंतु हमारे संविधान निर्माताओं ने यह विचार भारत शासन अधिनियम, 1935 से ग्रहण किया । यह हमारे देश की परिस्थितियों को देखते हुए और विशिष्ट रूप से जिन परिस्थितियों में परिसंघ बना था उनको ध्यान में रखते हुए किया था ।

हमें यह पहले ही बता चुके हैं कि किन परिस्थितियों में और किन विषयों के संबंध में संघ द्वारा राज्य को निदेश दिया जाएगा । ऐसे अनुदेशों का अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए संविधान ने अधिशास्ति विहित की है उन पर विचार करना शेष है ।

यह ध्यान देने योग्य है कि संविधान ने पूर्वगामी शक्तियों के अधीन निकाले गए निदेशों के प्रवर्तन के लिए अधिशास्ति विहित की है । वह है अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की उद्घोषणा । अनुच्छेद 365 में इस प्रकार उपबंध है :

निदेशों के प्रवर्तन के लिए अधिशास्ति ।

"जहां इस संविधान के किसी उपबंध के अधीन संघ की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुए दिए गए किन्हीं निदेशों का अनुपालन करने में या उनको प्रभावी करने में कोई राज्य असफल रहता है वहां राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिपूर्ण होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है ।"

और जैसे ही राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा करता है वैसे ही वह उस अनुच्छेद में विनिर्दिष्ट रूप में राज्य सरकार के कृत्यों को अपने हाथ में लेने का हकदार हो जाता है ।

कृत्यों का प्रत्यायोजन ।

जैसा पहले बताया जा चुका है कि राज्य सरकार की सहमति से राष्ट्रपति उस सरकार को किसी भी विषय से संबंधित संघ के कार्यपालक कृत्यों को सौंप सकता है [अनुच्छेद 258(1)] । संसद् संघ के विषय पर विधान बनाते हुए, राज्य सरकार को और उनके अधिकारियों को जहां तक वह अधिनियम उनके राज्य में लागू होता है, शक्तियों का प्रत्यायोजन कर सकती है [अनुच्छेद 258(2)] ।

इसके विपरीत राज्य सरकार, भारत सरकार की सहमति से, राज्य के विषयों की बाबत उस सरकार को प्रशासनिक कृत्य प्रदान कर सकती है [अनुच्छेद 258क] ।

जहां किसी भी सरकार को अपने प्रशासनिक कृत्य प्रत्यक्ष रूप से करना असुविधाजनक है वहां वह सरकार अपने कृत्य दूसरी सरकार के माध्यम से निष्पादित करा सकती है ।

अखिल भारतीय सेवाएं ।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि संघ और राज्यों के अधीन सेवारत व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी सेवाएं होंगी जो संघ और राज्यों के लिए सामान्य होंगी । उन्हें अखिल भारतीय सेवा कहा जाता है जिनके विद्यमान उदाहरण हैं, भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा

[अनुच्छेद 312(2)] । किंतु संविधान में इनके अतिरिक्त भी अखिल भारतीय सेवा का सृजन करने की शक्ति प्रदान की गई है ।[1] यदि राज्य सभा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम से कम दो-तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा यह घोषित करती है कि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक या समीचीन है तो संसद् विधि द्वारा, संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक भारतीय सेवाओं के लिए उपबंध कर सकेगी और ऐसी सेवा के लिए भर्ती और नियुक्त व्यक्ति की सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकेगी [अनुच्छेद 312(1)] ।[1]

जैसा डा. अम्बेडकर ने संविधान सभा में स्पष्ट किया था, अखिल भारतीय सेवाओं के इस उपबंध के पीछे उद्देश्य यह है कि परिसंघीय प्रणाली में आपसी संबंध घनिष्ठ हों और संघ और राज्य दोनों में ही प्रशासन में अधिकाधिक दक्षता आए :

"सभी परिसंघीय प्रणालियों में द्वैध राज्य व्यवस्था होती है और इसके अनुसरण में सभी परिसंघों में द्वैध सेवा होती है । सभी परिसंघों में, एक तो परिसंघीय सिविल सेवा और दूसरी राज्य सिविल सेवा होती है । भारतीय परिसंघ में द्वैध राज्य व्यवस्था है किंतु इसमें जो द्वैध सेवा होगी उसका एक अपवाद होगा । प्रत्येक देश में यह माना जाता है कि प्रशासनिक व्यवस्था के कुछ भाग ऐसे हैं जो प्रशासन के स्तर को बनाए रखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं . . . इसमें सेना नहीं है । प्रशासन का स्तर इन महत्वपूर्ण स्थानों पर नियुक्त किए गए सिविल सेवकों की गुणवत्ता पर निर्भर होगा . . . संविधान में यह उपबंध है कि राज्यों को अपनी सिविल सेवा बनाने के अधिकार से वंचित किए बिना एक अखिल भारतीय सेवा होगी जिसमें सामान्य अर्हताओं के आधार पर अखिल भारतीय रूप से भर्ती की जाएगी, इनके वेतनमान एक से होंगे और उनके सदस्यों को संघ में कहीं भी महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया जा सकेगा ।"

सहायता अनुदान ।

जैसा पहले बताया जा चुका है संसद् ऐसे राज्यों को जिन्हें वित्तीय सहायता की आवश्यकता है ऐसे अनुदान दे सकेगी, जैसा वह ठीक समझे [अनुच्छेद 275] ।

इन अनुदानों के माध्यम से संघ विभिन्न राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों के असंतुलन को ठीक कर सकेगा । इस प्रकार का असंतुलन देश के बहु आयामी विकास के लिए उपयुक्त नहीं होता । इन्हीं अनुदानों के माध्यम से संघ राष्ट्रीय स्तर पर राज्यों की कल्याणकारी स्कीमों पर नियंत्रण रखता है और उनमें समन्वय करता है ।

वित्तीय सहायता के लिए राज्यों को अनुदान देने की इस साधारण शक्ति के अतिरिक्त संविधान में दो विषयों के लिए विनिर्दिष्ट अनुदान देने के लिए व्यवस्था की गई है, (क) उन विकास स्कीमों के खर्चों को पूरा करने के लिए जो किसी राज्य में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए या उस राज्य में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन स्तर को उठाने के लिए भारत सरकार के अनुमोदन से हाथ में लिया जाए । (ख) असम राज्य में जनजाति क्षेत्रों के विकास के लिए उस राज्य को अनुदान [अनुच्छेद 275(1) का परन्तुक 1-2] ।

अंतरराज्य परिषद् ।

राष्ट्रपति को अंतरराज्य परिषद् स्थापित करने की शक्ति दी गई है । यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत होता है कि ऐसी परिषद् की स्थापना से लोकहित की सिद्धि होगी तो वह उसकी स्थापना कर सकेगा । राष्ट्रपति को परिषद् द्वारा किए जाने वाले कृत्यों को परिनिश्चित करने की शक्ति दी गई है किंतु संविधान में भी तीन कर्तव्य बताए गए हैं जो परिषद् को सौंपे जा सकते हैं । इनमें से एक है —

"राज्यों के बीच जो विवाद उत्पन्न हो गए हों उनकी जांच करने और उन पर सलाह देने का कार्य ।"

परिषद् के अन्य कृत्य होंगे – कुछ या सभी राज्यों के अथवा संघ और एक या अधिक राज्यों के सामान्य हित से संबंधित विषयों का अन्वेषण और उन पर विचार विमर्श, उदाहरणार्थ कृषि, वन, लोक स्वास्थ्य आदि के विषय में अनुसंधान और ऐसे विषयों से संबंधित नीति और कार्य के समन्वय की सिफारिश करना ।

इस शक्ति के प्रयोग में राष्ट्रपति ने एक केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद्,[2] एक केन्द्रीय स्थानीय स्वायत्त शासन[3] और एक परिवहन विकास परिषद्[4] की स्थापना की है जिसका प्रयोजन राज्यों की इन विषयों से संबंधित नीति में समन्वय करना है । वस्तुतः अंतरराज्य परिषद् का प्राथमिक उद्देश्य समन्वय और परिसंघीय घनिष्ठता स्थापित करना है । इन छोटे-छोटे निकायों का सृजन करते समय जिनका उद्देश्य विनिर्दिष्ट विषयों पर कार्य करना है इस उद्देश्य को ओझल कर दिया गया है । इनका सृजन कानूनी निर्वचन के इस नियम पर किया गया है कि परिषद् का सृजन करने की शक्ति में एक से अधिक परिषदों का सृजन करना आता है ।

सरकारिया आयोग ने एक स्थायी अंतरराज्य परिषद् के गठन की सिफारिश की थी जिसे अनुच्छेद 263 के खंड (ख) और (ग) में बताए गए कर्तव्य सौंपे जाएं । अप्रैल, 1990 में इस परिषद् की स्थापना की गई । इसमें संघ के 6 मंत्री और सभी राज्यों के मुख्य मंत्री हैं ।[5]

अंतरराज्य वाणिज्य आयोग ।

भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वाधीनता से संबंधित संविधान के उपबंधों को प्रवृत्त करने के प्रयोजन के लिए [अनुच्छेद 301-305] संसद् को यह शक्ति दी गई है कि वह अमरीका के अंतरराज्य वाणिज्य आयोग के समान कोई प्राधिकरण गठित करे और उसे ऐसी शक्तियां और कर्तव्य सौंपे जो वह ठीक समझे [अनुच्छेद 307] । किंतु अप्रैल, 1992 तक ऐसे किसी आयोग की स्थापना नहीं की गई ।

अखिल भारतीय समस्याओं को सुलझाने के लिए संविधानेतर अभिकरण ।

राज्यों पर संघ के नियंत्रण के लिए ये सांविधानिक अभिकरण यह सुनिश्चित करने के लिए बनाए गए हैं कि परिसंघीय शासन प्रणाली के होते हुए भी भारत का समन्वित विकास हो सके । इनके अतिरिक्त संघ के स्तर पर कुछ सलाहकार निकाय और सम्मेलन हैं जिनसे राज्य के स्तर पर नीतियों का समन्वय होता है और विभिन्न विभिन्न राज्यों के बीच मतभेदों को समाप्त किया जाता है । इन निकायों में सर्वप्रथम है योजना आयोग ।

योजना आयोग ।

संविधान में विभिन्न प्रयोजनों के लिए विभिन्न आयोगों का उल्लेख है किंतु उसमें कहीं भी योजना आयोग का उल्लेख नहीं है । समवर्ती विधायी सूची में "आर्थिक और सामाजिक योजना" एक प्रविष्टि है (प्रविष्टि 20, सूची 3) । संघ की इस शक्ति का लाभ उठाकर संघ ने 1950 में बिना विधान बनाए एक योजना आयोग की स्थापना की । यह संविधानेतर और असांविधिक निकाय संघ के मंत्रिमंडल के एक संकल्प द्वारा (1950 में) बनाया गया । प्रधान मंत्री श्री नेहरू उसके पहले अध्यक्ष थे और इसका उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए एक समेकित पंचवर्षीय योजना बनाना[6] और इस निमित्त संघ की सरकार के लिए सलाहकारी निकाय के रूप में कार्य करना था ।

इस निश्चित उद्देश्य से स्थापित इस आयोग के क्रियाकलाप में धीरे-धीरे प्रशासन के सभी क्षेत्र आ गए हैं केवल प्रतिरक्षा और विदेश कार्य ही बाहर रहे हैं । स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि एक आलोचक ने इसे "सम्पूर्ण देश का आर्थिक मंत्रिमंडल" कहा है

जो प्रधान मंत्री द्वारा गठित किया जाता है तथा जिसके कृत्य वित्त आयोग जैसे सांविधानिक निकायों के कृत्यों का अतिलंघन करते हैं ।[7] और फिर भी यह संसद् के प्रति उत्तरदायी नही हैं इसका एक विशाल नौकरशाही संगठन बन गया है ।[8] पंडित नेहरू ने स्वयं यह कहा था[7] —

> "आयोग जो गम्भीर चिंतकों का छोटा सा समूह था अब भारत सरकार का एक विभाग बन गया है जिसमें सचिवों और निदेशकों की भीड़ लगी हुई है और उसका अपना एक विशाल भवन भी है ।"

इन आलोचकों की राय में, योजना आयोग ऐसा अभिकरण है जो परिसंघीय प्रणाली के अधीन राज्यों की स्वायत्तता पर प्रहार करता है । किसी निष्कर्ष पर आने से पहले हमें आयोग के प्रभाव की समुचित परीक्षा करनी चाहिए । आयोग का कार्य देश के संसाधनों के सर्वाधिक और संतुलित उपयोग के लिए योजना तैयार करना है जिससे विकास की ऐसी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाएगी जो जीवनस्तर को ऊपर उठाएगी और लोगों को नए अवसर प्रदान करेगी । यह स्पष्ट है कि आयोग का काम केवल योजना बनाना है, इन योजनाओं को कार्यान्वित करना राज्यों के हाथ में है क्योंकि अधिकांश विकास राज्यों के विषयों के बारे में है । इसमें कोई संदेह नहीं कि संघ के स्तर पर योजना आयोग की बात का बहुत वज़न है क्योंकि उसका अध्यक्ष स्वयं प्रधान मंत्री है किंतु जहां तक राज्यों का सम्बन्ध है आयोग की भूमिका सलाहकार की है । उसका जो भी प्रभाव है वह अप्रत्यक्ष है क्योंकि राज्य चाहते हैं कि उनकी आवश्यकताएं राष्ट्रीय योजना में सम्मिलित कर ली जाएं । ऐसा करने के पश्चात् योजना आयोग के पास कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है जिससे वह योजना को क्रियान्वित करा सके । यदि राज्य इस प्रक्रम पर योजना आयोग द्वारा अधिकथित एकसी नीति का अनुसरण करते हैं तो वह इसलिए कि वे संघ से वित्तीय सहायता पाए बिना काम नहीं चला सकते ।[9] सही अर्थ में वित्तीय सहायता का लाभ उठाना स्वैच्छिक है इसमें प्रपीड़न नहीं है । अमरीका में भी परिसंघ के सहायता अनुदानों को परिसंघीय प्रणाली का विनाश करने वाला नहीं समझा जाता यद्यपि अनेक आलोचकों के अनुसार इससे राज्य की स्वायत्तता में हस्तक्षेप होता है ।[10]

किंतु इस आलोचना का औचित्य जान पड़ता है कि दो उच्च शक्ति संपन्न निकायों के अर्थात् वित्त आयोग और योजना आयोग के स्थापित किए जाने में कार्य और उत्तरदायित्व की परस्पर व्याप्ति हो जाती है । प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी इस पर टिप्पणी की है ।[11] वस्तुतः "योजना व्यय" और "गैर योजना व्यय" में कोई स्वाभाविक विभाजन नहीं है । यह विषमता इस कारण उत्पन्न हो गई है कि संविधान के निर्माताओं ने योजना आयोग जैसे निकाय के सृजन की कल्पना नहीं की थी । इसे बाद में कार्यपालिका के आदेश द्वारा स्थापित किया गया । चाहे जो भी हो इन दोनों आयोगों के बीच समन्वय की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है । अन्ततोगत्वा मंत्रिमंडल या राष्ट्रीय विकास परिषद् जैसे किसी निकाय को इस ओर ध्यान देना होगा । इन दोनों आयोगों को एकीकृत किया जाना चाहिए और इसके लिए संविधान के संशोधन की आवश्यकता होगी क्योंकि वित्त आयोग का उल्लेख संविधान में है ।

राष्ट्रीय विकास परिषद् ।

योजना आयोग के कार्यकरण से एक और संविधानेतर और विधि बाह्य निकाय की स्थापना करना पड़ी है वह है राष्ट्रीय विकास परिषद् । यह परिषद् 1952 में योजना आयोग के अनुषंग के रूप में बनाई गई थी जिससे राज्यों को योजनाओं के निर्माण में सहयुक्त किया जा सके । संघ के प्रधान मंत्री और राज्यों के मुख्य मंत्रियों से मिलकर बनी हुई इस परिषद् के उद्देश्य

परिषद् के अन्य कृत्य होंगे – कुछ या सभी राज्यों के अथवा संघ और एक या अधिक राज्यों के सामान्य हित से संबंधित विषयों का अन्वेषण और उन पर विचार विमर्श, उदाहरणार्थ कृषि, वन, लोक स्वास्थ्य आदि के विषय में अनुसंधान और ऐसे विषयों से संबंधित नीति और कार्य के समन्वय की सिफारिश करना ।

इस शक्ति के प्रयोग में राष्ट्रपति ने एक केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद्,[2] एक केन्द्रीय स्थानीय स्वायत्त शासन[3] और एक परिवहन विकास परिषद्[4] की स्थापना की है जिसका प्रयोजन राज्यों की इन विषयों से संबंधित नीति में समन्वय करना है । वस्तुतः अंतरराज्य परिषद् का प्राथमिक उद्देश्य समन्वय और परिसंघीय घनिष्ठता स्थापित करना है । इन छोटे-छोटे निकायों का सृजन करते समय जिनका उद्देश्य विनिर्दिष्ट विषयों पर कार्य करना है इस उद्देश्य को ओझल कर दिया गया है । इनका सृजन कानूनी निर्वचन के इस नियम पर किया गया है कि परिषद् का सृजन करने की शक्ति में एक से अधिक परिषदों का सृजन करना आता है ।

सरकारिया आयोग ने एक स्थायी अंतरराज्य परिषद् के गठन की सिफारिश की थी जिसे अनुच्छेद 263 के खंड (ख) और (ग) में बताए गए कर्तव्य सौंपे जाएं । अप्रैल, 1990 में इस परिषद् की स्थापना की गई । इसमें संघ के 6 मंत्री और सभी राज्यों के मुख्य मंत्री हैं ।[5]

अंतरराज्य वाणिज्य आयोग ।

भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वाधीनता से संबंधित संविधान के उपबंधों को प्रवृत्त करने के प्रयोजन के लिए [अनुच्छेद 301-305] संसद् को यह शक्ति दी गई है कि वह अमरीका के अंतरराज्य वाणिज्य आयोग के समान कोई प्राधिकरण गठित करे और उसे ऐसी शक्तियां और कर्तव्य सौंपे जो वह ठीक समझे [अनुच्छेद 307] । किंतु अप्रैल, 1992 तक ऐसे किसी आयोग की स्थापना नहीं की गई ।

अखिल भारतीय समस्याओं को सुलझाने के लिए संविधानेतर अभिकरण ।

राज्यों पर संघ के नियंत्रण के लिए ये सांविधानिक अभिकरण यह सुनिश्चित करने के लिए बनाए गए हैं कि परिसंघीय शासन प्रणाली के होते हुए भी भारत का समन्वित विकास हो सके । इनके अतिरिक्त संघ के स्तर पर कुछ सलाहकार निकाय और सम्मेलन हैं जिनसे राज्य के स्तर पर नीतियों का समन्वय होता है और विभिन्न विभिन्न राज्यों के बीच मतभेदों को समाप्त किया जाता है । इन निकायों में सर्वप्रथम है योजना आयोग ।

योजना आयोग ।

संविधान में विभिन्न प्रयोजनों के लिए विभिन्न आयोगों का उल्लेख है किंतु उसमें कहीं भी योजना आयोग का उल्लेख नहीं है । समवर्ती विधायी सूची में "आर्थिक और सामाजिक योजना" एक प्रविष्टि है (प्रविष्टि 20, सूची 3) । संघ की इस शक्ति का लाभ उठाकर संघ ने 1950 में बिना विधान बनाए एक योजना आयोग की स्थापना की । यह संविधानेतर और असांविधिक निकाय संघ के मंत्रिमंडल के एक संकल्प द्वारा (1950 में) बनाया गया । प्रधान मंत्री श्री नेहरू उसके पहले अध्यक्ष थे और इसका उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए एक समेकित पंचवर्षीय योजना बनाना[6] और इस निमित्त संघ की सरकार के लिए सलाहकारी निकाय के रूप में कार्य करना था ।

इस निश्चित उद्देश्य से स्थापित इस आयोग के क्रियाकलाप में धीरे-धीरे प्रशासन के सभी क्षेत्र आ गए हैं केवल प्रतिरक्षा और विदेश कार्य ही बाहर रहे हैं । स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि एक आलोचक ने इसे "सम्पूर्ण देश का आर्थिक मंत्रिमंडल" कहा है

जो प्रधान मंत्री द्वारा गठित किया जाता है तथा जिसके कृत्य वित्त आयोग जैसे सांविधानिक निकायों के कृत्यों का अतिलंघन करते हैं ।[7] और फिर भी यह संसद् के प्रति उत्तरदायी नही हैं इसका एक विशाल नौकरशाही संगठन बन गया है ।[8] पंडित नेहरू ने स्वयं यह कहा था[7] —

> "आयोग जो गम्भीर चिंतकों का छोटा सा समूह था अब भारत सरकार का एक विभाग बन गया है जिसमें सचिवों और निदेशकों की भीड़ लगी हुई है और उसका अपना एक विशाल भवन भी है ।"

इन आलोचकों की राय में, योजना आयोग ऐसा अभिकरण है जो परिसंघीय प्रणाली के अधीन राज्यों की स्वायत्तता पर प्रहार करता है । किसी निष्कर्ष पर आने से पहले हमें आयोग के प्रभाव की समुचित परीक्षा करनी चाहिए । आयोग का कार्य देश के संसाधनों के सर्वाधिक और संतुलित उपयोग के लिए योजना तैयार करना है जिससे विकास की ऐसी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाएगी जो जीवनस्तर को ऊपर उठाएगी और लोगों को नए अवसर प्रदान करेगी । यह स्पष्ट है कि आयोग का काम केवल योजना बनाना है, इन योजनाओं को कार्यान्वित करना राज्यों के हाथ में है क्योंकि अधिकांश विकास राज्यों के विषयों के बारे में है । इसमें कोई संदेह नहीं कि संघ के स्तर पर योजना आयोग की बात का बहुत वज़न है क्योंकि उसका अध्यक्ष स्वयं प्रधान मंत्री है किंतु जहां तक राज्यों का सम्बन्ध है आयोग की भूमिका सलाहकार की है । उसका जो भी प्रभाव है वह अप्रत्यक्ष है क्योंकि राज्य चाहते हैं कि उनकी आवश्यकताएं राष्ट्रीय योजना में सम्मिलित कर ली जाएं । ऐसा करने के पश्चात् योजना आयोग के पास कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है जिससे वह योजना को क्रियान्वित करा सके । यदि राज्य इस प्रक्रम पर योजना आयोग द्वारा अधिकथित एकसी नीति का अनुसरण करते हैं तो वह इसलिए कि वे संघ से वित्तीय सहायता पाए बिना काम नहीं चला सकते ।[9] सही अर्थ में वित्तीय सहायता का लाभ उठाना स्वैच्छिक है इसमें प्रपीड़न नहीं है । अमरीका में भी परिसंघ के सहायता अनुदानों को परिसंघीय प्रणाली का विनाश करने वाला नहीं समझा जाता यद्यपि अनेक आलोचकों के अनुसार इससे राज्य की स्वायत्तता में हस्तक्षेप होता है ।[10]

किंतु इस आलोचना का औचित्य जान पड़ता है कि दो उच्च शक्ति संपन्न निकायों के अर्थात् वित्त आयोग और योजना आयोग के स्थापित किए जाने में कार्य और उत्तरदायित्व की परस्पर व्याप्ति हो जाती है । प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी इस पर टिप्पणी की है ।[11] वस्तुतः "योजना व्यय" और "गैर योजना व्यय" में कोई स्वाभाविक विभाजन नहीं है । यह विषमता इस कारण उत्पन्न हो गई है कि संविधान के निर्माताओं ने योजना आयोग जैसे निकाय के सृजन की कल्पना नहीं की थी । इसे बाद में कार्यपालिका के आदेश द्वारा स्थापित किया गया । चाहे जो भी हो इन दोनों आयोगों के बीच समन्वय की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है । अन्ततोगत्वा मंत्रिमंडल या राष्ट्रीय विकास परिषद् जैसे किसी निकाय को इस ओर ध्यान देना होगा । इन दोनों आयोगों को एकीकृत किया जाना चाहिए और इसके लिए संविधान के संशोधन की आवश्यकता होगी क्योंकि वित्त आयोग का उल्लेख संविधान में है ।

योजना आयोग के कार्यकरण से एक और संविधानेतर और विधि बाह्य निकाय की स्थापना करना पड़ी है वह है राष्ट्रीय विकास परिषद् ।

राष्ट्रीय विकास परिषद् । यह परिषद् 1952 में योजना आयोग के अनुषंग के रूप में बनाई गई थी जिससे राज्यों को योजनाओं के निर्माण में सहयुक्त किया जा सके । संघ के प्रधान मंत्री और राज्यों के मुख्य मंत्रियों से मिलकर बनी हुई इस परिषद् के उद्देश्य

हैं "योजना के समर्थन में प्रयत्नों को गति देना और उन्हें मजबूत बनाना तथा संसाधनों का इस दृष्टि से उपयोग करना, सभी महत्व के क्षेत्रों में सामान्य आर्थिक नीतियों का प्रोन्नयन करना और देश के सभी भागों का संतुलित और त्वरित विकास सुनिश्चित करना"। इसके अन्य विशिष्ट उद्देश्य हैं, —

(क) समय-समय पर राष्ट्रीय योजना के कार्यकरण का पुनर्विलोकन,

(ख) राष्ट्रीय योजना में बताए गए लक्ष्य और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अध्युपायों की सिफारिश करना ।

1967 के मध्य से संघ के मंत्रिमंडल के सभी सदस्य और संघ के राज्यक्षेत्रों के प्रशासक परिषद् के सदस्य हैं ।[12]

योजना आयोग के अतिरिक्त बहुत से वार्षिक सम्मेलन हैं जो संघ के तत्वावधान में किए जाते हैं और जिनका उद्देश्य है राज्यों के क्षेत्र में समन्वय और समेकन करना। विनिर्दिष्ट समस्याओं पर सम्मेलन करने के अतिरिक्त कुछ उच्चतम स्तर पर वार्षिक सम्मेलन किए जाते हैं जैसे राज्यपालों का सम्मेलन, मुख्य मंत्रियों का सम्मेलन, विधि मंत्रियों का सम्मेलन, मुख्य न्यायमूर्तियों का सम्मेलन, आदि । अंतरराज्य और संघ राज्य संबंधों की दृष्टि से इन सबका भी बहुत अधिक महत्व है । जैसा एपलबी[8] ने संप्रेक्षण किया था, ऐसी संविदाओं के माध्यम से संघ इस उपमहाद्वीप में जिसमें 22 स्वशासी राज्य हैं, अपना वर्चस्व रख सकेगा, सांविधानिक प्रपीड़न द्वारा नहीं ।

"कोई भी विशाल, महत्वपूर्ण और राष्ट्रीय सरकार, कहने के लिए तो अधीनस्थ किंतु वास्तविक रूप से दूसरे राजनीतिक नियंत्रण के अधीन सुभिन्न इकाइयों पर, राष्ट्र के लिए महत्व के राष्ट्रीय कार्यक्रम के प्रशासन के लिए उतनी आधारित नहीं है जितना कि भारत ।

नई दिल्ली में जिस शक्ति का प्रयोग किया जाता है यह अनिश्चित और अनिरंतर शक्ति है जिसके साथ प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है । इसमें प्रभाव अधिक है शक्ति कम । इसका तरीका है योजना बनाना, घोषणाएं करना, सम्मेलन करना — विकास के क्षेत्र में वास्तविक शक्ति विशिष्ट नेताओं की व्यक्तिगत शक्ति है । यह प्रधान दल की संविधानेतर प्रशासनेतर शक्ति है ।"[8]

राष्ट्रीय एकता परिषद् ।

राष्ट्रीय एकता परिषद् भी एक संविधानेतर निकाय है जो 1986 में बनाई गई थी । इसका उद्देश्य अखिल भारतीय स्तर पर अल्पसंख्यकों के कल्याण के कार्य करना है । किंतु यह शीघ्र ही मृतप्राय हो गई । राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने इसे पुनरुज्जीवित किया है। अब इसमें संघ के मंत्रियों और राज्य के मुख्य मंत्रियों के अतिरिक्त राष्ट्रीय और प्रादेशिक राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि, श्रमिकों, महिलाओं, पत्रकारों और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के प्रतिनिधि भी हैं । इसकी पहली बैठक में विचारणीय विषय थे —

सांप्रदायिक सद्भाव, विघटनवादियों द्वारा हिंसा, पंजाब और कश्मीर की समस्या, रामजन्मभूमि — बाबरी मस्जिद ।

(आ) संघ और राज्य के बीच सहयोग

परिसंघीय नियंत्रण के अभिकरणों के अतिरिक्त कुछ ऐसे उपबंध हैं जिनसे अधिकारिता का अनावश्यक संघर्ष हुए बिना संघ और राज्यों की सरकारों के बीच कार्य सुचारु रूप से चलता है, ये हैं —

(i) कृत्यों का पारस्परिक प्रत्यायोजन,

(ii) पारस्परिक कराधान से उन्मुक्ति ।

(क) जैसा हम पहले बता चुके हैं हमारे संविधान में विधायी शक्ति और कार्यपालिका

शक्ति दोनों का ही लगभग एक ही प्रकार से संघ और राज्यों के बीच वितरण किया गया है [अनुच्छेद 73, 162] ।

कृत्यों का पारस्परिक प्रत्यायोजन ।

परिणामस्वरूप राज्य संघ के विषय की बाबत प्रशासनिक शक्ति का प्रयोग करने के लिए सक्षम नहीं है और संघ किसी राज्य के कृत्यों का प्रशासन नहीं कर सकता, जब तक कि उन्हें संविधान के किसी उपबन्ध के द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत न किया जाए । प्रशासनिक विषयों में इस प्रकार के कठोर विभाजन से कभी-कभी गतिरोध हो सकता है । ऐसी स्थिति से बचने के लिए संविधान ने कुछ उपबन्ध बनाए हैं जिनसे संघ और राज्यों को अपने-अपने प्रशासनिक कृत्यों का पारस्परिक प्रत्यायोजन करने की शक्ति दी गई है :

(ख) संघ के कृत्यों के प्रत्यायोजन के बारे में दो ढंग हैं :

(i) राष्ट्रपति, राज्य सरकार की सहमति से, बिना विधायी मंजूरी के, कोई भी कार्यपालिका कृत्य किसी राज्य को सौंप सकता है [अनुच्छेद 258(1)] ।

(ii) संसद् संबद्ध राज्य की सहमति के बिना, संघ के किसी विषय के बारे में विधान बनाते समय ऐसे विषय के संबंध में राज्य या उसके अधिकारियों को शक्ति प्रदान कर सकती है [अनुच्छेद 258(2)] । संक्षेप में, ऐसे प्रत्यायोजन का कानूनी आधार होगा ।

(ग) इसके विपरीत किसी राज्य का राज्यपाल भारत सरकार की सहमति से राज्य के किसी विषय के संबंध में, उस राज्य की सीमा के भीतर कोई कृत्य संघ सरकार या उसके अधिकारियों को सौंप सकता है [अनुच्छेद 258क] ।

(ङ) *पारस्परिक कराधान से उन्मुक्ति ।*

परिसंघ संविधान दो सरकारों वाली प्रणाली को स्थापित करता है । पर उसको सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि एक सरकार की सम्मति को दूसरी सरकार के कराधान से उन्मुक्ति हो । परिसंघ संविधानों में इस बात पर कुछ मतभेद है कि यह उन्मुक्ति कितनी दी जाए । किंतु इस सिद्धांत पर सहमति है कि कराधान से पारस्परिक उन्मुक्ति के कारण दोनों सरकारों के बीच (संघ और राज्य) करों के निर्धारण, परिकलन और लेखा रखने में बहुत सा व्यर्थ का श्रम बच जाएगा । हमारे संविधान में यह अनुच्छेद 285 और 289 का विषय है । ये अनुच्छेद क्रमशः संघ और राज्य की उन्मुक्ति के संबंध में हैं ।

परिसंघ प्रणाली के उचित कार्यकरण के लिए पारस्परिक उन्मुक्ति की आवश्यकता ।

वहां तक के सिवाय जहां तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबंध करे, किसी राज्य द्वारा या राज्य के भीतर किसी प्राधिकारी द्वारा अधिरोपित सभी करों से संघ की सम्पत्ति को छूट होगी [अनुच्छेद 285(1)] ।

संघ की संपत्ति को राज्य के करों से छूट ।

इसी प्रकार राज्य की संपत्ति को संघ के कराधान से छूट है [अनुच्छेद 289(1)] किंतु यह उन्मुक्ति, जैसा कि हमारे उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है संघ के सभी करों से नहीं है ।[13] यह ऐसे करों तक सीमित है जो सम्पति पर उद्गृहीत किए हैं । राज्य को सीमा-शुल्क से छूट नहीं है क्योंकि यह संपत्ति पर अधिरोपित नहीं किया जाता है । माल के आयात या निर्यात पर होता है ।

राज्य की सम्पत्ति और आय को संघ के करों से छूट ।

राज्य की संपत्ति ही नहीं उसकी आय को भी संघ के कराधान से छूट है । यह छूट राज्य सरकार तक सीमित है । राज्य के भीतर स्थानीय प्राधिकारी को यह छूट नहीं है । राज्य की आय की यह छूट किसी वाणिज्यिक क्रियाकलाप से उद्भूत होने

वाली आय के बारे में नहीं है । ऐसी आय संघ की अध्यारोही शक्ति के अधीन होगी जैसे, –

(क) सामान्यतया, वाणिज्यिक क्रियाकलाप से राज्य को होने वाली आय को संघ द्वारा उद्गृहीत आय-कर से छूट होगी,

(ख) संसद् वाणिज्यिक कार्यकलाप से राज्य को होने वाली आय पर कर लगा सकती है ।

(ग) यदि संसद् किसी प्रकटतः व्यापारिक कृत्य को सरकार के सामान्य कृत्य का अनुषंगी कृत्य घोषित करती है तो ऐसे कृत्य से होने वाली आय जब तक यह घोषणा बनी रहती है तब तक कराधेय नहीं होगी ।[14]

निर्देश

1. 1961 तक कोई अतिरिक्त अखिल भारतीय सेवा नहीं बनाई गई थी किंतु उसके बाद हाल में बहुत सी नई अखिल भारतीय सेवाएं बनाई गई हैं (देखिए अध्याय 27, पाद टिप्पण 21)।
2. एस.आर.ओ. 1418, तारीख 9-8-1952; *इंडिया*, 1959, पृष्ठ 146 ।
3. *इंडिया*, 1957, पृष्ठ 398 ।
4. *इंडिया* 1979 पृष्ठ 352 । भारतीय चिकित्सा परिषद्, केन्द्रीय परिवार कल्याण परिषद् (*इंडिया* 1982, पृष्ठ 101, 108) ।
5. प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्ट (1969), जिल्द 1, पृष्ठ 32-34; अंतरराज्य संबंध पर सरकारिया आयोग का प्रतिवेदन, भाग 1, पैरा 9.3.05-06 ।
6. वर्तमान योजना आठवीं पंचवर्षीय योजना है (1990-91 से 1995-96 तक) ।
7. चंद्र, *फैडरेशन इन इंडिया*, पृ. 275 और आगे
8. एपलबी, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया, पृष्ठ 22 ।
9. दूसरी पंचवर्षीय योजना में राजस्व व्यय का 70 प्रतिशत और राज्य योजना में लगभग सभी पूंजी व्यय का वित्तपोषण संघ के अनुदान से किया गया था (संविधान के अनुच्छेद 232 के अधीन) इसे सुमेलित अनुदान कहा जाता है ।
10. देखिए डा. बसु की *कमेंट्री आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया*, पांचवा संस्करण, जिल्द 4, पृष्ठ 304; *स्टीवर्ड मशीन कं.* बनाम *डेविस*, (1937) 301 यू.एस. 548 ।
11. प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्ट, जिल्द 1, पृष्ठ 16-19, 26-39 ।
12. *स्टेट्समैन, 18-7-1967*, पृष्ठ 1 ।
13. *सागर सीमा-शुल्क अधिनियम का मामला*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1760 ।
14. *ए.पी.एस.आर.टी.सी.* बनाम *आई.टी.ओ.*, ए.आई.आर. 1964 एस.सी. 1486 (*1491, 1493*) ।

24

अंतरराज्य संबंध

I. *अंतरराज्य सौहार्द*

अंतरराज्य सौहार्द ।

परिसंघ के संविधान में इकाइयों की अपनी-अपनी प्रशासनिक सीमाओं के भीतर प्रभुता होती है । किंतु इनके लिए एक दूसरे से पूर्णतः विलग रहना संभव नहीं है । प्रत्येक इकाई अपनी आंतरिक प्रभुता का प्रयोग तभी कर सकेगी जब संघ की अन्य इकाइयों से उसे मान्यता मिले और सहयोग प्राप्त हो । इसलिए सभी परिसंघ संविधान सौहार्द्र के कुछ नियम अधिकथित करते हैं जिनका इकाइयां एक दूसरे के साथ व्यवहार में अनुपालन करती हैं । ये नियम और अभिकरण उदाहरणार्थ ऐसे विषय के संबंध में हैं, —

(क) एक दूसरे के सार्वजनिक कार्य, अभिलेख और कार्यवाहियों की मान्यता ।

(ख) विवादों का न्यायिकेतर निपटारा ।

(ग) राज्यों के बीच सहयोग ।

(घ) अंतरराज्य *व्यापार,* वाणिज्य और समागम की स्वाधीनता ।

पूरा विश्वास और मान्यता ।

(अ) सार्वजनिक कार्य आदि की मान्यता — प्रत्येक राज्य की अधिकारिता उसके अपने राज्यक्षेत्र तक सीमित होती है इसलिए [अनुच्छेद 162, 245(1)] एक राज्य के कार्य और अभिलेखों को यदि मान्यता के लिए विवश करने के लिए कोई उपबन्ध हो तो दूसरे राज्य द्वारा मान्यता देने से इंकार किया जा सकता है अतएव संविधान में यह उपबन्ध है कि,

"भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र, संघ के और प्रत्येक राज्य के सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता दी जाएगी [अनुच्छेद 261(1)] ।"

इसका अर्थ यह हुआ कि किसी राज्य के अधिनियमों या कानूनी लिखतों, निर्णयों या आदेशों की अधिप्रमाणित प्रतियों को दूसरे राज्य में उसी प्रकार मान्यता दी जाएगी जैसे उस राज्य के अधिनियमों आदि को दी जाती है । संसद् को यह शक्ति है कि वह ऐसे कार्यों, अभिलेखों आदि को साबित करने की रीति के बारे में विधान बना सकेगी [अनुच्छेद 261(2)] ।

विवादों का निवारण और निपटारा ।

(आ) विवादों का न्यायिकेतर निपटारा — प्रत्येक परिसंघ में राज्य सामान्यतया अपनी आंतरिक प्रभुता के प्रयोग में स्वायत्त इकाइयों के रूप में कार्य करते हैं इसलिए इकाइयों के बीच हितों का संघर्ष होना संभव है । इसलिए संघ की शक्ति बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि इकाइयों के बीच विवादों के न्यायिक अवधारण के लिए, न्यायिकेतर निकायों के द्वारा विवादों के निपटाने के लिए और परामर्श और संयुक्त कार्यवाही द्वारा विवादों के निवारण के लिए पर्याप्त उपबंध हों । अनुच्छेद 131 में राज्यों के बीच विवाद्दों के न्यायिक

अवधारण का उपबन्ध है । उच्चतम न्यायालय को इस विषय में अनन्य अधिकारिता दी गई है । अनुच्छेद 262 में एक विशेष वर्ग के विवादों के न्यायिकेतर अधिकरण द्वारा न्यायनिर्णयन की व्यवस्था है । अनुच्छेद 263 में प्रशासनिक निकाय द्वारा अन्वेषण और सिफारिश के माध्यम से अंतरराज्यिक विवादों के निवारण की व्यवस्था है । इस प्रकार —

(i) संसद्, विधि द्वारा, किसी अंतरराज्यिक नदी या नदी-दून के या उनमें जल के प्रयोग, वितरण या नियंत्रण के संबंध में किसी विवाद या परिवाद के न्यायनिर्णयन के लिए उपबन्ध कर सकेगी, और इसमें उच्चतम न्यायालय सहित सभी न्यायालयों की ऐसे विवादों को ग्रहण करने की अधिकारिता का अपवर्जन करने का उपबन्ध भी हो सकेगा [अनुच्छेद 262(1)] ।

इस शक्ति के प्रयोग में संसद् ने अन्तरराज्यिक जल विवाद अधिनियम, 1956 अधिनियमित किया है जिसमें किसी अन्तरराज्यिक नदी या नदी-दून के जल के बारे में दो या अधिक राज्यों के बीच उद्भूत होने वाले विवाद के न्यायनिर्णयन के लिए तदर्थ अधिकरण के गठन का उपबन्ध किया गया है ।

(ii) यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत होता है कि ऐसी परिषद् की स्थापना से लोकहित की सिद्धि होगी तो वह अंतरराज्यिक विवादों की जांच करने और सलाह देने के लिए अंतरराज्य परिषद् स्थापित कर सकेगा [अनुच्छेद 263(क)] ।

अंतरराज्य परिषद् ।

(इ) राज्यों के बीच सहयोग — अंतरराज्य परिषद् स्थापित करने की राष्ट्रपति की शक्ति का प्रयोग न केवल विवादों पर सलाह देने के लिए बल्कि ऐसे सभी विषयों का निवारण करने और उन पर चर्चा करने के प्रयोजन के लिए भी किया जा सकता है जिनमें सभी या कुछ राज्य अथवा संघ और एक या अधिक राज्यों का सामान्य हित हो । इस शक्ति के प्रयोग में राष्ट्रपति ने एक अंतरराज्य परिषद्, केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद्, स्थानीय स्वायत्त शासन की केन्द्रीय परिषद्, केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्,[1] केन्द्रीय होमियोपैथी परिषद् की स्थापना की है ।

इस संबंध में यह उल्लेख करना उचित होगा कि अंतरराज्यिक विषयों पर सलाह देने के लिए सलाहकारी निकाय भी कानूनी प्राधिकार के अधीन स्थापित किए गए हैं ।

(क) क्षेत्रीय परिषद् ।

(क) राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 द्वारा भारत के राज्यक्षेत्र को पांच क्षेत्रों में बांटा गया है और प्रत्येक क्षेत्र के सामान्य हित के विषयों पर सलाह देने के लिए क्षेत्रीय परिषदें बनाई गई हैं । ये पांच क्षेत्र हैं उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी और केन्द्रीय क्षेत्र ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि क्षेत्रीय परिषदों का उद्भव संविधान से नहीं बल्कि संसद् के अधिनियम से हुआ है । इन्हें राज्य पुनर्गठन अधिनियम द्वारा राज्यों के पुनर्गठन की स्कीम के भाग के रूप में बनाया गया है जिससे कि राज्यों, संघ राज्यक्षेत्रों और संघ के बीच सहयोग और सहकारिता सुनिश्चित हो सके विशेषतया आर्थिक और सामाजिक विकास के सम्बन्ध में । क्षेत्रीय परिषदों की रचना, भाषावार प्रान्तों की रचना का स्वाभाविक परिणाम था । यदि भाषावार राज्यों को अपने से निकट के राज्य से सांस्कृतिक और आर्थिक निकटता बनाए रखनी है और सहयोग के द्वारा इनके सामान्य हितों की रक्षा करनी है तो उनको एक स्थान पर मिलाने के लिए कुछ आधार बनाना आवश्यक है । पंडित नेहरू ने इन परिषदों के उद्देश्यों की कल्पना करते हुए यह कहा था कि वे सहयोग से कार्य करने की आदत डालेंगे । ऐसी प्रत्येक परिषद् में संघ सरकार द्वारा नामनिर्दिष्ट एक संघ के मंत्री की उपस्थिति (और सम्पृक्त राज्यों के मुख्य मंत्रियों की भी) से संविधानेतर सलाहकार संगठन के माध्यम से सहकारिता और राष्ट्रीय एकता को, राज्यों की स्वायत्तता

में हस्तक्षेप किए बिना, बढ़ावा मिलता है । यदि इन परिषदों का कार्य ठीक से किया जाए तो इनसे भाषा और प्रान्त के आधार पर पृथक्तावादी भावनाओं को रोककर एक परिसंघीय भावना का उदय हो सकता है, —

(i) *केन्द्रीय क्षेत्र* में उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के राज्य हैं ।

(ii) *उत्तरी क्षेत्र,* हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, राजस्थान और जम्मू-कश्मीर राज्यों तथा दिल्ली और चंडीगढ़ संघ राज्यक्षेत्रों से मिलकर बनता है ।

(iii) *पूर्वी क्षेत्र* में बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और सिक्किम हैं ।

(iv) *पश्चिमी क्षेत्र* में गुजरात, महाराष्ट्र और गोवा राज्य तथा दादरा और नागर हवेली तथा दमण और दीव के संघ राज्यक्षेत्र हैं ।

(v) *दक्षिणी क्षेत्र,* आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल राज्यों तथा पांडिचेरी के संघ राज्यक्षेत्र से मिलकर बनता है ।

प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् में उस क्षेत्र के राज्यों में से प्रत्येक के मुख्य मंत्री और दो मंत्री तथा संघ राज्यक्षेत्र का प्रशासक होता है । दो या अधिक क्षेत्रीय परिषदों की संयुक्त बैठक करने की भी व्यवस्था है । संघ के गृह मंत्री को सभी क्षेत्रीय परिषदों का अध्यक्ष नामनिर्दिष्ट किया गया है ।

जैसा हम पहले बता चुके हैं क्षेत्रीय परिषदों में उस क्षेत्र के राज्य और राज्यक्षेत्रों के समान हित के विषयों पर विचार किया जाता है जैसे आर्थिक और सामाजिक योजना, सीमा विवाद, अंतरराज्य परिवहन, राज्य पुनर्गठन से उत्पन्न होने वाले विषय आदि । ये परिषदें सम्पृक्त राज्य सरकार को और भारत सरकार को सलाह देती हैं ।[2] इन क्षेत्रीय परिषदों के अतिरिक्त एक पूर्वोत्तर परिषद् भी है जो पूर्वोत्तर परिषद् अधिनियम, 1971 के अधीन बनाई गई है । ये असम, मेघालय, मणिपुर, नागालैंड, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम की सम्मिलित समस्याओं पर विचार करने के लिए है ।

नदी बोर्ड ।

(ख) नदी बोर्ड अधिनियम, 1956, अंतरराज्य नदी या नदी घाटी के विनियमन या विकास के संबंध में हितबद्ध सरकार को सलाह देने के लिए नदी बोर्ड की स्थापना का उपबंध करता है ।

जल विवाद अधिकरण ।

(ग) जल विवाद अधिनियम, 1956 किसी अंतरराज्य नदी विवाद को जल विवाद अधिकरण द्वारा माध्यस्थम् के लिए निर्देश करने का उपबंध करता है । इस अधिकरण का अधिनिर्णय अनुच्छेद 262(2) के अनुसार अंतिम होगा ।

II. *अंतरराज्य व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता*

किसी भी परिसंघीय संरचना की एक बड़ी समस्या अंतरराज्य अवरोधों को कम करना होता है जिससे लोगों को यह अनुभव हो कि वे एक राष्ट्र हैं चाहे वे संघ की किसी भी इकाई के निवासी क्यों न हों । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक नागरिक को संपूर्ण देश में संचरण और निवास की स्वतंत्रता है । हमारा संविधान अनुच्छेद 19(1)(घ)-(ङ) से यह अधिकार प्रत्याभूत करता है ।

व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता की आवश्यकता ।

देश के एक भाग से दूसरे भाग में संचरण की स्वतंत्रता और वस्तुओं के आने जाने या वाणिज्यिक संव्यवहार का महत्व भी किसी प्रकार कम नहीं है । पूरे देश की प्रगति के लिए देश के विभिन्न भागों के बीच बिना किसी अवरोध के वाणिज्य और समागम अबाध होना चाहिए । यह परिसंघ प्रणाली में अत्यंत आवश्यक है । यह स्वतंत्रता हमारे संविधान

के भाग 13 में अंतर्विष्ट उपबंधों [अनुच्छेद 301-307] द्वारा सुनिश्चित की गई है। ये उपबंध अंतरराज्य स्वतंत्रता तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि राज्य के भीतर की स्वतंत्रता को भी लागू होते हैं। दूसरे शब्दों में इस भाग में दिए गए अपवादों को छोड़कर व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतंत्रता पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। न तो एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच और न भारत में किसी एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच चाहे राज्य की सीमा पार की गई हो या नहीं।

अनुच्छेद 301 यह घोषित करता है कि

"इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम अबाध होगा।"

भाग 13 के अन्य उपबंधों द्वारा उपर्युक्त स्वतंत्रता पर अधिरोपित मर्यादाएं हैं, —

(क) संसद् लोक हित में अविभेदकारी निर्बन्धन अधिरोपित कर सकती है [अनुच्छेद 302]।

इस शक्ति के आधार पर संसद् ने आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 अधिनियमित किया है जो केन्द्रीय सरकार को लोकहित में कोयला, कपास, लोहा और इस्पात, पेट्रोल जैसी आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन, प्रदाय और वितरण का नियंत्रण करने की शक्ति प्रदान करता है।

(ख) भारत के किसी भाग में माल की कमी से निपटने के लिए संसद् द्वारा विभेदकारी या अधिमानी उपबंध भी किए जा सकते हैं [अनुच्छेद 303(2)]।

(ग) किसी राज्य द्वारा लोकहित में युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित किए जा सकते हैं [अनुच्छेद 304(ख)]।

(घ) किसी राज्य द्वारा अन्य राज्यों या राज्यक्षेत्रों से आयातित माल पर वैसे ही अविभेदकारी कर अधिरोपित किए जा सकते हैं जैसे राज्य के भीतर के माल पर किए जाते हैं [अनुच्छेद 304(क)]।

(ङ) संघ या राज्य विधान मंडल की [अनुच्छेद 19(6)(ii) के अधीन] राज्य द्वारा या राज्य के स्वामित्व या नियंत्रण में किसी निगम द्वारा कोई व्यापार, कारबार, उद्योग या सेवा नागरिकों को पूर्णतः या भागतः अपवर्जन करके या अन्यथा चलाए जाने के लिए विधि बनाने की शक्ति।

अनुच्छेद 19(1)(छ) और 301 के अधीन स्वतंत्रताएं।

इस विषय को समाप्त करने के पहले हम अनुच्छेद 19(1)(छ) और 301 के उपबंधों के प्रविषय में क्या अंतर है इस पर विचार करेंगे क्योंकि ये दोनों अनुच्छेद व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता की प्रत्याभूति देते हैं।

इस प्रश्न का कोई अंतिम उत्तर तो नहीं दिया गया है किंतु मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 19(1)(छ) उस व्यक्ति के दृष्टिकोण से स्वतंत्रता को देखता है जो कोई व्यापार या वृत्ति चलाता है और युक्तियुक्त निर्बन्धनों के अधीन रहते हुए भारत के संपूर्ण राज्यक्षेत्र में इस स्वतंत्रता की प्रत्याभूति देता है जैसा कि अनुच्छेद 19(5) में उपदर्शित किया गया है। दूसरी ओर अनुच्छेद 301 एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच माल के आवागमन या यातायात अथवा वाणिज्यिक संव्यवहारों के चलाए जाने के दृष्टिकोण से देखता है। इसमें उन व्यक्तियों का महत्व नहीं है जो व्यापार या वाणिज्य कर रहे हैं। अनुच्छेद 301 द्वारा घोषित स्वतंत्रता पर जो निर्बन्धन अधिरोपित किए जा सकते हैं वे केवल वही हो सकते हैं जो अनुच्छेद 302-305 में दिए गए हैं। किंतु यदि

इन स्वतंत्रताओं में से किसी पर भी निर्बन्धन लगाया जाता है तो व्यथित व्यक्ति[3] या कोई राज्य[4] भी ऐसे निर्बन्धन की सांविधानिकता को चुनौती दे सकता है चाहे निर्बन्धन कार्यपालिका आदेश द्वारा अधिरोपित किया गया हो या विधान द्वारा ।[3] जब अनुच्छेद 301 या 304 का उल्लंघन होता है तो सामान्यतया अनुच्छेद 19(1)(छ) द्वारा प्रत्याभूत व्यक्ति के मूल अधिकार का भी अतिलंघन होगा । ऐसी दशा में वह व्यक्ति भी अनुच्छेद 32 के अधीन आवेदन कर सकता है यद्यपि अनुच्छेद 301 या 304 मूल अधिकार के रूप में भाग 3 में सम्मिलित नहीं हैं ।[5]

निर्देश

1. *इंडिया* 1982, पृष्ठ 101 ।
2. तीन वर्षों के अन्तराल के पश्चात् 1978 में क्षेत्रीय परिषदों की बैठकें फिर से होने लगी हैं (*स्टेट्समैन*, 8-9-1978, पृ. 9) *किन्तु यह कहा जा सकता है कि इस स्कीम का पूरा उपयोग नहीं किया जा रहा है* (देखिए डा. डी.डी. बसु की *कंपेरेटिव फैडरलिज्म*, 1987, पृष्ठ 574चच) ।
3. *अतियाबारी टी कं.* बनाम *असम राज्य*, ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 232; *आटोमोबाइल ट्रांसपोर्ट* बनाम *राजस्थान राज्य*, ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 1406 ।
4. *राजस्थान राज्य* बनाम *मांगीलाल*, (1969) 2 एस.सी.सी. 710 (*713*); *असम राज्य* बनाम *लावण्यप्रभा*, ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1574 (1578) ।
5. *सय्यद अहमद* बनाम *मैसूर राज्य*, ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 1443 ।

25

आपात उपबंध

ब्राइस के अनुसार परिसंघ की सरकारें दुर्बल होती हैं क्योंकि इसमें शक्ति का विभाजन हो जाता है । प्रत्येक आधुनिक परिसंघ ने इस दुर्बलता से बचने के लिए यह उपबंध किया है कि जब कभी आंतरिक या बाह्य आपात परिस्थितियों के कारण एकीकृत कार्यवाही करना आवश्यक हो तब परिसंघीय सरकार विस्तृत शक्तियां ग्रहण कर सके । संयुक्त राज्य अमरीका जैसे देशों में परिसंघ शक्ति का यह विस्तार बुद्धिमत्तापूर्ण न्यायिक निर्वचन के माध्यम से होता है । किंतु भारत में संविधान में ही विभिन्न प्रकार के आपात में संघ को असाधारण शक्तियां प्रदान करने का उपबंध है । जैसा पहले कहा गया है हमारे संविधान के आपात उपबंध परिस्थितियों की मांग पर परिसंघ सरकार को ऐकिक प्रणाली की शक्ति ग्रहण करने में समर्थ बनाते हैं ।

विभिन्न प्रकार के आपात ।

संविधान में तीन प्रकार के आपात या असाधारण परिस्थितियों का उल्लेख है जिनके कारण संविधान द्वारा स्थापित प्रसामान्य शासन तंत्र से विचलन किया जा सकता है, अर्थात् (i) युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण आपात[1] [अनुच्छेद 352] । इसे दूसरे किस्म के आपात से अलग दर्शाने के लिए "राष्ट्रीय आपात" कहा जाता है । (ii) राज्य के सांविधानिक तंत्र की विफलता [अनुच्छेद 356], (iii) वित्तीय आपात [अनुच्छेद 360] ।

जहां संविधान में "आपात की उद्घोषणा" अभिव्यक्ति का प्रयोग किया गया है वहां यह निर्देश [अनुच्छेद 366(18)] पहले प्रकार की अर्थात् अनुच्छेद 352 के अधीन उद्घोषणा के प्रति है ।

42वें और 44वें संशोधन ।

संविधान के भाग 18 के आपात उपबंधों का [अनुच्छेद 352-360] 42वें संशोधन (1976) और 44वें संशोधन (1978) अधिनियमों द्वारा विस्तृत संशोधन किया गया है । इनके परिणामस्वरूप अब जो स्थिति है वह पाठकों की सुविधा के लिए नीचे दी जा रही है :

I. यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है तो वह "आपात की उद्घोषणा" कर सकता है[1] [अनुच्छेद 352] । यह उद्घोषणा ऐसी किसी घटना के वास्तव में होने के पहले भी की जा सकती है अर्थात् जब बाह्य आक्रमण की आशंका हो ।

अ. आपात की उद्घोषणा ।

आपात से अभिप्रेत है ऐसी दशा की विद्यमानता जिससे युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा संकट में है ।[1] जब राष्ट्रपति "आपात की उद्घोषणा" करते हैं तब संविधान के अधीन आपात की स्थिति आ जाती है । राष्ट्रपति द्वारा आपात की उद्घोषणा के औचित्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वास्तव में युद्ध या सशस्त्र विद्रोह

हो गया हो । राष्ट्रपति यह उद्‌घोषणा कर सकता है यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि ऐसे बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह का संकट सन्निकट है, किंतु राष्ट्रपति ऐसी कोई उद्‌घोषणा तब तक नहीं करेगा जब तक कि प्रधान मंत्री और मंत्रिमंडल स्तर के अन्य मंत्री उसे लिखित रूप में ऐसी घोषणा करने के लिए सिफारिश नहीं करते हैं [अनुच्छेद 352(3)] ।

42वें संशोधन के द्वारा इस घोषणा को न्यायिक पुनर्विलोकन के बाहर कर दिया गया है किंतु अब 44वें संशोधन से यह बंधन हटा लिया गया है । परिणामस्वरूप इस उद्‌घोषणा की सांविधानिकता को संभवतः दुर्भावपूर्ण होने के आधार पर न्यायालय में प्रश्नगत किया जा सकता है ।[2]

ऐसी प्रत्येक उद्‌घोषणा को संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाएगा और यदि दोनों सदन संकल्प द्वारा अनुमोदन नहीं करते हैं तो उद्‌घोषणा की तारीख से एक मास की समाप्ति पर उद्‌घोषणा प्रवर्तन में नहीं रहेगी ।

44वें संशोधन अधिनियम, 1978 के निर्मित होने तक संसद् के दोनों सदनों के संकल्प द्वारा उद्‌घोषणा का अनुमोदन हो जाने के पश्चात् इस उद्‌घोषणा को वापस लेने के लिए कोई संसदीय नियंत्रण नहीं था ।

44वें संशोधन के पश्चात् अनुच्छेद 352 के अधीन उद्‌घोषणा निम्नलिखित रूप से समाप्त हो सकती है :—

44वां संशोधन ।

(क) यह उद्‌घोषणा किए जाने की तारीख से एक मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी यदि उस अवधि के समाप्त होने के पहले संसद् के दोनों सदन संकल्प द्वारा उसका समर्थन नहीं करते हैं । यदि उद्‌घोषणा के समय या उसके एक मास के भीतर लोक सभा का विघटन हो गया है तो उस सदन के पुनर्गठन के पश्चात् पहली बैठक होने की तारीख से तीस दिन तक उद्‌घोषणा बनी रहेगी परंतु यह तब जब राज्य सभा ने इस बीच संकल्प द्वारा उसका अनुमोदन कर दिया हो [खंड (4)] ।

उदघोषणा किस प्रकार समाप्त होगी ।

(ख) संसद् के दोनों सदनों द्वारा संकल्प द्वारा अनुमोदित किए जाने से उद्‌घोषणा छह मास तक चल सकती है [खंड (5)] । ऐसा होने पर उद्‌घोषणा अंतिम संकल्प की तारीख से छह मास तक प्रवर्तन में रहेगी ।

(ग) खंड (4) और खंड (5) के अधीन प्रत्येक संकल्प प्रत्येक सदन में विशेष बहुमत से पारित किया जाना चाहिए [खंड (6)] ।

(घ) यदि लोक सभा किसी भी समय संकल्प पारित करके उद्‌घोषणा निकालने या उसे प्रवृत्त रखने का अनुमोदन करती है तो राष्ट्रपति उद्‌घोषणा वापस लेगा [खंड (7)] । अनुमोदन के संकल्प को पारित करने के लिए लोक सभा की विशेष बैठक बुलाने के प्रयोजन के लिए सदन के कम से कम 1/10 सदस्य लोक सभा के अध्यक्ष को या राष्ट्रपति को (यदि सदन सत्र में नहीं है तो) इस प्रयोजन के लिए सदन की विशेष बैठक बुलाने के लिए लिखित सूचना दे सकते हैं । अध्यक्ष या राष्ट्रपति ऐसी सूचना प्राप्त होने की तारीख से 14 दिन के भीतर विशेष बैठक बुलाएंगे ।

यह संभव है कि सशस्त्र विद्रोह या बाह्य आक्रमण से भारत के राज्यक्षेत्र का कोई भाग ही प्रभावित हुआ हो और उसे ही अधिक नियंत्रण के अधीन लाने की आवश्यकता हो । इसलिए 44वें संशोधन द्वारा यह उपबन्ध किया गया है कि अनुच्छेद 352 के अधीन उद्‌घोषणा संपूर्ण भारत या उसके किसी भाग के विषय में की जा सकेगी ।

आपात के दौरान संघ की कार्यपालिका और विधायिका को असाधारण शक्तियां होंगी ।

आपात की उद्घोषणा के प्रभाव पर चार शीर्षों के अधीन विचार किया जा सकता है — (i) कार्यपालिका, (ii) विधायी, (iii) वित्तीय, और (iv) मूल अधिकारों के बारे में ।

(i) *कार्यपालिका* — जब आपात की उद्घोषणा की जाती है तब संघ की कार्यपालिका का विस्तार उदघोषणा के प्रवृत्त रहने के दौरान किसी राज्य को इस बारे में निदेश देने तक होगा कि वह राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे [अनुच्छेद 353(क)] ।

सामान्य समय में, कार्यपालिका को किसी राज्य को उन्हीं विषयों पर निदेश देने की शक्ति है जो अनुच्छेद 256-257 में विनिर्दिष्ट हैं ।

आपात की उद्घोषणा का प्रभाव ।

आपात की उद्घोषणा के अधीन भारत सरकार को किसी राज्य को किसी भी विषय पर निदेश देने की शक्ति मिल जाएगी । इसका परिणाम यह होगा कि यद्यपि राज्य सरकार निलम्बित नहीं की जाएगी फिर भी वह संघ की कार्यपालिका के पूर्ण नियंत्रण में होगी और उद्घोषणा के रहते हुए देश का प्रशासन इस प्रकार होगा जैसे स्थानीय उपखंडों के साथ ऐकिक प्रणाली में होता है ।

(ii) *विधायी* — (क) जब आपात की उद्घोषणा प्रवृत्त होती है तब संसद् विधि द्वारा लोक सभा की अवधि को एक बार में एक वर्ष से अनधिक के लिए बढ़ा सकती है । इस प्रकार बढ़ाई गई अवधि उद्घोषणा के प्रवृत्त न रहने के पश्चात् छह मास से आगे तक की नहीं हो सकती [अनुच्छेद 83(2) का परन्तुक] । (श्रीमती गांधी ने 1976 में इस शक्ति का प्रयोग किया था — 1976 का अधिनियम 109) ।

(ख) जैसे ही आपात की उद्घोषणा की जाती है वैसे ही संघ की संसद् की विधायी शक्ति का स्वयमेव विस्तार हो जाता है और अनुच्छेद 246(3) द्वारा सूची 2 के बारे में लगाई गई मर्यादाएं हट जाती हैं । दूसरे शब्दों में आपात की उद्घोषणा के प्रवृत्त रहने के दौरान संसद् को सूची 2 (राज्य सूची) के बारे में विधान बनाने की शक्ति मिल जाती हैं [अनुच्छेद 250(1)] । उद्घोषणा से राज्य का विधान मंडल निलम्बित नहीं होता किंतु संघ और राज्य के बीच, जहां तक संघ का संबंध है विधायी शक्तियों का वितरण निलम्बित हो जाता है और संघ की संसद् आपात का सामना करने के लिए किसी भी विषय पर विधान बना सकती है मानो संविधान ऐकिक हो ।

(ग) ऊपर बताई गई विस्तारित अधिकारिता के अधीन संघ की संसद् द्वारा बनाई गई विधियों को क्रियान्वित करने के लिए संसद् को यह शक्ति होगी कि वह किसी भी विषय पर संघ की कार्यपालिका को शक्तियां प्रदान करने के लिए या कर्तव्य अधिरोपित करने के लिए (जो उस प्रयोजन के लिए आवश्यक हों) विधि बना सकेगी चाहे ऐसे विषय सामान्यतया राज्य की अधिकारिता में आते हों [अनुच्छेद 353(ख)] ।

(iii) *वित्तीय* — आपात की उद्घोषणा के प्रवृत्त रहने के दौरान राष्ट्रपति को अपने आदेश द्वारा संघ और राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों के आबंटन से संबंधित संविधान के उपबंधों को उपांतरित करने की सांविधानिक शक्ति है । किंतु ऐसा आदेश उस वित्तीय वर्ष की समाप्ति के आगे प्रवृत्त नहीं रहेगा जिसमें ऐसी उद्घोषणा प्रवर्तन में नहीं रहती है । साथ ही यह भी है कि राष्ट्रपति का ऐसा आदेश संसद् के अनुमोदन के अधीन होगा [अनुच्छेद 354] ।

(iv) *मूल अधिकारों के विषय में* — अनुच्छेद 358-359 में यह बताया गया है कि आपात की उद्घोषणा का मूल अधिकारों पर क्या प्रभाव पड़ेगा । 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा 1978 में संशोधित किए जाने के पश्चात् इसका परिणाम होता है :

I. अनुच्छेद 358 में यह उपबन्ध है कि राज्य पर अनुच्छेद 19 द्वारा अधिरोपित मर्यादाएं लागू नहीं होंगी जिससे ये अधिकार आपात की उद्घोषणा के प्रवृत्त रहने के दौरान राज्य के विरुद्ध अविद्यमान हो जाएंगे । अनुच्छेद 359 के अधीन राष्ट्रपति के आदेश द्वारा इन अधिकारों को या उनमें से किसी को प्रवृत्त कराने के लिए न्यायालयों में अभ्यावेदन के अधिकार का निलम्बन किया जा सकता है ।

II. अनुच्छेद 352 में विनिर्दिष्ट आधारों में से किसी आधार पर घोषित उद्घोषणा को अर्थात् युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह को अनुच्छेद 359 लागू होगा किंतु अनुच्छेद 358 का लागू होना ऐसे आपात तक ही सीमित है जो युद्ध या बाह्य आक्रमण के आधार पर घोषित किया गया हो ।

III. जैसे ही युद्ध या बाह्य आक्रमण के आधार पर आपात की उद्घोषणा की जाती है वैसे ही अनुच्छेद 358 प्रवृत्त हो जाता है और अनुच्छेद 19 अपने आप निलंबित हो जाता है । किंतु अनुच्छेद 359 को लागू करने के लिए राष्ट्रपति का आदेश किया जाना आवश्यक है जिसमें वे मूल अधिकार विनिर्दिष्ट हों जिनके विरुद्ध निलम्बन लागू होगा ।

IV. अनुच्छेद 19 को अनुच्छेद 358 निलम्बित करता है । अनुच्छेद 359 के अधीन अधिकार प्रवृत्त कराने का निलम्बन ऐसे मूल अधिकारों के सम्बन्ध में ही होगा जो राष्ट्रपति आदेश में विनिर्दिष्ट हैं, *अनुच्छेद 20 और 21 को छोड़कर* । परिणामस्वरूप आपात के होते हुए भी अनुच्छेद 20 या 21 के अधीन किसी बंदी या अवरुद्ध व्यक्ति के न्यायालय में पहुंचने के अधिकार को नहीं छीना जा सकता ।[3]

V. अनुच्छेद 358 या 359 से सुसंगत मूल अधिकार का प्रवर्तन निलम्बित नहीं होगा जब तक कि व्यथित व्यक्ति को प्रभावित करने वाली विधि में यह उल्लेख न हो कि "ऐसी विधि आपात की उद्घोषणा के संबंध में है ।" विधि में ऐसा उल्लेख न होने पर आपात की उद्घोषणा के दौरान मूल अधिकार के उल्लंघन के लिए आक्षेप किए जाने पर ऐसी विधि या कार्यपालिका कार्यवाही को उन्मुक्ति नहीं मिलेगी [अनुच्छेद 358 का खंड (2) और अनुच्छेद 359 का खंड (1)(ख)] ।

आपात शक्ति के उपयोग ।

अ. अनुच्छेद 352 के अधीन आपात की *पहली* उदघोषणा राष्ट्रपति ने नेफा में चीनी आक्रमण को ध्यान में रखते हुए 26 अक्तूबर, 1962 को की थी । अनुच्छेद 359 के अधीन किए गए राष्ट्रपति आदेश में यह उपबंध था कि भारत रक्षा अधिनियम के अधीन गिरफ्तार या बंदी बनाए गए व्यक्ति को अनुच्छेद 14, 19 या 21 के अधीन अपने मूल अधिकार के प्रवर्तन के लिए न्यायालय में अभ्यावेदन करने का हक नहीं होगा । राष्ट्रपति ने आपात की यह उद्घोषणा 10 जनवरी, 1968 को आदेश निकाल कर वापस ली ।

आ. अनुच्छेद 352 के अधीन आपात की *दूसरी* उद्घोषणा राष्ट्रपति ने 3 दिसम्बर, 1971 को की जब पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध एक अघोषित युद्ध प्रारम्भ किया ।

कुछ उच्च न्यायालयों ने तस्करी करने के लिए आंतरिक सुरक्षा अधिनियम के अधीन निरुद्ध किए गए कुछ व्यक्तियों को छोड़ देने का आदेश दिया । इसे देखते हुए 25 दिसम्बर, 1974 को अनुच्छेद 359 के अधीन राष्ट्रपति आदेश प्रख्यापित किया गया । इस राष्ट्रपति आदेश द्वारा निरुद्ध व्यक्ति के छह मास की अवधि के लिए या 1971 की आपात की उद्घोषणा के बने रहने के दौरान, इनमें से जो भी पहले हो अनुच्छेद 21 और 22 के अधीन मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए किसी भी न्यायालय में अभ्यावेदन देने के अधिकार को निलम्बित कर दिया गया ।

दिसम्बर, 1971 में बांग्लादेश में पाकिस्तान के हार मान लेने के कारण युद्ध बंद

हो गया और इसके पश्चात् भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला समझौता हुआ किंतु फिर भी पाकिस्तान से शत्रुभाव बने रहने के कारण 1971 की उद्घोषणा प्रवृत्त रही। जब 25 जून, 1975 को *तीसरी* उद्घोषणा की गई तब भी यह उद्घोषणा प्रवृत्त थी।

इ. अनुच्छेद 352 के अधीन दो पूर्ववर्ती उद्घोषणाएं बाह्य आक्रमण के आधार पर की गई थीं किंतु अनुच्छेद 352 के अधीन 25 जून, 1975 को की गई आपात की तीसरी उद्घोषणा "आंतरिक अशांति" के आधार पर की गई थी[4], इस उद्घोषणा से संबंधित प्रेस विज्ञप्ति में "आंतरिक अशांति" बताते हुए कहा गया था कि कुछ व्यक्ति पुलिस और सशस्त्र बलों को अपने कर्तव्यों के निर्वहन और सामान्य कार्यकरण के विरुद्ध उत्प्रेरित कर रहे हैं।[4] दूसरी और तीसरी उद्घोषणा मार्च, 1977 में वापस ली गई।

44वां संशोधन।

यह ध्यान देने योग्य है कि 1978 के पश्चात् सशस्त्र विद्रोह से कम किसी आंतरिक अशांति के आधार पर आपात की उद्घोषणा करना संभव नहीं है क्योंकि संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा "आंतरिक अशांति" शब्दों के स्थान पर "सशस्त्र विद्रोह" शब्द रख दिए गए हैं।[1]

II. किसी राज्य में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने पर प्रशासन चलाने के लिए संविधान में उपबंध किया गया है।

आ. राज्य में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने की उद्घोषणा।

(क) संघ का यह कर्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार चलती रहे [अनुच्छेद 355]। इसलिए जब राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि किसी राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चल सकती तो वह उद्घोषणा कर सकता है। समाधान राज्यपाल से प्रतिवेदन मिलने पर हो सकता है या अन्यथा [अनुच्छेद 356(1)]। (इस शक्ति के प्रयोग के लिए देखिए आगे)।

(ख) राष्ट्रपति यह उद्घोषणा उस समय भी कर सकता है जब संघ की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुए दिए गए किन्हीं निदेशों का अनुपालन करने में या उनको प्रभावी करने में कोई राज्य असफल रहता है [अनुच्छेद 365]।[5]

राष्ट्रपति ऐसी उद्घोषणा द्वारा, —

(क) उस राज्य की कार्यपालिका के या किसी अन्य प्राधिकारी के सभी या कोई कृत्य अपने हाथ में ले सकेगा। केवल उच्च न्यायालय के कृत्य नहीं लिए जा सकेंगे, और

(ख) यह घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधान मंडल की शक्तियों का प्रयोग संसद् द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन किया जा सकेगा। संक्षेप में ऐसी उद्घोषणा द्वारा संघ न्यायिक कृत्यों को छोड़कर राज्य प्रशासन के सभी कृत्यों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

जब उद्घोषणा द्वारा राज्य के विधान मंडल को निलंबित किया जाता है तब, —

(क) संसद् उस राज्य के लिए विधान बनाने की शक्ति का प्रत्यायोजन राष्ट्रपति को या किसी विनिर्दिष्ट प्राधिकारी को कर सकती है, (ख) राष्ट्रपति जब लोक सभा सत्र में न हो तब संसद् द्वारा ऐसे व्यय की मंजूरी दिए जाने तक राज्य की संचित निधि से व्यय प्राधिकृत कर सकेगा, और (ग) राष्ट्रपति जब संसद् सत्र में न हो तब राज्य के प्रशासन के लिए अध्यादेश प्रख्यापित कर सकेगा [अनुच्छेद 357]।

ऐसी उद्घोषणा की अवधि सामान्यतः दो मास की होगी। किंतु यदि जब उद्घोषणा की गई थी तब लोक सभा का विघटन हो गया था या उपर्युक्त दो मास की अवधि के भीतर विघटन हो गया है तो उद्घोषणा लोक सभा के पुनर्गठित होने की तारीख से तीस

दिन की समाप्ति पर प्रवृत्त नहीं रहेगी जब तक कि संसद् ने उद्घोषणा का अनुमोदन न कर दिया हो । ऐसी उद्घोषणा की दो मास की अवधि का संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित संकल्प द्वारा विस्तार किया जा सकता है । यह विस्तार एक बार में छह मास की अवधि के लिए होगा और अधिकतम अवधि तीन वर्ष होगी [अनुच्छेद 356(3)-(4)] । किंतु यदि यह अवधि एक वर्ष के आगे बढ़ाई जाती है तो 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा दो शर्तें पूरी होनी चाहिए, अर्थात् :—

44वां संशोधन ।

(क) ऐसे संकल्प के पारित होने के समय सम्पूर्ण भारत में या सम्पूर्ण राज्य में या उसके किसी भाग में आपात की उद्घोषणा प्रवृत्त है, और

(ख) निर्वाचन आयोग यह प्रमाणित कर देता है कि ऐसे संकल्प में विनिर्दिष्ट अवधि के दौरान खंड (3) के अधीन अनुमोदित उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखना संबंधित राज्य विधान सभा के साधारण निर्वाचन कराने में कठिनाई के कारण आवश्यक है ।

42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा के लिए राष्ट्रपति के समाधान को न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर कर दिया गया था किंतु 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 से यह बंधन हटा दिया गया है । परिणामस्वरूप यदि उद्घोषणा दुर्भाव से की गई है[2] या उद्घोषणा में प्रकट किए गए कारणों का राष्ट्रपति के समाधान से कोई युक्तियुक्त संबंध नहीं है[2] तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकते हैं ।

सांविधानिक तंत्र की विफलता के कारण की गई उदघोषणा में और आपात की उद्घोषणा में निम्नलिखित बातों के विषय में अंतर है : —

अनुच्छेद 352 और 356 की तुलना ।

(i) राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा तभी कर सकता है जब युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह द्वारा भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा संकट में है । राष्ट्रपति सांविधानिक तंत्र की विफलता की बाबत उद्घोषणा तब करता है जब किसी भी कारणवश किसी राज्य में सांविधानिक सरकार नहीं चल सकती है । इसके लिए युद्ध या सशस्त्र विद्रोह से संबंधित कारण आवश्यक नहीं है ।

(ii) जब आपात की उद्घोषणा की जाती है तो केंद्र को राज्य के संविधान को या उसके किसी भाग को निलम्बित करने की शक्ति नहीं प्राप्त होती । राज्य की कार्यपालिका और विधायिका कार्य करती रहती हैं और अपनी शक्तियां भी उसी प्रकार बनाए रखती हैं । केन्द्र को राज्य में विधायन और प्रशासन की समवर्ती शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं । किंतु सांविधानिक तंत्र की विफलता की दशा में की जाने वाली उद्घोषणा के अधीन राज्य विधान मंडल निलम्बित हो जाता है और राज्य की कार्यपालिका शक्ति पूर्णतः या भागतः राष्ट्रपति द्वारा ग्रहण कर ली जाती है [इसी कारण इसे लोक में "राष्ट्रपति शासन" कहा जाता है] ।

(iii) आपात की उद्घोषणा के अधीन संसद् राज्य के किसी विषय पर स्वयं विधान बना सकती है किंतु दूसरी प्रकार की उद्घोषणा में वह राज्य के लिए विधान बनाने की शक्ति राष्ट्रपति को या किसी अन्य विनिर्दिष्ट प्राधिकारी को प्रत्यायोजित कर सकती है ।

(iv) सांविधानिक तंत्र की विफलता की उद्घोषणा की दशा में उद्घोषणा के प्रवर्तन का विस्तार करने की संसद् की शक्ति की अधिकतम सीमा तीन वर्ष है [अनुच्छेद 356(4) का परन्तुक 1] । किंतु आपात की उद्घोषणा की दशा में यह संसद् के सदनों के प्रत्येक संकल्प द्वारा छह मास की अवधि के लिए बढ़ाई जा सकती है । परिणामतः यदि संसद् अनुमोदन करे तो ऐसी उद्घोषणा अनिश्चित काल के लिए बनी रहेगी जब तक कि संसद

उसके समाप्त करने के लिए संकल्प न करे [44वां संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा अन्तःस्थापित अनुच्छेद 352 का खंड (5)] ।

शक्ति का उपयोग ।

यह स्पष्ट है कि किसी राज्य में सांविधानिक तंत्र की विफलता की उद्घोषणा करने की शक्ति का बाह्य या आंतरिक आक्रमण से कोई संबंध नहीं है । यह अधिकार संघ की असाधारण शक्ति है जो परिसंघ की इकाइयों में ऐसे राजनीतिक गत्यावरोध का सामना करने के लिए आवश्यक है जिसका राष्ट्र की शक्ति पर प्रभाव पड़े । अथवा संघ के निदेशों का ऐसी इकाई द्वारा अनुपालन न किए जाने पर [अनुच्छेद 365] । यह संघ के हाथों में एक प्रपीड़क शक्ति है जिससे वह लोकतंत्रात्मक सरकार बनाए रखे और गुटों के आपसी संघर्ष में शासन तंत्र विफल न हो सके । भारत की राजनीतिक प्रणाली में इस शक्ति के महत्व को ओझल नहीं किया जा सकता विशेषकर इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि संविधान के प्रथम 42 वर्षों में (अप्रैल, 1992 तक) इसका प्रयोग 100 बार किया गया था । इसके प्रयोग के बारे में देखिए सारणी 21 ।

अनुच्छेद 356 के अधीन इस शक्ति का बार-बार और अनुचित उपयोग गर्हित है ।

अनुच्छेद 356 के अधीन संघ को प्रदत्त शक्ति के प्रयोग के पूर्वगामी इतिहास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक ऐसी प्रपीड़क शक्ति है जिससे संविधान द्वारा विहित प्रसामान्य परिसंघीय राज्य व्यवस्था का जीवंत तत्व समाप्त हो जाता है । अतएव यह स्मरण रखना चाहिए कि संविधान सभा में डा. अम्बेडकर ने[6] इस उग्र शक्ति वाले उपबन्ध के पक्ष में यह दलील दी थी कि इस प्रचंड शक्ति का प्रयोग तब किया जाएगा जब और कुछ नहीं किया जा सकता ।

> ". . . हम यह आशा करते हैं कि इन अनुच्छेदों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी और ये पुस्तक में ही बने रहेंगे । यदि इन्हें कभी प्रवृत्त किया जाता है तो मैं आशा करता हूं कि राष्ट्रपति किसी प्रांत के प्रशासन को निलम्बित करने के पहले सभी उचित पूर्वविधानी बरतेंगे ।"[36]

अतएव यह स्वाभाविक है कि इस उपबन्ध के, जिसके बारे में यह कल्पना की गई थी कि वह पुस्तक में ही रहेगा, बारबार उपयोग किए जाने के औचित्य पर (संविधान के अन्य उपबन्धों की अपेक्षा अधिक) अनेक लोगों ने आलोचना की है ।

(क) यह बात बल देते हुए कही गई है कि अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का किसी ऐसे मंत्रिमंडल को पदच्युत करने के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता जिसे विधान मंडल में बहुमत का विश्वास प्राप्त है । किंतु इस शक्ति का उपयोग राष्ट्रपति के व्यक्तिपरक समाधान पर आधारित है इसलिए न्यायालयों में इसके औचित्य को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता । दूसरे शब्दों में यह न्यायालय यह अन्वेषण नहीं कर सकते कि उद्घोषणा को उचित ठहराने के लिए परिस्थितियां वास्तव में विद्यमान थीं या नहीं ।[1]

जैसा उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है[2] यह संभव है कि यदि न्यायालय को यह दर्शित किया जाए कि उद्घोषणा दुर्भावपूर्ण की गई थी या राष्ट्रपति के समाधान के लिए असंगत आधारों पर की गई थी तो उसे विखण्डित किया जा सकेगा । किंतु राष्ट्रपति प्रायः आधार प्रकट नहीं करते हैं और न ही यह आवश्यक ही है कि कारण दिए जाएं । इसलिए किसी भी विशिष्ट अवसर पर उद्घोषणा का निकाला जाना राजनीतिक क्षेत्र में आंदोलन का विषय रहेगा । अध्येताओं और राजनेताओं के, जो इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि संविधान के उपबंधों का उपयोग ऐसे प्रयोजनों के लिए नहीं किया जाए जो संविधान निर्माताओं की आशाओं के प्रतिकूल हों, मार्गदर्शन के लिए इस शक्ति के उचित उपयोग के कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं ।

इस शक्ति के उचित उपयोग का अवसर तब होगा जब कोई मंत्रिमंडल विधान मंडल में हार के बाद पदत्याग देता है और तुरन्त ही विधान सभा में बहुमत वाला कोई अन्य मंत्रिमंडल नहीं बन पाता है। विधान सभा का विघटन एक विप्लवी समाधान तो हो सकता है किंतु यह खर्चीला है इसलिए अनुच्छेद 356 का अवलम्ब लेकर विधान सभा में अस्थिरता को समाप्त होने का अवसर दिया जा सकता है जिससे विघटन करने की आवश्यकता न पड़े। ऐसी ही परिस्थिति तब उत्पन्न हो सकती है जब बहुमत वाला दल मंत्रिमंडल बनाने से इंकार करता है और राज्यपाल संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने के प्रयत्न में असफल हो जाता है। संविधान के अनुच्छेद 365 में ही उचित उपयोग का एक और उदाहरण है किंतु यह बड़ी विचित्र बात है कि पहले कभी भी विनिर्दिष्ट रूप से इसका उपयोग नहीं किया गया है। अनुच्छेद 365 के उपबन्ध राज्य सरकार द्वारा संघ सरकार के निदेशों को कार्यान्वित करने की असफलता के सम्बन्ध में है। संघ को संविधान द्वारा निदेश देने का प्राधिकार दिया गया है (उदाहरणार्थ अनुच्छेद 256, 257 के अधीन)। संघ अनुच्छेद 355 के अंतिम भाग द्वारा प्रदत्त विवक्षित शक्ति के अधीन भी निदेश दे सकता है। यह निदेश यह सुनिश्चित करने के लिए दिया जाएगा कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलाई जाए।

उपयोग के उचित अवसरों का सुझाव।

(ख) मुख्य आलोचना यह रही कि इस असाधारण शक्ति का प्रयोग अनेकों बार संघ में सत्तारूढ़ दल के राजनीतिक प्रयोजन के लिए किया गया है।

सबसे तीव्र आलोचना इस कारण हुई कि 1977 में 31-4-1977 को अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा करके विधान मंडलों को अधिक्रांत करने के पश्चात् उन राज्यों के विधान मंडलों का विघटन करने की शक्ति का प्रयोग किया गया है (बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल)। यह सत्य है कि यह उद्घोषणा तब की गई जब उच्चतम न्यायालय ने *राजस्थान* बनाम *भारत संघ*[2] में उसका अनुमोदन कर दिया। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस आधार पर कि विधान सभा निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही थी अनुच्छेद 356 का उपयोग करके उसका विघटन करने के औचित्य का प्रश्न सुस्थिर हो चुका है। उसका कारण यह है कि —

I. उस न्यायपीठ[2] में जो सात न्यायाधीश थे उन्होंने अपने विनिश्चय के अलग-अलग कारण दिए हैं। सामान्य मत यह था कि यह राजनीतिक प्रश्न है जो न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि के बाहर है। यदि ऐसा है तो न्यायालय को यहीं पर रुक जाना चाहिए था क्योंकि निर्वचन के सुस्थापित सिद्धांतों के अनुसार कोई भी न्यायालय सांविधानिकता के प्रश्न पर उससे आगे विचार नहीं करता जितना उस मामले को निपटाने के लिए आवश्यक हो। अतएव गुणागुण के आधार पर दिए गए कुछ न्यायाधीशों की राय को केवल संप्रेक्षण समझा जाना चाहिए।

II. गुणागुण के आधार पर यह राय थी कि राज्यपाल को अनुच्छेद 174(2)(ख) के अधीन विधान सभा का विघटन करने की शक्ति है। अतएव जब राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 356(1)(ख) के अधीन उद्घोषणा करके राज्य सरकार की शक्तियां अपने हाथ में ले लीं तो राज्यपाल की राज्य के विधान मंडल को विघटित करने की शक्ति भी राष्ट्रपति में निहित हो गई। ऐसा हो जाने पर वह राज्यपाल के प्रतिवेदन के बिना विघटन की शक्ति का प्रयोग कर सकता है क्योंकि अनुच्छेद 356(1) में "या अन्यथा" शब्द आए हैं।

वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या राज्यपाल स्वयं इन राज्यों के विधान मंडलों का

इस आधार पर विघटन कर सकता था कि राज्य के विधान मंडल उस राज्य के निर्वाचक गणों के मत को प्रतिबिम्बित नहीं करते हैं क्योंकि हाल ही में हुए लोक सभा के निर्वाचन से यह मत प्रकट होता है कि उस राज्य के लोगों का उस कांग्रेस दल में विश्वास नहीं है जिसका राज्य में मंत्रिमंडल है । इस तर्क में यह दोष है कि यह आवश्यक नहीं है कि राज्य विधान मंडल के निर्वाचन में अन्तर्वलित मुद्दे वही हों जो संसद् के निर्वाचन के लिए हैं । राज्य विधान मंडल के निर्वाचन के लिए जो मुद्दे होते हैं वे प्राथमिक रूप से स्थानीय हित के होते हैं जब कि संसद् के निर्वाचन के लिए अखिल भारतीय विचार और दल की शक्ति पर ध्यान दिया जाता है । जून, 1977 में पश्चिमी बंगाल राज्य के विधान मंडल के लिए इसके बाद जो निर्वाचन हुए उससे यह बात उपदर्शित होती है । लोक सभा के निर्वाचन के लिए जनता पार्टी को काफी मात्रा में मत मिले किंतु राज्य विधान सभा के निर्वाचन के लिए उसे मत अल्प मात्रा में मिले और साम्यवादी (मार्क्सवादी) दल विशाल बहुमत प्राप्त कर सका इसलिए यह प्रस्थापना की कि राज्य विधान सभा की बाबत राज्य के निर्वाचक गणों के मत संघ की संसद् के निर्वाचन में प्रतिबिम्बित मत के आधार पर निर्धारित किए जाने चाहिए, तर्क शुद्ध नहीं है ।[7]

इसके विरुद्ध जैसा हम अनुच्छेद 355 के संबंध में कह चुके हैं कि यह सांविधानिक बाध्यता है कि वह यह सुनिश्चित करे कि राज्य की सरकार संविधान के अनुसार चलाई जा रही है और तदनुसार यदि संघ को अपने मूल्यांकन से ऐसा लगता है कि वह प्रतिनिधि सरकार नहीं है तो वह राज्य विधान सभा को विघटित कर सकता है । इस दलील में अनेकों दोष हैं[7] :

(क) यदि यह कथन सही है तो किसी भी राज्य विधान सभा के लिए कोई निर्वाचन कराना आवश्यक नहीं था क्योंकि इससे संघ सरकार के व्यक्तिपरक निर्धारण में परिवर्तन हो सकता था ।

(ख) दूसरे जब कोई विधान सभा संविधान के अनुसार सम्यक् रूप से निर्वाचित होकर संविधान द्वारा उपबन्धित सामान्य अवधि के अधीन समाप्त होने तक शक्ति में बनी रहती है तो चाहे संघ में कोई भिन्न दल शक्ति में आ गया हो तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि विधान सभा या उसके प्रति उत्तरदायी सरकार संविधान के उपबन्धों का उल्लंघन कर रही है और अनुच्छेद 355 के उपबन्धों का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

(ग) तीसरे, इंग्लैंड में भी विघटन करने की शक्ति, अब सम्राट का विशेषाधिकार नहीं रह गया है । यह एक सांविधानिक शक्ति है जिसका उपयोग सम्राट मंत्रिपरिषद् की सलाह पर करता है । अतएव अनुच्छेद 171(2)(ख) के अधीन राज्यपाल की शक्ति का प्रयोग राज्य के राज्यपाल द्वारा उस राज्य की मंत्रिपरिषद् की सलाह पर किया जाएगा क्योंकि यह उन शक्तियों में से नहीं है जिनके बारे में संविधान ने राज्यपाल को यह निदेश दिया है कि वह अपने विवेकानुसार उनका प्रयोग करे । यदि ऐसा है तो संघ की मंत्रिपरिषद् को यह शक्ति कहां से मिल जाती है कि वह अनुच्छेद 355-356 के माध्यम से राज्य के मंत्रिमंडल की शक्ति प्राप्त कर ले । इन सबके अतिरिक्त जब डा. अम्बेडकर ने यह कहा[6] कि अनुच्छेद 356 को सामान्यतया पुस्तक में बंद रहना चाहिए और इसका अवलम्ब तभी लिया जाना चाहिए जब और सब साधन समाप्त हो गए हों तो इस व्यक्तिपरक उपधारणा पर किं राज्य की विधान सभा राज्य के निर्वाचकगणों की राय प्रतिबिंबित नहीं करती है इस शक्ति का प्रयोग करना संविधान के निर्माताओं के उद्देश्यों का अतिलंघन करना है । पिछले 42 वर्षों में इसका प्रयोग 96 बार किया गया है और

इसलिए अब यह आवश्यक हो गया है कि अनुच्छेद 356 के प्रयोजनों और मर्यादाओं की पुनः परीक्षा की जाए ।

44वां संशोधन । इस अनुच्छेद में 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा (जिसे जनता सरकार ने किया था) एकमात्र संशोधन यह किया गया है कि खंड (5) को प्रतिष्ठापित करके अनुच्छेद 356 के अधीन की गई उदघोषणा की अवधि को एक वर्ष के लिए परिसीमित कर दिया गया है । इसका अपवाद तभी हो सकता है जब अनुच्छेद 352 के अधीन आपात की उद्घोषणा प्रवृत्त हो और निर्वाचन आयोग यह प्रमाणित करे कि तुरंत निर्वाचन करना संभव नहीं है । ऐसा होने पर संसद् के दोनों सदनों द्वारा उसके बने रहने के लिए उत्तरोत्तर संकल्प पारित करके यह अवधि तीन वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है ।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस संशोधन में दशाएं या परिस्थितियां विनिर्दिष्ट नहीं की गई हैं जिनमें अनुच्छेद 356 के अधीन शक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है । अतएव राजस्थान के विनिश्चय[2] के प्रकाश में जब श्रीमती इंदिरा गांधी ने फरवरी, 1980 में, जनता के प्रयोग को दोहराया तो उसे न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकी । कारण यह दिया गया कि उन राज्यों में उसी आधार पर लोक सभा के निर्वाचन में जनता पार्टी को मुंह की खानी पड़ी ।[8] लेखक ने इस बात के विस्तृत कारण दिए हैं कि क्यों 1977 में जो कार्य किया गया था वह सांविधानिक रूप से अमान्य था । इसी कारण से उसकी उत्तरवर्ती सरकार ने 1980 में जो किया वह भी आलोचनास्पद है ।[7-8]

वित्तीय आपात की उद्घोषणा । III. यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या प्रत्यय संकट में है तो वह उद्घोषणा द्वारा इस आशय की घोषणा कर सकेगा [अनुच्छेद 360(1)] ।

इस उद्घोषणा के परिणाम हैं,

(क) उस अवधि के दौरान जिसमें यह उद्घोषणा प्रवृत्त रहती है, संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को वित्तीय औचित्य संबंधी ऐसे सिद्धांतों का पालन करने के लिए निदेश देने तक होगा जो निदेशों में विनिर्दिष्ट किए जाएं ।

(ख) ऐसे किसी निदेश के अन्तर्गत, —

(i) किसी राज्य के कार्यकलाप के संबंध में सेवा करने वाले सभी या किसी वर्ग के व्यक्तियों के वेतनों और भत्तों में कमी की अपेक्षा करने वाला उपबंध,

(ii) धन विधेयकों या अन्य ऐसे विधेयकों को, जिनको अनुच्छेद 207 के उपबंध लागू होते हैं, राज्य के विधान मंडल द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखने के लिए उपबंध हो सकेंगे,

(ग) राष्ट्रपति, इस अवधि के दौरान, जिसमें अनुच्छेद के अधीन गई उद्घोषणा प्रवृत्त रहती है, संघ के कार्यकलाप के संबंध में सेवा करने वाले सभी या किसी वर्ग के व्यक्तियों के, जिनके अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश हैं, वेतनों और भत्तों में कमी करने के लिए निदेश देने के लिए सक्षम होगा [अनुच्छेद 360(3)-(4)] ।

ऐसी उद्घोषणा की अवधि आपात की उद्घोषणा के समान होगी अर्थात् यह सामान्यतया दो मास के लिए प्रवृत्त होगी जब तक कि उस अवधि के अवसान के पूर्व संसद् के दोनों सदनों द्वारा संकल्पों द्वारा उसे अनुमोदित न किया जाए । यदि पूर्वोक्त दो मास की अवधि के भीतर लोक सभा का विघटन हो जाता है तो उद्घोषणा उस तारीख से जिसको लोक

सभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, 30 दिन की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि उक्त 30 दिन की अवधि की समाप्ति से पहले उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोक सभा द्वारा पारित नहीं कर दिया जाता । राष्ट्रपति उद्घोषणा करने के पश्चात् किसी भी समय उसे वापस ले सकता है ।

नवंबर, 1992 तक अनुच्छेद 360 का कोई उपयोग नहीं किया गया ।

निर्देश

1. 1978 में अनुच्छेद 352 के संशोधन किए जाने से अब ऐसी आंतरिक अशांति के आधार पर आपात की उद्घोषणा नहीं की जा सकती जो सशस्त्र विद्रोह न हो ।
2. तुलना कीजिए *राजस्थान* राज्य बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1977 एस.सी. 1361 (पैरा 124, 144); *मिनर्वा मिल्स* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1789 (पैरा 103-104) ।
3. अनुच्छेद 356 से अनुच्छेद 20 और 21 को बचाने के लिए यह संशोधन 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा किया गया जिससे *ए.डी.एम.* बनाम *शुक्ला*, ए.आई.आर. 1976 एस.सी. 1207 में प्रकट किए गए इस मत का अध्यारोहण हो जाए कि जब अनुच्छेद 359 के अधीन आदेश द्वारा अनुच्छेद 21 का निलम्बन किया जाता है तो बंदी बनाए गए या निरुद्ध किए गए व्यक्ति को किसी भी आधार पर अपनी स्वतंत्रता पाने का कोई अधिकार नहीं होता ।
4. जिन कारणों से श्रीमती गांधी को यह लगा कि आंतरिक अशांति के कारण भारत की सुरक्षा संकट में है उसका अधिकारिक वर्णन देखिए, *इंडिया* 1976, पृष्ठ i-ii पर । यह उदघोषणा 21-3-1977 को वापस ली गई ।
5. *राजस्थान राज्य* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1977 एस.सी. 1361 (पैरा 58-59) ।
6. सी.ए.डी., IX, पृष्ठ 177 ।
7. यह तथ्य रोचक है कि इस पुस्तक के (अंग्रेजी के) दसवें संस्करण में पृ. 313 पर लिखित संप्रेक्षण के प्रकाशन के पश्चात् प्रधान मंत्री राजीव गांधी ने यह मत अभिव्यक्त किया था कि वह लोक सभा के निर्वाचन में हार जाने के आधार पर किसी राज्य सरकार से किसी दल के मंत्रिमंडल को नहीं हटाएंगे ।
8. राजस्थान के मामले में ए.आई.आर. 1977 एस.सी. 1361 (पैरा 147) में दो न्यायाधीशों ने यह मत अभिव्यक्त किया था कि जहां सत्तारूढ़ दल को लोक सभा के निर्वाचन में एक भी स्थान नहीं प्राप्त होता है वहां यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि राज्य की सरकार संविधान के अनुसार नहीं चलाई जा सकती क्योंकि संविधान में लोगों की सहमति पर आधारित लोकतांत्रिक सरकार की कल्पना की गई है । उन्होंने यह भी कहा कि किसी राज्य में लोक सभा के निर्वाचन में सत्तारूढ़ दल के हार जाने से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उस राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती ।

   1980 में सत्ता में आने पर श्रीमती गांधी की सरकार ने जैसे के लिए तैसा वाली नीति अपनाई और उन नौ राज्यों में जहां राज्य के लिए निर्वाचन में उनका दल हार गया था और दूसरे दल जीत गए थे विधान मंडलों का विघटन कर दिया । इस कार्य को करने में उन्हें उच्चतम न्यायालय के राजस्थान वाले निर्णय से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ । लेखक की राय में यह निर्णय गलत था । यह स्मरणीय है कि राजस्थान का निर्णय 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 356 में, खंड (5) के अन्तःस्थापित किए जाने के तथ्य से प्रभावित था । इस संशोधन द्वारा यह कहा गया था कि राष्ट्रपति का समाधान अंतिम और निश्चायक है और किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा । अब जब कि 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा खंड (5) का लोप कर दिया गया है तब न्यायिक पुनर्विलोकन पर इस अभिव्यक्त उपबंध के न रहने पर उच्चतम न्यायालय अपनी राय का पुनरीक्षण कर सकता है ।

   लेखक के दृष्टिकोण में अनुच्छेद 356 के भविष्य में पुनरीक्षण किए जाने पर उन आधारों को प्रगणित किए जाने का प्रयास किया जाना चाहिए जिन पर ऐसी प्रख्यापना की जाए या नहीं की जाए । ये आधार निःशेषकारी नहीं होंगे किंतु वे प्राधिकारियों का मार्गदर्शन करेंगे ।

भाग 7

प्रकीर्ण

26

सरकार और लोक सेवकों के अधिकार और दायित्व

संघ और राज्यों की संपत्ति ।

हमारे संविधान में संघ और राज्यों को विधिक व्यक्ति माना गया है जो संपत्ति के स्वामी हो सकते हैं, संपत्ति का अर्जन कर सकते हैं, संविदा कर सकते हैं, व्यापार और कारबार चला सकते हैं, विधिक कार्यवाही ला सकते हैं या विधिक कार्यवाही में प्रतिरक्षा कर सकते हैं वैसे ही जैसे कोई अन्य प्राइवेट व्यक्ति । यह सब उन्हीं उपान्तरों के अधीन होगा जो संविधान में विनिर्दिष्ट किए जाएं ।

संघ और राज्य अनेक प्रकार से संपत्ति अर्जित कर सकते हैं –

(क) *उत्तराधिकार* – मोटे तौर से संविधान के प्रारम्भ के समय जो संपत्ति, आस्तियां, अधिकार और दायित्व डोमिनियन आफ इंडिया के या गर्वनर के प्रांत के या देशी रियासत के थे वे संविधान के आधार पर, संघ को या तत्समान राज्य को प्राप्त हो गए [अनुच्छेद 294-295] ।

(ख) *स्वामीविहीन* – भारत के राज्यक्षेत्र में कोई संपत्ति जो यदि यह संविधान प्रवर्तन में नहीं आया होता तो, राजगामी या व्यपगत होने से या अधिकारवान् स्वामी के अभाव में स्वामीविहीन होने से, यथास्थिति, हिज मेजेस्टी को या देशी राज्य के शासक को प्रोद्भूत हुई होती, वह सम्पत्ति यदि राज्य में स्थित है तो ऐसे राज्य में और किसी अन्य दशा में संघ में निहित होगी [अनुच्छेद 296] ।

(ग) *समुद्र के नीचे की वस्तुएं* – भारत के राज्यक्षेत्रीय सागर खंड में समुद्र के नीचे की सभी भूमि, खनिज और अन्य मूल्यवान चीजें संघ में निहित होंगी [अनुच्छेद 297] ।

(घ) *विधि द्वारा अन्वेषण, अर्जन या अधिग्रहण* – संघ और राज्य के विधान मंडल दोनों ही विधि बनाकर संपत्ति का अन्वेषण, अर्जन या अधिग्रहण करने के लिए सक्षम हैं (7वीं अनुसूची की सूची 3, प्रविष्टि 42) ।

44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा अनुच्छेद 31(2) का लोप करके प्रतिकर देने की सांविधानिक बाध्यता समाप्त कर दी गई है ।

(ङ) *कार्यपालिका शक्ति के अधीन अर्जन* – भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार, अपनी-अपनी सरकार के प्रयोजन के लिए प्राइवेट व्यक्तियों के समान ही अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए क्रय करके या विनिमय द्वारा संविदा कर सकेगी और विक्रय या विनिमय द्वारा संपत्ति अर्जित कर सकेगी [अनुच्छेद 298] । किंतु किसी व्यक्ति की संपत्ति का अनिवार्य अर्जन करने के लिए उसे प्राधिकृत करने वाली विधि होनी आवश्यक है [अनुच्छेद 300क] ।

संघ और राज्य की सरकारें कोई भी व्यापार या कारबार करने के लिए उस प्रयोजन के लिए अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुए कोई संविदा करने के लिए सक्षम हैं । यह कारबार सक्षम विधान मंडल के द्वारा विनियमित किया जा सकेगा, अर्थात् यदि संघ सरकार राज्य सूची में सम्मिलित किसी विषय के संबंध में (उदाहरण के लिए कृषि) कारबार करती है तो यह कारबार राज्य विधान मंडल की विधायी अधिकारिता के अधीन होगा [अनुच्छेद 298 का परन्तुक (क)] ।

व्यापार करने की शक्ति ।

जब संघ या राज्य अपने द्वारा चलाए जाने वाले व्यापार या कारबार की बाबत विधान बनाते हैं तब उन सांविधानिक मर्यादाओं से उन्मुक्ति होती है जिनके वह अन्यथा अधीन होती । यदि कोई सामान्य विधि किसी नागरिक को किसी विशिष्ट कारबार के चलाने से पूर्णतः या भागतः अपवर्जित करती है तो अनुच्छेद 19(6) के अधीन ऐसी विधि की युक्तियुक्तता की परीक्षा की जाएगी । यदि राज्य किसी युक्तियुक्त औचित्य के बिना किसी प्राइवेट व्यापारी के पक्ष में कोई एकाधिकार का सृजन करता है तो न्यायालय ऐसी विधि को असांविधानिक ठहरा सकता है । किंतु यदि कोई विधि, व्यापारी के रूप में राज्य के पक्ष में कोई एकाधिकार का सृजन करती है, चाहे नागरिक उससे भागतः अपवर्जित हों या पूर्णतः[1], तो ऐसी विधि की युक्तियुक्तता को न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता [अनुच्छेद 19(6) का अपवाद (ii)] ।

संक्षेप में संघ या राज्य ने केवल व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं बल्कि ऐसे व्यापार की बाबत अपने पक्ष में एकाधिकार का सृजन भी कर सकते हैं । इसे सामान्यतः व्यापार का राष्ट्रीयकरण कहा जाता है ।[2]

धन उधार लेने की शक्ति ।

दोनों सरकारों की उधार लेने की शक्ति के बारे में हम पहले ही कह चुके हैं ।

जैसा बताया जा चुका है संघ और राज्य की सरकारों को प्राइवेट व्यक्तियों के समान ही अपनी-अपनी कार्यपालिका शक्ति के क्षेत्र में संविदा करने की शक्ति है । सरकार की यह संविदा शक्ति संविधान द्वारा अपेक्षित कुछ विशेष औपचारिकताओं के अधीन है । ये औपचारिकताएं उनके अतिरिक्त हैं जो भारत में की गई संविदाओं के लिए संविदा अधिनियम में अधिकथित हैं ।

सरकारी संविदाओं के लिए औपचारिकताएं ।

इन विशेष शर्तों को अधिरोपित करने का कारण यह है कि सरकार की संविदाओं में कुछ समस्याएं होती हैं जो प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा की गई संविदाओं में उत्पन्न नहीं होतीं । जैसे एक निश्चित प्रक्रिया होनी चाहिए जिसके अनुसार उसके अभिकर्ता संविदा करें, तभी सरकार संविदा से आबद्ध होगी । यदि ऐसा नहीं किया गया तो किसी भी लोक सेवक द्वारा छिपे तौर से की गई संविदा के कारण सार्वजनिक निधि का अपव्यय होगा । संघ या राज्य की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में की गई संविदाओं की औपचारिकता अनुच्छेद 299 में दी गई है । उनके अनुसार, —

(क) संविदा का निष्पादन, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा सम्यक्तः प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए,

(ख) संविदा का निष्पादन ऐसे व्यक्ति द्वारा, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल की ओर से किया जाना चाहिए,

(ग) संविदा, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा की गई कही जानी चाहिए ।

यदि इन शर्तों में से किसी का अनुपालन नहीं किया जाता है तो संविदा न तो सरकार पर आबद्धकर होगी और न सरकार के विरुद्ध प्रवर्तनीय होगी ।[3] जिस अधिकारी

ने अपनी व्यक्तिगत हैसियत में यह संविदा की थी उसके विरुद्ध वाद लाया जा सकता है ।

सामान्य न्यायालयों में प्राइवेट व्यक्ति की भांति वाद लाने के सरकार के अधिकार और उसके विरुद्ध वाद लाए जाने पर दायित्व के बारे में भी कुछ विशेष प्रतिबंध हैं ।

संघ और राज्य के विरुद्ध वाद ।

संविधान का अनुच्छेद 300(1) यह कहता है, –

"भारत सरकार भारत संघ के नाम से वाद ला सकेगी या उस पर वाद लाया जा सकेगा और किसी राज्य की सरकार उस राज्य के नाम से वाद ला सकेगी या उस पर वाद लाया जा सकेगा और ऐसे उपबंधों के अधीन रहते हुए, जो इस संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों के आधार पर अधिनियमित संसद् के या ऐसे राज्य के विधान मंडल के अधिनियम द्वारा किए जाएं, वे अपने-अपने कार्यकलाप के संबंध में उसी प्रकार वाद ला सकेंगे या उन पर उसी प्रकार वाद लाया जा सकेगा जिस प्रकार, यदि यह संविधान अधिनियमित नहीं किया गया होता तो, भारत डोमिनियन और तत्स्थानी प्रांत या तत्स्थानी देशी राज्य वाद ला सकते थे या उन पर वाद लाया जा सकता था ।"

यह अनुच्छेद किसी वादहेतुक को जन्म नहीं देता किंतु यह केवल यह कहता है कि राज्य वाद ला सकता है और उस पर वाद लाया जा सकता है वैसे ही जैसे किसी विधिक व्यक्ति की दशा में होता है । यह उन सभी विषयों में किया जा सकेगा जिनमें यदि यह संविधान अधिनियमित नहीं किया गया होता तो वाद लाया जा सकता था । यह शक्ति समुचित विधान मंडल द्वारा बनाए गए अधिनियम के अधीन होगी । अभी तक ऐसा कोई विधान नहीं बनाया गया है । इसलिए राज्य के दायित्व के बारे में अधिष्ठायी विधि के लिए हमें संविधान के प्रारम्भ के पहले की विधि के बारे में निर्देश करना होता है ।

I. *वाद लाने का अधिकार*

भारत सरकार भारत संघ के नाम से वाद ला सकती है और राज्य सरकार अपने राज्य के नाम से वाद ला सकती है उदाहरणार्थ मुम्बई राज्य । कोई भी सरकार किसी प्राइवेट व्यक्ति या किसी अन्य सरकार के विरुद्ध वाद ला सकती है जैसे, संघ एक या अधिक राज्यों के विरुद्ध वाद ला सकता है, कोई राज्य किसी अन्य राज्य या संघ के विरुद्ध वाद ला सकता है [अनुच्छेद 131] । यह ध्यान देने योग्य है कि जब वाद किसी प्राइवेट व्यक्ति के विरुद्ध होता है तो वह वाद निम्नतम अधिकारिता रखने वाले न्यायालय में संस्थित किया जाता है । यह प्रक्रिया विधि के अनुसार है । दो सरकारों के बीच वाद सर्वोच्च अधिकरण में संस्थित किया जाता है अर्थात् उच्चतम न्यायालय में जिसे परिसंघ संबंधी वाद पर अनन्य आरम्भिक अधिकारिता है ।

II. *वाद के प्रति दायित्व*

इस विषय में संविदाजात दायित्व और अपकृत्य या सिविल दोष के विरुद्ध दायित्व के बीच विभेद करना होगा क्योंकि भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के समय से संविधान के प्रारम्भ होने तक यह भेद किया जाता रहा है और संसद् के विधान के अधीन रहते हुए, संविधान के अनुच्छेद 300 ने इस स्थिति को कायम रखा है ।

(क) *संविदा* – भारत में संविदा के मामले में ईस्ट इंडिया कंपनी, सैक्रेटरी आफ स्टेट या विद्यमान सरकार के विरुद्ध सीधे वाद लाना अनुज्ञात किया गया था । इंग्लैंड में ब्रिटिश प्रजा सम्राट के विरुद्ध *पिटिशन आफ राइट* देकर वाद लाती थी । भारत शासन

अधिनियम में सरकार को प्राइवेट व्यक्तियों से संविदा करने की शक्ति अभिव्यक्त रूप से दी गई और संविधान के अनुच्छेद 299(1) में तत्समान उपबन्ध करके इस स्थिति को बनाए रखा गया ।

अनुच्छेद 299 द्वारा विहित औपचारिकताओं के अधीन रहते हुए और कुछ कानूनी दशाओं में या परिसीमाओं के अधीन रहते हुए हमारे संविधान के अधीन राज्य का संविदाजात दायित्व वही है जो किसी व्यक्ति का संविदा की सामान्य विधि के अधीन होता है ।

(ख) *अपकृत्य* — विद्यमान विधि के अधीन राज्य का अपने सेवकों द्वारा किए गए अनुयोज्य दोषों के लिए क्या दायित्व है यह इतने सादे ढंग से नहीं कहा जा सकता जितना संविदा के बारे में कहा जाता है । यह विधि अनावश्यक रूप से जटिल हो गई है क्योंकि उसे क़ामन ला के अधीन ब्रिटिश सम्राट की स्थिति पर और सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थिति पर आधारित किया गया है । ये दोनों ही बहुत पुराने हैं और इतिहास और विधि में परिवर्तन होने के कारण मानने योग्य नहीं हैं ।

इंग्लैंड में भी क्राऊन प्रोसीडिंग्स ऐक्ट, 1947 द्वारा कामन ला की यह सूक्ति अधिक्रांत हो गई कि "राजा कोई अन्याय नहीं कर सकता" । किंतु तत्समान विधान के अभाव में भारत में न्यायालयों के पास उक्त सूक्ति पर आधारित राज्य की उन्मुक्ति के पुराने सिद्धांत पर आधारित निर्णयजनित विधि का अनुसरण करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं है ।

इस प्रकार भारत में विद्यमान विधि सरकार के प्रभुतासंपन्न और प्रभुताहीन कृत्यों में भेद करती है । प्रभुतासंपन्न कृत्यों के प्रयोग में सरकार द्वारा या उसके अधिकारियों द्वारा किए गए अपकृत्यों के लिए सरकार के विरुद्ध वाद नहीं लाया जा सकता ।

यह अभिनिर्धारित किया गया है कि, —

(*अ*) सरकार के प्रभुतासंपन्न कृत्यों के प्रयोग के दौरान किसी व्यक्ति को की गई क्षति के लिए सरकार के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं होगी, जैसे निम्नलिखित के लिए, —

(i) युद्ध के दौरान माल का अधिग्रहण, (ii) सेना के लिए सड़क बनाना या उसकी मरम्मत करना, (iii) न्याय प्रशासन, (iv) पुलिस अधिकारियों द्वारा अनुचित गिरफ्तारी, उपेक्षा या अतिचार, (v) विधान मंडल द्वारा अधिकारियों को अधिरोपित कृत्यों के अनुपालन में उनके द्वारा किए गए दोष, जब तक कि अधिनियम में ही वे परिसीमाएं या दशाएं विद्यमान न हों जिनके अधीन कार्यपालिक कृत्य किए जाने हैं अथवा सदोष कार्य को राज्य द्वारा अभिव्यक्त रूप से प्राधिकृत या अनुसमर्थित नहीं किया गया हो, (vi) अधिकारियों की उपेक्षा के कारण सरकार की अभिरक्षा से जंगम संपत्ति की हानि, (vii) सांविधिक कर्तव्य करते हुए किसी अधिकारी की उपेक्षा के कारण सरकार की अभिरक्षा से धन का सही स्वामी से भिन्न किसी व्यक्ति को संदाय किया जाना जहां ऐसे संव्यवहार से सरकार को कोई फायदा नहीं होता, उदाहरण के लिए जहां खजाना अधिकारी किसी कूटरचित चैक पर गलत व्यक्ति को धन का संदाय कर देता है क्योंकि उसने हस्ताक्षर की तुलना करने में अपने कानूनी कृत्य के पालन में उपेक्षा की थी ।

(*आ*) दूसरी ओर ऐसे संव्यंवहारों के अनुक्रम में लोक सेवकों द्वारा किए गए दोष के लिए सरकार के विरुद्ध वाद लाया जा सकेगा जहां कोई व्यापारी कंपनी या प्राइवेट व्यक्ति भी वह काम कर सकता था :

(i) किसी गोदी या रेल में नियोजित सरकार के सेवकों की उपेक्षा द्वारा होने वाली क्षति, (ii) सरकार और किसी प्राइवेट व्यक्ति के बीच किसी भूमि पर अधिकार के बारे में विवाद के दौरान प्राइवेट संपत्ति पर अतिचार या उसे पहुंचाई गई नुकसानी के लिए,

जो चाहे कानूनी शक्तियों के आभासी प्रयोग में ही क्यों न किए गए हों, (iii) विधि के विरुद्ध प्राप्त किए गए लाभ को लौटाने के लिए राज्य के विरुद्ध वाद उसी प्रकार किया जा सकता है जैसे प्राइवेट स्वामी के विरुद्ध । उदाहरण के लिए जहां सरकार उसके अधिकारियों द्वारा अभिगृहीत सम्पत्ति या धन को विधि के विरुद्ध अपने पास रखती है वहां ब्याज सहित उसकी वसूली के लिए वाद सरकार के विरुद्ध लाया जा सकता है, (iv) सरकार द्वारा प्रकाशित संकल्प से होने वाली मानहानि, (v) सरकार के किसी यान द्वारा की गई क्षति के लिए जहां ऐसा यान किसी प्रभुतासंपन्न कृत्य में[4] या किसी दुर्भिक्ष राहत कार्य में नहीं लगा हुआ था ।[5]

राज्य के प्रधान के विरुद्ध वाद ।

ऐतिहासिक कारणों से कुछ मामलों में राज्य को दायित्व से उन्मुक्ति है किंतु हमारे संविधान में किसी लोक सेवक को ऐसे शासकीय कृत्यों के लिए जो देश की सामान्य विधि के अधीन विधिविरुद्ध हैं कोई उन्मुक्ति नहीं दी गई है । इस नियम का अपवाद वह उन्मुक्ति है जो राज्य के अध्यक्षों को दी गई है अर्थात् राष्ट्रपति और राज्यपाल को ।[6] यह उनके पद पर रहते हुए किए गए सभी कार्यों के लिए है चाहे वे राजनीतिक हों या वैयक्तिक [अनुच्छेद 361] ।

राष्ट्रपति या राज्यपाल को अपने शासकीय कृत्य के लिए उन्मुक्ति ।

I. *शासकीय कृत्य* — राष्ट्रपति या राज्यपाल को अपने शासकीय कृत्यों के लिए दी गई उन्मुक्ति आत्यंतिक है किंतु यह राष्ट्रपति और राज्यपाल को व्यक्तिगत रूप से दी गई है । कोई अन्य व्यक्ति अपने विधिक दायित्व से इस आधार पर नहीं बच सकता कि वह कार्य राष्ट्रपति या राज्यपाल के आदेश के अधीन किया गया था ।[6]

राष्ट्रपति या राज्यपाल को विधिक कार्यवाही से उन्मुक्ति है और उनके विरुद्ध किसी न्यायालय में वाद नहीं लाया जा सकता । यह स्थिति उनके द्वारा किए गए या किए गए तात्पर्यित किसी कार्य के लिए या संविधान द्वारा या किसी विधि द्वारा दी गई शक्तियों के प्रयोग में [अनुच्छेद 361(1)] या उनमें अधिकथित कर्तव्यों के अनुपालन में की गई किसी संविदा [अनुच्छेद 299(2)] के लिए है । यद्यपि शासकीय शक्तियों के प्रयोग में किए गए असांविधानिक कार्य के लिए राष्ट्रपति पर अनुच्छेद 61 के अधीन महाभियोग चलाया जा सकता है और राष्ट्रपति राज्यपाल को पदच्युत कर सकता है किंतु न्यायालयों में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती ।

इस व्यक्तिगत उन्मुक्ति के नियम से यह निष्कर्ष निकलता है कि कोई न्यायालय राष्ट्रपति या राज्यपाल को किसी शक्ति का प्रयोग करने के लिए या किसी कर्तव्य का पालन करने के लिए विवश नहीं कर सकता । इसी प्रकार कोई न्यायालय उसे किसी शक्ति का प्रयोग करने से या किसी कर्तव्य का अनुपालन करने से विरत रहने के लिए भी विवश नहीं कर सकता । वह किसी न्यायालय द्वारा निकाली गई रिट या निदेश के अधीन नहीं है ।

राष्ट्रपति या राज्यपाल के सदोष शासकीय कृत्यों से व्यथित व्यक्ति को दो प्रकार के उपचार मिलते हैं, —

(i) जहां ऐसी कार्यवाहियां हो सकती हैं वहां वह सरकार के विरुद्ध समुचित कार्यवाही करे [अनुच्छेद 361(1) का परन्तुक 2] ।

(ii) लोक सेवक के विरुद्ध जिसने राष्ट्रपति या राज्यपाल का सदोष आदेश निष्पादित किया था । उसे ही आदेश की परिधि या अपकृत्य संबंधी सामान्य विधि के अधीन व्यथित व्यक्ति को, कुछ परिसीमाओं के अधीन रहते हुए उत्तर देना होगा ।

मंत्रियों की स्थिति ।

इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि संविधान ने राष्ट्रपति या राज्यपाल को उनके शासकीय कृत्यों के लिए व्यक्तिगत उन्मुक्ति प्रदान की है किंतु मंत्रियों को ऐसी कोई उन्मुक्ति नहीं है ।[6] किंतु मंत्रियों की विचित्र स्थिति के कारण, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल के शासकीय कृत्य के लिए न्यायालय में मंत्री को दायी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि शासकीय कृत्य राष्ट्रपति या राज्यपाल के नाम से किए जाते हैं । जैसा पहले बताया जा चुका है इस बारे में स्थिति इंग्लैंड से भिन्न है । इंग्लैंड में, सम्राट के प्रत्येक शासकीय कृत्य पर मंत्रियों के प्रतिहस्ताक्षर होते हैं और न्यायालय में मंत्री ही उत्तरदायी होता है । हमारे संविधान में मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व का सिद्धांत स्वीकार किया गया है, केन्द्र में भी और राज्य में भी । किंतु इंग्लैंड वाले अर्थ में विधिक उत्तरदायित्व नहीं अपनाया गया है । यहां ऐसी कोई अपेक्षा नहीं है कि राष्ट्रपति या राज्यपाल के कार्यों पर मंत्रियों के प्रतिहस्ताक्षर हों । इसके अतिरिक्त न्यायालय इस बात की जांच नहीं कर सकते कि राष्ट्रपति या राज्यपाल को मंत्री ने क्या सलाह दी थी । अतएव यह स्पष्ट है कि मंत्रियों की सलाह पर किए गए शासकीय कार्य के लिए मंत्री दायी नहीं होंगे । किंतु अपनी व्यक्तिगत हैसियत में किए गए अपराध के लिए उन्हें कोई उन्मुक्ति नहीं है ।[6]

पदावधि के दौरान व्यक्तिगत कार्य ।

II. *व्यक्तिगत कार्य* — राष्ट्रपति या राज्यपाल की अपनी पदावधि के दौरान किए गए अवैध व्यक्तिगत कार्यों के लिए उन्मुक्ति ऐसी अवधि के लिए ही परिसीमित है ।

(क) अपराध के लिए उनके विरुद्ध जब तक वे पद पर बने रहते हैं तब तक कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती । किंतु अवधि की समाप्ति पर, पदच्युत किए जाने पर या अन्यथा पदावधि के अवसान के पश्चात् ऐसी कार्यवाही किए जाने पर कोई रोक नहीं है ।[7]

(ख) सिविल कार्यवाहियों के बारे में ऐसी कोई उन्मुक्ति नहीं है किंतु संविधान ने एक प्रक्रियात्मक शर्त लगा दी है । राष्ट्रपति या राज्यपाल के विरुद्ध उनके व्यक्तिगत कार्यों की बाबत सिविल कार्यवाहियां की जा सकती हैं किंतु राष्ट्रपति या राज्यपाल को दो मास की लिखित सूचना देने के पश्चात् ।

लोक अधिकारियों की वाद-शक्यता ।

जैसा ऊपर कहा गया है संविधान में सरकारी सेवकों द्वारा अपनी शासकीय या व्यक्तिगत हैसियत में किए गए विधिविरुद्ध कार्यों के लिए व्यक्तिगत दायित्व के बारे में कोई विभेद नहीं किया गया है । संविधान में लोक सेवकों के दायित्व के बारे में केवल एक उपबंध है किंतु साधारण विधि में उनके शासकीय कार्यों के बारे में दायित्व के संबंध में कुछ शर्तें अधिरोपित की गई हैं क्योंकि उनकी स्थिति विचित्र सी है । इस बारे में विश्लेषण निम्न रूप में प्रस्तुत है : —

(i) *संविदा* : यदि सरकारी सेवक द्वारा अपने शासकीय हैसियत में की गई संविदा अनुच्छेद 299 में अधिकथित औपचारिकताओं के पालन में की गई है तो ऐसी संविदा की बाबत सम्पृक्त सरकार दायी होगी, वह अधिकारी नहीं जिसने संविदा निष्पादित की थी [अनुच्छेद 299(2)] । किंतु यदि संविदा अनुच्छेद 299(2) के निर्बन्धनों के अनुसार नहीं की गई है तो जिस अधिकारी ने उसका निष्पादन किया था वह उसके लिए विधिक रूप से दायी होगा चाहे उसने संविदा से कोई व्यक्तिगत फायदा न उठाया हो ।

(ii) *अपकृत्य* : जैसा ऊपर कहा गया है भारत में सरकार अपने प्रभुतासंपन्न कृत्यों

के लिए नुकसानी देने के लिए दायी नहीं है ऐसे मामलों में जिस अधिकारी के माध्यम से कार्य किया जाता है उसे भी पूरी उन्मुक्ति है । अन्य मामलों में सरकार के विरुद्ध और व्यक्तिगत रूप से अधिकारी के विरुद्ध भी कार्यवाही की जा सकेगी जब तक कि, —

(क) वह कार्य किसी अधिनियम द्वारा अधिरोपित कर्तव्यों के अनुपालन में सद्भावपूर्वक किए गए न हों ।

(ख) वह न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम, 1850 के अर्थान्तर्गत न्यायिक अधिकारी न हो । इस अधिनियम द्वारा न्यायिक अधिकारी को उसके शासकीय कृत्यों के निर्वहन के लिए कार्यों में सिविल कार्यवाही से पूर्ण उन्मुक्ति दी गई है ।[7]

किंतु किसी लोक अधिकारी के विरुद्ध संविदा या अपकृत्य में सिविल कार्यवाही के लिए जो ऐसे कार्य की बाबत हो जो लोक अधिकारी ने अपने शासकीय कृत्य में किए हों जा जिसका इस प्रकार किया जाना तात्पर्यित हो, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80-82 की प्रक्रिया संबंधी परिसीमाओं के अधीन होगी । इसमें यह शर्त भी है कि ऐसा वाद लाने के पहले दो मास की सूचना दी जानी चाहिए ।[2]

(iii) *अपराध* : लोक सेवक का आपराधिक दायित्व वही है जो सामान्य नागरिक का है । इसके अपवाद हैं, —

(क) न्यायिक कार्यों के लिए या न्यायिक आदेश के अनुसरण में किए गए कार्यों के लिए कोई दायित्व नहीं है (भारतीय दंड संहिता की धारा 77-78) ।[7]

(ख) न्यायिक अधिकारियों से भिन्न अधिकारी को भी ऐसे कार्यों के लिए उन्मुक्ति है जो विधि या तथ्य संबंधी किसी भूल के कारण सद्भावपूर्वक यह समझता था कि ऐसा करना विधि द्वारा आबद्धकर है (भारतीय दंड संहिता की धारा 76) ।[7]

(ग) जहां कोई लोक सेवक जिसे केन्द्र या राज्य सरकार द्वारा उसकी मंजूरी से ही अपने पद से हटाया जा सकता है किसी अपराध का अभियुक्त है जो अपने शासकीय कर्तव्य के निर्वहन में किया है या जिसका इस प्रकार किया जाना तात्पर्यित है तो कोई भी न्यायालय, यथास्थिति, केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार की पूर्व मंजूरी के बिना ऐसे अपराध का संज्ञान नहीं करेगा (दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197) ।[8]

(iv) ऐसे क्षेत्र में, जिसमें सैन्य विधि प्रवृत्त थी, व्यवस्था बनाए रखने या पुनःस्थापित करने के लिए किए गए कार्य के लिए संसद् उन्मुक्ति अधिनियम बनाकर ऐसे कार्यों को विधिमान्य बनाते हुए सम्पृक्त अधिकारियों को दायित्व से छूट दे सकती है [अनुच्छेद 34] ।

निर्देश

1. *नारायणप्पा* बनाम *मैसूर राज्य*, ए.आई.आर. 1960 एस.सी. 1073 (1078); *परभानी ट्रांसपोर्ट सोसाइटी* बनाम *आर.टी.ए.*, ए.आई.आर. 1960 एस.सी. 801 ।
2. *दारूका* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1979 एस.सी. 2711; *एक्सल वीयर* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1979 एस.सी. 25 (पैरा 24) ।
3. *भीकराज* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 118; *चौधरी* बनाम *मध्य प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 203; *उत्तर प्रदेश राज्य* बनाम *मुरारी*, (1971) 2 एस.सी.सी. 449 ।
4. *राजस्थान राज्य* बनाम *विद्यावती*, ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 933 (935); *कस्तूरी लाल* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 1039 ।
5. *श्याम सुंदर* बनाम *राजस्थान राज्य*, ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 890 (पैरा 21) ।

6. संविधान (41वां संशोधन) विधेयक, 1975 द्वारा अनुच्छेद 361 का संशोधन करके राष्ट्रपति, राज्यपाल या प्रधान मंत्री के विरुद्ध उनकी पदावधि समाप्त हो जाने के पश्चात् भी दाण्डिक कार्यवाही करने पर रोक लगाई जा रही थी किंतु 1977 में श्रीमती गांधी के पदत्याग करने के पहले यह विधेयक लोक सभा में पारित नहीं हो सका । परिणामस्वरूप, प्रधान मंत्री को अपने व्यक्तिगत कार्य के लिए कोई उन्मुक्ति नहीं है ।
7. डा. डी.डी. बसु की *कमेंट्री आफ दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया,* पांचवां संस्करण, जिल्द 5, पृष्ठ 453 ।
8. डा. डी.डी. बसु की *दंड प्रक्रिया संहिता,* 1973 (पृष्ठ 520) ।

27

सेवाएं और लोक सेवा आयोग

कुछ ऐसे विषय हैं जिन्हें सांविधानिक दस्तावेजों में स्थान नहीं दिया जाता किंतु हमारे संविधान में दिया गया है, इनमें से एक है लोक सेवाएं ।

संसदीय शासन तंत्र में सिविल सेवकों की स्थिति ।

हमारे संविधान के निर्माताओं ने कुछ ऐसे विषयों को सांविधानिक आधार प्रदान किया है जिसे अन्य संविधानों में सामान्य विधान और प्रशासनिक विनियमों के लिए छोड़ दिया जाता है । यदि हम आधुनिक लोकतंत्रात्मक शासन में लोक सेवकों के महत्व की ओर समुचित रूप से दृष्टिपात करें तो इसका कारण स्पष्ट हो जाएगा ।

संसदीय शासन प्रणाली का एक ध्यान देने योग्य लक्षण यह है कि प्रशासन की नीति का निर्धारण विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्री ही करते हैं कितु देश का प्रशासन वास्तव में अधिकारियों के एक विशाल समूह द्वारा चलाया जाता है जिनका राजनीति से कुछ लेना देना नहीं होता है । राजनीति शास्त्र की भाषा में अधिकारी ही "स्थायी" कार्यपालिका बनाते हैं जब कि मंत्री "राजनीतिक" कार्यपालिका बनाते हैं । राजनीतिक कार्यपालिका विधान मंडल में बहुसंख्यक दल द्वारा चुनी जाती है और जैसे ही उस दल का बहुमत समाप्त हो जाता है वह पद त्याग देती है । स्थायी कार्यपालिका की नियुक्ति दूसरे प्रकार से होती है और यह आवश्यक रूप से सत्तारूढ़ दल का भाग नहीं होती। राजनीति के प्रति तटस्थ रहते हुए यह प्रशासन में निरंतरता बनाए रखती है । यही सिविल सेवाओं का लक्षण है जो स्थायी कार्यपालिका गठित करते हैं और इसी प्रकार उन्हें कार्य करने में दक्षता प्राप्त होती है साधारणतः मंत्री प्रशासन की तकनीक का विशेषज्ञ होने का और प्रशासनिक विभागों के ब्यौरे जानने का दावा नहीं कर सकता किंतु सिविल सेवकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सरकार के कार्यकरण के विशेषज्ञ हों । स्थायी सिविल सेवकों की सहायता से प्रशासन चलाने की प्रणाली में एक अंतर्निहित दोष यह है कि वे लाल फीता और नेमी बातों से बंधे रहते हैं और नए विचारों को अपनाने के लिए उनमें उत्साह नहीं होता । राजनीतिक कार्यपालिका विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होती है इसलिए उसे नए विचार आते रहते हैं किंतु इस अंतर्निहित दोष के होते हुए भी संसदीय शासन प्रणाली में सिविल सेवकों का होना अपरिहार्य है ।

भारतीय सांविधानिक सुधारों पर संयुक्त प्रवर समिति ने ये संप्रेक्षण किए थे —

"व्यवहार में सफल होने के लिए उत्तरदायी शासन प्रणाली में एक सक्षम और स्वतंत्र सिविल सेवा का होना आवश्यक है जिसमें ऐसे व्यक्ति हों जो एक के बाद एक मंत्रिमंडलों को अपने-अपने दीर्घकालिक प्रशासनिक अनुभव के आधार पर सलाह दे सकें । सदाचरण करते रहने पर अपनी स्थिति के बारे में वे सुनिश्चित रहें । उनसे यह अपेक्षा होगी कि वे उसी नीति को क्रियान्वित करें जो सरकार और विधान मंडल निस्चित करें ।"

कारण यह है कि आधुनिक युग में सरकार चलाना कला नहीं है । यह एक विज्ञान है इसलिए यह विशेषज्ञों का काम है । अतएव यह काम सरकारी सेवकों की उस विशाल सेना को सौंप दिया गया है जिन्होंने सरकार को चलाने के काम को अपनी वृत्ति के रूप में अपनाया है । इनसे छुटकारा नहीं पाया जा सकता इसलिए आधुनिक लोकतंत्र की एक समस्या यह है कि उन्हें प्रजातांत्रिक प्रणाली को अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) में परिणत करने से रोका जाए । इसका उपचार यह नहीं है कि विधान मंडल सरकार के कामकाज को अपने हाथ में ले लें । प्राचीन राज्यों में जो प्रत्यक्ष लोकतंत्र था वह आधुनिक दशाओं में कर पाना असंभव है । इसका यह उपचार भी नहीं है कि मंत्री या विभागों के राजनीतिक अध्यक्ष प्रशासन का वास्तविक कार्य अपने हाथ में ले लें । प्रशासन का वास्तविक कार्य नीति निर्धारण से भिन्न है । जैसा हम पहले बता चुके हैं यह कार्य तकनीकी तो है ही वह भीमकाय भी है । यदि मंत्री दैनिक प्रशासन के ब्यौरों की बात में जाएंगे तो वे अन्य व्यापक महत्व की बातों को और राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों को अपनी दृष्टि से ओझल कर देंगे ।

विषय जिनके विनियमन की आवश्यकता है ।

इस समस्या के उचित समाधान के लिए एक-दो सही व्यक्तियों का चयन होना चाहिए जो न केवल दक्ष हों बल्कि ईमानदार भी हों और जिन पर यह विश्वास किया जा सकता है कि वे अपनी स्थिति का दुरुपयोग नहीं करेंगे और बिल्कुल निष्पक्ष बने रहेंगे क्योंकि उनका अपना कोई व्यक्तिगत या राजनीतिक झुकाव नहीं है तथा तत्समय शासनारूढ़ सरकार द्वारा बनाई नीतियों को निष्ठापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए तत्पर रहेंगे । दूसरे उन्हें अनुशासन में रखा जाना चाहिए जिससे कि वे अपने नियोजक से अर्थात् राज्य से उचित संबंध बनाए रखें । तीसरे यह सुनिश्चित होना चाहिए कि अनुशासन के नियमों को भंग करने पर उन पर समुचित विभागीय कार्यवाही की जाती है और विधि को भंग करने पर वे उत्तर देने के लिए न्यायालयों के समक्ष लाए जा सकते हैं । जब एक बार राज्य के हितों को सुनिश्चित कर लिया जाएगा तब यह आवश्यक होगा कि ऐसे लोक सेवकों की पदावधि भी सुनिश्चित हो जो पूर्वगामी सिद्धांतों का उल्लंघन नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि सर्वोत्तम गुणों वाले लोग तब तक आकर्षित नहीं होंगे जब तक कि शक्ति का प्रयोग करने वाले वरिष्ठ अधिकारियों को पद से हटाने और अनुशासन संबंधी मनमानी कार्यवाही के विरुद्ध युक्तियुक्त प्रतिभूति न हो ।

ये सभी उद्देश्य तभी प्राप्त किए जा सकते हैं जब कुछ निश्चित नियम हों और समुचित रक्षोपाय भी हों । इन्हें मोटे तौर से लोक सेवकों की सेवा की शर्तें कहा जाता है और हमारे संविधान में उसके आधारभूत सिद्धांतों को अधिकथित किया गया है ।

सेवा की शर्त विहित करने की शक्ति ।

हमारे संविधान में लोक सेवा से संबंधित प्रत्येक मामले के बारे में ब्यौरेवार उपबंध नहीं किए गए हैं । संविधान के निर्माताओं ने यह अनुभव किया कि यह व्यवहारिक नहीं होगा और इसलिए संघ और राज्यों के लोक सेवकों की भर्ती और सेवा की शर्तों को समुचित विधान मंडल द्वारा अधिनियमों द्वारा विनियमित किए जाने के लिए छोड़ दिया गया । ऐसा विधान बनने तक ये विषय राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा संघ और राज्य की सेवाओं के संबंध में नियमों द्वारा विनियमित किए जाएंगे [अनुच्छेद 309] । यद्यपि कुछ अधिनियम पारित किए गए हैं जैसे अखिल भारतीय सेवा अधिनियम, 1951 किंतु इस क्षेत्र का अधिकांश भाग सरकार द्वारा बनाए गए नियमों से ही आच्छादित है । इनमें से कुछ तो संविधान के अधीन बनाए गए हैं और कुछ उसके पहले के विद्यमान नियम हैं (अर्थात्

भारत शासन अधिनियम के अधीन बनाए गए) जो समुचित प्राधिकारी द्वारा अतिष्ठित किए जाने तक प्रवृत्त रहेंगे । यह ध्यान देने योग्य है कि इस निमित्त बनाए गए कोई नियम या विधान मंडल का अधिनियम विधिमान्य नहीं होगा यदि उसके उपबन्ध संविधान के प्रतिकूल हैं । वस्तुतः देखा जाए तो हमारे न्यायालयों ने बहुत से सेवा नियमों को इस आधार पर शून्य घोषित किया है कि वे संविधान के किसी उपबंध का उल्लंघन करते हैं । उदाहरण के लिए यदि कोई नियम या आदेश सरकार को यह शक्ति देता है कि वह किसी सरकारी सेवक को सुनवाई का अवसर दिए बिना पदच्युत कर सकती है तो ऐसा नियम अनुच्छेद 311(2) की अपेक्षाओं का उल्लंघन करने के कारण असांविधानिक होगा और विखंडित किया जा सकेगा ।[2]

हमारे संविधान में दो विषयों के बारे में अधिष्ठायी उपबन्ध किए गए हैं वे हैं, –

(क) लोक सेवकों की पदावधि और उनके विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाही,

(ख) लोक सेवा आयोगों का गठन और उनके कृत्य । ये स्वतंत्र निकाय हैं जो सेवा से संबंधित महत्वपूर्ण विषयों पर सरकार को सलाह देते हैं ।

पदावधि ।

हमने ब्रिटिश प्रणाली से यह सूत्र-वाक्य ग्रहण किया है कि सभी सेवाएं सम्राट के प्रसादपर्यन्त होती हैं । हमारे संविधान में यह प्राथमिक रूप से घोषित किया गया है कि कोई भी व्यक्ति जो संघ या राज्य के अधीन कोई पद धारण करता है (सिविल या सैन्य) वह, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा [अनुच्छेद 310(1)] ।

प्रसादपर्यन्त सेवा ।

इसका यह अर्थ हुआ कि कोई भी सरकारी कर्मचारी किसी भी समय किसी भी आधार पर पदच्युत किया जा सकता है और इस प्रकार सदोष पदच्युति के आधार पर कोई वादहेतुक उत्पन्न नहीं होगा । इसका अपवाद वही होगा जहां पदच्युति संविधान में दिए गए रक्षोपायों के उल्लंघन में की गई हो, जैसा ऊपर बताया गया है ।

संविदा द्वारा मर्यादित नहीं किया जा सकता ।

किसी सरकारी सेवक को पदच्युत करने के सरकार के अधिकार पर किसी संविदा द्वारा बंधन नहीं लगाया जा सकता और यदि ऐसी कोई संविदा की जाती है तो वह संविधान के अनुच्छेद 310(1) के उल्लंघन में होने के कारण शून्य होगी । इस अनुच्छेद में प्रसादपर्यन्त सेवा का सिद्धांत समाविष्ट है । ये नियम अनुच्छेद 310(2) में विनिर्दिष्ट अपवाद के अधीन हैं अर्थात् यदि सरकार किसी तकनीकी कर्मचारी या विशेषज्ञ की, जो नियमित सेवाओं में नहीं है, सेवाएं प्राप्त करना आवश्यक समझती है तो वह विशेष संविदा कर सकेगी जिसके बिना ऐसे व्यक्ति का नियोजन सरकार के अधीन नहीं हो सकता । ऐसी दशा में यदि अवधि की समाप्ति से पहले उसकी सेवाओं का पर्यवसान कर दिया जाता है तो, संविदा में उपबंध होने पर, उसे प्रतिकर दिया जाएगा । किंतु ऐसी दशा में भी यदि संविदा की अवधि के भीतर कदाचार के आधार पर उसकी सेवाएं समाप्त की जाती हैं तो कोई प्रतिकर नहीं दिया जाएगा । प्रतिकर तभी संदेय होगा –

(क) यदि संविदा की अवधि के अवसान के पूर्व पद समाप्त कर दिया जाता है, या

(ख) यदि उस व्यक्ति से संविदा की अवधि के अवसान से पूर्व पद रिक्त करने की अपेक्षा की जाती है और इसका कारण कदाचार से जुड़ा हुआ नहीं है ।

प्रसाद के प्रयोग की मर्यादाएं ।

इंग्लैंड में सम्राट के प्रसाद पर कोई बंधन नहीं है किंतु भारत का संविधान इस प्रसाद को कुछ अपवादों और मर्यादाओं में बांधता है ।

अ. कुछ उच्च अधिकारियों की दशा में संविधान में

उनकी सेवाओं का पर्यवसान करने के लिए विनिर्दिष्ट प्रक्रिया अधिकथित है । जैसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, नियंत्रक-महालेखापरीक्षक, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश और मुख्य निर्वाचन आयुक्त को क्रमशः अनुच्छेद 124, 148, 218 और 324 में अधिकथित रीति से ही उनके पद से हटाया जा सकता है । ये पद इस साधारण नियम के अपवाद हैं कि सरकारी सेवक प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं ।

कुछ उच्च अधिकारियों के मामले में अपवाद ।

आ. अन्य सभी सरकारी सेवक, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं किंतु सिविल सेवकों की पदावधि की प्रतिभूति के रूप में दो प्रक्रियात्मक रक्षोपायों का उपबन्ध किया गया है । ये सैनिक कर्मचारियों से भिन्न हैं अर्थात्, —

सिविल सेवकों के लिए रक्षोपाय ।

(क) कोई भी सिविल सेवक उसकी नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी के अधीनस्थ किसी प्राधिकारी द्वारा पदच्युत नही किया जाएगा या पद से नहीं हटाया जाएगा । दूसरे शब्दों में यदि उसे सेवा से हटाया जाना है तो हटाए जाने के पहले उसकी नियुक्ति करने वाला प्राधिकारी या उसके तत्समान रैंक का कोई अधिकारी इस बात पर विचार करेगा । इस उपबन्ध का उद्देश्य [अनुच्छेद 311(1)] लोक सेवक को कनिष्ठ रैंक के अधिकारियों की मनमानी से बचाना है ।

(ख) संविधान ने जो अन्य प्रतिभूति दी है वह यह है कि किसी भी सिविल सेवक के विरुद्ध कोई पदच्युति का, हटाए जाने का या पंक्ति में अवनत किए जाने का आदेश तभी दिया जा सकेगा जब कि उसके विरुद्ध आरोपों की बाबत उसे सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दिया गया हो ।

अ. 1976 के पहले यह अवसर दो चरणों में दिया जाता था, — (क) आरोप की जांच के चरण पर, और (ख) जांच समाप्त हो जाने के पश्चात् जब कर्मचारी को आरोप का दोषी ठहराया जाए तब उसके पश्चात् प्रस्तावित शास्ति के विरुद्ध अभ्यावेदन करने का अवसर (अर्थात् पदच्युति, हटाया जाना, पंक्ति में अवनत किए जाने या निंदा के विरुद्ध) ।

आ. संविधान (42वें संशोधन अधिनियम, 1976) ने प्रस्तावित शास्ति के विरुद्ध अभ्यावेदन करने के कर्मचारी के अधिकार का लोप कर दिया है । किंतु यह रक्षोपाय अभी है ही कि जांच के चरण में दिए गए साक्ष्य के आधार पर ही प्रस्तावित शास्ति अधिरोपित की जा सकेगी । इसका परिणाम यह हुआ है कि 1976 के पूर्व के न्यायिक विनिश्चय[3] जिनमें यह कहा गया था कि अनुच्छेद 311(2) के अधीन अवसर दो चरणों में दिया जाना चाहिए, 42वें संशोधन द्वारा अतिष्ठित कर दिए गए हैं ।

अतएव, 1976 के संशोधन के पश्चात् "युक्तियुक्त अवसर" अभिव्यक्ति का यह अर्थ लगाया जाना चाहिए कि इसमें यह विवक्षा है कि सिविल सेवक के विरुद्ध कार्यवाही करने वाली सरकार या अन्य प्राधिकारी, —

(i) उसे आरोप से इंकार करने और अपना निर्दोष होना साबित करने का अवसर दे । यह तभी हो सकता है जब कि उसे यह बताया जाए कि उसके विरुद्ध आरोप क्या हैं और किन अभिकथनों पर वे आरोप आधारित हैं,

(ii) उसे उन साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करके और स्वयं अपनी परीक्षा करके या प्रतिरक्षा की पुष्टि में किसी अन्य साक्षी की परीक्षा करके अपनी प्रतिरक्षा करने का अवसर दिया जाए ।

अतएव, प्राधिकारी को, (i) पूर्ण विशिष्टियों के साथ विनिर्दिष्ट आरोप लगाना होगा,

(ii) सम्बद्ध सरकारी सेवक को उन आरोपों की संसूचना देनी होगी, (iii) उन आरोपों का उत्तर देने का अवसर देना होगा, (iv) उसके उत्तर पर विचार करने के पश्चात् विनिश्चय करना होगा, और (v) अभियुक्त के विरुद्ध निष्कर्ष निकालने के पहले नैसर्गिक न्याय के नियमों का पालन करना होगा ।

जहां किसी कर्मचारी को अपने आचरण का स्पष्टीकरण करने के लिए पर्याप्त अवसर दिया जाता है किंतु वह जानबूझकर उस अवसर का फायदा नहीं उठाता वहां कोई जांच करना आवश्यक नहीं है ।[4] किंतु यह तब लागू नहीं होगा जब सरकार द्वारा निर्वाह भत्ता न दिए जाने के कारण वह जांच के लिए हाजिर नहीं हो सका है ।[5]

किन मामलों में अवसर दिया जाना चाहिए ।

यदि निम्नलिखित दो शर्तें पूरी हो जाती हैं तो जांच की जानी चाहिए और सुनवाई का अवसर दिया जाना चाहिए :

(i) कर्मचारी संघ की किसी सेवा का या किसी अखिल भारतीय सेवा का या राज्य की किसी सिविल सेवा का सदस्य है या संघ या राज्य के अधीन कोई सिविल पद धारण करता है ।

(ii) ऐसे कर्मचारी को पदच्युत किया जा रहा है या हटाया जा रहा है या पंक्ति में अवनत किया जा रहा है ।

पदच्युत किया गया व्यक्ति सरकार के अधीन पुनः नियोजन के लिए अपात्र हो जाता है किंतु हटाए गए व्यक्ति के साथ ऐसी कोई निरर्हता नहीं है ।[6] किंतु पदच्युति और हटाए जाने में दो तत्व सामान्य हैं, –

(क) दोनों शास्तियां इस आधार पर दी जाती हैं कि सरकारी सेवक का आचरण दोषयुक्त है या उसमें कोई कमी है ।

(ख) दोनों में परिणामस्वरूप शास्ति होती है जैसे वेतन भत्ता या पहले की गई सेवाओं के लिए अर्जित पेंशन के अधिकार का ज़ब्त किया जाना ।

पदच्युति, हटाया जाना और पंक्ति में अवनति क्या है ।

जब ऐसी कोई आत्यंतिक शास्ति नहीं होती है तो पदच्युति या हटाया जाना नहीं होता, अर्थात् जहां कोई सरकारी कर्मचारी को अनिवार्यतः सेवानिवृत्त किया जाता है[2, 7] और उस आदेश के साथ कोई अन्य दंड नहीं है ।[8]

उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय से यह प्रकट होता है कि[9] अधिकारी के सेवा समाप्त करने वाले आदेश में वास्तव में जिस पद्धति का प्रयोग किया गया है वह निश्चायक नहीं है । यदि आदेश दंड के परिणामस्वरूप है तो यदि उसमें "सेवोन्मुक्त" या 'छंटनी' शब्दों का प्रयोग किया गया है तो भी वह पदच्युति या हटाया जाना होगा ।

अनुच्छेद 311(2) को लागू करने के लिए सेवा का पर्यवसान सिविल सेवा की इच्छा के विरुद्ध होना चाहिए । अतएव सेवा के पर्यवसान के निम्नलिखित आदेशों को पदच्युति या हटाया जाना नहीं माना गया है :

(क) नियोजन की संविदा के निर्बन्धनों के अनुसार पर्यवसान ।[10]

(ख) सरकारी सेवक को लागू सुसंगत विभागीय नियमों में समाविष्ट सेवा की शर्तों के अनुसार सेवा का पर्यवसान,[10-11] परन्तु यह तब जब कि ऐसी शर्तें संविधान के उपबंधों से असंगत न हों ।

(i) अधिवर्षिता या अनिवार्य सेवानिवृत्ति के लिए कोई आयु तय करना[12] और उसका प्रवर्तन ।[12]

पंक्ति में अवनति से अभिप्रेत है, अधिकारी की पंक्ति या प्रास्थिति में कमी किया जाना जो शास्ति के रूप में हों । इसके दो तथ्य होते हैं, – (क) भौतिक अर्थ में अवनति

अर्थात् नीचा किया जाना, (ख) ऐसा नीचा किया जाना या पदावधि शास्ति के रूप में हों ।

(क) भौतिक अर्थ में पंक्ति में अवनति तब होती है जब सरकारी सेवक किसी निम्नतर या निम्न वेतनमान में रख दिया जाए । वेतनमान में भी यदि उसे घटाकर निम्नतर प्रक्रम में रखा जाता है (शास्ति के रूप में) तो यह पंक्ति में अवनति होगी क्योंकि अधिकारी अपनी पंक्ति को खो देगा या अधिष्ठायी पंक्ति में ज्येष्ठता में अपना स्थान खो देगा ।

(ख) अवनति की आत्यंतिक प्रकृति के बारे में उच्चतम न्यायालय ने "पंक्ति के अधिकार" के परीक्षण को उसी प्रकार लागू किया है जैसा पदच्युति या हटाए जाने के मामले में "पद का अधिकार" परीक्षण लागू किया जाता है । पंक्ति में अवनति तभी लागू होती है जब किसी व्यक्ति का अधिष्ठायी रैंक घटा दिया जाता है । अतः

(i) जब किसी सरकारी सेवक को किसी विशिष्ट रैंक का अधिकार होता है तब उसके रैंक का नीचा किया जाना शास्ति के रूप में समझा जाएगा और अनुच्छेद 311(2) लागू होगा । जैसे,

किसी अधिकारी को जो अधिष्ठायी हैसियत में कोई स्थायी पद धारण करता है अनुच्छेद 311(2) का पालन किए बिना किसी निम्नतर पद पर अन्तरित नहीं किया जा सकता ।

(ii) यदि किसी सरकारी सेवक को नियोजन की संविदा या सेवा की शर्तों के अधीन किसी विशिष्ट पंक्ति का कोई हक नहीं होता है तो अनुच्छेद 311(2) के अर्थान्तर्गत पंक्ति की अवनति सामान्यतया नहीं होगी ।[13] उदाहरण के लिए जहां कोई व्यक्ति स्थानापन्न रूप से किसी उच्चतर पद पर पदोन्नत किया जाता है और बाद में अपने अधिष्ठायी पद पर वापस आ जाता है ।[14] किंतु ऐसे मामले में भी यदि वापस किया जाना दंड स्वरूप है जैसे भविष्य में प्रोन्नति के अवसरों को मुल्तवी करना या यदि आदेश में कोई कलंक है जिससे यह मालूम होता है कि यह दंड के रूप में है तो वापस करने का यह आदेश पंक्ति में अवनति समझा जाएगा और अनुच्छेद 311(2) लागू होगा । यदि इस प्रकार के दंड की कोई बात न हो तो प्राधिकारी के मंतव्य पर ध्यान नहीं दिया जाएगा ।[15]

अवसर देने की अपेक्षा के अपवाद ।

यह ध्यान देने योग्य है कि जब कोई भी पद धारण करने वाले किसी व्यक्ति को पदच्युत किया जाता है या हटाया जाता है या पंक्ति में अवनत किया जाता है तो तीन प्रकार के मामलों में कोई जांच या सुनवाई का अवसर देने की आवश्यकता नहीं है । ये तीन मामले ऐसे हैं जिनमें ऐसा न करने के कारण स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं, —

(क) जहां किसी व्यक्ति को ऐसे आचरण के आधार पर पदच्युत किया जाता है या पद से हटाया जाता है या पंक्ति में अवनत किया जाता है जिसके लिए आपराधिक आरोप पर उसे दोषसिद्ध किया गया है,

(ख) जहां किसी व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्ति में अवनत करने के लिए सक्षम प्राधिकारी का यह समाधान हो जाता है कि किसी कारण से जो उस प्राधिकारी द्वारा लेखबद्ध किया जाएगा यह युक्तियुक्त रूप से साध्य नहीं है कि ऐसी जांच की जाए, या

(ग) जहां राष्ट्रपति या राज्यपाल का यह समाधान हो जाता है कि राज्य की सुरक्षा के हित में यह समीचीन नहीं है कि ऐसी जांच की जाए [अनुच्छेद 311(2) का दूसरा परन्तुक] ।[16]

संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा सेवाओं से संबंधित सांविधानिक

विधि में क्रांतिकारी परिवर्तन किया गया है । इसके द्वारा संविधान में एक अनुच्छेद 323क अन्तःस्थापित किया गया है जिससे संघ और राज्य की लोक सेवाओं की भर्ती और सेवा की शर्तों से संबंधित विवादों का न्यायनिर्णयन सिविल न्यायालयों और उच्च न्यायालयों के हाथ से लेकर (यथास्थिति) संघ या राज्य के प्रशासनिक अधिकरणों के हाथों में सौंप दिया जाए । संविधान का यह उपबन्ध तभी प्रभावी होना था जब उसे संसद् की विधि द्वारा लागू किया जाता । संसद् ने 1985 में एक अधिनियम बनाया जिसे 2 अक्तूबर, 1985 को केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना करके लागू किया गया (इसकी विनिर्दिष्ट नगरों में भी शाखाएं हैं) ।

संविधान का अनुच्छेद 323क और प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 ।

प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 (1986 में यथासंशोधित) के अनुसार केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण संघ के क्रियाकलाप से संबद्ध लोक सेवाओं और पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती और सेवा आदि शर्तों की बाबत विवाद और परिवाद का न्यायनिर्णयन करेगा । इसके अपवाद निम्नलिखित हैं : —

(क) प्रतिरक्षा बलों के सदस्य ।

(ख) उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के अधिकारी और सेवक ।

(ग) संसद् या किसी राज्य या संघ राज्यक्षेत्र के विधान मंडल के सचिवालय के कर्मचारिवृन्द के सदस्य ।

इन प्रवर्गों को छोड़कर संघ का कोई भी लोक सेवक जो नियुक्ति, हटाए जाने या पंक्ति में अवनत किए जाने या इसी प्रकार के किसी विषय से व्यथित है अब अधिकरण से प्रशासनिक न्याय प्राप्त कर सकेगा न्यायालय से नहीं । अंतिम आश्रय के रूप में व्यथित व्यक्ति केवल एक ही न्यायालय में जा सकेगा अर्थात् उच्चतम न्यायालय में, अनुच्छेद 32 और 136 के अधीन ।

अतएव प्रशासनिक अधिकरण के विनिश्चयों को उच्चतम न्यायालय में ही चुनौती दी जा सकती है । उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 या 227 के अधीन हस्तक्षेप करने के लिए सक्षम नहीं हैं ।

संघ के लिए एक लोक सेवा आयोग होगा और प्रत्येक राज्य के लिए एक लोक सेवा आयोग होगा । यदि सम्पृक्त राज्यों के विधान मंडलों द्वारा पारित संकल्पों के अनुसरण में संघ की संसद् ऐसे संयुक्त लोक सेवा आयोगों का उपबंध करती है, तो दो या अधिक राज्यों के लिए एक संयुक्त लोक सेवा आयोग बनाया जा सकेगा । राष्ट्रपति के अनुमोदन से संघ लोक सेवा आयोग भी किसी राज्य के राज्यपाल के अनुरोध पर, राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है [अनुच्छेद 315] ।

संघ और राज्य के लिए लोक सेवा आयोग ।

लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या[17] और उनकी सेवा की शर्तें, (क) संघ या संयुक्त आयोग की दशा में राष्ट्रपति द्वारा और (ख) राज्य आयोग की दशा में राज्य के राज्यपाल द्वारा अवधारित की जाएंगी । परन्तु आयोग के किसी सदस्य की सेवा की शर्तें नियुक्ति के पश्चात् उसके लिए अलाभकर रूप में परिवर्तित नहीं की जाएंगी ।

आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति (क) संघ और संयुक्त आयोग की दशा में राष्ट्रपति द्वारा, और (ख) राज्य आयोग की दशा में राज्य के राज्यपाल द्वारा की जाएगी । आयोग के यथाशक्य आधे सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्होंने भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन दस वर्ष तक कोई पद धारण किया है [अनुच्छेद 316] ।

सदस्यों की नियुक्ति और पदावधि ।

आयोग के सदस्य की *पदावधि* संघ आयोग की दशा में पद ग्रहण करने की तारीख से 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने तक होगी और राज्य आयोग की दशा में या संयुक्त आयोग की दशा में 62 वर्ष की आयु[18] प्राप्त करने तक होगी । किंतु किसी सदस्य की पदावधि का निम्नलिखित रीति से इसके पहले पर्यवसान किया जा सकेगा :

(i) संघ या संयुक्त आयोग की दशा में राष्ट्रपति को संबोधित लिखित त्यागपत्र द्वारा या राज्य आयोग की दशा में राज्यपाल को संबोधित लिखित त्यागपत्र द्वारा ।

(ii) राष्ट्रपति द्वारा हटाए जाने पर — (क) यदि सदस्य दिवालिया न्यायनिर्णीत किया जाता है या अपनी पदावधि में अपने पद के कर्तव्यों के बाहर कोई सवेतन नौकरी करता है या राष्ट्रपति की राय में मानसिक या शारीरिक शैथिल्य से पीड़ित है, (ख) उच्चतम न्यायालय के प्रतिवेदन पर कदाचार के आधार पर — उच्चतम न्यायालय इस विषय में राष्ट्रपति द्वारा किए गए निर्देश पर जांच करेगा ।

राज्य आयोग की दशा में भी राष्ट्रपति ही उच्चतम न्यायालय को निर्देश कर सकता है और उच्चतम न्यायालय के प्रतिवेदन के अनुसरण से हटाने का आदेश दे सकता है । राज्यपाल को उच्चतम न्यायालय के प्रतिवेदन की प्राप्ति पर राष्ट्रपति के अंतिम आदेश के लम्बित रहने पर निलम्बित करने का अंतरिम आदेश पारित करने की शक्ति है [अनुच्छेद 317(1)-(2)] । यदि अनुच्छेद 317(1) के अधीन उच्चतम न्यायालय में निर्देश लंबित है तभी सदस्य की पदावधि समाप्त हो जाती है तो भी न्यायालय निर्देश का उत्तर देगा । निर्देश विफल नहीं होगा ।[19]

कोई सदस्य कदाचार का दोषी समझा जाएगा — (i) यदि वह भारत सरकार या राज्य सरकार की ओर से की गई किसी संविदा में सम्पृक्त या हितबद्ध है; या (ii) यदि वह ऐसी संविदा या करार के किसी लाभ में या उससे उद्भूत किसी फायदे या उपलब्धियों में भाग लेता है । यह किसी निगमित कंपनी के सदस्य के रूप में अन्य सदस्यों के साथ सम्मिलित रूप में प्राप्त फायदे को लागू नहीं होगा [अनुच्छेद 317(4)] ।

संविधान में लोक सेवा आयोग को कार्यपालिका से स्वतंत्र रखने के लिए कई तरीके अपनाए गए हैं, —

आयोग की स्वतंत्रता ।

(क) आयोग के अध्यक्ष और सदस्य को संविधान में विनिर्दिष्ट आधार पर और उसी रीति से पद से हटाया जा सकता है (ऊपर देखिए) ।

(ख) लोक सेवा आयोग के सदस्य की सेवा की शर्तों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिए अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा [अनुच्छेद 318 का परन्तुक] ।

(ग) आयोग का व्यय (यथास्थिति) भारत की या राज्य की संचित निधि पर भारित होगा [अनुच्छेद 322] ।

(घ) आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की सरकार के अधीन भावी नियोजन की बाबत कुछ निर्योग्यताएं हैं [अनुच्छेद 319] । अतः ऐसे सदस्य न रहने पर, —

आयोग के सदस्यों द्वारा ऐसे सदस्य न रहने पर पद धारण करने के संबंध में प्रतिषेध ।

(क) संघ लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी भी और नियोजन का पात्र नहीं होगा,

*(ख) किसी राज्य लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या अन्य सदस्य के रूप में अथवा किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त होने का पात्र होगा, किंतु भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी अन्य नियोजन का पात्र नहीं होगा,

(ग) संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष से भिन्न कोई अन्य सदस्य संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में या किसी राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त होने का पात्र होगा, किंतु भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी अन्य नियोजन का पात्र नहीं होगा,

(घ) किसी राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष से भिन्न कोई अन्य सदस्य संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या किसी अन्य सदस्य के रूप में अथवा उसी या किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त होने का पात्र होगा, किंतु भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी अन्य नियोजन का पात्र नहीं होगा ।

संक्षेप में सरकार के अधीन नियोजन के विरुद्ध संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की दशा में वर्जना आत्यंतिक है । राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या संघ अथवा राज्य आयोग के अन्य सदस्यों की दशा में लोक सेवा आयोग में उच्चतर पद पर नियोजन किया जा सकता है किंतु आयोग के बाहर नहीं ।

लोक सेवा आयोग सलाहकारी निकाय है ।[20]

संघ और राज्य लोक सेवा आयोगों के कर्तव्य निम्नलिखित हैं, —

(क) क्रमशः संघ की सरकार और राज्य की सरकारों में नियुक्ति के लिए परीक्षा का संचालन करना ।

लोक सेवा आयोगों के कृत्य ।

(ख) उसे निर्देशित किए गए किसी विषय पर तथा ऐसे किसी अन्य विषय पर जिसे, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्य का राज्यपाल समुचित आयोग को निर्देशित करे, परामर्श देना [अनुच्छेद 320] ।

(ग) संघ की या राज्य की सेवाओं के संबंध में या किसी स्थानीय प्राधिकारी या विधि द्वारा गठित अन्य निगमित निकाय या किसी लोक संस्था की सेवाओं की बाबत ऐसे अतिरिक्त कृत्य करना जो संसद् या राज्य विधान मंडल के अधिनियम द्वारा उपबन्धित किए जाएं । [अनुच्छेद 321] ।

(घ) राष्ट्रपति या राज्यपाल को प्रतिवर्ष, यथास्थिति, संघ या राज्य के आयोग द्वारा किए गए कार्य का प्रतिवेदन देना [अनुच्छेद 323] ।

(ङ) यदि संघ लोक सेवा आयोग के कोई दो या अधिक राज्य ऐसा करने का अनुरोध करते हैं तो उसका यह भी कर्तव्य होगा कि वह ऐसी किन्हीं सेवाओं के लिए, जिनके लिए विशेष अर्हताओं वाले अभ्यर्थी अपेक्षित हैं, संयुक्त भर्ती की स्कीमें बनाने और उनका प्रवर्तन करने में उन राज्यों की सहायता करे [अनुच्छेद 320(2)] ।

(च) यदि किसी राज्य का राज्यपाल संघ लोक सेवा आयोग से ऐसा करने का अनुरोध करता है तो वह राष्ट्रपति के अनुमोदन से उस राज्य की सभी या किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए सहमत हो सकेगा ।

यथास्थिति, संघ लोक सेवा आयोग या राज्य लोक सेवा आयोग से निम्नलिखित के विषय में परामर्श किया जाएगा, —

(क) सिविल सेवाओं में और सिविल पदों के लिए भर्ती की पद्धतियों से संबंधित सभी विषयों पर,

(ख) सिविल सेवाओं और पदों पर नियुक्ति करने में तथा एक सेवा से दूसरी सेवा में प्रोन्नति और अंतरण करने में अनुसरण किए जाने वाले सिद्धांतों पर और ऐसी नियुक्ति, प्रोन्नति या अंतरण के लिए, अभ्यर्थियों की उपयुक्तता पर,

(ग) ऐसे व्यक्ति पर जो भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार की सिविल

हैसियत में सेवा कर रहा है, प्रभाव डालने वाले सभी अनुशासनिक विषयों पर, जिनके अन्तर्गत ऐसे विषयों से संबंधित अभ्यावेदन या याचिकाएं हैं,

(घ) ऐसे व्यक्ति द्वारा या उसके संबंध में जो भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन या भारत में सम्राट के अधीन या किसी देशी राज्य की सरकार के अधीन सिविल हैसियत में सेवा कर रहा है या कर चुका है, इस दावे पर कि अपने कर्तव्य के निष्पादन में किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित कार्यों के संबंध में उसके विरुद्ध संस्थित विधिक कार्यवाहियों की प्रतिरक्षा में उसके द्वारा उपगत खर्च का, यथास्थिति, भारत की संचित निधि में से या राज्य की संचित निधि में से संदाय किया जाना चाहिए,

(ङ) भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार या भारत में सम्राट (ब्रिटिश) के अधीन या किसी देशी राज्य की सरकार के अधीन सिविल हैसियत में सेवा करते समय किसी व्यक्ति को हुई क्षतियों के बारे में पेंशन अधिनिर्णीत किए जाने के लिए किसी दावे पर और ऐसे अधिनिर्णय की रकम के बारे में प्रश्न पर, परामर्श किया जाएगा और इस प्रकार उसे निर्देशित किए गए किसी विषय पर तथा ऐसे किसी अन्य विषय पर जिसे, यथास्थिति, राष्ट्रपति या उस राज्य का राज्यपाल उसे निर्देशित करे, परामर्श देने का लोक सेवा आयोग का कर्तव्य होगा [अनुच्छेद 320(3)] ।

किन्तु, —

(i) संघ के क्रियाकलापों से संबंधित सेवाओं और पदों के संबंध में राष्ट्रपति या राज्य के सम्बन्ध में राज्यपाल उन विषयों को विनिर्दिष्ट करने वाले विनियम बना सकेगा जिनमें साधारणतया या किसी विशिष्ट वर्ग के मामले में या किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में लोक सेवा आयोग से परामर्श किया जाना आवश्यक नहीं होगा । ऐसे सभी विनियम समुचित विधान मंडल के समक्ष रखे जाएंगे और विधान मंडल उनमें उपांतर कर सकेगा ।

(ii) उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि लोक सेवा आयोग से विनिर्दिष्ट विषयों में परामर्श करने की सरकार की बाध्यता से ऐसे व्यक्ति को अधिकार प्राप्त नहीं होता जो संविधान द्वारा अपेक्षित समुचित आयोग से परामर्श किए बिना किए गए सरकार के किसी कार्य से प्रभावित होता है । न्यायालय ने इसका कारण यह दिया है कि संविधान द्वारा विहित परामर्श सरकार को अपचारी अधिकार के दोष के निर्धारण के विषय में सहायता देना है या विधिक व्यय के भुगतान के दावे के गुणागुण पर विचार में सहायता करना है । आयोग का यह कृत्य शुद्ध रूप से सलाह देने का है । यदि सरकार इन विनिर्दिष्ट विषयों में से किसी की बाबत आयोग से परामर्श नहीं करती है तो इस लोप के कारण सरकार का कृत्य अविधिमान्य नहीं होता और ऐसे कार्य से प्रभावित किसी व्यक्ति को ऐसी अनियमितता या लोप के आधार पर सरकार के विरुद्ध न्यायालय में कोई अनुतोष नहीं दिया जा सकता ।[21]

लोक सेवा आयोगों के प्रतिवेदन ।

जैसा हम पहले बता चुके हैं, संघ लोक सेवा आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह प्रतिवर्ष आयोग द्वारा किए गए कार्यों का एक प्रतिवेदन राष्ट्रपति को दे और राष्ट्रपति ऐसे प्रतिवेदन की प्राप्ति पर उन मामलों के संबंध में, यदि कोई हों, जिनमें आयोग की सलाह स्वीकार नहीं की गई है, ऐसी अस्वीकृति के कारणों को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन सहित उस प्रतिवेदन की प्रति संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा [अनुच्छेद 323(1)] । इसी प्रकार राज्य लोक सेवा आयोग का यह कर्तव्य है कि वह राज्यपाल को प्रतिवेदन दे और राज्यपाल प्रतिवेदन प्राप्त होने पर, उन मामलों के संबंध में, यदि कोई हों, जिनमें आयोग की सलाह स्वीकार नहीं की गई थी

ऐसी अस्वीकृति के कारणों को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन सहित उस प्रतिवेदन की प्रति राज्य के विधान मंडल के समक्ष रखवाएगा [अनुच्छेद 323(2)] ।

कहां तक आयोग की सलाह सरकार पर आबद्धकर है ।

जैसा पहले बताया जा चुका है लोक सेवा आयोग का कृत्य सलाहकारी है और संविधान में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जिसके अनुसार सरकार को आयोग की सलाह पर कार्य करना आबद्धकर हो ।[17] कारण यह है कि संसदीय शासन प्रणाली में देश के उचित प्रशासन के लिए मंत्रिमंडल उत्तरदायी है और उसका उत्तरदायित्व संसद् के प्रति है । इसलिए वे किसी अन्य निकाय की राय अपने पर आबद्ध करके अपने उत्तरदायित्व से छुटकारा नहीं पा सकते । इसका दूसरा पक्ष यह है कि सेवा आदि में भर्ती के संबंध में विशेषज्ञों की राय लेना मंत्रियों के लिए लाभकारी होगा । सर सैमुअल हो[22] ने भारत शासन अधिनियम, 1935 में लोक सेवा आयोग में इसके समानांतर उपबंधों का औचित्य बताते हुए कहा, —

> "अनुभव से यह पता चलता है कि यदि वे सलाहकारी हों तो उनका प्रभाव अधिक होगा । यदि उन्हें आज्ञापक शक्ति दे दी जाए तो इसमें खतरा यह है कि दो सरकारें बन जाएंगी ।"

साइमन आयोग[23] इस तथ्य के प्रति सजग था कि यदि मंत्रियों पर ही छोड़ दिया जाए तो वे अपने पद का उपयोग करके सेवाओं की दक्षता या न्यायोचित प्रशासन के स्थान पर अपने कुटुम्ब या जाति के हितों को बढ़ावा देंगे । सरकार द्वारा आयोग की सिफारिशों की उपेक्षा करने के विरुद्ध भारत शासन अधिनियम, 1935 में कोई रक्षोपाय नहीं था । ऐसे दुरुपयोग की संभावना को देखते हुए संविधान ने यह रक्षोपाय किया है कि आयोग की रिपोर्ट राष्ट्रपति या राज्यपाल के माध्यम से संसद् या राज्य विधान मंडल के समक्ष रखी जाएगी । जब प्रतिवेदन रखा जाएगा तब सरकार पर यह बाध्यता होगी कि वह यह बताए कि किस कारण से किसी विशिष्ट मामले में सरकार ने आयोग की सिफारिश अस्वीकार की थी । आयोग की सलाह अस्वीकार करने के लिए स्पष्टीकरण संसद् को दिए जाने की बाध्यता के कारण ऐसे मामले कम से कम होंगे । 1959-60 के लिए संघ लोक सेवा आयोग के दसवें प्रतिवेदन में अस्वीकार करने का केवल एक ही मामला था ।

इस रक्षोपाय के होते हुए भी कुछ लोगों ने यह आलोचना की कि सरकार कुछ युक्ति लगाकर अभी भी पक्षपात करती है —

(क) पक्षपात करने की एक प्रणाली है अस्थायी अवधि के लिए तदर्थ नियुक्ति करना । इसमें लोक सेवा आयोग से परामर्श नहीं किया जाता और बाद में जब वह व्यक्ति कुछ समय तक सेवा में रह चुकता है तब आयोग से उसकी नियुक्ति का अनुमोदन करने के लिए कहा जाता है । तब तक उस व्यक्ति को कार्य का अनुभव भी मिल जाता है और अपने वरिष्ठ अधिकारियों की सिफारिश भी मिल जाती है जिससे वह नए अभ्यर्थियों की तुलना में लाभप्रद स्थिति में होता है । उच्चतम न्यायालय ने तदर्थ नियुक्ति करने की इस पद्धति की भर्त्सना की है ।

(ख) जिस पद के लिए नियुक्ति की जाती है कभी-कभी उसके लिए तथाकथित अर्हताओं को भूतलक्षी प्रभाव से बदला जाता है जिससे वे नियुक्त किए गए व्यक्ति के लिए उपयोगी हो जाएं ।

(ग) एक और शिकायत यह है कि प्रतिवेदन बहुत विलम्ब से संसद् के समक्ष रखे जाते हैं । संविधान के अधीन यह अनुज्ञेय नहीं है । संविधान में यह स्पष्ट रूप से कहा

गया है कि आयोग का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्रपति या राज्यपाल को अपना प्रतिवेदन प्रतिवर्ष दे । अतएव प्रतिवेदन से संबंधित अवधि की समाप्ति के कुछ ही मास व्यतीत हो जाने पर प्रतिवेदन दिया जाना चाहिए । राष्ट्रपति या राज्यपाल का भी यह कर्तव्य है कि वह "ऐसे प्रतिवेदन की प्राप्ति पर" संसद् या विधान मंडल को प्रतिवेदन प्रस्तुत करे । कोई विनिर्दिष्ट समय सीमा अधिरोपित नहीं की गई है किंतु यह स्पष्ट है कि वार्षिक रिपोर्ट की प्राप्ति के पश्चात् यह कार्य यथासंभव शीघ्र होना चाहिए और इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि प्रतिवेदन प्राप्त होने के दो या तीन वर्ष बाद दो-तीन प्रतिवेदनों को इकट्ठा प्रस्तुत किया जाए । विधान मंडल के समक्ष प्रतिवेदन प्रतिवर्ष रखा जाना चाहिए और यदि राष्ट्रपति या राज्यपाल इसमें विलम्ब करते हैं तो समुचित विधान मंडल को प्रस्तुत करने में विलंब का स्पष्टीकरण मांगना चाहिए । यदि विधान मंडल ही सोता रहेगा तो समस्त संसदीय शासन दीर्घ निद्रा में निमग्न हो जाएगा और विधान मंडल की संवीक्षा का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा ।

अखिल भारतीय सेवाएं ।

सेवाओं के संबंध में जिस एक अन्य विषय के बारे में संविधान में उपबन्ध है वह है अखिल भारतीय सेवाओं का सृजन । ये अखिल भारतीय सेवाएं केन्द्रीय सेवाओं से भिन्न हैं । केन्द्रीय सेवाएं संघ की सेवाएं हैं जो अखिल भारतीय आधार पर पूरे देश में सेवा करने के लिए बनाई जाती हैं, उदाहरण के लिए भारतीय विदेश सेवा, भारतीय संपरीक्षा और लेखा सेवा, भारतीय सीमा-शुल्क और उत्पाद-शुल्क सेवा आदि । अखिल भारतीय सेवा अभिव्यक्ति एक तकनीकी अभिव्यक्ति है । इसे संविधान में भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा और ऐसी ही अन्य सेवाओं के लिए प्रयोग किया गया है[24] जिन्हें संविधान के अनुच्छेद 312 में उपबंधित रीति से इस प्रवर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है । उस अनुच्छेद में यह उपबन्ध है कि यदि राज्य सभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम से कम दो-तिहाई सदस्यों से समर्थित संकल्प द्वारा यह घोषित किया है कि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक या समीचीन है तो संसद् विधि द्वारा, संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन के लिए उपबन्ध कर सकेगी । इस प्रकार इस अखिल भारतीय सेवा का व्यवहार में यह परिणाम है कि उसके भर्ती की और सेवा की शर्तों का विनियमन केवल संघ की संसद् द्वारा ही हो सकेगा । यह ध्यान देने योग्य है कि संसद् ने इस शक्ति के आधार पर अखिल भारतीय सेवा अधिनियम, 1951 बनाया है और अब अखिल भारतीय सेवा के सदस्यों की सेवा की शर्तें, भर्ती, आचरण, अनुशासन और अपील आदि इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विनियमित होती हैं । इन नियमों में यह उपबंध है कि अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति और उनका नियंत्रण केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाएगा इसलिए ये सेवाएं राज्यों पर संघ के नियंत्रण का एक अतिरिक्त अभिकरण हैं क्योंकि इन सेवाओं के सदस्य ही राज्यों में महत्व के पदों पर नियुक्त किए जाते हैं ।

सिविल सेवकों के मूल अधिकार ।

I. अनुच्छेद 33 के अधीन संसद् को यह शक्ति है कि वह सैन्य बलों और पुलिस बलों के सदस्यों को लागू होने में मूल अधिकारों का उपांतरण कर सकती है । इसके अधीन रहते हुए संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकार सभी नागरिकों को प्राप्त हैं और लोक सेवक भी इसके अंतर्गत हैं ।[25]

II. इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सरकार का सिविल कर्मचारी मूल अधिकारों के संरक्षण का अर्थात् अनुच्छेद 14,[26] 15,[27] 16,[28] 19,[25] 20 आदि का वैसे ही हकदार है जैसे कि कोई अन्य नागरिक । इस प्रकार, —

जब सरकारी सेवक के विरुद्ध जांच का आदेश दिया गया था तब अनुशासनिक कार्यवाहियों से संबंधित दो नियम प्रवृत्त थे और जांच का आदेश ऐसे नियमों के अधीन दिया गया था जो अधिक कठोर और सरकारी सेवक के हितों के प्रतिकूल थे तो ऐसी कार्यवाहियां अनुच्छेद 14 का अतिलंघन करने के आधार पर विखंडित कर दी गईं। दूसरे शब्दों में यदि दो सरकारी सेवकों के विरुद्ध जो एकसी परिस्थिति में हैं, कार्यपालक प्राधिकारी के विवेकानुसार पर्याप्त रूप से भिन्न प्रक्रिया के अनुसार जांच करने का आदेश दिया जा सकता है[26] और ऐसे विवेक का प्रयोग किसी ऐसे सिद्धांत के अनुसार नहीं है जिसका जांच के प्रयोजन से कोई संबंध हो तो वह आदेश, जिसमें उपलब्ध दो मार्गों में से वह मार्ग चुना गया है जो आवेदक के लिए प्रतिकूल है, अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करेगा।[24]

III. अनुच्छेद 19 के अधीन लोक सेवक के अधिकारों पर निर्बन्धन खंड (2) से खंड (6) में विनिर्दिष्ट आधारों पर ही विनिर्दिष्ट किया जा सकता है और वह भी उसी सीमा तक जहां तक कि निर्बन्धन युक्तियुक्त हो।[25]

लोक सेवक को नागरिक के रूप में मूल अधिकार हैं किंतु राज्य को भी अनुच्छेद 309 के परन्तुक के अधीन सेवा की शर्तों का विनियमन करने की शक्ति है। राज्य के अधीन सेवा के हित में दक्षता, ईमानदारी, निष्पक्षता और अनुशासन आदि गुणों की आवश्यकता होती है। राज्य को यह सांविधानिक शक्ति है कि वह यह सुनिश्चित करे कि प्रत्येक लोक सेवक में ये गुण हैं और जिस व्यक्ति में यह गुण नहीं हैं उन्हें लोक सेवा में आने से निवारित करे। अतएव यह प्रतीत होता है कि लोक सेवक की सेवा की शर्तों का राज्य द्वारा विनियमन करके मूल अधिकारों को निर्बन्धित करना उस विस्तार तक विधिमान्य होगा जहां तक ऐसा निर्बन्धन दक्षता, ईमानदारी, निष्पक्षता, अनुशासन, उत्तरदायित्व और इसी प्रकार के हित में युक्तियुक्त रूप से आवश्यक हों। ये सब बातें ऐसी होनी चाहिए जिनका लोक सेवा की शर्तों से सीधा, निकट का और तर्कसंगत संबंध हो। इसके अतिरिक्त साधारण आधारों पर भी निर्बन्धन उसी प्रकार लगाए जा सकते हैं (जैसे अनुच्छेद 19 के अधीन लोक व्यवस्था) जैसे अन्य नागरिकों के अधिकारों पर।[25]

निर्देश

1. (1933-34) संयुक्त संसदीय समिति का प्रतिवेदन, जिल्द 1, पैरा 274।
2. *मोतीराम* बनाम *एन.ई.एफ.आर.*, ए.आई.आर. 1964 एस.सी. 600 (*610*); *वधवा* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1964 एस.सी. 423।
3. उदाहरण के लिए *खेम चंद* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 300; *भारत संघ* बनाम *वर्मा*, ए.आई.आर. 1957 एस.सी. 882।
4. *शाहदूल* बनाम *रजिस्ट्रार*, ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 1896।
5. *घनश्याम* बनाम *मध्य प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1183।
6. *अब्दुल सलाम* बनाम *सरफराज़*, ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 1064।
7. *मुंबई राज्य* बनाम *दोशी*, ए.आई.आर. 1957 एस.सी. 892।
8. *सक्सेना* बनाम *मध्य प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1264 (1266); *मुंबई राज्य* बनाम *नुरुल लतीफ*, ए.आई.आर. 1966 एस.सी. 269।
9. *पुरुषोत्तम* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 36।
10. *सतीश* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1953 एस.सी. 250।
11. *हार्टवेल* बनाम *उत्तर प्रदेश सरकार*, ए.आई.आर. 1957 एस.सी. 886।
12. *लक्ष्मण* बनाम *कर्नाटक राज्य*, ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 1646; *तारा सिंह* बनाम *राजस्थान राज्य*, ए.आई.आर. 1975 एस.सी. 1486।

13. *शीतला* बनाम *एन.ई.एफ. रेलवे,* ए.आई.आर. 1966 एस.सी. 1197; *मैसूर राज्य* बनाम *गदगोली,* ए.आई.आर. 1977 एस.सी. 1617 ।
14. *उत्तर प्रदेश राज्य* बनाम *सुगर,* ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 423; *भारत संघ* बनाम *गजेंद्र,* ए.आई.आर. 1972 एस.सी. 1329; *देवेश चन्द्र* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 77 ।
15. *बिहार राज्य* बनाम *शिव,* ए.आई.आर. 1971 एस.सी. 1011 ।
16. *भारत संघ* बनाम *तुलसीराम,* ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 1416 (पैरा 70) ।
17. 1991 में संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या 10 थी जिसमें अध्यक्ष सम्मिलित नहीं है ।
18. संविधान (41वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा 60 से बढ़ाकर 62 वर्ष किया गया ।
19. अनुच्छेद 317(1) के अधीन निर्देश का मामला, (1990) 4 एस.सी.सी. 262 ।
20. *डी सिल्वा* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 1130 ।
21. *उत्तर प्रदेश राज्य* बनाम *श्रीवास्तव,* ए.आई.आर. 1957 एस.सी. 912; *रामगोपाल* बनाम *मध्य प्रदेश राज्य,* ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 158 ।
22. 300 पार्लमेंट डिबेट्स, अध्याय 858 ।
23. साइमन कमीशन रिपोर्ट, जिल्द 1 ।
24. अखिल भारतीय सेवाओं की सूची में कुछ नई सेवाएं सम्मिलित की गई हैं, ये हैं भारतीय इंजीनियरी सेवा, भारतीय वन सेवा और भारतीय आयुर्विज्ञान सेवा [अखिल भारतीय सेवा (संशोधन) अधिनियम, 1963], भारतीय सांख्यिकी सेवा, भारतीय आर्थिक सेवा ।

    उच्चतम न्यायालय ने भारत सरकार को यह निदेश दिया है कि वह अखिल भारतीय न्यायिक सेवा की स्थापना के लिए कदम उठाए [*आल इंडिया जजेस एसोसिएशन* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1992 एस.सी. 165] ।
25. *कामेश्वर* बनाम *बिहार राज्य,* ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 1160; *घोष* बनाम *जोसेफ,* ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 812 ।
26. *उड़ीसा राज्य* बनाम *धीरेंद्र नाथ,* ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 1715; *जगन्नाथ* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य,* ए.आई.आर. 1961 एस.सी. 1245 ।
27. *पंजाब राज्य* बनाम *जोगिंदर,* ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 913 ।
28. *देवदासन* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1964 एस.सी. 179 (देखिए डा. डी.डी. बसु की *केसबुक आन इंडियन कांस्टिट्यूश्नल ला,* जिल्द 1, पृष्ठ 149) ।

28

निर्वाचन

निर्वाचन ।

संविधान में राष्ट्रपति[1] [अनुच्छेद 54] और उपराष्ट्रपति[1] [अनुच्छेद 66] के निर्वाचन की प्रक्रिया अधिकथित की गई है । संघ और राज्य विधान मंडलों के निर्वाचन की प्रक्रिया विधान द्वारा बनाए जाने के लिए छोड़ दी गई है । संविधान में इसके बारे में कुछ सिद्धांत बताए गए हं । ये सिद्धांत हैं, –

(क) सांप्रदायिक, पृथक् या विशेष प्रतिनिधित्व के लिए कोई उपबंध नहीं है । संसद् के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधान मंडल के लिए निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक साधारण निर्वाचक नामावली होगी और केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, या इनमें से किसी के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसी किसी नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र नहीं होगा [अनुच्छेद 325] ।

(ख) निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होंगे अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति जो भारत का नागरिक है और 18[2] वर्ष से कम आयु का नहीं है निर्वाचन में मत देने का हकदार होगा । परन्तु यह तब जबकि वह इस संविधान या समुचित विधान मंडल द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन अनिवास, चित्त विकृति, अपराध या भ्रष्ट या अवैध आचरण के आधार पर अन्यथा निरर्हित नहीं कर दिया जाता है [अनुच्छेद 326] ।

विधान मंडल की शक्ति ।

पूर्वोक्त सिद्धांतों के और संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए संघ की संसद् और राज्य के विधान मंडलों के सदनों के लिए निर्वाचन के संबंध में सभी विषयों से संबंधित विधि बनाने की शक्ति संघ की संसद् को है [अनुच्छेद 327, सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 72] । इस विषय में राज्य विधान मंडल को अनुषंगी शक्ति है । वह राज्य विधान मंडल से संबंधित निर्वाचन के अन्य विषयों पर उस सीमा तक विधान बना सकती है जहां तक ऐसे विषय संघ के विधान द्वारा आच्छादित नहीं हैं । दूसरे शब्दों में राज्य विधान मंडल द्वारा बनाई गई विधियां तभी विधिमान्य होंगी जब वे संसद् द्वारा बनाई गई विधि के विरोध में न हों । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वे संविधान के उपबंधों के विरुद्ध नहीं हो सकती [अनुच्छेद 328] । संसद् ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 और 1951 बनाए हैं तथा परिसीमन आयोग अधिनियम, 1962, 1972 बनाए हैं और इनसे निर्वाचन का ढंग विहित किया है तथा निर्वाचन से संबंधित निर्वाचन क्षेत्रों की रचना और उनका परिसीमन किया है ।

एक सदस्यीय प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र ।

इन अधिनियमों द्वारा विहित प्रक्रिया एक सदस्यीय प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान पर आधारित है । राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पद के निर्वाचन के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति विहित

की गई है किंतु संघ और राज्य के विधान मंडलों के निर्वाचन के लिए वह पद्धति नहीं अपनाई गई है ।

सदस्यों के निर्वाचन संबंधी विवादों का विनिश्चय ।

इतने बड़े पैमाने पर निर्वाचन में विवाद उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है । जिन बातों पर विवाद हो सकता है वे हैं, क्या निर्वाचन की प्रक्रिया का उचित रूप से अनुसरण किया गया था या क्या निर्वाचित अभ्यर्थी संविधान या विधि के अधीन किसी निरर्हता से ग्रस्त था या कोई अभ्यर्थी जिसे वास्तव में निर्वाचित घोषित किया जाना था इस प्रकार घोषित नहीं किया गया है । ऐसी बातों के विनिश्चय के लिए संविधान में यह उपबन्ध है [अनुच्छेद 329] कि देश के सामान्य न्यायालयों को कोई अधिकारिता नहीं होगी और निर्वाचन से संबंधित प्रश्न केवल निर्वाचन अर्जी के माध्यम से ही विधि में उपबंधित रीति से प्रस्तुत किया जाएगा ।

अनुच्छेद 329 में यह उपबंध है, —

"इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, —

(ख) संसद् के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधान मंडल के सदन या प्रत्येक के लिए कोई निर्वाचन ऐसी निर्वाचन अर्जी पर ही प्रश्नगत किया जाएगा, जो ऐसे प्राधिकारी को और ऐसी रीति से प्रस्तुत की गई है जिसका समुचित विधान मंडल द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन उपबंध किया जाए, अन्यथा नहीं ।"

1990 के अंत में यथाविद्यमान लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के अनुसार निर्वाचन अर्जी का विनिश्चय करने की शक्ति उच्च न्यायालय में है और इससे अपील उच्चतम न्यायालय को हो सकती है ।

42वां संशोधन ।

संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा अंतःस्थापित अनुच्छेद 323ख में समुचित विधान मंडल को यह शक्ति दी गई है कि वह विधान मंडल के निर्वाचन के संबंध में विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए विधि बनाकर अधिकरण की स्थापना कर सकेगी और ऐसी विधि में यह उपबंध कर सकेगी कि किसी न्यायालय को इस विषय में कोई अधिकारिता नहीं होगी (उच्चतम न्यायालय की अनुच्छेद 136 के अधीन अधिकारिता को छोड़कर) । संक्षेप में जब इस शक्ति के प्रयोग में कोई विधि बनाई जाती है तो निर्वाचन विवाद पर उच्च न्यायालय को कोई अधिकारिता नहीं होगी । यह विवाद विधि द्वारा स्थापित प्रशासनिक अधिकरण द्वारा अवधारित किए जाएंगे और ऐसे अधिकरण के विनिश्चय से अपील अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत लेकर उच्चतम न्यायालय में की जा सकेगी । 1990 की समाप्ति तक उच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करके अनुच्छेद 323ख को लागू करते हुए कोई प्रशासनिक अधिकरण स्थापित नहीं किया गया है ।

राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, और लोक सभा के अध्यक्ष के निर्वाचन संबंधी विवादों के लिए विशेष अधिकारिता ।

संविधान के अनुच्छेद 71 में राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित विवाद का न्यायनिर्णयन करने के लिए एकमात्र पीठ है उच्चतम न्यायालय । प्रधान मंत्री या लोक सभा के अध्यक्ष के लिए कोई विशेष उपबंध नहीं है इसलिए इन पदों के निर्वाचन के लिए विवाद का अवधारण अनुच्छेद 329ख के अनुसार उच्चतम न्यायालय के समक्ष निर्वाचन अर्जी द्वारा किया जाएगा ।

निर्वाचन आयोग ।

निर्वाचन की समस्त प्रक्रिया और तंत्र का अधीक्षण करने के लिए और कुछ अन्य अनुषंगी कार्यों के लिए, संविधान ने निर्वाचन आयोग के नाम से एक स्वतंत्र निकाय की स्थापना का उपबन्ध किया है

[अनुच्छेद 324] । निर्वाचन आयुक्त के हटाए जाने के लिए जो उपबंध हैं उसके कारण वह कार्यपालिका के नियंत्रण से स्वतंत्र हो जाता है और देश में सत्तारूढ़ दल के नियंत्रण से मुक्त निर्वाचन सुनिश्चित हो जाता है ।

प्रारंभ से निर्वाचन आयोग में केवल मुख्य निर्वाचन आयुक्त ही होता था । कांग्रेस (आई) सरकार ने नवें साधारण निर्वाचन के प्रारंभ होने के ठीक एक सप्ताह पहले 16 अक्तूबर, 1989 को दो और आयुक्त नियुक्त करके इसे बहु-सदस्यीय आयोग बना दिया (कुछ लोगों ने इसकी आलोचना करते हुए यह कहा कि जिस जल्दी में नए सदस्यों की नियुक्ति की गई उससे ऐसा आभास होता है कि आयोग की स्वतंत्रता कम करने का प्रयत्न किया गया है) । राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने सत्ता में आने पर नियमों का संशोधन करके आयोग को फिर से एक सदस्यीय बना दिया । नए नियम 2 जनवरी, 1990 को लागू हुए । निर्वाचन आयोग की सेवा की शर्तें और पदावधि वह होगी जो संसद् विधि द्वारा विहित करे । परन्तु मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उसके पद से उसी रीति से और उन्हीं आधारों पर हटाया जा सकेगा जिस रीति से और जिन आधारों पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जा सकता है । दूसरे शब्दों में मुख्य निर्वाचन आयुक्त को संसद् के प्रत्येक सदन द्वारा विशेष बहुमत से और साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर ही हटाया जा सकता है (अन्य निर्वाचन आयुक्तों को राष्ट्रपति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश पर ही हटा सकता है अन्यथा नहीं) ।

निर्वाचन आयोग को संसद् और राज्य विधान मंडल के सभी निर्वाचनों के लिए और राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचनों के लिए अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण की शक्ति होगी [अनुच्छेद 324(1)] ।

राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्श करके निर्वाचन आयोग की सहायता के लिए लोक सभा या राज्य विधान मंडल के साधारण निर्वाचन के पहले प्रादेशिक आयुक्त नियुक्त कर सकेगा [अनुच्छेद 324(4)] ।

निर्देश

1. देखिए अध्याय 11 ।
2. संविधान (61वां संशोधन) अधिनियम, 1989 द्वारा मतदान की आयु 21 से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई है । जम्मू-कश्मीर के संविधान में उस संविधान के 1989 में किए गए 21वें संशोधन द्वारा तत्समान उपबंध किया गया है ।

29

अल्पसंख्यक, अनुसूचित जातियां और जनजातियां

प्रारम्भ में ही हम यह बता चुके हैं कि हमारे संविधान में सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में समता और न्याय के आदर्श रखे गए हैं । संविधान में किसी भी वर्ग के विरुद्ध या उसके पक्ष में धर्म, मूलवंश या जन्म स्थान के आधार पर विभेद नहीं किया जा सकता । इस आदर्श के अनुसरण में हमारे संविधान ने विधान मंडल में या सरकारी पदों के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व या धर्म के आधार पर स्थानों का आरक्षण समाप्त कर दिया है ।

यदि हमारे संविधान के निर्माता इस सिद्धांत को तर्कसंगत ढंग से लागू करके समाज के उन अनुभागों की प्रगति के लिए विशेष उपबन्ध नहीं करते जो सामाजिक या आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं, तो यह उनकी भूल होती । यदि प्रारम्भ में पिछड़े हुए लोगों को सहायता न दी जाए तो लोकतांत्रिक राष्ट्र की प्रगति संभव नहीं हो सकती । (संविधान की उद्देशिका में प्रख्यापित) लोकतांत्रिक समता का सिद्धांत तभी काम कर सकता है जब पूरा राष्ट्र यथासंभव एक ही स्तर पर आ जाए । हमारे संविधान में पिछड़े अनुभागों को शेष राष्ट्र के समान स्तर पर लाने के लिए कुछ स्थायी अध्युपाय किए गए हैं और समाज के कुछ अनुभागों के सांस्कृतिक, भाषिक और इसी प्रकार के कुछ अन्य अधिकारों के संरक्षण के लिए कुछ स्थायी रक्षोपाय किए गए हैं । ये समुदाय के उस वर्ग के लिए हैं जो संस्था की दृष्टि से अल्पमत में हैं सांप्रदायिक दृष्टि से नहीं । इसका उद्देश्य यह है कि लोकतंत्र का उपयोग बहुसंख्यक लोगों द्वारा अत्याचार के लिए न किया जाए ।

अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए उपबंध ।

हमारे संविधान में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए जो उपबन्ध किए गए हैं उन पर विचार करते समय सर आइवर जैनिंग्स[1] की टिप्पणी पर, जो स्पष्ट रूप से अनुचित है, विचार करना आवश्यक है :

"भारतीय परिसंघ का जो सर्वाधिक विशेष लक्षण है वह यह है कि इसमें अल्पसंख्यकों के दावों की पूर्ण उपेक्षा की गई है । 1940 के पहले भारत को स्वतंत्रता देने के लिए जिन कारणों से इंकार किया जाता था उनमें से एक यह था कि धार्मिक और साम्प्रदायिक आधार पर लोग अलग-अलग दावे करते हैं । कांग्रेसी राजनीतिज्ञों ने जो राष्ट्रवादी थे, प्रतिक्रियास्वरूप अल्पसंख्यकों के हितों और भावनाओं को न्यूनतम महत्व दिया ।"

यह स्पष्ट है कि सर आइवर को तभी संतोष मिलता जब हमारे संविधान के रचयिता सत्ता के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का उपबन्ध करते । इस बात के होते हुए भी कि दो राष्ट्रों के नारे को आधार बनाकर सुनियोजित ढंग से नरसंहार किया गया और उसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ । यह बड़े दुख की बात है कि किसी अंग्रेज को यह बताया जाए कि भारत की राजनीतिक प्रणाली का साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व कोई ऐसा स्वाभाविक अंग नहीं था जिसे कांग्रेस के राष्ट्रवादी नेताओं ने बिना सोचे समझे काट

दिया । यह एक कृत्रिम अंग था जिसे हमारी राजनीति पर मोरले-मिंटो योजना ने सुधार के नाम पर थोप दिया था ।[2] भारत के इतिहास के निष्पक्ष अध्येता को यह मालूम है कि हमारे राजनीतिक जीवन में इस मानसिकता का बीज डालने के बाद कैसे साम्राज्यवादी शक्तियों ने भारतीय लोगों के बीच फूट डालने के लिए प्रत्येक अवसर का लाभ उठाते हुए उन्हें दो परस्पर शत्रु खेमों में विभाजित कर दिया और स्थिति को यहां तक पहुंचा दिया कि भारत को स्वतंत्रता देने से इंकार करने में उसे कारण बनाया जा सके । इस पृथकतावादी मनोवृत्ति से जो लोग आकर्षित हो सके वे मातृभूमि का विभाजन करके अपने लिए एक अन्य देश बनाने में सफल हो गए । यह उपधारणा की जानी चाहिए कि उसी समुदाय के जिन लोगों ने अपने जन्मस्थान में रहने का निर्णय किया वे उस देश के अन्य पुत्रों के साथ एक कुटुम्ब के सदस्य बनकर रहना स्वीकार कर चुके हैं और राजनीतिक क्षेत्र में विशेष व्यवहार के दावे को छोड़ चुके हैं । ऐसा करने पर ही उद्देशिका में जिस बंधुत्व के उद्देश्य को रखा गया है वह पूरा हो सकेगा और राष्ट्र की अंखडता सुरक्षित रह सकेगी ।

बहुसंख्यक समुदाय ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का किसी स्वार्थ की मनोवृत्ति से उत्सादन नहीं किया है । यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि आरक्षण के उत्सादन के होते हुए भी अल्पसंख्यक समुदाय के व्यक्ति राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मंत्री, राजदूत, राज्यपाल और वरिष्ठ न्यायालयों के न्यायाधीश के रूप में सर्वोच्च पदों पर इतनी संख्या में नियुक्त हुए हैं कि कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति यह देख सकता है कि कोई भेद नहीं किया गया है । इस आशंका का कोई युक्तियुक्त आधार नहीं है कि साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् निर्वाचक मंडलों के उत्सादन के कारण अल्पसंख्यक समुदाय के हितों का संरक्षण नहीं हुआ है या उनका विकास नहीं हुआ है ।

सर आइवर ने सभी अल्पसंख्यक समुदायों के हितों की रक्षा के लिए, चाहे वे धार्मिक हों, भाषिक हों या सांस्कृतिक हों, संविधान में समाहित धार्मिक, सांस्कृतिक और शिक्षा के रक्षोपायों का उल्लेख न करके वास्तव में अन्याय किया है । इनमें से कुछ संविधान के स्थायी अंग हैं और कुछ ऐसे हैं जो अस्थायी हैं किंतु तब तक प्रवृत्त रहेंगे जब तक पिछड़े हुए समुदाय राष्ट्र के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने में समर्थ न हो जाएं । तदनुसार अल्पसंख्यकों और पिछड़े वर्गों के रक्षोपायों पर दो शीर्षों के अधीन विचार किया जा सकता है ।

I. *स्थायी उपबन्ध*

धार्मिक स्वतंत्रता ।

(i) प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता प्रत्याभूत करने वाले उपबंध को अल्पसंख्यकों के पक्ष में किया गया रक्षोपाय कहना पूरी तरह से उचित नहीं है क्योंकि ये अधिकार सभी को उपलब्ध हैं । किंतु वे धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा करते हैं । इसकी हम पाकिस्तान के एक के बाद एक बनाए गए इस्लामी संविधानों से तुलना कर सकते हैं । हमारे संविधान में किसी भी धर्म को अग्रसर करने के लिए कोई उपबंध नहीं है । इससे किसी भी व्यक्ति के मस्तिष्क में कोई भी आशंका नहीं हो सकती ।

भाषिक और सांस्कृतिक अधिकारों की प्रत्याभूति ।

(ii) प्रत्येक राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी अनुभाग को जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा [अनुच्छेद 29(1)] । इसका यह अर्थ हुआ कि यदि कोई सांस्कृतिक अल्पसंख्यक हैं जो

अपनी भाषा या संस्कृति बनाए रखना चाहते हैं तो राज्य विधि द्वारा बहुसंख्यकों की या किसी स्थान की अन्य संस्कृति को उन पर अधिरोपित नहीं किया जा सकता । यह उपबन्ध धार्मिक अल्पसंख्यकों को भी संरक्षण देता है और भाषाई अल्पसंख्यकों को भी । राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के प्रोन्नयन से या अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ करके अनुच्छेद 29-30[3-4] द्वारा प्रत्याभूत अल्पसंख्यक समुदाय के भाषिक अधिकार को नहीं छीना जा सकता । वस्तुतः संघ और राज्य की सरकारें सरकार के खर्च पर मुसलमानों की भावनाओं की तुष्टि के लिए उर्दू का प्रोन्नयन करती रही हैं (देखिए आगे इसके बाद का अध्याय) ।

मातृ-भाषा में शिक्षा की सुविधाएं ।

(iii) संविधान में यह निदेश दिया गया है कि प्रत्येक राज्य भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा और राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि वह इस निमित्त राज्य को उचित निदेश दे ।

भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी ।

(iv) राष्ट्रपति भाषाई अल्पसंख्यकों के वर्गों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करेगा । यह अधिकारी संविधान के अधीन भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए उपबंधित रक्षोपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करेगा और राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन देगा [अनुच्छेद 350ख] ।

राज्य की शैक्षिक संस्थाओं में विभेद का न होना ।

(v) राज्य द्वारा पोषित या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा [अनुच्छेद 29(2)] । इसका अर्थ यह हुआ कि किसी नागरिक के विरुद्ध राज्य द्वारा वित्तपोषित या सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश के विषय में धर्म, मूलवंश, जाति या भाषा के आधार पर कोई विभेद नहीं किया जा सकता । यह एक बड़ा व्यापक उपबंध है जिसका आशय न केवल धार्मिक अल्पसंख्यकों को संरक्षण प्रदान करना है बल्कि स्थानीय या भाषाई अल्पसंख्यकों को भी । जैसे ही धर्म, जाति, मूलवंश, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर विभेद किया जाता है वैसे ही यह उपबन्ध आकृष्ट हो जाता है ।

मुम्बई की सरकार ने एक आदेश निकाला था जिसमें यह निदेश दिया गया कि कुछ अपवादों के अधीन रहते हुए, सरकार से सहायता पाने वाला कोई भी प्राथमिक या माध्यमिक विद्यालय केवल ऐसे विद्यार्थी को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाई करने वाली कक्षा में प्रवेश देगा जो नागरिकों के ऐसे वर्ग का है जिसकी भाषा अंग्रेजी है अर्थात् आंग्ल-भारतीय और गैर एशियाई उद्भव वाले नागरिक । एक भारतीय नागरिक को जो आंग्ल-भारतीय नागरिक नहीं था राज्य से सहायता पाने वाली एक शाला में उक्त आदेश के अनुसरण में प्रवेश नहीं दिया गया । उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अंग्रेजी माध्यम वाली शाला में इस विद्यार्थी को प्रवेश देने से इंकार करने का अव्यवहित आधार यह था कि उस विद्यार्थी की मातृभाषा अंग्रेजी नहीं थी । अतएव यह एकमात्र विद्यार्थी की भाषा के आधार पर ही अनुच्छेद 29(2) द्वारा प्रदत्त अधिकार से वंचित किया जाना था । यह तर्क दिया गया था कि वंचित करने का उद्देश्य शालाओं में हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना था किंतु न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 29(2) का उल्लंघन हुआ है या नहीं यह अवधारित करने के लिए यह उद्देश्य तात्विक नहीं है ।[4]

(vi) सभी अल्पसंख्यकों को चाहे वे धर्म पर आधारित हों या भाषा पर अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाएं स्थापित करने का और उनके प्रशासन का अधिकार होगा [अनुच्छेद 30(1)] । अनुच्छेद 29(1) अल्पसंख्यकों को अपनी भाषा या लिपि बनाए रखने का अधिकार देता है । वर्तमान खंड उन्हें अपनी शिक्षा संस्थाएं चलाने के लिए समर्थ बनाता है जिससे कि राज्य उन्हें ऐसी किसी संस्था में जाने के लिए विवश न करे जो उनकी रुचि की न हो ।

अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाएं स्थापित करने का अधिकार ।

1978 के संशोधन द्वारा ऐसी अल्पसंख्यक संस्थाओं को राज्य द्वारा संपत्ति के अनिवार्य अर्जन के लिए प्रतिकर के मामले में विशेष लाभकारी स्थिति प्रदान की गई है । अनुच्छेद 31 के निरसन के परिणामस्वरूप सभी व्यक्तियों का राज्य द्वारा संपत्ति के अर्जन के लिए प्रतिकर पाने का सांविधानिक अधिकार समाप्त कर दिया गया है । इसमें बहुसंख्यक समुदाय की शिक्षा संस्थाएं भी आती हैं किंतु अल्पसंख्यक समुदाय की शिक्षा संस्थाओं को इस स्थिति से बाहर रखा गया है । उनकी संपत्ति को प्रतिकर दिए बिना राज्य द्वारा अर्जित नहीं किया जा सकता । यदि ऐसा किया गया तो अनुच्छेद 30(1क) द्वारा प्रत्याभूत अधिकार का उल्लंघन होगा ।

(vii) शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है [अनुच्छेद 30(2)] ।

शिक्षा संस्थाओं को राज्य की सहायता देने में विभेद न किया जाना ।

धार्मिक, भाषिक या अन्य अल्पसंख्यक समुदायों की शिक्षा के लिए जो रक्षोपाय बनाए गए हैं उनकी परिधि को समझने के लिए हमें इन अधिकारों के संबंध में उच्चतम न्यायालय द्वारा विकसित प्रस्थापनाओं की ओर ध्यान देना होगा :

(क) प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय को न केवल अपनी शिक्षा संस्थाएं स्थापित करने का अधिकार है बल्कि अपने समुदाय के बालकों को अपनी भाषा में शिक्षा देने का अधिकार भी है ।[4]

(ख) हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है और अनुच्छेद 351 में राज्य को यह विशेष निर्देश दिया गया है कि वह हिंदी का प्रचार और प्रसार करे फिर भी अनुच्छेद 29 या 30 द्वारा प्रत्याभूत अधिकारों का उल्लंघन करके इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती ।[4]

(ग) प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करके [अनुच्छेद 45] ऐसी शिक्षा पाने के लिए विवश नहीं किया जा सकता जो केवल राज्य के स्वामित्वाधीन या राज्य द्वारा सहायता या मान्यता प्राप्त शालाओं में ही मिलती है । ऐसा करने से उस प्रत्याभूति का हनन हो जाएगा कि भाषाई अल्पसंख्यक समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति को अपने समुदाय द्वारा चलाई जाने वाली संस्थाओं में जाने का अधिकार है, किंतु वह किसी अन्य शाला में न जाए ।[3]

(घ) राज्य की सहायता पाने का कोई सांविधानिक अधिकार नहीं है किन्तु यदि राज्य शिक्षा संस्थाओं को सहायता देता है तो वह सहायता पाने के अधिकार पर ऐसी शर्तें अधिरोपित नहीं कर सकता जिनका परिणाम यह होगा कि धार्मिक या भाषिक समुदाय के सदस्य अनुच्छेद 30(1) के अधीन अपने अधिकार खो देंगे । राज्य को युक्तियुक्त शर्तें अधिरोपित करने का अधिकार है किंतु वह ऐसी शर्तें अधिरोपित नहीं कर सकता जिनसे अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रत्याभूत अल्पसंख्यक समुदाय के अधिकार छिन जाएं । राज्य द्वारा दी जाने वाली सहायता की कीमत के रूप में मूल अधिकारों का अभ्यर्पण नहीं कराया जा सकता । राज्य यह विहित नहीं कर सकते कि यदि कोई संस्था, जिसमें

अनुच्छेद 30(1) के संरक्षण की हकदार संस्था भी है, राज्य की सहायता चाहती है तो उसे स्वयं को इस शर्त के अधीन करना होगा कि राज्य उस संस्था का प्रबन्ध ले सकता है या अपने व्यक्तिपरक समाधान पर उस संस्था का समापन कर सकता है क्योंकि ऐसी शर्त से उस समुदाय के उस संस्था को चलाने का अधिकार पूर्णतः विनष्ट हो जाएगा ।

(ङ) इसी प्रकार राज्य द्वारा मान्यता के संबंध में स्थिति यह है कि किसी भी संस्था को राज्य द्वारा मान्यता पाने का कोई सांविधानिक अधिकार नहीं है और राज्य को यह हक है कि वह राज्य को मान्यता देने से पहले युक्तियुक्त शर्तें अधिरोपित कर सके, जैसे अर्हताओं के बारे में शर्त । किंतु वह ऐसी शर्त अधिरोपित नहीं कर सकता जिसके स्वीकार करने से अनुच्छेद 30(1) द्वारा अल्पसंख्यक समुदाय को प्रत्याभूत अधिकार एक प्रकार से छिन जाएं ।[3]

जहां राज्य के विनियमों द्वारा ऐसे विद्यार्थियों को जो बिना मान्यता वाली शिक्षा संस्थाओं में पढ़ते हैं उच्च शिक्षा पाने से या लोक सेवा में प्रवेश करने से वारित किया जाता है वहां अनुच्छेद 30(1) के अधीन संस्था स्थापित करने के अधिकार का राज्य की मान्यता के बिना प्रभावी रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता । ऐसी परिस्थितियों में राज्य मान्यता की पुरोभावी शर्त के रूप में यह अधिरोपित नहीं कर सकता कि वह संस्था प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षा के लिए कोई फीस न ले । यदि राज्य की विधि में या विनियम में इस बारे में कोई उपबंध नहीं है कि संस्थाओं को इस प्रकार होने वाली हानि की किस प्रकार भरपाई होगी और वे प्राथमिक कक्षा में ली जाने वाली फीस पर पूर्णतः आधारित हैं तो उनका बना रहना असंभव हो जाएगा ।[3]

(च) अनुच्छेद 30(1) के अधीन संरक्षित अल्पसंख्यक संस्थाएं ऐसे विनियम के अधीन हैं जो राज्य के शिक्षा प्राधिकारी कुशासन के निवारण के लिए और शिक्षा के उचित स्तर को बनाए रखने के लिए आवश्यक समझे ।[5] किंतु ऐसे विनियम उस विस्तार तक नहीं बनाए जा सकते कि जिससे अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रत्याभूत अधिकार प्रकारान्तर से विनष्ट हो जाएं ।[5]

लोक नियोजन में विभेद नहीं ।

(viii) लोक नियोजन के विषय में किसी भी व्यक्ति से मूलवंश, धर्म या जाति के आधार पर विभेद नहीं किया जा सकता [अनुच्छेद 16(2)] ।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के उद्धार के लिए उपबंध ।

(ix) संविधान ने साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व को समाप्त कर दिया है । उसमें भारत के निवासियों में से पिछड़े वर्ग को आगे लाने के लिए कुछ रक्षोपाय किए गए हैं (धर्म चाहे कुछ भी हो) जिससे देश का समग्र विकास हो सके । यह उपबंध सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के उस आश्वासन को पूरा करता है जो संविधान की उद्देशिका में है । इन पिछड़े वर्गों के बहुत बड़े अनुभाग को संविधान में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के रूप में विनिर्दिष्ट किया गया है क्योंकि इनका पिछड़ापन स्पष्ट है ।

अनुसूचित जातियां और जन-जातियां ।

संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की कोई परिभाषा नहीं है किंतु राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि वह प्रत्येक राज्य के राज्यपाल से परामर्श करके एक सूची बनाए । संसद् इस सूची का पुनरीक्षण कर सकती है [अनुच्छेद 341-342] । राष्ट्रपति ने भारत के विभिन्न राज्यों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों को विनिर्दिष्ट करते हुए आदेश निकाले हैं जिनमें संसद् के अधिनियमों द्वारा संशोधन भी किए गए हैं ।[6]

संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हितों की सुरक्षा के लिए विशेष उपबंध किए गए हैं जैसे,

क. अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष उपबंध।

(i) अनुसूचित जातियों और जनजातियों की उन्नति के लिए किए गए उपबंधों पर [अनुच्छेद 15(4)] अनुच्छेद 15 में अन्तर्विष्ट मूलवंश और इसी प्रकार के अन्य आधारों पर विभेद करने के विरुद्ध साधारण प्रतिबंध लागू नहीं होता है । इसका यह अर्थ हुआ कि यदि राज्य द्वारा इन जातियों और जनजातियों के सदस्यों के पक्ष में विशेष उपबंध किए जाते हैं तो अन्य नागरिक ऐसे उपबंधों की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप नहीं कर सकते कि वे उनके विरुद्ध विभेदकारी हैं ।

(ii) दूसरी ओर, भारत के राज्यक्षेत्र में अबाध संचरण और निवास करने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को प्रत्याभूत है किंतु अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों की दशा में राज्य उनके हितों की सुरक्षा के लिए विशेष निर्बन्धन अधिरोपित कर सकता है । उदाहरणार्थ, उनकी संपत्ति के अन्यसंक्रामण या विभाजन को रोकने के लिए राज्य यह उपबन्ध कर सकता है कि वे अपनी सम्पत्ति का अन्यसंक्रामण विनिर्दिष्ट प्रशासनिक प्राधिकारी की सहमति से विशेष दशा में ही कर सकेंगे अन्यथा नहीं [अनुच्छेद 19(5)] ।

(iii) संघ या राज्य के क्रियाकलापों से संबंधित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियां[7] करने में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों के दावों को प्रशासन की दक्षता बनाए रखने के लिए संगति के अनुसार ध्यान में रखा जाएगा [अनुच्छेद 335] ।

(iv) अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए एक आयोग[8] होगा जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करेगा [अनुच्छेद 338] । विशेष अधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए इस संविधान के अधीन उपबंधित रक्षोपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करे और उन रक्षोपायों के कार्यकरण के संबंध में ऐसे अन्तरालों पर जो राष्ट्रपति निर्दिष्ट करे, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे और राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा । संघ और प्रत्येक राज्य सरकार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को प्रभावित करने वाले सभी महत्वपूर्ण नीतिगत विषयों पर आयोग से परामर्श करेगी ।

(v) राष्ट्रपति राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए आयोग की नियुक्ति, आदेश द्वारा, किसी भी समय कर सकेगा और इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति पर करेगा । आदेश में आयोग की संरचना, शक्तियां और प्रक्रिया परिनिश्चित की जा सकेगी और उसमें ऐसे आनुषंगिक या सहायक उपबन्ध समाविष्ट हो सकेंगे जिन्हें राष्ट्रपति आवश्यक या वांछनीय समझे [अनुच्छेद 339(1)] ।

(vi) संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए निदेश में आवश्यक बताई गई स्कीमों के बनाने और निष्पादन के बारे में हैं [अनुच्छेद 339(2)] ।

संसद् के सदस्यों को और जनता के अन्य सदस्यों को सरकार के उपर्युक्त कृत्यों के सम्यक् निर्वहन में सहभागी बनाने के लिए तीन संसदीय समितियां स्थापित की गई हैं ।[9] उनका कार्य अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिए योजनाएं बनाना और उनके कार्यकरण का पुनर्विलोकन करना तथा इन जातियों और जनजातियों से संबंधित विषयों पर भारत सरकार को सलाह देना है ।

(vii) अनुच्छेद 275(1) में इन कल्याण योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए वित्तीय

सहायता का उपबन्ध किया गया है । इस अनुच्छेद में यह अपेक्षा है कि संघ राज्यों को उन विकास योजनाओं के खर्चे को पूरा करने के लिए सहायता अनुदान देगा जो उस राज्य में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण की अभिवृद्धि करने या उस राज्य में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन स्तर को उस राज्य के शेष क्षेत्रों के प्रशासन स्तर तक उन्नत करने के लिए हों ।

(viii) अनुच्छेद 164 के परन्तुक में यह अभिकथित है कि बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा राज्य में जनजातियों के कल्याण का प्रभारी एक मंत्री होगा जो अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण का प्रभारी भी हो सकता है ।

व्यवहार में ऐसे कल्याण विभाग न केवल उन तीन राज्यों में बनाए गए हैं जिनके लिए संविधान में अपेक्षा की गई थी बल्कि अन्य राज्यों में भी हैं ।[9]

(ix) संविधान की पांचवीं और छठी अनुसूची में, अनुच्छेद 244 के साथ पठित, अनुसूचित जनजातियां जिस क्षेत्र में निवास करती हैं उनके प्रशासन के लिए विशेष उपबन्ध किए गए हैं ।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 46 में यह साधारण निदेश है कि राज्य जनता के दुर्बल वर्गों के, विशिष्टतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के, शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी संरक्षा करेगा ।

इन उपबंधों के अतिरिक्त विधान मंडलों में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण और विशेष प्रतिनिधित्व के लिए अस्थायी उपबन्ध हैं [अनुच्छेद 330, 332, 334][10-11] जिन पर हम पृथक्तः विचार करेंगे ।

ख. साधारणतः पिछड़े वर्गों के लिए उपबन्ध ।

हमारे संविधान में अनुसूचित जातियों के लिए विशेष उपबन्ध करके ही संतोष नहीं किया गया । अनुसूचित जातियां तो सामाजिक रूप से दलित लोगों का एक विशेष वर्ग हैं (जिन्हें साधारणतः गांधी जी के शब्द "हरिजन" के नाम से पहचाना जाता है) । संविधान में साधारणतया पिछड़े वर्गों की उन्नति के लिए और उनकी दशा को सुधारने के लिए विशेष उपबन्ध किए गए हैं ।

संविधान में पिछड़े वर्गों की कोई परिभाषा नहीं दी गई है । अनुसूचित जातियां और जनजातियां तो पिछड़े वर्ग हैं ही किंतु पूर्वगामी उपबंधों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के साथ-साथ पिछड़ा वर्ग अभिव्यक्ति भी आई है इसलिए इससे यह प्रकट होता है कि अनुसूचित जातियों के अतिरिक्त भी कुछ पिछड़े वर्ग के लोग हैं । संविधान में पिछड़े वर्गों की दशाओं के अन्वेषण के लिए आयोग की नियुक्ति के बारे में उपबन्ध हैं [अनुच्छेद 340] । 1953 में (काका साहेब कालेलकर की अध्यक्षता में) एक आयोग की नियुक्ति की गई थी । उस आयोग को सौंपे गए कार्य निम्नलिखित थे :—

(क) वह कौन सा परीक्षण होगा जिसके द्वारा जनता के किसी वर्ग या समूह को पिछड़ा कहा जा सकता है ।

(ख) पूरे भारत के लिए ऐसे पिछड़े समुदायों की सूची तैयार करना ।

(ग) पिछड़े वर्ग की कठिनाइयों की परीक्षा और उनकी स्थिति सुधारने के लिए सिफारिशें करना ।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट सरकार को 1955 में दी किंतु आयोग ने अपनी सिफारिश में जो परीक्षण बताए थे सरकार को वे बहुत अस्पष्ट और अव्यवहारिक प्रतीत हुए । अतएव राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि वे उनके द्वारा बनाई गई सूची के अनुसार ऐसे वर्गों की सहायता करें ।

दूसरे पिछड़े वर्ग आयुक्त श्री बी.पी. मंडल ने अपना प्रतिवेदन 1980 में सरकार को प्रस्तुत किया । अगस्त, 1990 में सरकार ने इस प्रतिवेदन के आधार पर सरकारी नौकरियों में 27% स्थान पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित करने की घोषणा की । इसे कुछ लोगों ने संविधान विरोधी माना है । इस समय यह मामला उच्चतम न्यायालय में विचाराधीन है ।

उच्चतम न्यायालय ने यह अवधारित करने के लिए कि कोई वर्ग सरकार द्वारा पिछड़ा वर्ग कहा जा सकता है या नहीं और उसके सदस्यों को पिछड़े वर्ग के लिए विशेष सांविधानिक रक्षोपाय विस्तारित किए जा सकते हैं या नहीं कुछ सिद्धांत अधिकथित किए हैं । राज्य सरकारें जब वर्गीकरण करती हैं तो यह सिद्धांत उनका मार्गदर्शन कर सकते हैं और इन सिद्धांतों का उल्लंघन करने वाले वर्गीकरण को न्यायालय शून्य घोषित कर सकता है ।

पिछड़े वर्ग के रूप में वर्गीकरण के लिए सबसे सादा परीक्षण अनुच्छेद 15(4) से ही प्राप्त होता है अर्थात् ऐसे वर्ग के सदस्य सामाजिक और शैक्षिक रूप से अन्य नागरिकों की अपेक्षा खराब स्थिति में हैं चाहे वे अनुसूचित जातियों के हों या नहीं । इस बात के लिए सामाजिक और शैक्षिक दोनों प्रकार का पिछड़ापन एक साथ होना चाहिए । (क) सामाजिक पिछड़ेपन का यदि विश्लेषण किया जाए तो यह पाया जाएगा कि वह निर्धनता के परिणामस्वरूप होता है और जाति के कारण स्थिति और भी भंयकर हो जाती है । किंतु एकमात्र जाति के आधार पर किया गया वर्गीकरण अनुचित होगा ।[12] (ख) शैक्षिक पिछड़ेपन का सामान्यतया अर्थ यह है कि उस वर्ग के नागरिकों में विद्यार्थियों की औसत संख्या राज्य के औसत से कम है ।[13]

(i) अनुच्छेद 15 किसी भी नागरिक के विरुद्ध धर्म, जाति या इसी प्रकार के किसी आधार पर विभेद करने का प्रतिषेध करता है । किंतु इससे राज्य को सामाजिक या शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग के नागरिकों की या अनुसूचित जातियों या जनजातियों की उन्नति के लिए विशेष उपबन्ध करने से निवारित नहीं किया जा सकता । दूसरे शब्दों में यदि नागरिकों के इन वर्गों के फायदे के लिए कोई विशेष उपबन्ध किए जाते हैं तो ऐसे उपबन्धों को विभेदकारी होने के आधार पर अमान्य नहीं ठहराया जा सकता ।

(ii) अनुच्छेद 29(2) इसी प्रकार यह प्रत्याभूति देता है कि किसी भी नागरिक को राज्य द्वारा पोषित या राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा ।

(iii) अनुच्छेद 16 राज्य के अधीन नियोजन के विषय में सभी नागरिकों को अवसर की समता प्रदान करता है । किंतु इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के आरक्षण के लिए उपबन्ध करने से निवारित नहीं करेगी ।

(iv) यह पहले ही बताया जा चुका है कि अनुच्छेद 164(1) के परन्तुक में यह उपबन्ध है कि पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए एक मंत्री नियुक्त किया जाएगा । वस्तुतः सभी राज्यों में ऐसे कल्याण विभाग खोले गए हैं ।

पूर्वगामी रक्षोपायों के अतिरिक्त संविधान में आंग्ल-भारतीय समुदायों के हितों की रक्षा के लिए उपबन्ध किए गए हैं । यह भारतीय समाज में उनकी विशेष स्थिति को देखते हुए किया गया है ।

आंग्ल-भारतीय समुदाय के लिए विशेष उपबंध ।

अनुच्छेद 366(2) में आंग्ल-भारतीय की परिभाषा इस प्रकार दी गई है : —

"ऐसा व्यक्ति जिसका पिता या पितृ-परम्परा में कोई अन्य पुरुष जनक यूरोपीय अवजनन का है या था, किंतु जो भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवासी है और जो ऐसे राज्यक्षेत्र में ऐसे माता-पिता से जन्मा है या जन्मा था जो वहां साधारणतया निवासी रहे हैं और केवल अस्थायी प्रयोजनों के लिए वास नहीं कर रहे हैं ।"

(v) अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष अधिकारी आंग्ल-भारतीय समुदाय से संबंधित पूर्वगामी रक्षोपाय के कार्यकरण का अन्वेषण करेगा और प्रतिवेदन देगा [अनुच्छेद 338(3)] ।

II. *अस्थायी उपबन्ध*

अब हम अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा आंग्ल-भारतीय समुदाय की उन्नति के लिए अन्य उपबन्धों का उल्लेख करेंगे जो अस्थायी अवधि के लिए आशयित था जिससे कि उन्हें अन्य नागरिकों के स्तर तक आने के लिए पर्याप्त समय मिल जाए ।

(क) लोक सभा में[10] — (क) अनुसूचित जातियों, (ख) अनुसूचित जनजातियों, असम के जनजाति क्षेत्रों की अनुसूचित जनजातियों को छोड़ कर, और (ग) असम के स्वशासी जिलों की जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित होंगे [अनुच्छेद 330] ।

प्रत्येक राज्य की विधान सभा में भी[10], असम के जनजातिय क्षेत्रों में अनुसूचित जनजातियों को छोड़ कर, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित होंगे [अनुच्छेद 332] । यह आरक्षण संविधान के प्रारम्भ से पचास वर्ष[11] के अवसान पर समाप्त हो जाएगा अर्थात् जनवरी, 2000 में [अनुच्छेद 334] ।

(ख) यदि राष्ट्रपति की यह राय है कि लोक सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वह लोक सभा में उस समुदाय के दो से अनधिक सदस्य नामनिर्देशित कर सकेगा [अनुच्छेद 331] । राज्य की विधान सभा के संबंध में राज्यपाल को इसी प्रकार की शक्ति है किंतु संविधान (23वां संशोधन) अधिनियम, 1969 द्वारा विधान सभा में राज्यपाल अधिक से अधिक एक ही व्यक्ति नामनिर्दिष्ट कर सकता है [अनुच्छेद 333] । यह शक्ति संविधान के प्रारम्भ से पचास[11] वर्ष के पश्चात् समाप्त हो जाएगी ।

(ग) आंग्ल-भारतीयों के लिए संघ की कुछ सेवाओं में [अनुच्छेद 336] या विशेष शिक्षा अनुदान [अनुच्छेद 337] के लिए उपबन्ध पहले ही समाप्त हो चुके हैं ।

निर्देश

1. *सम कैरक्टरिस्टिक्स आफ दि इंडियन कांस्टिट्यूशन,* 1953, पृष्ठ 64 ।
2. हम प्रो. ग्लेडहिल के आभारी हैं कि उन्होंने इस बात को ध्यान में रखा । *जर्नल आफ इंडियन ला इंस्टीट्यूट,* 1959, पृष्ठ 406 ।
3. *केरल शिक्षा विधेयक का मामला,* ए.आई.आर. 1968 एस.सी. 956 ।
4. *मुम्बई राज्य* बनाम *बाम्बे एजुकेशन सोसाइटी,* (1955) 1 एस.सी.आर. 568 ।
5. *केरल राज्य* बनाम *मदर प्रोविंशियल,* ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 2079; *सेंट जेवियर कालेज* बनाम *गुजरात राज्य,* ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 1389; *सिधराजभाई* बनाम *गुजरात राज्य,* ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 540 ।
6. अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां मिल कर देश की कुल जनसंख्या का 22 प्रतिशत हैं (*इंडिया* 1982, पृष्ठ 123) ।

7. *बालाजी* बनाम *मैसूर राज्य*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 649 (*656, 658*) ।
8. संविधान (65वां संशोधन) अधिनियम, 1990 द्वारा आयोग की स्थापना का उपबंध किया गया । इसके पूर्व एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाता था ।
9. *इंडिया* 1982, पृष्ठ 130 ।
10. 1989 में लोक सभा के 543 स्थानों में से 79 अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधियों के लिए और 40 अनुसूचित जनजातियों के प्रतिनिधियों के लिए आरक्षित थे । विधान सभाओं में 3991 स्थानों में से 548 अनुसूचित जातियों के लिए और 527 अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित थे ।
11. मूल संविधान में विहित दस वर्ष की अवधि को, संविधान (8वां संशोधन) अधिनियम, 1959 द्वारा 20 वर्ष के लिए विस्तारित किया गया । इसके बाद संविधान (23वां संशोधन) अधिनियम, 1969 द्वारा इस आधार पर कि उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाई है इसे 30 वर्ष तक विस्तारित किया गया। संविधान (45वां संशोधन) अधिनियम, 1980 द्वारा जो 25 जनवरी, 1980 को पारित किया गया था, इसे बढ़ाकर 40 वर्ष कर दिया गया । संविधान (62वां संशोधन) अधिनियम, 1989 द्वारा (20-12-1989 से) इसे पचास वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया है [अनुच्छेद 334] ।
12. *जानकी प्रसाद* बनाम *जम्मू-कश्मीर राज्य*, ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 930 ।
13. *आंध्र प्रदेश राज्य* बनाम *बलराम*, ए.आई.आर. 1972 एस.सी. 1375; *वसंत* बनाम *कर्नाटक राज्य*, (1985) सप. एस.सी.सी. 714 ।

30

भाषाएं

संविधान के निर्माताओं के सामने भाषाओं के कारण विशेष समस्या आई क्योंकि इस देश की विशाल जनसंख्या अनेक भाषाएं बोलती है (1991 की जनगणना के अनुसार हमारी जनसंख्या 84 करोड़ है) । इस देश में 1652 से अधिक भाषाएं बोली जाती हैं जिनमें से 63 भाषाएं अभारतीय हैं ।

भाषाएं ।

संविधान के निर्माताओं को शासकीय पत्राचार के माध्यम के रूप में इनमें से कुछ भाषाओं को चुनना था जिससे कि देश में अनावश्यक भ्रम न रहे । यह सौभाग्य की बात है कि इन 1652 भाषाओं को बोलने वाले समान अनुपात में नहीं थे और 18[1] भाषाएं [जिन्हें संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया था, देखिए सारणी 19] भारत की प्रमुख भाषाओं के रूप में सरलता से चुनी जा सकीं । ये भाषाएं देश की जनसंख्या के 91 प्रतिशत लोक प्रयोग करते हैं । इनमें से हिंदी यह दावा कर सकती है कि 46 प्रतिशत लोग उसका प्रयोग करते हैं । यहां हिंदी में उर्दू और हिंदुस्तानी भी सम्मिलित है । अतएव हिंदी को संघ की राजभाषा के रूप में विहित किया गया (15 वर्ष की सीमित अवधि तक इसी प्रयोजन के लिए अंग्रेजी के चलते रहने का उपबंध किया गया) और यह सिफारिश की गई कि हिंदी का विकास इस प्रकार किया जाए कि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसमें अन्य 14[1] (अब 8वीं अनुसूची में 18 भाषाएं हैं) प्रमुख भाषाओं में प्रयुक्त अभिव्यक्तियों को आत्मसात किया जाए [अनुच्छेद 351] ।

राजभाषा की आवश्यकता ।

संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए एक भाषा विहित की गई है किंतु प्रादेशिक भाषाई समूहों की सुविधा के लिए संविधान के निर्माताओं ने राज्य विधान मंडलों [अनुच्छेद 345] और राष्ट्रपति [अनुच्छेद 347] को हिंदी से भिन्न एक या अधिक भाषाओं को राज्यों के शासकीय व्यवहार में प्रयोग के लिए मान्यता देने की अनुज्ञा दी । यह उपबन्ध राज्य के विधान मंडल के बहुमत के या राज्य की जनसंख्या के पर्याप्त अनुभाग के इस अधिकार को मान्यता देते हैं कि वे अपने द्वारा बोली जाने वाली भाषा को राज्य के भीतर शासकीय प्रयोजनों के लिए मान्यता दिलाएं ।

परिणामस्वरूप राजभाषा से संबंधित संविधान के उपबन्ध कुछ जटिल हो गए हैं [अनुच्छेद 343-351] ।

संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी । किंतु संविधान के प्रारम्भ से 15 वर्ष की अवधि तक संघ के उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका ऐसे आरम्भ से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था । 15 वर्ष की अवधि की समाप्ति के पश्चात् भी संसद् विधि द्वारा —

राजभाषा ।

अ. संघ की ।

(क) अंग्रेजी भाषा, या

(ख) अंकों के देवनागरी रूप का ऐसे प्रयोजन के लिए प्रयोग का उपबंध कर सकेगी जो विधि में विनिर्दिष्ट किया जाए [अनुच्छेद 343] ।

संक्षेप में 1965 तक अंग्रेजी को हिंदी के साथ-साथ संघ की राजभाषा के रूप में चलना था और उसके बाद उन सभी प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग संसदीय विधान पर निर्भर रखा गया था । संसद् ने राजभाषा अधिनियम, 1963 बनाकर यह विधि अधिनियमित की है । इस पर हम आगे विचार करेंगे ।

राजभाषा आयोग ।

संविधान में राष्ट्रपति को राजभाषा से संबंधित कुछ विषयों की बाबत सलाह देने के लिए एक आयोग और एक संसदीय समिति की नियुक्ति का उपबन्ध है [अनुच्छेद 344] । राजभाषा आयोग की नियुक्ति संविधान के प्रारम्भ से 5 वर्ष की समाप्ति पर और उसके बाद दस वर्ष की समाप्ति पर करने की व्यवस्था है । राष्ट्रपति आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट विभिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों से आयोग गठित करेंगे[1] । आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह राष्ट्रपति को निम्नलिखित के बारे में सिफारिश करे, —

(क) संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए हिंदी भाषा का अधिकाधिक प्रयोग,

(ख) संघ के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर निर्बन्धन,

(ग) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों में और संघ की और राज्य की अधिनियमितियों के तथा उनके अधीन बनाए गए अधीनस्थ विधान के पाठों में प्रयोग की जाने वाली भाषा,

(घ) संघ के किसी एक या अधिक विनिर्दिष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने वाले अंकों के रूप,

(ङ) कोई अन्य विषय जो निम्नलिखित की बाबत आयोग द्वारा राष्ट्रपति को निर्दिष्ट किया जाए, —

(1) संघ की राजभाषा, और

(2) संघ और किसी राज्य के बीच या एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच पत्रादि की भाषा के बारे में ।

अपनी सिफारिशें करने में आयोग भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति का और लोक सेवाओं के संबंध में अहिंदी भाषी क्षेत्रों के व्यक्तियों के न्यायसंगत दावों और हितों का सम्यक् ध्यान रखेगा । आयोग की सिफारिशों की संसद् के दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति द्वारा परीक्षा की जाएगी जिनमें से 20 लोक सभा के सदस्य होंगे और 10 राज्य सभा के सदस्य होंगे जो क्रमशः लोक सभा के सदस्यों और राज्य सभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होंगे । समिति ऐसे प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात् राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन देगी और राष्ट्रपति ऐसी सिफारिशों को क्रियान्वित कराने के लिए जो वह ठीक समझे निदेश दे सकेगा ।

राजभाषा आयोग की सिफारिशों का क्रियान्वयन ।

तदनुसार राजभाषा आयोग 1955 में नियुक्त किया गया । श्री बी.जी. खेर उसके अध्यक्ष थे । आयोग ने अपना प्रतिवेदन 1956 में दिया जो संसद् के समक्ष 1957 में रखा गया और संयुक्त संसदीय समिति द्वारा उसकी परीक्षा की गई । राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात् संसदीय समिति की सिफारिशें इस प्रकार थीं :

(क) संविधान में राजभाषा के बारे में एक समेकित योजना है । इस प्रश्न के लिए दृष्टिकोण सुनम्य है और उस योजना के भीतर उसमें आवश्यकतानुसार समायोजन किया जा सकता है ।

(ख) विभिन्न प्रादेशिक भाषाएं राज्यों में शासकीय कार्य के माध्यम के रूप में शीघ्रता से अंग्रेजी का स्थान ले रही हैं । संघ के प्रयोजनों के लिए भारतीय भाषाओं का प्रयोग व्यावहारिक और आवश्यक हो गया है किंतु इस परिवर्तन के लिए कठोरता से कोई समयबद्ध कार्यक्रम नहीं बनाया जा सकता । यह परिवर्तन स्वाभाविक होना चाहिए और एक अवधि में सुगमता से न्यूनतम असुविधा के बिना किया जाना चाहिए ।

(ग) 1965 तक अंग्रेजी को मुख्य राजभाषा के रूप में और हिंदी को उपराजभाषा के रूप में चलाना चाहिए । 1965 के पश्चात् हिंदी संघ की प्रमुख राजभाषा हो जाएगी और अंग्रेजी केन्द्रीय राजभाषा के रूप में चलती रहेगी ।

(घ) संघ के किसी भी प्रयोजन के लिए अंग्रेजी के प्रयोग पर कोई निर्बन्धन नहीं लगाया जाना चाहिए और अनुच्छेद 343 के खंड (3) के निर्बन्धनों के अनुसार 1965 के पश्चात् संसद् द्वारा विनिर्दिष्ट प्रयोजनों के लिए, जब तक आवश्यक हो, तब तक अंग्रेजी के चलते रहने के लिए उपबन्ध किया जाना चाहिए ।

(ङ) अनुच्छेद 351 के उपबन्धों का विशेष महत्व है जिसमें यह कहा गया है कि हिंदी का इस प्रकार विकास किया जाए कि वह भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसके सरल और सुबोध प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ।

दो स्थायी आयोग ।

संसदीय समिति की सिफारिशों के अनुसरण में राष्ट्रपति ने 27-4-1960 को एक आदेश[2] निकाला जिसमें उपर्युक्त सिफारिशें क्रियान्वित करने के लिए निदेश था । इसमें वैज्ञानिक, प्रशासनिक और विधिक साहित्य के लिए हिंदी शब्दावली के विकास और प्रशासनिक और प्रक्रिया संबंधी अंग्रेजी में उपलब्ध साहित्य के हिंदी में अनुवाद के बारे में मुख्य निदेश थे । राजभाषा आयोग ने शब्दावली के विकास के लिए दो स्थायी आयोगों की नियुक्ति की सिफारिश की थी । राजभाषा के लिए इन स्थायी आयोगों की स्थापना 1961 में की गई और समय-समय पर इसका पुनर्गठन हुआ । 1976 में राजभाषा (विधायी) आयोग का उत्सादन कर दिया गया था और इसके कृत्य भारत सरकार के विधायी विभाग को सौंप दिए गए । दूसरा आयोग अर्थात् वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय के अधीन कार्य कर रहा है ।

राजभाषा आयोग की अन्य सिफारिशों में से निम्नलिखित को राष्ट्रपति आदेश में स्थान दिया गया :[2]

(i) संघ लोक सेवा आयोग के द्वारा भर्ती के लिए परीक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनी रहे किंतु कुछ समय पश्चात् हिंदी वैकल्पिक माध्यम के रूप में अपना ली जाए । परीक्षार्थी के विकल्प के अनुसार अंग्रेजी और हिंदी दोनों ही को माध्यम के रूप में अपनाने की छूट हो ।

(ii) संसदीय विधान अंग्रेजी में चलता रहे किंतु इसका प्रामाणिक हिंदी अनुवाद उपलब्ध कराया जाए । इस प्रयोजन के लिए विधि मंत्रालय को यह निदेश दिया गया कि वह उनका अनुवाद करे और संसद् द्वारा पारित अधिनियमों के पाठ के हिंदी अनुवाद को प्राधिकृत करने के लिए विधान प्रारम्भ करे ।

(iii) जहां राज्य के विधान मंडल में पुरःस्थापित विधेयकों या अधिनियमों का मूल पाठ हिंदी से भिन्न किसी भाषा में है वहां अनुच्छेद 348 के खंड (3) के उपबंधों के अनुसार अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जाए ।

(iv) जब परिवर्तन का समय आएगा तब उच्चतम न्यायालय की भाषा अंततः हिंदी होगी ।

(v) इसी प्रकार जब परिवर्तन का समय आएगा तब सभी प्रदेशों में हिंदी सामान्यतया सभी निर्णयों, डिक्रियों या आदेशों की भाषा होगी । किंतु प्रादेशिक राजभाषाओं का, राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से हिंदी के स्थान पर वैकल्पिक रूप से उपयोग किया जाए ।

आ. अंतरराज्यीय पत्रादि की भाषा ।

संविधान में एक यह उपबंध भी है कि संघ में शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने के लिए तत्समय प्राधिकृत भाषा (अर्थात् अंग्रेजी) एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच तथा किसी राज्य और संघ के बीच पत्रादि की भाषा होगी । यदि दो या अधिक राज्य यह करार करते हैं कि उन राज्यों के बीच पत्रादि की भाषा हिंदी होगी तो ऐसे पत्रादि के लिए उस भाषा का प्रयोग किया जा सकेगा [अनुच्छेद 346] ।

इ. राज्य की राजभाषा ।

किसी राज्य का विधान मंडल[4] विधि द्वारा, उस राज्य में प्रयोग होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिंदी को उस राज्य के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा या भाषाओं के रूप अंगीकार कर सकेगा । परन्तु जब तक राज्य का विधान मंडल, विधि द्वारा, अन्यथा उपबन्ध न करे तब तक राज्य के भीतर उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था ।

यदि इस निमित्त किसी राज्य की जनसंख्या का पर्याप्त भाग यह मांग करता है तो राष्ट्रपति उस राज्य में सर्वत्र या उसके किसी भाग में शासकीय प्रयोजन के लिए किसी अन्य भाषा को मान्यता देने का उपबन्ध कर सकता है [अनुच्छेद 347] ।

ई. उच्चतम और उच्च न्यायालयों में और अधिनियमों, विधेयकों आदि के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा ।

जब तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे तब तक, —

(क) उच्चतम न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्यवाहियां अंग्रेजी भाषा में होंगी,

(ख) (i) संसद् के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधान मंडल के सदन या प्रत्येक सदन में पुरःस्थापित किए जाने वाले सभी विधेयकों या प्रस्तावित किए जाने वाले उनके संशोधनों के,

(ii) संसद् या किसी राज्य के विधान मंडल द्वारा पारित सभी अधिनियमों के और राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल द्वारा प्रख्यापित सभी अध्यादेशों के, और

(iii) इस संविधान के अधीन अथवा संसद् या किसी राज्य के विधान मंडल द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन निकाले गए या बनाए गए सभी आदेशों, नियमों, विनियमों और उपविधियों के प्राधिकृत पाठ अंग्रेजी में होंगे ।

किसी राज्य का विधान मंडल अंग्रेजी से भिन्न किसी भाषा को उसके द्वारा पारित विधेयक और अधिनियमों के लिए या तदधीन बनाए गए अधीनस्थ विधान के लिए विहित कर सकेगा । इसी प्रकार राज्य का राज्यपाल, राष्ट्रपति की अनुमति से हिंदी या राज्य के शासकीय प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किसी अन्य भाषा को राज्य के उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों के लिए प्रयोग करना प्राधिकृत कर सकेगा किंतु निर्णय, डिक्री या आदेश के लिए नहीं (यह तब तक अंग्रेजी में होते रहेंगे जब तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्धित न करे) [अनुच्छेद 348] ।

संविधान के पूर्वगामी उपबंधों को अब राजभाषा अधिनियम, 1963, प्राधिकृत पाठ (केंद्रीय विधि) अधिनियम, 1973 और नए अनुच्छेद 394क के साथ पढ़ा जाना चाहिए ।

प्राधिकृत पाठ (केंद्रीय विधि) अधिनियम, 1973 ।

1973 में संसद् ने प्राधिकृत पाठ (केंद्रीय विधि) अधिनियम, 1973 बनाकर यह उपबंध किया कि जब किसी केंद्रीय विधि का (हिंदी से भिन्न) किसी भाषा में अनुवाद, राष्ट्रपति के प्राधिकार से भारत के राजपत्र में प्रकाशित किया जाता है तो वह उस भाषा में उसका प्राधिकृत पाठ समझा जाएगा ।

अनुच्छेद 394क ।

संविधान का प्रारूप और संविधान सभा द्वारा 26 नवंबर, 1949 को अंगीकृत संविधान अंग्रेजी भाषा में था । संविधान सभा के अध्यक्ष ने अपने प्राधिकार से उसका हिंदी में अनुवाद तैयार कराया था । उस पर संविधान सभा के सदस्यों ने हस्ताक्षर किए थे । उस अनुवाद को अद्यतन करके उसमें भाषा और शैली की दृष्टि से परिशोधन करके उसे प्राधिकृत पाठ घोषित करने के लिए 58वें संशोधन अधिनियम, 1987 द्वारा अनुच्छेद 394क संविधान में अंतःस्थापित किया गया । इस अनुच्छेद के अनुसरण में हिंदी में संविधान का प्राधिकृत पाठ प्रकाशित किया गया है । अनुच्छेद 394क के खंड (2) के अनुसार हिंदी पाठ का वही अर्थ लगाया जाएगा जो अंग्रेजी के मूल पाठ का है । यदि अर्थ लगाने में कोई कठिनाई उत्पन्न होगी तो राष्ट्रपति उपयुक्त पुनरीक्षण कराएगा ।

राजभाषा अधिनियम, 1963 (यथासंशोधित) के उपबंध इस प्रकार हैं —

राजभाषा अधिनियम, 1963 ।

I. *संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए और संसद् में प्रयोग के लिए अंग्रेजी भाषा का बना रहना* — संविधान के प्राम्भ से पंद्रह वर्ष की कालावधि की समाप्ति हो जाने पर भी, हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा नियत दिन से ही, —

(क) संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए जिनके लिए यह उस दिन से ठीक पहले प्रयोग में लाई जाती थी, तथा

(ख) संसद् में कार्य के संव्यवहार के लिए,

प्रयोग में लाई जाती रह सकेगी ।

II. *केन्द्रीय अधिनियमों आदि का प्राधिकृत हिंदी अनुवाद* — (1) नियत दिन को और उसके पश्चात् शासकीय राजपत्र में राष्ट्रपति के प्राधिकार से प्रकाशित —

(क) किसी केन्द्रीय अधिनियम का या राष्ट्रपति द्वारा प्रख्यापित किसी अध्यादेश का, अथवा

(ख) संविधान के अधीन या किसी केन्द्रीय अधिनियम के अधीन निकाले गए किसी आदेश, नियम, विनियम या उपविधि का,

हिंदी में अनुवाद उसका हिंदी में प्राधिकृत पाठ समझा जाएगा ।

(2) नियत दिन से ही उन सब विधेयकों के, जो संसद् के किसी भी सदन में पुरःस्थापित किए जाने हों और उन सब संशोधनों के, जो उनके संबंध में संसद् के किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जाने हों, अंग्रेजी भाषा के प्राधिकृत पाठ के साथ-साथ उनका हिंदी में अनुवाद भी होगा जो ऐसी रीति से प्राधिकृत किया जाएगा, जो इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विहित की जाए ।

III. *कतिपय दशाओं में राज्य अधिनियमों का प्राधिकृत हिंदी अनुवाद* — जहां किसी राज्य के विधान मंडल ने उस राज्य के विधान मंडल द्वारा पारित अधिनियमों में अथवा उस राज्य के राज्यपाल द्वारा प्रख्यापित अध्यादेशों में प्रयोग के लिए हिंदी से भिन्न कोई भाषा विहित की है वहां, संविधान के अनुच्छेद 348 के खंड (3) द्वारा अपेक्षित अंग्रेजी भाषा में उसके अनुवाद के अतिरिक्त, उसका हिंदी में अनुवाद उस राज्य के शासकीय

राजपत्र में, उस राज्य के राज्यपाल के प्राधिकार से, नियत दिन को या उसके पश्चात् प्रकाशित किया जा सकेगा और ऐसी दशा में ऐसे किसी अधिनियम या अध्यादेश का हिंदी में अनुवाद हिंदी भाषा में उसका प्राधिकृत पाठ समझा जाएगा ।

IV. *उच्च न्यायालयों के निर्णयों आदि में हिंदी या अन्य राजभाषा का वैकल्पिक प्रयोग* — नियत दिन से ही या तत्पश्चात् किसी भी दिन से किसी राज्य का राज्यपाल, राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से, अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिंदी या उस राज्य की राजभाषा का प्रयोग, उस राज्य के उच्च न्यायालय द्वारा पारित या दिए गए किसी निर्णय, डिक्री या आदेश के प्रयोजनों के लिए प्राधिकृत कर सकेगा और जहां कोई निर्णय, डिक्री या आदेश (अंग्रेजी भाषा से भिन्न) ऐसी किसी भाषा में पारित किया या दिया जाता है वहां उसके साथ-साथ उच्च न्यायालय के प्राधिकार से निकाला गया अंग्रेजी भाषा में उसका अनुवाद भी होगा ।

V. *अंतरराज्य पत्र* — (क) संघ और ऐसे राज्यों के बीच जिसने हिंदी को राजभाषा के रूप में नहीं अपनाया है पत्र आदि के प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा प्रयोग में लाई जाएगी । (ख) जहां किसी ऐसे राज्य को जिसने हिंदी को अपनी राजभाषा के रूप में नहीं अपनाया है पत्रादि भेजे जाते हैं वहां ऐसे पत्रादि के साथ-साथ उसका अंग्रेजी में अनुवाद भेजा जाएगा ।

भाषा के बारे में विशेष निदेश ।

संविधान में राजभाषा के बारे में ही नहीं बल्कि देश के विभिन्न भागों में प्रयुक्त अन्य भाषाओं के बारे में भी कुछ विशेष निदेश अधिकथित हैं जिससे कि भाषाई अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा हो सके ।

संस्कृत की उपेक्षा ।

अ. राजभाषा के बारे में जो निदेश हैं वह हिंदी भाषा के विकास और प्रसार के लिए हैं जिससे वह भाषा भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और इसे संघ के कर्तव्यों के रूप में अधिकथित किया गया है । संघ को एक यह भी निदेश दिया गया है कि हिंदी की प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी के और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट अन्य भाषाओं के प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और इस संबंध में संस्कृत को सर्वाधिक महत्व देते हुए हिंदी को समृद्ध करे [अनुच्छेद 351] । भारत सरकार ने *हिंदीतर भाषी लोकों* में हिंदी को लोकप्रिय बनाने के लिए और विशेषकर अपने कर्मचारियों को हिंदी सिखाने के लिए अनेक कदम उठाए हैं ।[3] किंतु संस्कृत के संवर्धन के लिए बहुत कम किया गया है जब कि संस्कृत से शब्द लेकर हिंदी को समृद्ध करने का निदेश अनुच्छेद 351 में दिया गया है । चरण सिंह की सरकार के शिक्षा मंत्री ने संस्कृत अकादमी स्थापित करने का वचन दिया था किंतु उसे क्रियान्वित करने तक वह सरकार विद्यमान नहीं रही ।[5]

अनुच्छेद 27 और 351 का उल्लंघन ।

पश्चिमी बंगाल सरकार ने सरकार के खर्चे पर 27-10-1979 को एक उर्दू अकादमी की स्थापना की है । कोई भी प्रज्ञावान पुरुष किसी भारतीय भाषा के प्रोन्नयन के प्रयत्न पर आक्षेप नहीं करेगा और विशेषकर ऐसी भाषा के जो आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट है । किंतु इसका एस सांविधानिक पहलू भी है जिस पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राधिकारियों ने विचार नहीं किया । यदि समाचारपत्रों की रिपोर्टें सही हैं तो इस कदम के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है कुरान आदि प्रमुख ग्रन्थों का अकादमी के खर्चे पर प्रकाशन करना ।[6] अकादमी के संसाधन लोक राजस्व से कराधान के द्वारा प्राप्त होते हैं और ऐसे संसाधनों का किसी विशिष्ट धर्म के प्रोन्नयन या बनाए रखने के लिए विनियोग किया जाना

अनुच्छेद 27 के विरुद्ध है । अनुच्छेद 27 के पीछे कारण यह है कि भारत एक पंथनिरपेक्ष राज्य है जहां राज्य की ओर से सभी धर्मों को समान प्रतिष्ठा दी जाती है । यदि इसके प्रतिकूल किया गया तो कोई राज्य सरकार यह भी कर सकती है कि वह हिंदुओं के वेद, भगवद् गीता आदि धर्म शास्त्रों के अनुवाद और उनके प्रसार के लिए भाषा अकादमी की स्थापना कर दे । कोई अन्य सरकार इसी प्रकार बाइबिल के अनुवाद और प्रचार के लिए कर सकती है । इससे राज्य के तत्वावधान में विभिन्न धर्मों के बीच संघर्ष होगा ।

यदि राज्य वास्तव में सरकार के खर्च पर भाषाओं की प्रोन्नति करना चाहता है तो इसका एकमात्र सांविधानिक तरीका यह है कि एक भाषा अकादमी की स्थापना की जाए जो आठवीं अनुसूची की सभी भाषाओं के लिए हो जिससे संस्कृत, उर्दू, बंगाली आदि सभी भाषाओं को समान व्यवहार प्राप्त हो । ऐसी अकादमी के कार्यक्रम से सभी धार्मिक क्रियाकलाप अलग रखे जाने चाहिए । भारत में अनेकों धर्म हैं । यदि एक भी धर्म को लाभ न हुआ तो अनुच्छेद 27 का उल्लंघन हो जाएगा ।[7]

हिंदी की शब्दावली को समृद्ध करने के लिए संस्कृत भाषा में अनुसंधान के लिए [अनुच्छेद 351] एक पृथक् शाखा खोली जानी चाहिए । इनका कार्य तीव्र गति से होना चाहिए और जो शब्दावलियां निकाली जाएं उन्हें जनता को अल्प मूल्य पर दिया जाना चाहिए । इस संगठन की स्थापना से संस्कृत के विद्वानों को रोजगार प्राप्त होगा और संस्कृत के अध्ययन के लिए जो अभी तक तो अलाभकारी ही है कुछ प्रोत्साहन मिलेगा ।

आ. अन्य भाषाओं के प्रयोग की रक्षा के लिए निम्नलिखित निदेश दिए गए हैं, —

(i) प्रत्येक व्यक्ति किसी शिकायत को दूर करने के लिए संघ या राज्य के किसी अधिकारी या प्राधिकारी को, यथास्थिति, संघ में या राज्य में प्रयोग होने वाली किसी भाषा में अभ्यावेदन देने का हकदार होगा [अनुच्छेद 350] । दूसरे शब्दों में कोई भी अभ्यावेदन को इस आधार पर नामंजूर नहीं किया जा सकता कि वह हिंदी में नहीं है ।

(ii) राज्य के भीतर के प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी को यह निदेश दिया गया है कि वह भाषाई अल्पसंख्यकों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रसार करेगा और राष्ट्रपति किसी राज्य को ऐसे निदेश दे सकेगा जो वह ऐसी सुविधाओं का उपबंध सुनिश्चित कराने के लिए आवश्यक या उचित समझता है [अनुच्छेद 350क]. ।

(iii) राष्ट्रपति भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करेगा । यह अधिकारी संविधान के अधीन भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए उपबंधित रक्षोपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करेगा और उन विषयों के संबंध में ऐसे अंतरालों पर जो राष्ट्रपति निर्दिष्ट करे, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देगा और राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा और संबंधित राज्यों की सरकारों को भिजवाएगा [अनुच्छेद 350ख] ।

निर्देश

1. संविधान (21वां संशोधन) अधिनियम, 1967 द्वारा सिंधी के जोड़े जाने पर यह संख्या 15 हो गई थी । 71वें संशोधन अधिनियम, 1992 से कोंकणी, नेपाली और मणिपुरी को सम्मिलित कर दिए जाने पर यह संख्या 18 हो गई है ।
2. *इंडिया* 1961, पृष्ठ 547 ।
3. *इंडिया* 1984, पृष्ठ 69 ।

4. जनवरी, 1987 में गोवा विधान सभा ने गोवा भाषा अधिनियम पारित करके मराठी और गुजराती के अतिरिक्त कोंकणी को संघ राज्यक्षेत्र की राजभाषा घोषित किया ।
5. हाल ही में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के नाम से एक संगठन दिल्ली में स्थापित किया गया किंतु इसका प्रयत्न उच्च स्तर पर संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए है । जब तक संस्कृत को मूल स्तर पर अनिवार्य विषय नहीं बनाया जाएगा तब तक संस्कृत में स्नातकोत्तर अध्ययन करने के लिए आने वाली पीढ़ी में कोई भी उपलब्ध नहीं होगा । संस्थान को संस्कृत अकादमी का रूप दिया जाना चाहिए और उसे संस्कृत में लिखित धर्मशास्त्र और साहित्यिक कृतियों का अनुवाद करने की शक्ति होनी चाहिए जैसी पश्चिमी बंगाल में स्थापित उर्दू अकादमी को है ।

   यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत की विरासत और संस्कृतियों का आधार संस्कृत है । संविधान इसी विरासत और संस्कृति की रक्षा करना चाहता है [अनुच्छेद 51क(च), 351] । तीन-चार हजार वर्षों तक संस्कृत आधारित संस्कृति के इस देश में बने रहने के पश्चात् ही उसमें कुछ और जुड़ा है ।
6. यह उद्देश्य अनुच्छेद 350क के अधीन नहीं आएगा जो शीर्ष *आ.* में उल्लिखित है ।
7. देखिए डी.डी. बसु की *कमेंट्री आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया,* छठा संस्करण, जिल्द डी, पृष्ठ 220-221, पाद-टिप्पण 6 ।

31

कार्य रूप में संविधान

I. आज भारत के संविधान का अध्ययन करने वाले को यदि नवम्बर, 1949 में प्रख्यापित संविधान का पाठ ही केवल उपलब्ध हो उसे बड़ी कठिनाई होगी । अनेकों संशोधन अधिनियमों से और देश के सर्वोच्च अधिकरण से प्राप्त होने वाले सैंकड़ों निर्णयों द्वारा संविधान में भारी परिवर्तन किए गए हैं । मूल संविधान के लगभग प्रत्येक उपबन्ध में या तो संशोधन द्वारा या न्यायिक निर्वचन द्वारा कुछ न कुछ परिवर्तन किया गया है। संविधान के कार्यकरण का लेखाजोखा भी अपने आप में एक दुष्कर कार्य है ।

संविधान में अनेकों संशोधन ।

सबसे पहले 42 वर्षों में 71 संशोधन अधिनियमों का पारित किया जाना (देखिए सारणी 4) स्वतः ही ध्यान आकर्षित करता है । अमरीकी संविधान में संशोधन के लिए विहित प्रक्रिया कठोर है । इसलिए परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों में संविधान का अनुकूलन करने का कार्य न्यायपालिका के हाथों में आ गया है यद्यपि प्रकटतः वह संविधान का निर्वचन ही करती है । हमारे संविधान में न्यायिक निर्वचन की मंदगामी प्रक्रिया को यह कार्य नहीं सौंपा गया है । हमारे संविधान में यह शक्ति जनता के प्रतिनिधियों को दी गई है यद्यपि संविधान के निर्वचन की अंतिम शक्ति न्यायालयों में ही है । संविधान को परिवर्तित करने की शक्ति संसद् में है (राज्य विधान मंडलों का अनुसमर्थन लेकर या उसके बिना) और यदि संसद् संविधायी निकाय के रूप में कार्य करते हुए देश के हित में आवश्यक समझती है तो वह संविधान का संशोधन कर सकती है । जिस सरलता से ये संशोधन किए गए हैं उनसे यह प्रदर्शित होता है कि हमारे संविधान में ऐसे शांतिपूर्ण परिवर्तन करने की क्षमता है जिन्हें कुछ अन्य देशों में क्रांतिकारी समझा जाता है ।

इस संदर्भ में वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन करने का यह कार्य न्यायपालिका को सौंपा जाए या सांविधानिक निकाय को । संविधान निर्माताओं ने संविधान में परिवर्तन करने के तंत्र के रूप में विधान मंडल को चुना है । परिवर्तन की आवश्यकता अमरीका जैसे उन देशों में भी स्वीकार की जाती है जहां न्यायपालिका ने इस बात का लाभ उठाकर कि संविधान का संशोधनकारी तंत्र व्यवहारिक दृष्टि से बहुत भारी था, यह कार्य अपने हाथ में ले लिया । जिन आलोचकों ने यह टिप्पणी की थी कि भारत के संविधान में बहुत अधिक संशोधन किए गए हैं उन्होंने इस आधारभूत तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया ।

यदि थोड़ा भी विचार किया जाए तो यह दिखाई पड़ेगा कि कुछ परिवर्तन, जिनकी आवश्यकता आलोचक भी स्वीकार करेंगे, न्यायालय द्वारा निर्वचन के सुस्थापित सिद्धांतों को लागू करके नहीं किए जा सकते । इस बात का एक उदाहरण अनुच्छेद 19 के खंड (2) में "निर्बन्धन" शब्द के विशेषण के रूप में "युक्तियुक्त" का अंतःस्थापन है (पहले

संशोधन द्वारा) । इस विशेषण के बिना न्यायिक पुनर्विलोकन को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अतिलंघन करने वाले विधान के पुनर्विलोकन से सर्वथा वर्जित रखा जा सकता था । कोई भी न्यायालय जब तक कि वह निर्वचन के सिद्धांतों का उल्लंघन करने के लिए तैयार न हो तब तक पुनर्विलोकन नहीं कर सकता था क्योंकि न्यायालय 'युक्तियुक्त' शब्द को खंड (2) में अन्तःस्थापित नहीं कर सकता था, यद्यपि इस अनुच्छेद के अन्य खंडों में वह शब्द विद्यमान था । तीसरे संशोधन की विषय-वस्तु भी इसी प्रकार की है । जब संविधान की रचना की गई थी तब यह आवश्यक समझा गया कि संघ की संसद् को कुछ आवश्यक वस्तुओं और कच्चे माल के उत्पादन, प्रदाय, वितरण, व्यापार और वाणिज्य का विनियमन करने की सहवर्ती शक्ति हो जिससे कि देश के किसी भाग में उनकी कमी न होने दी जाए । संसद् की यह शक्ति अस्थायी अवधि के लिए थी । कुछ वर्ष तक कार्य करने से यह प्रकट हो गया कि यह सहवर्ती नियंत्रण स्थायी रूप से होना आवश्यक है और तीसरे संशोधन द्वारा ऐसा किया गया । सातवां संशोधन अधिनियम प्रादेशिक पुनर्गठन के लिए आवश्यक था । यह कार्य 1949 में संविधान प्रख्यापित करने के पहले नहीं हो सकता था । इसी प्रकार दसवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें, पैंतीसवें और छतीसवें संशोधन राज्यक्षेत्रों के अर्जन के कारण आवश्यक हो गए या विद्यमान राज्यक्षेत्रों के राजनीतिक स्तर को उन्नत करने के कारण अनिवार्य हो गए । ये सब राष्ट्र के लाभ के लिए हैं।

साथ ही यह संप्रेक्षण करना भी उचित ही है कि संविधान के इतने अधिक और इतने प्रकार के संशोधन, जिनमें से कुछ किए जाने आवश्यक नहीं थे या जिनमें से कुछ को समेकित भी किया जा सकता था, संविधान की पवित्रता को कम करते हैं ।

42वें से 44वें संशोधनों द्वारा किए गए महत्वपूर्ण परिवर्तन ।

यहां 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 का विशेष उल्लेख करना उचित होगा । इस संविधान द्वारा कांग्रेस सरकार ने संघ और राज्य के विधान मंडलों में अपने एकाधिकारी नियंत्रण का लाभ उठाकर संविधान में विस्तृत परिवर्तन किए जिनमें कुछ परिवर्तनों से उसकी नींव ही डगमगा गई ।[1] इस संशोधन अधिनियम का प्रभाव इतना विस्तृत और प्रचंड था कि उसे संशोधन के स्थान पर पुनरीक्षण कहना अधिक सही होगा । इसके प्रमुख प्रभाव इस प्रकार थे :—

I. सामान्य विधियों के न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रविषय को संकुचित करके उस पर बंधन अधिरोपित कर दिए ।

II. संविधान के संशोधन अधिनियमों के न्यायिक पुनर्विलोकन की संभावना व्यावहारिक रूप से समाप्त कर दी गई ।

III. भाग 4 में सम्मिलित निदेशक तत्वों की तुलना में मूल अधिकारों का अवमूल्यन कर दिया गया ।

IV. अनुच्छेद 51क अन्तःस्थापित करके और नागरिकों के मूल कर्तव्य अधिकथित करके मूल अधिकारों को और क्षति पहुंचाई गई ।

V. राज्य के विभिन्न अंगों के बीच मूलतः जो संतुलन था उसे बिगाड़ दिया गया।

(क) न्यायपालिका को शिथिल करके विधान मंडल को शक्तिसंपन्न किया गया । विधान के न्यायिक पुनर्विलोकन को समाप्त कर दिया गया और विधान मंडल के विशेषाधिकारों को न्यायालय के हस्तक्षेप से उन्मुक्त कर दिया गया ।

(ख) प्रशासन और प्रशासनिक अधिकरणों पर न्यायपालिका का नियंत्रण और अधीक्षण लगभग समाप्त कर दिया गया ।

इन प्रचंड परिवर्तनों के विरुद्ध जनता के आक्रोश के परिणामस्वरूप साधारण निर्वाचन

में, जो श्रीमती गांधी के सुझाव पर 1977 में लोक सभा के विघटन के फलस्वरूप हुआ था, जनता पार्टी सत्ता में आ गई । जनता सरकार ने 43वें और 44वें संशोधन अधिनियम (1977, 1978) अधिनियमित किए जिनके द्वारा 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा बनाए गए बहुत से नए उपबन्ध उलट दिए गए और अनेक बातों में 1976 के पहले का संविधान वापस लाया गया । ऐसा करने में जनता सरकार को कई बार पीछे हटना पड़ा क्योंकि राज्य सभा में उनका दो-तिहाई बहुमत नहीं था । जनता सरकार ने मूल अधिकारों के भाग से संपत्ति के अधिकार को पूर्णतया निकाल फेंका । यह उनका ऐसा योगदान है जिसका दूरगामी प्रभाव होगा ।

संविधान में टुकड़े-टुकड़े संशोधन के स्थान पर उसका पुनरीक्षण किया जाना ।

इन अंतहीन टुकड़े-टुकड़े संशोधनों द्वारा संविधान की जो कांट-छांट की गई है उससे भ्रम होता है और संविधान की प्रतिष्ठा को आघात पहुंचता है । इसे देखते हुए कोई निष्पक्ष परीक्षक यह सुझाव दे सकता है कि संविधान के पुनरीक्षण के लिए एक आयोग नियुक्त किया जाए जो सरकार और नागरिकों द्वारा दिए गए संशोधनों के लिए सुझाव के प्रकाश में विद्यमान उपबन्धों की परीक्षा करे और एक व्यापक संशोधन अधिनियम या संविधान के पुनरीक्षण की सिफारिश करे । अमरीका जैसे देश में जहां संविधान को बाइबिल के समान पवित्र माना जाता है कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि यदि किसी सरकार का विधान मंडल में प्रबल बहुमत है तो वह संविधान का इतनी बार संशोधन करेगी जितनी बार उसके विभागों द्वारा मांग की जाए अथवा सत्तारूढ़ दल की राजनीतिक समिति सिफारिश करे । भारत में 42वें, 43वें और 44वें संशोधनों की दशा में ऐसा ही हुआ है ।

यदि सरकार की संविधान के पुनरीक्षण के लिए लेखक के सुझाव को स्वीकार करती है,[2] तो यह सुझाव भी है कि संविधान का और विस्तार करके उसमें वे उपबंध भी डाले जाने चाहिएं जो ऐसे विषय से संबंधित हैं जिन पर संविधान मौन है या जो ऐसे विषय हैं जो अभिसमय द्वारा या उन विषयों का प्रशासन करने वाले व्यक्तियों की सदिच्छा पर जोड़ दिए गए हैं । संहिताबद्ध उपबंधों के अभाव में जनता में बहुत भ्रम है क्योंकि जनता को ब्रिटेन के मंत्रिमंडलीय शासन के अभिसमयों की जानकारी नहीं है । वे यह भी नहीं जानते कि ब्रिटिश संसद् के कामन ला के अनुसार क्या विशेषाधिकार हैं, जनता की बात जाने दें, प्रशासक भी इनसे अनभिज्ञ हैं । गहराई से परीक्षा करने पर इसके अनेक उदाहरण मिलेंगें । किंतु दृष्टांत के रूप में केवल दो बातों का उल्लेख पर्याप्त होगा ।

अ. अभिसमयों का संहिताकरण ।

अ. संविधान के निर्माताओं ने संघ और राज्य दोनों स्तरों पर मंत्रिमंडलीय शासन पद्धति स्वीकार की थी (राज्य के राज्यपाल के विवेकाधीन कार्यों को छोड़कर) । ब्रिटिश मंत्रिमंडलीय प्रणाली एक जटिल प्रणाली है जो इतिहास तथा प्रशासित राजनीतिक लोगों की बुद्धिमत्ता के परिणामस्वरूप निकली है । वयोवृद्ध विद्वानों ने बताया है कि इस प्रणाली से संबंधित अभिसमयों के बारे में स्पष्ट सिद्धांतों को सूत्रबद्ध करना बहुत कठिन कार्य है । इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में इस बात पर बहुत विवाद हुआ है कि केन्द्र में या राज्य में जब किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न हो तो सरकार बनाने के लिए व्यक्ति को चुनने में राष्ट्रपति या राज्यपाल को कौन सा मार्ग अपनाना चाहिए या राज्य के सांविधानिक प्रधान को क्या करना चाहिए । जब यह कहा जाता है कि दल परिवर्तन आदि के कारण विधान मंडल के प्रतिनिधि सदन में सत्तारूढ़ दल का बहुमत समाप्त हो गया है तब क्या सांविधानिक प्रधान को प्रधान मंत्री या मुख्य मंत्री को अर्थात् मंत्रिमंडल को पदच्युत करने की शक्ति है और यदि है

तो कब । इन सब प्रश्नों पर विवाद की गुंजाइश है किंतु देश के लिए यह स्थिति अच्छी नहीं है कि दो राज्यों के राज्यपाल या संघ का राष्ट्रपति एक ही परिस्थिति में या एकसी परिस्थिति में अलग-अलग कदम उठाएं । क्षमादान करने की शक्ति के प्रयोग में या अध्यादेश निकालने की शक्ति के प्रयोग में जो प्रश्न उठे हैं उनसे भी भ्रम उत्पन्न होता है । इन सब विषयों के बारे में व्यापक उपबन्ध करना संभव नहीं होगा या संदेह या विवाद की सभी परिस्थितियों का पूर्वानुमान करना शक्य नहीं है फिर भी जो प्रस्थापनाएं उच्चतम न्यायालय ने अधिकथित की हैं या जो ऐसी हैं जिनके बारे में पिछले 43 वर्षों में संविधान के कार्यकरण के परिणामस्वरूप राजनीतिक दलों में सहमति है उनको एक सूत्र में पिरोना संभव भी होगा और लाभदायक भी ।

आ. विधान मंडलों के विशेषाधिकारों का संहिताकरण ।

आ. जब 1948-49 में संविधान का प्रारूप तैयार किया गया तब भारत के संविधान में इंग्लैंड के हाउस आफ कामंस के असंहिताबद्ध विशेषाधिकारों को सम्मान प्रदान किया गया क्योंकि इंग्लैंड में पार्लमेंट के विशेषाधिकारों के आधारभूत पूर्वदृष्टांतों के विशाल संग्रह को संहिताबद्ध करना एक बहुत कठिन कार्य था जो व्यवहारिक भी नहीं था । तब से 43 वर्ष बीत चुके हैं और आज चाहे सर्वग्राही संहिताकरण एकदम न हो पाया हो फिर भी उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों से कुछ सिद्धांत सुस्थापित हो गए हैं । इसी प्रकार संघ और राज्य के विधान मंडलों के सदनों के पीठासीन पदाधिकारियों द्वारा अधिकथित दृष्टांतों से भी स्थिति स्पष्ट हुई है । हमारे देश में न्यायालयों और विधान मंडलों के बीच अनेकों बार[3] युद्ध हो गए हैं जो इस निर्धन और विकासशील देश की संसदीय प्रणाली के सुचारु रूप से कार्य करने में साधक नहीं हैं । यदि संविधान में ही इसका उचित हल रख दिया जाए तो ये बातें दोबारा नहीं होंगी । जो अभी भी यह तर्क देते हैं कि "संसद् का उच्च न्यायालय" उन्हीं प्रभुतासंपन्न शक्तियों और विशेषाधिकारों का प्रयोग करता है जो इंग्लैंड के हाउस आफ कामंस द्वारा किए जाते हैं वे भ्रांति के शिकार होकर यह नहीं देख पा रहे हैं कि हमारा एक लिखित संविधान है जिसमें विधान मंडल सहित राज्य के सभी अंगों की शक्तियां सीमित हैं । विधान मंडल विशेषाधिकार के नाम पर संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 द्वारा न्यायालयों में विहित अधिकारिता में हस्तक्षेप नहीं कर सकता । संविधान का संशोधन करने वाले निकाय को इस दुखद परिस्थिति का सामना करना होगा और संविधान का संशोधन किए बिना इसका कोई हल निकालना संभव नहीं है । संविधान का संशोधन करके इसमें ऐसा हल प्रस्तुत किया जाना चाहिए जो संविधायी निकाय के विशेष बहुमत को स्वीकार्य हो । विशेषाधिकारों की संहिता सर्वसमावेशी न भी हो तो भी न होने की अपेक्षा तो वह अच्छी ही होगी ।

निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन ।

II. संविधान के कार्यकरण में कार्यपालिका और विधान मंडल की उपलब्धियों को देखते हुए हम राज्य की नीति के निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन की प्रगति की ओर निर्देश किए बिना नहीं रह सकते । इससे यह प्रकट होता है कि सत्तारूढ़ सरकार ने इसे धार्मिक प्रवचन मात्र नहीं समझा है जैसी कि कुछ आलोचकों को आशंका थी । निदेशों को क्रियान्वित करने का कार्य मुख्यतः राज्यों की परिधि में आता है । संघ ने योजना आयोग के माध्यम से इनका मार्गदर्शन और सहायता की है । यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत का संविधान केवल शासन के दस्तावेज के रूप में नहीं बनाया गया बल्कि देश में शांतिपूर्वक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए बनाया गया था । निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन में सरकार को जितनी सफलता मिली है उतनी ही इस लक्ष्य की प्राप्ति हुई है ।

संविधान (25वां संशोधन) अधिनियम, 1971 द्वारा अनुच्छेद 31ग अन्तःस्थापित करके कांग्रेस सरकार ने यह प्रदर्शित किया कि वह निदेशों को क्रियान्वित करने के लिए कृतसंकल्प है और यदि मूल अधिकार उसके मार्ग में बाधा पहुंचाएंगे तो वह मूल अधिकारों को संशोधित करने में संकोच नहीं करेगी। उच्चतम न्यायालय ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है,[4] यद्यपि पूर्ववर्ती निर्णयों में उसने मूल अधिकार को प्रधानता दी थी।

जिस निदेशक तत्व को क्रियान्वित करने में सरकार पूर्णतया असफल रही है वह है समान सिविल संहिता [अनुच्छेद 44]। हम आगे इस पर विचार करेंगे।

ऐकिक प्रणाली की ओर झुकाव।

III. यह कहा जा सकता है कि संविधान के प्रारम्भ से परिसंघीय क्षेत्र में जो प्रारूपिक और अप्रारूपिक परिवर्तन हुए हैं उनसे केंद्र का राज्यों पर नियंत्रण उत्तरोत्तर वृद्धिगत हुआ है। परिसंघ प्रणाली से राज्यों में चेतना उत्पन्न हुई है। किंतु केन्द्र यह प्रयत्न करता रहा है कि उसे राज्यों पर अधिकाधिक नियंत्रण प्राप्त हो जाए। ऐसा संविधान का संशोधन करके किया गया है (अध्याय 5), विधान द्वारा किया गया है और योजना आयोग,[5] राष्ट्रीय विकास परिषद्[6] और अन्य अनेक संविधानेतर निकायों की सृष्टि करके किया गया है। योजना आयोग की प्रमुख स्थिति के बारे में एक विद्वान लेखक ने यह कहा :

> "योजना आयोग सरकार के ऊपर एक सरकार बन गया है जिससे राज्यों की स्वायत्तता की संकल्पना में अन्तर पड़ा है। इससे शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य कल्याण सेवाओं जैसे राज्य के प्राधिकार के क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा है।"[7]

सरकार ने जुलाई, 1967 से योजना आयोग को पुनर्गठित किया है।[8] इसमें (प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों के अनुसार) उसकी प्रास्थिति और कृत्यों में परिवर्तन किया गया है। अब यह पूर्णकालिक सदस्यों से मिलकर बनता है (अध्यक्ष पहले के जैसा प्रधान मंत्री ही है)।[5] इसके परिणामस्वरूप आयोग का कोई भी कार्यपालक कृत्य नहीं होगा और इसका कार्य योजनाएं बनाना और उनके कार्यकरण का मूल्यांकन करना ही होगा।

राज्य वित्त के मामले में धीरे-धीरे संघ पर अधिकाधिक निर्भर होते जा रहे हैं। राज्य की वित्तीय शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार संघ उसे करों में कितना अंश देता है और कितना सहायता अनुदान देता है। राज्य में वित्तीय मामलों में कुछ उत्तरदायित्वहीनता भी देखने में आती है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वे यह उपधारण कर लेते हैं कि अन्ततोगत्वा संघ उनकी सहायता करेगा क्योंकि ऐसा न किया गया तो राष्ट्रीय योजना असफल हो जाएगी।

एकीकरण की ओर इस झुकाव के होते हुए भी भारत में परिसंघ विफल नहीं हुआ है। विशेषकर इस कारण कि उच्चतम न्यायालय ने संविधान में अधिकथित शक्तियों के वितरण को कड़ाई से प्रवृत्त किया है।[9] संघ को ऐसी प्रधानता नहीं दी गई है कि वह परिसंघीय वितरण को विनष्ट कर दे। एक या दो मामलों में ही उच्चतम न्यायालय ने इसका अपवाद माना है।[10]

अधिकाधिक एकता की ओर जो झुकाव है वह भारत में परिसंघीय प्रणाली की सफलता का द्योतक है विफलता का नहीं। पुराने लेखकों के अनुसार परिसंघ का दोष उसका शिथिल होना है। यदि भारत ने परिसंघीय शासन प्रणाली के आधार पर भी ऐकिक प्रणाली का सामर्थ्य प्राप्त कर लिया है तो इसके लिए उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए। विशेषकर इस बात को देखते हुए कि इसका भू-भाग बहुत बड़ा है जिसमें परस्पर विरोधी जीवन दर्शन वाले विभिन्न प्रकार के लोग रहते हैं। हमारे संविधान के निर्माताओं ने यह अनुभव किया था कि हमारे देश के लिए जिसमें अनेक प्रकार के तत्व हैं, परिसंघीय

प्रणाली ही अधिक उपयुक्त होगी । किंतु विद्यमान या भविष्य में होने वाले भावी खतरों को देखते हुए उन्होंने परिसंघीय प्रणाली में कुछ ऐसे तत्व डाल दिए जिनसे असाधारण परिस्थितियों में या बाह्य आक्रमण की दशा में ऐकिक प्रणाली का सामर्थ्य प्राप्त हो जाए । हमारी शासन प्रणाली के कार्यकरण से यह प्रदर्शित होता है कि अक्तूबर, 1962 में चीन के भयानक आक्रमण के विरुद्ध हम अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं ।[11] याहया खां की सेना के बांग्लादेश में 1971 में पराजय के पश्चात् भी चीन और पाकिस्तान की धुरी हमें आक्रांत किए हुए है ।[12] बांग्लादेश में मुजीबुर्रहमान की मित्र सरकार के पतन के पश्चात् भारत की सीमा पर स्थिति गम्भीर आशंकाओं से पूर्ण है ।[12] इसके साथ ही इन बातों ने स्थिति को और भयावह बना दिया है — अफगानिस्तान में रूसी फौजों का आगमन, अमरीका का पाकिस्तान को नए-नए शस्त्र देकर प्रतितुलन करने का निर्णय । इन शस्त्रों का उपयोग भारत के विरुद्ध किया जा सकता है, पहले भी ऐसा हुआ था और इन सबके पीछे इस्लामी बम की विभीषिका दिखाई देती है जिसके समर्थन में पाकिस्तान में अमेरिका के अड्डे हैं ।[13]

पृथक्तावादी शक्तियां ।

IV. पंजाब, कश्मीर और असम की हाल ही की दुखद घटनाओं से यह प्रदर्शित होता है कि देश में मजबूत केन्द्रीय नियंत्रण की आवश्यकता है । ऐसा होने पर ही परिसंघ और भारत संघ की विधिमान्यता बनी रहेगी । यदि ऐसा न हुआ तो देश को विखंडित करने वाली और आक्रामक दिखने वाली पृथक्तावादी शक्तियां देश को खंडित कर देंगी । उनके कारण देश की एकता और अखंडता जो हमारे देश के संविधान की आधारशिला है समाप्त हो जाएगी ।

सिख ।

अ. जहां तक सिखों की मांग का प्रश्न है[14] यदि उसे स्वीकार कर लिया गया तो परिसंघ संविधान का विनाश हो जाएगा । ऐसी मांगें कई राज्यों द्वारा और अल्पसंख्यक समुदायों द्वारा उठाई जाएंगी[15] और जिसके कारण यह होगा कि एक राष्ट्र के रूप में भारत टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा । आनंदपुर साहब संकल्प में[16] जिसे अकाली ताकत के बल पर संघ से मनवाना चाहते हैं,[17] संघ से विलग होने की बात नहीं कही गई है या स्वतंत्र खालिस्तान राज्य की बात नहीं है किंतु जैसा अन्य साक्ष्य से प्रकट होता है इस आंदोलन के पीछे यही सत्य है ।[18] इसके अतिरिक्त आसपास के सिख बहुमत वाले राज्यक्षेत्रों को मिलाकर एक राज्य की रचना करने के पश्चात् उनकी यह मांग है कि संघ को राज्य पर केवल पांच विषयों के बारे में अधिकारिता होगी अर्थात् प्रतिरक्षा, विदेश कार्य, डाक-तार, करेंसी और रेल । इससे उनकी स्थिति जम्मू-कश्मीर से भी ऊंची हो जाएगी । आज व्यवहारिकतः संघ की समस्त सूची (संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 1) और समवर्ती सूची की अधिकांश मदें (सूची 3) जम्मू-कश्मीर राज्य पर विस्तारित हैं । किंतु आनंदपुर संकल्प से समूची समवर्ती सूची पर और संघ सूची के अधिकांश भाग पर से संघ की अधिकारिता समाप्त हो जाएगी अर्थात् वे विषय जो रेल, डाक-तार से भिन्न हैं जैसे संचार साधन, बैंककारी, बीमा, लोक ऋण, भारतीय रिजर्व बैंक, विदेशों से व्यापार और वाणिज्य, राष्ट्रीय उद्योगों का विनियमन, अंतरराज्य जलमार्ग, उच्च शिक्षा की संस्थाएं, संसद् के लिए निर्वाचन, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय, संघ का कराधान आदि । अकाली लोग जम्मू-कश्मीर के उदाहरण से प्रेरणा नहीं ले सकते क्योंकि उस राज्य का अपना इतिहास है और उसमें कुछ अंतरराष्ट्रीय बातें भी जुड़ी हुई हैं । पंजाब तो सदा से भारत का एक अभिन्न प्रांत रहा है । यह बात भी स्मरणीय है कि पंजाब की समस्त जनसंख्या अकाली नहीं है । दूसरे लोग अकालियों की इस मांग का समर्थन नहीं करते हैं । भारत के सिख राष्ट्रपति और पंजाब राज्य के

सिख मुख्य मंत्री ने भी उनका समर्थन नहीं किया है । दूसरी ओर अकाली दल में अनेक नेता हैं । 1985 में इन नेताओं ने खालिस्तानी नेता संत भिंडरावाले के नेतृत्व वाले आतंकवादियों के सामने समर्पण कर दिया था ।[19]

जुलाई, 1985 में इस पुस्तक के संस्करण में जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया था उसके पश्चात् एक महत्वपूर्ण घटना हुई है । वह यह कि भारत के प्रधान मंत्री और संत लोंगोवाल के बीच एक करार किया गया (जिसे पंजाब करार कहते हैं) ।[20] संत लोंगोवाल अकालियों के प्रमुख समूह के नेता थे । इस करार के अनुसार आनंदपुर संकल्प को सरकारिया आयोग को निर्दिष्ट किया जाएगा और चंडीगढ़ के बदले पंजाब के कुछ हिंदी भाषी क्षेत्र हरियाणा को अंतरित किए जाएंगे । चंडीगढ़ पंजाब को दे दिया जाएगा । पंजाब के करार से अब तक पंजाब की समस्या का कोई हल भी नहीं निकल सका । कुछ दिनों तक मुख्य मंत्री श्री सुरजीत सिंह बरनाला के नेतृत्व में एक निर्वाचित सरकार शासन करती रही । किंतु आतंकवाद यथावत् बना रहा ।

प्रतिदिन समाचारपत्रों में हत्या, लूट आदि की घटनाएं ही प्रकाशित होती रहीं ।[21]

बरनाला सरकार की असफलता के कारण और संयुक्त अकाली दल के नाम से एक पृथक् दल के बनाए जाने पर[22] जो खुले रूप से आतंकवादियों की मांग का समर्थन कर रहा है, पंजाब में 11 मई, 1987 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया ।

इसके पश्चात् आतंकवाद को दबाने के लिए कुछ कार्यवाहियां की गईं किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि राज्यपाल और पुलिस के प्रधान इस लंबी अवधि के राष्ट्रपति शासन के दौरान अपने कार्य में सफल हो सके हैं । निर्दोष व्यक्तियों की और पुलिस अधिकारियों की हत्याएं नित्यप्रति की घटनाएं बनी हुई हैं ।

असमिया ।

आ. असम के आंदोलनकारियों का मामला भिन्न है । वे विलग होने की मांग नहीं करते हैं किंतु वे असमियों के लिए असम की मांग करते हैं ।[23] प्रारम्भ में राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप के कारण उनकी मांगें अस्पष्ट थीं । किंतु जनवरी, 1983 में सैंकड़ों हिंदू और मुसलमान बंगालियों की हत्या के बाद इसमें कोई संदेह नहीं रहा कि आंदोलनकारी असम से उन सब लोगों को भगाना चाहते हैं जो असमिया उद्भव के नहीं । ऐसे गैर-असमी लोग कई प्रकार के हैं ।

(क) पश्चिमी बंगाल या बिहार या अन्य राज्यों के बहुत से नागरिक हैं जो अपनी वृत्ति या कारबार के प्रयोजन के लिए असम में रहते आए हैं । आंदोलनकर्ताओं को यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत के नागरिकों को अनुच्छेद 19(1)(घ) के अधीन भारत के किसी भी भाग में निवास करने का मूल अधिकार है । उन्हें असम राज्य से हिंसा के द्वारा भगाने का अर्थ होगा कि हमने संविधान की अंत्येष्टि कर दी है । यदि आज असम को इस बात में सफलता मिल जाती है तो अन्य राज्य भी उसका अनुकरण करके भारत के परिसंघ को भंग कर देंगे । उस सरकार और आंदोलनकर्ताओं का प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि वे उन लोगों की शिनाख्त करें जो भारत के नागरिक हैं अर्थात् जिन्होंने संविधान के अनुच्छेद 5 और 6 के अधीन अथवा नागरिकता अधिनियम, 1955 के अधीन भारत की नागरिकता अर्जित कर ली है । ये लोक विदेशी राष्ट्रिक नहीं हैं । उन्हें शांतिपूर्ण तरीके से ही ढूंढा जा सकता है बलप्रयोग द्वारा नहीं ।[24]

(ख) दूसरी ओर बांग्लादेश के अवैध उत्प्रवासी हैं (जिसे पहले पूर्वी पाकिस्तान कहा जाता था) । ये वस्तुतः विदेशी राष्ट्रिक हैं । भारत सरकार यह तर्क देती है कि अंतरराष्ट्रीय करार के अधीन उसकी कुछ बाध्यताएं हैं जिससे वह बांग्लादेशियों को वापस नहीं हांक

सकती । फिर भी भारत सरकार इस समस्या को राजनीतिक स्तर पर बांग्लादेश से उठा सकती है या किसी अन्तरराष्ट्रीय मंच पर उठा सकती है । इन बातों पर इस पुस्तक में विचार नहीं किया जा सकता । भारत सरकार ने अवैध उत्प्रवासियों के पक्ष में मानवीय आधार को उल्लेख किया है । इससे सरकार की ही विलम्बकारी नीति प्रकट होती है । असम को छोड़ दें तो यह भी देखने में आ रहा है कि बांग्लादेश के लाखों मुस्लिम आप्रवासी पश्चिमी बंगाल में लगातार आते जा रहे हैं और पश्चिमी बंगाल के सीमावर्ती क्षेत्रों के मुसलमान उन्हें आश्रय दे रहे हैं । कुछ महीने या कुछ वर्षों के बाद पश्चिमी बंगाल में उनके बने रहने का अधिकार, राशन कार्ड, निर्वाचिक आदि के साक्ष्य पर बन जाएगा[25] वैसे ही जैसे असम में हुआ । यदि इस प्रकार विदेशी राज्य से ये लोग आते रहे और कोई कड़ी कार्रवाई नहीं की गई तो स्थिति और बिगड़ जाएगी । किसी भी स्वतंत्र देश में (भारत को छोड़कर) इतनी मात्रा में लोगों का आना कदापि सहन नहीं किया जा सकता । इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत सरकार ने असम की स्थिति को सुधारने के कदम उठाए हैं किंतु यह कार्य बहुत देर से हुआ है और जो कदम उठाए हैं वे अपर्याप्त हैं ।

भारत सरकार ने असम के नेताओं से 16-8-85 को एक करार किया जिसके परिणामस्वरूप आंदोलन निलम्बित करके निर्वाचन कराए गए और फलस्वरूप असम गणपरिषद् को राज्य का प्रशासन सौंप दिया गया । इस बीच उल्फा (ULFA) के कार्यकर्ताओं ने गैर असमियों की हत्या करके और उनसे धमकी देकर धन वसूल करके ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी मानो असम में सरकार ही न हो । फलस्वरूप 28-11-1990 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया । असम में घुसपैठियों को बाहर निकालने के लिए 1983 में जो अधिनियम बनाया गया था वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति में पूर्णतया विफल रहा ।

सभी विचारवान लोग आज इस बात सहमत हैं कि यदि भारत को बाह्य आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्र के रूप में बने रहना है तो विभाजनकारी शक्तियों को बढ़ने से पहले ही नष्ट करना होगा । किंतु पृथक्ता को बढ़ावा देने वाली शक्तियां इतने छोटे रूप में और इतने गुप्त रूप में प्रारम्भ होती हैं कि वे साफ प्रकट नहीं होतीं किंतु यदि उन का आमूल विनाश न किया गया तो वे भयानक रूप धारण कर लेती हैं ।[26]

पृथकतावादी शक्तियों के रूप में भाषा ।

इनमें से एक कारण यह भी है कि पृथक् भाषा वाले लोगों का एक पृथक् राजनीतिक अस्तित्व होना चाहिए और उन्हें स्वशासी होना चाहिए । भारत सरकार ने इस मामले में प्रारम्भिक भूल यह की कि राज्यों का भाषावार पुनर्गठन किया । यह धारा अभी चल रही है । इसी के कारण भाग क-ख राज्यों की संख्या जो मूलतः 18 थी, 1987 में बढ़कर 25 हो गई है । गोरखालैंड, झारखंड, उत्तराखंड आदि की मांगें विभिन्न स्तरों पर उत्पन्न होती जा रही हैं । किसी भी रूप में पृथक् स्थान दे देने का, जैसे संघ राज्यक्षेत्र बना देने का परिणाम अन्ततोगत्वा पूर्ण राज्य में जाकर ही समाप्त होता है ।

भाषाई मांग का एक अनुषंग यह भी है कि हर कोई अपनी भाषा को संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित कराना चाहता है । यह स्पष्ट है कि इस प्रकार सम्मिलित कर लेने से कोई लाभ नहीं होता है । इससे सुसंगत संविधान के दो ही उपबंध हैं । अनुच्छेद 344(1) और 351 । अनुच्छेद .344(1) से आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भाषा के लोगों को अपना प्रतिनिधि राजभाषा आयोग में सदस्य के रूप में भेजने का अधिकार मिलता है और अनुच्छेद 351 हिंदी भाषा के विकास में उस भाषा को योगदान करने का अवसर प्राप्त होता है । किसी भी भाषा को इस प्रकार सम्मिलित कराने के पीछे

वास्तविक मंतव्य राजनीतिक होता है अर्थात् उस भाषा को बोलने वाले लोगों के लिए एक पृथक् राजनीतिक इकाई की मांग जैसे कि गोरखालैंड के मामले में हो रहा था ।[26] चाहे जो भी हो आठवीं अनुसूची में प्रत्येक भाषा को सम्मिलित करने की मांग पूर्णतया निरर्थक है क्योंकि भारत में 1652 भाषाएं हैं (देखिए सारणी 1) । इसलिए इस बात का कोई मानक होना चाहिए कि किस भाषा को आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किया जाए । दुर्भाग्यवश संविधान में ऐसा कोई मानक अधिकथित नहीं किया गया है और इस कारण विभिन्न गुट इसकी मांग करते हैं जिसे स्वीकार कर लेने पर संघ का आत्मघाती विखंडन हो जाएगा । संविधान के बाहर कुछ इसी प्रकार की समझ है कि वे भाषाएं जो एक लाख से अधिक लोगों द्वारा बोली जाती हैं आठवीं अनुसूची में सम्मिलित कर ली जानी चाहिए (सारणी 1) । किंतु यह समझ भी इतनी कमजोर है कि किसी भी गुट की मांग को इसके आधार पर रोकना कठिन है । ये मांगें धीरे-धीरे इतनी बलवती हो जाती हैं कि वे सरकार को भयाक्रांत कर देती हैं । इसलिए यह उचित होगा कि संविधान में यह या कोई अन्य मानक सम्मिलित कर दिया जाए जिससे इन पृथक्तावादी ताकतों से लड़ाई करने में सरकार के हाथ मजबूत हों । कुछ तदर्थ हल ढूंढने का प्रयत्न राष्ट्र के लिए खतरनाक हो सकता है ।

राज्यों में वित्तीय अपर्याप्तता ।

परिसंघ प्रणाली के कार्यकरण पर दृष्टिपात करें तो इसमें संदेह नहीं कि 1949 के संविधान द्वारा राज्यों को जो वित्तीय संसाधनों का आबंटन किया गया था वह राज्य के विधिक कृत्यों को चलाने के लिए अपर्याप्त था । 1980 के निर्वाचन के पश्चात् प्रत्येक निर्वाचन में यह देखने में आया कि जो दल केंद्र में सत्तारूढ़ था वह दल सब राज्यों में शासक दल नहीं था । अर्थात् विभिन्न विचारधाराओं वाले दल देश के विभिन्न भागों में सत्तारूढ़ हैं । ये दल बार-बार यह मांग करते रहे हैं कि वित्तीय उपबंधों का पुनरीक्षण किया जाए । इसलिए संघ को चाहिए कि वे राजनीतिक स्तर पर राज्यों के साथ बैठकर इस बात का पुनरीक्षण करें कि वित्तीय उपबन्धों को कैसे परिवर्तित किया जाए कि उससे राज्यों की मांगों की पूर्ति हो सके और उन्हें अधिकाधिक स्वायत्तता मिल सके ।[27] यह राष्ट्रीय सुरक्षा से संगत रूप से होना चाहिए । इसे खोजने के बाद इस निष्कर्ष को क्रियान्वित करना होगा जिससे कि संघ और राज्य विपरीत दिशा में न जाएं और देश की एकता और सामर्थ्य यथावत् बनी रहे । इसमें संघ और राज्य दोनों से ही बुद्धिमत्तापूर्ण आचरण की अपेक्षा है । किसी भी दल को यह नहीं भूलना चाहिए कि परिसंघ प्रणाली का आधार परिसंघ भावना बनाए रखना है । संक्षेप में भारत सरकार को यह अनुभव करना चाहिए कि राज्यों के बिना उनका काम नहीं चल सकता और भारत की सामर्थ्य है विशेषकर सीमावर्ती राज्यों की सामर्थ्य । दूसरी ओर पश्चिमी बंगाल और जम्मू-कश्मीर को यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि शक्तिशाली विदेशी आक्रमण के विरुद्ध संघ की सुरक्षा के बिना उनका कोई राजनीतिक अस्तित्व नहीं रह सकता । यदि विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्य, संघ को अपना शत्रु या प्रतिपक्षी मानते हैं तो यह परिसंघ के लिए आत्मघाती होगा ।[28] फिर भी इन राज्यों के इस कथन में बहुत अधिक सत्य है कि जब तक उन्हें अधिक वित्तीय स्वायत्तता नहीं मिलती तब तक यह तथाकथित स्वायत्तता खोखली है । जैसे ही सरकार को संविधान में महत्वपूर्ण संशोधन करने की सामर्थ्य मिल जाती है वैसे ही इस विषय से संबंधित संविधान के उपबंधों का पुनरीक्षण किया जाना चाहिए ।[28]

जिन विषयों से राज्यों के हित पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है किंतु संघ की एकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता उनके बारे में राज्य से परामर्श करने और उनकी सहमति

प्राप्त करने पर अधिक बल दिया जाना चाहिए जिससे कि भारत में वास्तविक रूप से सहकारी परिसंघ की स्थापना हो सके ।

न्यायिक पुनर्विलोकन ।

V. संविधान के प्रारंभ होने के पश्चात् भारत की जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है वह है वरिष्ठ न्यायालयों द्वारा पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग । जब तक इस शक्ति का प्रयोग न्यायालयों द्वारा प्रभावी रूप से और निर्भयता के साथ किया जाता है तब तक इस देश तक इस देश में लोकतंत्र सुनिश्चित है और तब तक संविधान बना रहेगा चाहे उसमें जितनी भी कमी हो । उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के समक्ष सांविधानिक रिटों के लिए जिस बड़ी संख्या में आवेदन होते हैं उससे यह प्रकट होता है कि भारत में "मर्यादित सरकार है" या "विधि का शासन है व्यक्तियों का नहीं" । हमारे उच्चतम न्यायालय ने कार्यपालिका के विरुद्ध, अत्याचारी विधान के विरुद्ध और विधान मंडल के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की । जब कभी विधान मंडल ने व्यक्ति के विरुद्ध या न्यायाधीशों के विरुद्ध अपने विशेषाधिकारों पर अत्यधिक बल दिया तब उच्चतम न्यायालय ने उस पर रोक लगा दी ।[29]

साथ ही यह संप्रेक्षण करना भी उचित होगा कि हमारे संविधान के कार्यकरण के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षों में मूल अधिकारों की प्रत्याभूति और न्यायिक पुनर्विलोकन को पूरा कार्य करने का अवसर नहीं मिला क्योंकि एक काफी बड़ी अवधि में आपात की उद्घोषणाओं ने उन्हें शिथिल कर दिया था ।

इस बात को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता कि अनुच्छेद 358 और अनुच्छेद 359 के अधीन आदेशों के प्रवर्तन के कारण 13 वर्ष की अवधि तक अनुच्छेद 14, 19, 21 और 22 निलम्बित बने रहे । वैसे तो आपात उपबंध भी भारत के संविधान के ही अंग हैं और इतिहास से यह सिद्ध होता है कि असाधारण परिस्थितियों का सामना करने के लिए ऐसी शक्तियों की आवश्यकता है किंतु यदि आपात उपबन्धों के लागू किए जाने से संविधान के कई लक्षण गौण हो जाते हैं तो "प्रसामान्य" और "आपात" उपबंधों के बीच का संतुलन बिगड़ जाता है । जनता सरकार ने अनुच्छेद 352 और 356 के आपात उपबंधों को मर्यादित करने के लिए 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा इस शक्ति के प्रयोग पर संसद् का नियंत्रण कठोर कर दिया है । किंतु आपात को छोड़ दें तो भी संविधान के अनेकों संशोधनों द्वारा मूल अधिकार क्षीण होते गए हैं । हाल ही में मूल अधिकारों के स्थान पर निदेशक तत्वों को प्राथमिकता दिए जाने से उनकी स्थिति और भी बिगड़ गई है ।

जैसा पूर्ववर्ती संस्करण में बताया गया था इन प्रतियोगी हितों के बीच संघर्ष को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सांविधानिक संशोधन के सभी प्रस्ताव एक ऐसे तंत्र के माध्यम से हों जो विशेषज्ञ भी हों और जो उसकी वस्तुनिष्ठ ढंग से परीक्षा कर सकें । सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि में परिवर्तन के साथ-साथ संविधान का भी प्रगामी अनुकूलन हो सके ।[30] सरकारिया आयोग से यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि वह केन्द्र राज्य संबंधों तक ही सीमित था ।

न्यायिक पुनर्विलोकन के नूतन सिद्धांत ।

जिस प्रकार गुलाब में कांटे होते हैं उसी प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन में भी कुछ कंटक हैं । पिछले दशक के दौरान हमारे उच्चतम न्यायालय ने कुछ नवीन सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं जैसे "आधारिक संरचना" या "आधारिक लक्षण" या "भविष्यलक्षी अध्यारोहण" । इनके लिए भारत के संविधान में कोई स्पष्ट आधार नहीं है । प्रस्तुत संदर्भ में यह बताना

पर्याप्त होगा कि यदि यह प्रवृत्ति रोकी नहीं जाती है तो इसके गलत परिणाम होंगे चाहे इन न्यायिक नूतनताओं के निर्माताओं के आशय कितने भी उत्तम क्यों न हों, उदाहरण के लिए –

(क) इसके कारण भ्रम और अनिश्चितता होगी । संविधान के बहुत से संशोधनों द्वारा पहले ही इनमें वृद्धि हो गई है । लिखित संविधान का उद्देश्य राजनीतिक प्रणाली में निश्चितता और व्यवस्था लाना होता है किंतु जनता के लिए, प्रशासकों के लिए और स्वयं न्यायालयों के लिए भी यह दुख का विषय है कि अनिश्चितता और भ्रम बढ़ते जा रहे हैं ।

(ख) जब विधान मंडल और न्यायपालिका, संशोधन या न्यायिक सक्रियतावाद के माध्यम से एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं तो कड़वाहट बढ़ जाती है ।

(ग) यह कोई नहीं कह सकता कि किन-किन क्षेत्रों में इन नवीन सिद्धांतों का विस्तार किया जाएगा । क्योंकि इसमें अंतिम वचन उच्चतम न्यायालय का ही होगा । इसका परिणाम यह होगा कि संविधान का संशोधन न्यायपालिका के द्वारा होगा जब कि संविधान का अनुच्छेद 368 विनिर्दिष्ट रूप से यह शक्ति विधायी तंत्र को सौंपता है ।

अल्पसंख्यकों की मांग से खतरनाक राष्ट्रविरोधी प्रवृत्तियां ।

VI. यदि हम 1980 के साधारण निर्वाचन से धार्मिक-अल्पसंख्यकों की आक्रामक मांगों से प्रकट होने वाली शंका उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति का उल्लेख नहीं करते हैं तो यह अध्याय अपूर्ण रहेगा । उनकी ये मांगें विद्यमान संविधान के आधार के विरुद्ध हैं और हमारे देश के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का अनादर करने के लिए हैं । ये इस आधार पर नहीं आई कि वह निर्णय संविधान के उपबंधों से असंगत है बल्कि इसलिए कि धार्मिक अल्पसंख्यकों की पृथक्तावादी मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है । स्वतंत्रता के बाद इस प्रवृत्ति का दुखद लक्षण यह है कि अल्पसंख्यकों ने अपने मतों को सदैव दांव पर रखा है और बहुसंख्यक समुदाय के विभिन्न दलों के राजनेताओं ने लालच में पड़कर अपनी निर्वाचन घोषणाओं में उनकी बातों को माना है । हमारे स्वतंत्र भारत में न तो आदर्शों का ध्यान रखा जाता है और न विद्यमान संविधान के आधारों का । इस पृष्ठभूमि में निष्पक्ष अध्येताओं का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे राष्ट्रवादी भारतीय के रूप में (प्रत्येक भारतीय नागरिक के बारे में यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि वह कुछ संकीर्ण राजनीतिक आकांक्षाएं रखता है) यह बताए कि अल्पसंख्यकों की इन राष्ट्रविरोधी मांगों को स्वीकार करने से भारत खंड-खंड हो जाएगा (ये मांगें मुसलमानों द्वारा रखी गई थीं किंतु अब ईसाई, सिख, बौद्ध जैसे अन्य अल्पसंख्यक भी उन्हें अपने साम्प्रदायिक या सामूहिक हितों के लिए दोहरा रहे हैं) । इन्हें स्वीकार करने से मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में एक दूसरा पाकिस्तान बनेगा,[31] ईसाइयों के लिए ईसाइस्तान बनेगा[32] या मुसलमानों के लिए इस्लामी गणतंत्र बनेगा[31] या सिखों के लिए खालिस्तान बनेगा या बौद्धों के लिए बुद्ध गणतंत्र की स्थापना होगी । यह दुख और सोच का विषय है कि 1991 में दसवीं लोक सभा के निर्वाचन के लिए कांग्रेस (आई) और जनता दल ने जो घोषणा पत्र निकाला था उसमें अल्पसंख्यकों के लिए नौकरियों में और सैन्य बलों में आरक्षण करने का वचन दिया था । केरल और बिहार में मुस्लिम बहुत जिलों का निर्माण भी अलगाववाद को स्वीकार करना है ।

इन सब राजनीतिक अल्पसंख्यकों द्वारा प्रस्तुत मांगों पर पूरी तरह से विचार करना इस पुस्तक में संभव नहीं होगा किंतु पाठक को चाहिए कि वह लेखक की *कमेंट्री आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया,* छठे संस्करण की जिल्द डी के पृ. 217-28, 232-37 का अवलोकन करें । ये पृष्ठ 1978 में लिखे गए थे किंतु अल्पसंख्यकों के उद्देश्यों के

खतरे का पूर्वानुमान कर लिया गया था । इनमें जो स्थूल प्रस्थापनाएं हैं उन्हें साधारण पाठक के विचार के लिए नीचे लिखा जा रहा है :—

अ. अल्पसंख्यक समुदायों की एक प्रमुख मांग उनकी संख्या के आधार पर विधान मंडलों में और सेवाओं में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की है ।[33]

यह वास्तव में उसी मांग का पुनरुज्जीवन है जो ब्रिटिश प्रधान मंत्री रैमसे मैकडोनाल्ड ने भारत की राज व्यवस्था में "साम्प्रदायिक अधिनिर्णय" के रूप में दी थी और जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा भारत के रक्तपूर्ण विभाजन में हुआ ।

यह राष्ट्रविरोधी कार्य दुबारा न हो इसलिए स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माताओं ने उद्देशिका में राष्ट्र की एकता को उद्देश्य के रूप में रखा जिसमें किसी व्यक्ति के धर्म, रंग या समुदाय के आधार पर आरक्षण या प्रतिनिधित्व का उत्सादन होगा और यदि अब ऐसा कोई आरक्षण किया जाता है तो वह अनुच्छेद 15(1) और 16(1)-(2) में दी गई समानता की प्रतिभूति का उल्लंघन होगा । यह बात हमारे उच्चतम न्यायालय ने भी स्पष्ट कर दी है ।[34] इन सब प्रत्याभूतियों में यह स्वीकार किया गया है कि पिछड़े वर्गों के हितों के लिए कुछ आरक्षण या अन्य विशेष उपबन्ध करना सांविधानिक होगा जिससे कि कोई समुदाय जो सामाजिक या आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ है विद्यमान संविधान के अधीन विशेष स्थिति पाने का हकदार है चाहे वह किसी भी धर्म का क्यों न हो । किंतु मुस्लिम या ईसाई अल्पसंख्यक इससे संतुष्ट नहीं । वे इसलिए आरक्षण चाहते हैं कि कोई व्यक्ति मुसलमान है या ईसाई है चाहे वह कितना ही धनिक क्यों न हो । किंतु ऐसे व्यक्ति के लिए विशेष उपबन्ध करना बहुसंख्यकों के विरुद्ध विभेदकारी होगा और अनुच्छेद 15-16 द्वारा प्रत्याभूत समता के अधिकार का उल्लंघन होगा ।

इतने स्पष्ट रूप से राष्ट्रविरोधी मांगों को स्वीकार करने के लिए संविधान के इतने अधिक संशोधन करने होंगे कि पिछले पच्चीस वर्षों में उच्चतम न्यायालय ने समता के बारे में जो सिद्धांत बनाए हैं उनका अंतिम संस्कार हो जाएगा[34] और हमारे संविधान में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का वह राक्षस फिर स्थान पा लेगा जिसे संविधान निर्माताओं ने देश निकाला दे दिया था ।

आ. अल्पसंख्यक समुदाय की एक और मांग यह है कि देसाई सरकार के दौरान प्रशासनिक रूप से जिस अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की गई थी उसे सांविधानिक आधार दिया जाए और उसकी सिफारिशों को बाध्यकर माना जाए ।[33]

विद्यमान संविधान के अधीन अनेक अन्वेषणकारी आयोग हैं उन सभी को सिफारिश करने का अधिकार है । यदि उनका प्रस्ताव मान लिया जाता है तो इसका अर्थ होगा अल्पसंख्यक आयोग की सरकार । जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को जो शक्ति दी गई है वह शक्ति छिन जाएगी । सर सैमुअल होर ने लोक सेवा आयोग की सिफारिशें सरकार पर आबद्धकर बनाने के सुझाव को नामंजूर करते हुए यह कहा था (अध्याय 27) —

> "खतरा यह है कि यदि आप उन्हें आज्ञापक शक्ति देंगे तो आप दो सरकारें स्थापित कर देंगे ।"

उस समय क्या होगा जब कि अल्पसंख्यक आयोग के सदस्य (जो विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों के प्रतिनिधियों से मिलकर बना हुआ निकाय होगा) आपस में सहमत नहीं होते हैं (पहले भी ऐसा हो चुका है । तत्कालीन आयोग के सदस्य प्रोफेसर जान ने एक तर्कसंगत विलेख में यह बताया था कि कैसे उनके कुछ सहकर्मियों का दृष्टिकोण अयुक्तियुक्त, राष्ट्रविरोधी और बहुसंख्यक समुदाय के विरुद्ध था) ।[35] जब आयोग इस प्रकार विभाजित होगा तो यह स्पष्ट है कि सरकार को यह विवेकाधिकार होगा कि वह यह देखे कि कौन

सा दृष्टिकोण युक्तियुक्त है और राष्ट्र के हित में है । जब अल्पसंख्यक आयोग एक आवाज़ में बोलता है तब भी उसकी आवाज़ आज्ञापक नहीं हो सकती क्योंकि वह जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं है । संक्षेप में इस मांग को मंजूर कर लेने का अर्थ होगा प्रतिनिधि लोकतंत्र की संस्था का विनाश करना । यह वर्तमान संविधान का प्राण है और उद्देशिका से लेकर अंत तक संविधान में ओतप्रोत है ।

अल्पसंख्यक आयोग की अधिकारिता क्या होगी, ऐसी सिफारिश का क्या किया जाएगा जो आयोग के शक्ति बाह्य है या उसकी अधिकारिता के बाहर है और इस बात का कौन विनिश्चय करेगा कि उसकी सिफारिशें उसकी अधिकारिता में हैं या नहीं । इन सब बातों को देखते हुए भी यदि अल्पसंख्यक आयोग की सिफारिशों को आबद्धकारी किया जाता है तो इतना भ्रम और अव्यवस्था होगी कि उसे संभालना मुश्किल होगा । इसका हम एक ठोस उदाहरण देते हैं,

विद्यमान संविधान के अधीन ऐसे आयोग के लिए उचित अधिकारिता वे सब विषय होंगे जो अनुच्छेद 25-30[36] में सम्मिलित हैं । यदि इसके होते हुए भी आयोग के कुछ सदस्य अल्पसंख्यक समुदायों के सदस्यों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व या सेवाओं में आरक्षण का समर्थन करते हैं और आयोग की या आयोग के बहुमत की सिफारिशों को सांविधानिक रूप से सरकार पर आबद्धकर किया जाता है, इस बात के होते हुए भी कि इन सिफारिशों का परिणाम राष्ट्रविरोधी होगा, तो इसका अर्थ यह होगा कि अल्पसंख्यकों ने बहुमत को शासन से हटा दिया है और हमने अपनी मातृभूमि के विभाजन के रूप में कीमत चुकाते हुए जिस स्वतंत्रता की प्राप्ति की है वह समाप्त कर दी गई है ।

संसद् ने 17 मई, 1992 को राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 पारित करके एक सांविधिक आयोग के गठन का उपबंध किया है । अधिनियम के अनुसार "अल्पसंख्यक" वह समुदाय है जो केन्द्रीय सरकार अधिसूचित करे । 1 नवंबर, 1992 तक आयोग गठित नहीं किया गया ।

इ. मुसलमानों की ओर से यह मांग भी की गई है कि भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में एक समान सिविल संहिता स्थापित करने का जो निदेश अनुच्छेद 44 में है वह मुसलमानों को लागू नहीं होना चाहिए । मुसलमानों को उनकी व्यक्तिगत विधि के रूप में शरियत लागू होनी चाहिए ।[37] यह मांग भी हमें पीछे की ओर ढकेलती है । जब संविधान बनाया गया तब इन सब दावों पर विचार किया गया था और उन्हें इस आधार पर नामंजूर किया गया था कि विवाह, विरासत आदि जो व्यक्तिगत विधि के प्रवर्ग में आते हैं ऐसे विषय हैं जिनका धर्म से कोई सारवान् संबंध नहीं है[38] और भारत के लोग जो विभिन्न प्रकार के हैं समान सिविल संहिता बनाए जाने पर राष्ट्र के रूप में एक हो जाएंगे । अनुच्छेद 44 का उपबन्ध भ्रातृत्व और राष्ट्र की उन्नति और अखंडता के उद्देश्य की पूर्ति मात्र है । यह उद्देश्य हमारे संविधान की उद्देशिका में उल्लिखित है और अब अनुच्छेद 51क(ग), (ङ) (देखिए अध्याय 8) में बताए गए मूल कर्तव्य से इसे बल मिलता है ।

यह उल्लेखनीय है कि जब भारत के विधि आयोग ने विवाह और विवाह-विच्छेद के लिए एक समान संहिता की रचना करने का कार्य प्रारम्भ किया था तब मुसलमानों ने और ईसाइयों ने इसका विरोध किया था और जिस सरकार ने इन विषयों से संबंधित शास्त्रीय विधि को छोड़ने के लिए हिन्दुओं को उत्प्रेरित किया था उसी सरकार ने राजनीतिक कारणों से अल्पसंख्यकों के विरुद्ध हथियार डाल दिए । अब जब कि संविधान में अनुच्छेद 51क समाविष्ट कर दिया गया है तब कोई भी सांविधानिक अधिवक्ता यह

कह सकता है कि यदि अल्पसंख्यक समुदाय का सदस्य अनुच्छेद 44 का विरोध करता है तो यह अनुच्छेद 51क का उल्लंघन होगा और वह सरकार जो उस मांग के सामने समर्पण करती है संविधान के उल्लंघन की दोषी होगी ।[39]

यह विचित्र बात है कि तुर्की, बांग्लादेश जैसे मुस्लिम राज्यों ने बहु विवाह का उत्सादन कर दिया है या उसे नियंत्रित कर दिया है, पाकिस्तान में भी इसे घटाया जा रहा है किंतु भारत के मुसलमान शरियत पर आधारित अपने धार्मिक अधिकार को बनाए रखने के लिए[40] जोर लगा रहे हैं और यह भी चाहते हैं कि भारत के संविधान में मूल अधिकार के रूप में उसकी रक्षा की जाए ।[41]

इसके विरुद्ध *शाहबानो* के वाद में[42] उच्चतम न्यायालय के निर्णय को उलटने के लिए केन्द्र सरकार ने 1986 में एक अधिनियम पारित करके मुस्लिम स्त्रियों को उनके सामान्य अधिकारों से वंचित कर दिया । आधुनिक सभ्य देश के लिए यह अधिनियम लज्जाजनक है । इस अधिनियम से संविधान की उद्देशिका में प्रकल्पित राष्ट्र की एकता को आघात पहुंचता है । इसके परिणामस्वरूप प्रगतिशील मुस्लिम राष्ट्रों की दृष्टि में भी भारत एक पिछड़ा और दकियानूसी राष्ट्र हो गया ।

इस सबके होते हुए भी राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के विधि मंत्री ने यह घोषणा की है कि समान सिविल संहिता तभी अंगीकार की जाएगी जब अल्पसंख्यक समाज उसकी मांग करे ।[43] सबके मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या किसी को संविधान के अनुच्छेद 44 में ये शब्द जोड़ने का प्राधिकार है । अच्छा होगा कि संसद् की दीवाल पर अनुच्छेद 44 को लिख दिया जाए —

"राज्य, भारत के समस्त राज्यक्षेत्रों में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा ।"

ई. यदि एक बार किसी एक समुदाय को राष्ट्रविरोधी मांगों को रखने के लिए अनुज्ञा दे दी जाए तो यह स्वाभाविक ही है कि अन्य अल्पसंख्यक समुदाय भी ऐसे विशेषाधिकारों की मांग करेंगे जो उनके हित में हों ।[39] वे हरिजन जो बौद्ध हो गए हैं चाहते हैं कि हिंदू धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म में संपरिवर्तित हो जाने के बाद भी भाग 3 और 16 में अनुसूचित जातियों के लिए विशेष आरक्षण के लिए उन्हें अनुसूचित जातियां समझा जाए ।[39-44] दुर्भाग्यवश यह मांग 1990 में स्वीकार कर ली गई ।[44]

हिंदू धर्म से अन्य धर्मों में संपरिवर्तित लोगों के दावे ।

कोई भी निष्पक्ष अवलोकनकर्ता इस बात पर आश्चर्य करेगा कि कैसे बौद्ध, मुसलमान या ईसाई संपरिवर्तियों द्वारा किए गए ऐसे दावे को "अनुसूचित जाति" अभिव्यक्ति के इतिहास और अर्थ को देखते हुए माना जा सकता है । सबसे पहले तो हमें यह ध्यान देना चाहिए कि यह अभिव्यक्ति स्वतंत्र भारत के संविधान में नहीं गढ़ी गई थी । इसका मूल है अनुसूचित जाति आदेश, 1936 का पैरा 2 जो भारत शासन अधिनियम, 1935 की अनुसूची 1 के पैरा 26 के निदेश के अनुसरण में निकाला गया था । इसका उद्देश्य था उन वर्गों का अवधारण जो दलित हैं (जिन्हें महात्मा गांधी हरिजन कहते थे) । संविधान के पहले के 1936 के अनुसूचित जाति आदेश में यह स्पष्ट रूप से घोषित किया गया था कि कोई व्यक्ति जो भारतीय ईसाई है या जो बौद्ध धर्म का है या किसी जनजाति धर्म का अनुयायी है अनुसूचित जाति का सदस्य नहीं माना जाएगा चाहे वह मूल रूप से इस आदेश में विहित अनुसूचित जाति की सूची में रहा हो । 1936 के आदेश के इस उपबन्ध के विरोध में किसी आंग्ल-भारतीय या बौद्ध ने कोई आक्षेप नहीं किया था ।

संविधान के निर्माताओं ने पक्षपातपूर्ण व्यवहार के लिए दो प्रवर्ग बनाए — (क) अनुसूचित

जातियां और (ख) सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछडे वर्ग चाहे वे अनुसूचित जाति की सूची में न आते हों [अनुच्छेद 15(4)] । अनुसूचित जातियों का पृथक् वर्ग इसलिए बनाए रखा गया कि हिंदुओं और सिखों के सामाजिक इतिहास के कारण उनमें जाति प्रथा विद्यमान थी और इस जाति प्रथा के कारण दुर्गुण उत्पन्न हुआ था । ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म या इस्लाम में कोई जाति प्रथा नहीं है ।[39, 44] इसी विशेष कारणवश भारत शासन अधिनियम, 1935 के और उसके अधीन आदेश के निर्माताओं ने उन लोगों के पक्ष में कोई आरक्षण नहीं रखा जो हिंदू धर्म छोड़ कर किसी अन्य धर्म में चले जाते हैं ।

1950 के अनुसूचित जाति आदेश में, जो संविधान के अधीन बनाया गया है यह कथित है (पैरा 3) कि यदि कोई व्यक्ति हिंदू या सिख धर्म से भिन्न किसी धर्म का अनुयायी है तो वह अनुसूचित जाति का नहीं समझा जाएगा । डा. अम्बेडकर के नेतृत्व में बौद्ध धर्म में संपरिवर्तित व्यक्तियों ने इस अभिवचन की विधिमान्यता को चुनौती दी थी किंतु उच्चतम न्यायालय की सांविधानिक पीठ ने एकमत से इसे नामंजूर कर दिया ।[44] यह तथ्य सर्वत्र स्वीकार है कि जो धर्मांतरण करने वाले मत हैं जैसे ईसाई, इस्लाम या बौद्ध मत उनके शिकार हिंदू होते हैं । इनका उद्देश्य यह है कि उच्चतम न्यायालय के पूर्वोक्त विनिश्चय को उलट दिया जाए । यदि कोई सरकार हिंदू धर्म छोड़ने वालों की मांगों को स्वीकार करने की ओर झुकती है तो वे एक धर्म से दूसरे धर्म में संपरिवर्तन का दुष्प्रेरण होगा और यह हिंदू धर्म जैसे धर्म परिवर्तन विरोधी धर्म पर आक्रमण होगा जो संविधान के अनुच्छेद 25 में पंथ निरपेक्षता की प्रत्याभूति के प्रतिकूल है ।

यदि संपरिवर्तियों में से कोई "सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग" प्रवर्ग में आता है तो उन्हें [अनुच्छेद 15(4), 16(3)] के अधीन विशेषाधिकार पाने का हक होगा। किंतु यह भिन्न बात है ।[44]

संविधान (अनुसूचित जातियां) आदेश (संशोधन) अधिनियम, 1990 द्वारा आरक्षण की सुविधा उन लोगों को भी दी गई है जिन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया है । इससे राष्ट्र की एकता और क्षीण होगी ।

जो लोग विद्यमान संविधान के स्थान पर अल्पसंख्यकों के नए अधिकारों को प्रत्याभूत करने की वकालत करते हैं वे भारत में अल्पसंख्यकों की स्थिति को युद्ध के पश्चात् यूरोप में अल्पसंख्यकों की अंतरराष्ट्रीय समस्या से भेद न करने की भूल करते हैं । युद्ध के पश्चात् यूरोप में अल्पसंख्यकों के अधिकारों के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय आंदोलन चला था ।

भारत में अन्तरराष्ट्रीय अर्थ में कोई अल्पसंख्यक समस्या नहीं है ।

(क) अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में अल्पसंख्यक समुदायों की सांस्कृतिक या भाषिक अस्मिता की रक्षा के लिए विशेष रक्षोपायों की मांग इस सिद्धांत से उत्पन्न हुई है कि युद्ध या किसी अन्य कारणवश किसी राज्यक्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों की सहमति के बिना राज्यक्षेत्र में परिवर्तन किए जाने से ऐसे समुदायों की अस्मिता उनके नियंत्रण के बाहर की कुछ परिस्थितियों से विनष्ट हो गई । उनकी जातीय अस्मिता को बनाए रखना आवश्यक मानकर अंतरराष्ट्रीय चार्टर और राष्ट्रीय संविधानों के माध्यम से उनकी रक्षा के लिए उपाय किए गए ।

इसके विपरीत भारत के विभाजन के बाद भी कुछ मुस्लिम समुदाय भारत में बने रहे । स्वतंत्रता के पूर्व मुस्लिम समुदाय की मांग उनके स्वीकृत नेता जिन्ना द्वारा की जाती थी । वह मांग यह थी कि मुसलमानों के लिए एक पृथक् देश हो क्योंकि यह कहा जाता था कि मुसलमान हिंदुओं से भिन्न राष्ट्र हैं । ब्रिटिश शासकों ने राष्ट्रवादी भारतीयों के इस तर्क को नहीं माना कि भारत में निवास करने वाले मुसलमान, हिंदू और अन्य लोग

मिल कर एक राष्ट्र हैं दो या अधिक नहीं । इस दो राष्ट्रों के सिद्धांत को स्वीकार करने का दुखद परिणाम भारत का विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण हुआ । इस विभाजन के परिणामस्वरूप भारत के हिंदू नेता इस बात पर जोर दे सकते थे कि पाकिस्तान और भारत के बीच जनसंख्या का विनिमय हो जाए जिससे विभाजित भारत के सभी मुसलमान पाकिस्तान चले जाएं किंतु उन्होंने किसी भी मुसलमान को भारतीय के रूप में भारत में रहने से रोका नहीं । जो भारत में रहे वे अपनी इच्छा से और अपने विकल्प पर रहे । विभाजन की मांग उन्हीं के समुदाय ने की थी । वह ऐसी परिस्थिति का परिणाम नहीं था जो उनके नियंत्रण में नहीं थी । वह परिस्थिति द्वितीय विश्व युद्ध जैसी कोई परिस्थिति नहीं थी जिसके कारण विश्व में अन्तरराष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की समस्या उत्पन्न हुई ।

हिंदू नेताओं के उदारवादी दृष्टिकोण के अनुरूप स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माताओं ने अन्तरराष्ट्रीय चार्टर के समान अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए कुछ उपबन्ध बनाए किंतु ये उपबन्ध सभी धार्मिक, *भाषिक* और सांस्कृतिक अल्पसंख्यक समुदायों को दिए गए केवल मुसलमानों को नहीं । जिन मुसलमानों ने पाकिस्तान न जाने का निश्चय किया उन्होंने अपनी आंखे खोलकर यह निर्णय किया था । यह उन्होंने प्रारूप संविधान के अधीन रक्षोपायों को देखते हुए किया होगा । उनके साथ ऐसी कोई प्रसंविदा नहीं की गई कि उन्हें अपने जातीय हित के लिए अधिकाधिक मांग करने के लिए अनुज्ञात किया जाएगा ।

(ख) अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में यह स्पष्ट कर दिया गया है[45] कि अल्पसंख्यकों को रक्षोपाय देने का एकमात्र उद्देश्य यह था कि जो बहुसंख्यक समुदाय प्रातिनिधिक लोकतंत्र प्रणाली के अधीन देश का प्रशासन कर रहा है वह उनके साथ विभेद न करे । किंतु इसमें शर्त यह है कि अल्पसंख्यक उस राष्ट्र के प्रति निष्ठावान बने रहें जिसके वे राष्ट्रिक हैं[45] और अपनी स्थिति का लाभ उठाकर राज्य के भीतर राज्य न बनाएं ।

भारत के संविधान के निर्माताओं ने भी सरल मन से यह विश्वास करते हुए कि पंथनिरपेक्ष राज्य की स्थापना (अर्थात् ऐसे राज्य की स्थापना करके जिसका अपना कोई धर्म नहीं है और जो सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार करता है) करके और अल्पसंख्यकों की धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषाई अस्मिता के परिरक्षण के लिए रक्षोपाय करने से केवल मुसलमानों के लिए नहीं बल्कि इन सब अल्पसंख्यकों के लिए जो भारत के नागरिक के रूप में भारत में रह गए थे, सब लोक भ्रातृत्व के बंधन से राष्ट्र के रूप में जुड़ जाएंगे (उद्देशिका) । किंतु मुस्लिम समुदाय ने यह स्वीकार करने से इंकार कर दिया । उनकी मांग भारत के भीतर मुसलमानों के लिए एक नया गृह राज्य स्थापित करने की है ।[46] उसी प्रक्रिया से जिससे कि एक पृथक् पाकिस्तान बना था । यही नहीं वे चाहते हैं कि यदि संभव हो तो इस्लामी राज्य की स्थापना की जाए ।[47] अभी कुछ दिन पहले एक उत्तरदायी मुस्लिम नेता ने यह कहा था "हम मुस्लिम पहले हैं और भारतीय बाद में । भारत की मुख्य धारा मुस्लिम संस्कृति है और अन्य लोगों को चाहिए कि वे उसमें जुड़ जाएं ।"[48]

भारत के संविधान का विद्यार्थी आश्चर्यचकित होकर यह सोच सकता है कि क्या यह कथन भारत के संविधान के निम्न उपबंधों के प्रतिकूल है या नहीं ।[49] उद्देशिका-संविधान के 16वें संशोधन अधिनियम, 1963 द्वारा संशोधित अनुच्छेद 19(2), अनुच्छेद 51क(ग), (ङ) और क्या यही उद्देश्य था जिसके लिए भारत के राष्ट्रवादियों ने स्वतंत्रता पाने के लिए अपनी मातृभूमि के एक भाग को खोने के लिए सहमति दी थी ।[50]

(ग) मैं अत्यंत दुख के साथ यह बताना चाहता हूं कि कुछ ऐसे मुसलमान हैं जो

भारत को अपनी मातृभूमि मानने के लिए भी तैयार नहीं हैं । इस आधार पर कि कांग्रेस के 1896 के अधिवेशन में बंकिम चंद्र ने जो वंदे मातरम् स्वीकार किया था उस गीत में मातृभूमि को देवी के रूप में माना गया है और ईश्वर को किसी भी प्रकार का आकार देना मूर्ति पूजा है जो इस्लाम के विरुद्ध है । इस विषय में मैं पाठक को *इंडिया*, 1981 के पृ. 13 के प्रति निर्दिष्ट करता हूं जिसमें इस उक्ति के पहले पैरा का अनुवाद दिया हुआ है (यह अनुवाद श्री अरविंद का है) । जिस भूमि से हमने जन्म लिया है और जो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में दूध और शहद देकर हमारी जीवन रक्षा करती है उसके प्रति आभार प्रकट करना केवल इसी कारण मूर्ति पूजा नहीं हो जाती कि हम उसे माता कहते हैं ।[51] वस्तुतः अपने उद्‌भव के देश को मातृभूमि या पितृभूमि कहकर ही वर्णन किया जा सकता है । कुछ ऐसे राजनेता जो स्वयं मुसलमान नहीं हैं कभी-कभी अल्पसंख्यक समुदायों से कुछ राजनीतिक लाभ उठाने के लिए राजनीतिक भावनाओं को भड़काते हैं । यहां रूस और चीन के संविधानों के सुसंगत उपबंधों को उद्धरित करना सुसंगत होगा । इन दोनों देशों में पर्याप्त संख्या में मुसलमान हैं और उन्हें बिना चूं-चपड़ के इन उपबन्धों की शपथ लेनी पड़ती है ।

पूर्व सोवियत संघ के 1977 का अनुच्छेद 62 इस प्रकार है, —

> "रूस के प्रत्येक नागरिक का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह समाजवादी मातृभूमि की रक्षा करे । मातृभूमि के प्रति द्रोह से अधिक गम्भीर कोई अपराध नहीं है ।"

चीनी गणतंत्र के 1982 के संविधान का अनुच्छेद 55 इसी प्रकार स्पष्ट है :

> "प्रत्येक नागरिक का यह पावन कर्तव्य है कि वह मातृभूमि की रक्षा करे और आक्रमण का प्रतिकार करे ।"

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि तुर्की के तत्समय सत्तारूढ़ दल का नाम मातृभूमि दल है । बांग्लादेश रेडियो का मध्याह्न कार्यक्रम राष्ट्रीय गीतों से प्रारम्भ होता है जिनमें एक गीत के शब्द हैं "ओ मां बांग्लादेश . . ." ।

कोई भी व्यक्ति जिसकी बुद्धि ठिकाने है यह मानेगा कि यदि कोई बात भारत के बाहर इस्लाम विरोधी नहीं है तो वह भारत में केवल इसीलिए इस्लाम विरोधी नहीं हो सकती कि प्रत्येक दल जो सत्ता में आना चाहता है मुसलमानों के वोट की आकांक्षा करता है ।

राष्ट्रीय भावना का अभाव ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस देश में जिसमें विभिन्न मूलवंशों और धर्मों के लोग रहते हैं स्वतंत्रता तभी बनी रहेगी जब कि वह राष्ट्रीय भावना से एक होकर खड़ा हो । प्रत्येक अमरीकी चाहे वह अंग्रेज हो, हिब्रू हो, इटालियन हो या नीग्रो मूल का हो, अमेरिका को अपनी मातृभूमि मानता है जिसके लिए वह देश या विदेश में युद्ध करने के लिए तैयार रहता है और इसी कारण एक बलवान राष्ट्र के रूप में वह अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सके हैं यद्यपि उनकी जनसंख्या में मूलवंश, धर्म और संस्कृति के इतने अन्तर हैं । भारत में स्थिति इससे उलटी है । भारत में सांविधानिक और विधिक प्रश्नों को भी राजनीति से जोड़ा जाता है और राजनीति का एकमात्र अर्थ किया जाता है सत्ता की राजनीति । शायद ही कोई नेता अपने राजनीतिक दलों के हितों से अलग होकर राष्ट्र के हित की बात सोचता हो । निष्पक्ष अध्येता को संविधान के राजनीति निरपेक्ष निर्वचन से व्युत्पन्न निष्कर्ष अभिव्यक्त करने में खतरा है यद्यपि भारत में प्रत्येक व्यक्ति संविधान के प्रति निष्ठा अभिव्यक्त करता है । सत्ता की राजनीति में लगे हुए लोगों को यह विश्वास दिलाना कठिन है कि इस

देश में जन्मे प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह अपनी मातृभूमि से प्रेम करे और इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह कोई विशेष टोपी पहने या कोई विशेष रंग का झंडा उठाए ।

जनता के प्रतिनिधियों की संकीर्णता और स्वार्थपरकता का निर्लज्ज उदाहरण नवीं लोक सभा की अंतिम बैठक में देखने को मिला जब सासंदों ने सर्वसम्मति से अपनी पेंशन की दर में वृद्धि कर ली और जिन परिस्थितियों में पेंशन नहीं मिलती थी उनमें भी पेंशन देने का उपंबध कर लिया । यह सब तब किया जब कुछ ही देर पश्चात् संसद् का विघटन होने जा रहा था । उन्होंने इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा कि वित्तीय दायित्व डालने वाले विधेयक या संकल्प पुरःस्थापित करने के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश होना आवश्यक है । बिना सिफारिश के ऐसा विधेयक पुरःस्थापित नहीं हो सकता [संविधान का अनुच्छेद 117(1)] ।

संसदीय लोकतंत्र की असफलता ।

संसदीय लोकतंत्र की असफलता का इससे भी अधिक मौलिक कारण यह है कि इस दशाब्द के प्रारंभ से ही निर्वाचन में विजयी होने के लिए हिंसा का प्रयोग किया जाता है और अपने प्रतिद्वंदी को समाप्त कर दिया जाता है । यह जीत का सरल तरीका समझा जाता है । संसदीय लोकतंत्र का आधार मतपेटी होती है बंदूक नहीं ।

इंग्लैंड या अमेरिका में निर्वाचन अभियान में कोई जान नहीं जाती । सभी अभ्यर्थी एक ही मंच से संवाददाताओं और मतदाताओं को संबोधित करते हैं और समस्याओं को सुलझाने के लिए आनुकल्पिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं । निर्वाचक उनमें से किसी को नई सरकार के लिए चुन सकते हैं ।

इसके विपरीत भारत में जब कोई राजनेता यह तय कर लेता है कि उसे किसी भी प्रकार से निर्वाचन जीतना है तो वह अपने रक्तरंजित निर्वाचन अभियान में युवकों को उपकरण बनाता है । वह युवक ही मारते हैं और मरते हैं । नवंबर, 1989 के संसद् के साधारण निर्वाचन में जो मुठभेड़े हुईं उनमें 100 व्यक्तियों के प्राण गए । फरवरी, 1990 में राज्यों की विधान सभाओं के लिए जो निर्वाचन हुए उसमें भी मरने वालों की संख्या लगभग इतनी ही रही । 1991 में दसवीं लोक सभा के लिए जो निर्वाचन हुए उसमें मृतकों की संख्या 289 से अधिक थी । दुख की बात तो यह है कि एक मुख्य मंत्री ने यह खुली घोषणा कर दी कि निर्वाचन का परिणाम चाहे जो हो, रिटर्निंग आफिसर द्वारा प्रमाणपत्र देना मेरे नियंत्रण में है । इसे डींग हाकना नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके साथ ही विधिविरुद्ध तरीके अपनाए गए जिसके फलस्वरूप कुछ राज्यों में निर्वाचन आयोग को हस्तक्षेप करना पड़ा जैसा पहले कभी नहीं हुआ था ।

यह संसदीय लोकतंत्र नहीं है । लोकतंत्र पर घातक प्रहार है । यदि हमारी नई पीढ़ी इस प्रकार के नरसंहार को नहीं रोकती है तो भारत में लोकतंत्र विफल हो जाएगा । उन्हें चाहिए कि वे विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं के निंदनीय आदेशों का विरोध करें ।

युवा मतदाताओं की नई पीढ़ी ।

इस घोर अंधकार में आशा की किरण इस बात से दिखाई पड़ती है कि संविधान के 61वें संशोधन अधिनियम, 1988 द्वारा अनुच्छेद 326 का संशोधन करके मतदान की आयु को 21 से घटाकर 18 कर दिया गया है जिसके परिणामस्वरूप 1989 के साधारण निर्वाचन में बड़ी संख्या में युवा मतदाताओं ने भाग लिया । फलस्वरूप विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रखना संभव नहीं हो सकेगा । अभी तक विद्यार्थी शिक्षा संस्थाओं में जो कार्य छद्म रूप से कर रहे थे अब वे उसे साधिकार कर सकेंगे । प्रत्येक युवक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह

प्रत्येक राजनीतिक दल के उद्देश्यों की जानकारी प्राप्त करे और यह तय करे कि उसका झुकाव किसकी ओर है । इससे शालेय शिक्षा का तो ह्रास होगा किन्तु विद्यार्थियों की एक ऐसी पीढ़ी सामने आएगी जो यह अनुभव करेगी कि वह राजनीति के तंत्र का ऐसा उपकरण मात्र नहीं है जिसका राजनेता अपने स्वार्थ साधन के लिए प्रयोग करें । वे तो भारत में संसदीय लोकतंत्र की आधारशिला हैं ।

मतदान की आयु कम हो जाने से ही युवकों को प्रशासन में प्रवेश का अवसर एकाएक नहीं मिल जाएगा जब तक कि लोक सभा या राज्यों की विधान सभा में सदस्य के लिए अर्हक आयु 25 वर्ष है । 18 से 25 वर्ष की अवधि युवा पीढ़ी के लिए वह समय है जब वे व्यावसायिक राजनेताओं से सरकार की लगाम अपने हाथ में लेने के लिए तैयार हो जाएं । इन व्यावसायिक नेताओं ने देश को अनेक बार धोखा दिया है ।

इस बात का समय आ गया है कि वे यह अनुभव करें कि वे राजनैतिक नारेबाजी से या सड़कों पर सिर फोड़कर अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकेंगे । उन्हें राजनीति की शिक्षा लेनी होगी और नाभिकीय विज्ञान से कृषि तक की और अपने देश की विधि की विशाल राशि का ज्ञान प्राप्त करना होगा जिसके आधार पर इस देश का शासन चलता है । ऐसा करके ही वे सत्ता में आने पर दक्षता से प्रशासन चला पाएंगे ।

प्रत्येक भारतीय को ऐसे भारत का निर्माण करना है जो सभी विपत्तियों में एक होकर खड़ा हो सके । नई पीढ़ी पर यह उत्तरदायित्व है कि वह एक सुदृढ़ और अखंड भारत का निर्माण करे जहां प्रत्येक व्यक्ति कवि, दार्शनिक, योद्धा और प्रशासक की भूमिका करेगा । मातृभूमि के लिए वह कुटुंब, समुदाय या राजनीतिक बंधनों से मुक्त होकर कार्य करेगा ।

समाप्त करने से पहले मैं कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख करना चाहता हूँ जिनमें भारत में संवैधानिक विकास के इतिहास की पृष्ठभूमि में परिवर्तन कर दिया है ।

अभी तक एक ही मुख्य राजनीतिक दल था और वह था कांग्रेस । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य समूह या गुट थे जिनमें असंतुष्ट लोग थे । इसके अतिरिक्त कुछ वामपंथी दल थे जिनके विचार अन्य लोगों से सर्वथा भिन्न थे । यूरोप में और रूस में साम्यवाद की समाप्ति के पश्चात् अब केन्द्र में वामपंथी दल का आनुकल्पिक सरकार बना सकना संभव नहीं होगा । अब भारतीय जनता पार्टी (जिसे भाजपा कहा जाता है) एक प्रभावी प्रतिपक्ष के रूप में सामने आई है जिसमें कुछ संभावनाएं दिखाई पड़ती हैं ।

"पंथ निरपेक्षता" के वास्तविक अर्थ का विवाद ।

ऐसा प्रतीत होता है कि भावी निर्वाचनों में निर्वाचन का मुद्दा यह होगा कि भारत के संविधान में "पंथ निरपेक्षता" का अर्थ क्या है । भाजपा का कहना है कि पंथ निरपेक्षता का अर्थ है सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार । इसमें अल्पसंख्यकों के प्रति अर्थात् मुसलमानों के प्रति, (जो अल्पसंख्यकों में सर्वाधिक प्रमुख समूह के रूप में हैं) उनका मत प्राप्त करने की दृष्टि से, पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं होना चाहिए । हिन्दू बहुमत में होते हुए भी अनेक राजनीतिक दलों में विभाजित हैं इसलिए मुसलमान मत निश्चायक हो जाते हैं । भाजपा के अनुसार अभी तक शासक दल मुस्लिम भावनाओं को अनुचित रूप से बढ़ावा देते हैं । संविधान में अनुच्छेद 29, 30 आदि में जो रक्षोपाय किए गए हैं उनके अतिरिक्त ऐसे आचरण के लिए संविधान में कोई उपबंध नहीं है । बल्कि संविधान में तो धर्म की ओर ध्यान दिए बिना प्रत्येक व्यक्ति को समता का वचन दिया गया है [अनुच्छेद 15 और 16] ।

1991 के निर्वाचनों का एक परिणाम यह भी हुआ है कि जनता पार्टी पिछड़े वर्गों

के संबंध में मंडल आयोग की रिपोर्ट को लागू करने के नाम पर आरक्षित स्थानों की संख्या बढ़ाकर भी पिछड़े वर्गों के मत प्राप्त नहीं कर पाई । मंडल आयोग की रिपोर्ट पर गुणावगुण के आधार पर कोई टिप्पणी करना इस समय उचित नहीं है क्योंकि यह वाद उच्चतम न्यायालय के विचाराधीन है ।

अस्थिर सरकार और अल्पमत के दल का शासन :

एक और महत्वपूर्ण घटना यह है कि स्थिर सरकार की समाप्ति हो गई है और ऐसे दल के शासन का आरम्भ हो गया है जिसका लोक सभा में बहुमत नहीं है । 1989 और 1991 में (नवीं और दसवीं लोक सभा के लिए) जो निर्वाचन हुए थे उन दोनों में सबसे बड़ा दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका । किन्तु दुबारा निर्वाचन से बचने के लिए अन्य दलों के विवक्षित समर्थन के आधार पर उनकी सरकार बन गई । अन्य दलों ने समर्थन तो दिया किन्तु सरकार में सम्मिलित होकर सत्ताधारी दल के उत्तरदायित्व में भागी बनने से इन्कार कर दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि जैसे ही समर्थन देने वाला दल किसी विषय पर अपना समर्थन वापस लेता है वैसे ही अल्पमत सरकार का पतन हो जाता है । यही विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार के साथ हुआ और यही चन्द्र शेखर की सरकार के साथ ।

इस पृष्ठभूमि में श्री राजीव गांधी की दुखद हत्या हो गई और पंडित नेहरू के वंशजों के शासन का अंत हो गया । कांग्रेस-आई दल में जो सबसे बड़ी पार्टी के रूप में सामने आया, किन्तु जिसे पूर्ण बहुमत नहीं था, नेहरू-गांधी परिवार का कोई व्यक्ति नहीं था । ऐसी स्थिति में दल ने श्री पी.वी. नरसिम्हराव को प्रधान मंत्री के रूप में चुना । श्री राव अनुभवी राजनीतिज्ञ हैं और साथ ही विद्वान भी । उन्होंने बड़ी सहजता से यह स्वीकार किया कि वे अल्पमत सरकार के प्रमुख हैं और वे अन्य दलों की सर्वानुमति से ही शासन चलाएंगे । किन्तु कोई भी व्यक्ति सर्वदा सभी लोगों को प्रसन्न नहीं रख सकता । अतः श्री राव की सरकार भी तभी तक बनी रहेगी जब तक वे टकराव के रास्ते पर नहीं चलते हैं और ऐसा कोई संवेदनशील विषय नहीं उठाते हैं जिससे वाम और दक्षिण के दोनों दल और उनकी अपनी पार्टी के सीमांत समर्थक अप्रसन्न न हो जाएं । देश को यह आशा है कि अपनी विद्वता और राजनीतिक प्रज्ञा के आधार पर श्री राव इस असंभव कार्य को भी पूरा कर लेंगे । पंजाब में 1992 में जो निर्वाचन हुए हैं उनसे उनके दल का संख्या-बल बढ़ा है किन्तु नवंबर, 1992 तक ऐसी स्थिति नहीं आई है कि लोक सभा में उनका स्पष्ट बहुमत हो ।

निर्देश

1. 42वें और 44वें संशोधन के पूर्ण अध्ययन के लिए देखिए डी.डी. बसु का *कांस्टिट्यूशनल ला आफ इंडिया* (चौथा संस्करण, 1985) पृ. XXXIX से LVI और *कांस्टिट्यूशन अमेंडमेंट ऐक्ट्स* ।
2. ग्यारहवें (अंग्रेजी) संस्करण के पृ. 361 पर इस सुझाव के प्रकाशन के पश्चात् सरकार ने राजनीतिक परिस्थितियों के दबाव में सरकारिया आयोग की नियुक्ति की । इस आयोग का प्रविषय केन्द्र राज्य संबंधों का पुनर्विलोकन करना था अर्थात् परिसंघीय उपबंधों का । लेखक के सुझाव के अनुसार संविधान का व्यापक पुनरीक्षण करना इसका कार्य नहीं था । कुछ समय पश्चात् यह भी किया जाएगा ।
3. देखिए डी.डी. बसु की *कमेंट्री आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया* (6ठा संस्करण, जिल्द एफ, पृष्ठ 248-50) ।

4. *केशवानंद* बनाम *केरल राज्य,* ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1461 । मूल अधिकारों के स्थान पर निदेशक तत्वों को रखने की प्रक्रिया को *मिनर्वा मिल्स* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1789 (पैरा 60, 70, 80) में उच्चतम न्यायालय की संविधान पीठ के 4:1 के निर्णय से धक्का लगा । इसके परिणामस्वरूप 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा भाग 4 के निदेशक तत्वों में से सभी या किन्हीं के क्रियान्वयन के लिए विधान को अनुच्छेद 31ग का जो संरक्षण दिया गया था वह इस आधार पर शून्य ठहराया गया कि इससे संविधान की आधारिक संरचना बिगड़ जाएगी । आधारिक संरचना में मूल अधिकार और निदेशों के बीच संतुलन है । कुछ विधियों की बाबत न्यायिक पुनर्विलोकन का पूर्णतया अपवर्जन करने से यह संतुलन समाप्त हो जाएगा । इस निर्णय का परिणाम यह है कि अनुच्छेद 31ग का संरक्षण केवल ऐसे विधान को प्राप्त होगा जो अनुच्छेद 39(ख)-(ग) के अधीन निदेशों के क्रियान्वयन के लिए है । 1976 के पूर्व यही संरक्षण था ।

   इंदिरा सरकार चाहती थी कि *मिनर्वा मिल्स* के निर्णय को उलट दिया जाए । एक अन्य खंड पीठ [*संजीव कोक* बनाम *भारत कोकिंग,* ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 239 (पैरा 13)] ने अप्रत्यक्ष रूप से सरकार की सहायता की है । उस पीठ ने यह कहा कि उच्चतम न्यायालय के चार न्यायाधीशों ने (चिन्नप्पा रेड्डी, वैंकटरामय्या, बहरुल इस्लाम और भगवती) जो मत व्यक्त किया था वह अनुच्छेद 31ग के बारे में इतरोक्ति था । वह उस वाद के अभिवचन के अनुसार आवश्यक नहीं था किंतु *मिनर्वा मिल्स* के विनिश्चय को पूरी तरह से निष्प्रभावी करने के लिए सरकार को अभी अनेकों वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक कि पुनर्विलोकन की अर्जी की सुनवाई नहीं हो जाती है ।
5. *इंडिया,* 1984, पृष्ठ 23 ।
6. चंदा, *फैडरल फाइनैंस,* पृष्ठ 279 ।
7. वही, पृष्ठ 186 ।
8. *स्टेट्समैन,* तारीख 18-7-1967, पृष्ठ 1 ।
9. उदाहरण के लिए देखिए *अतियाबारी टी कं.* बनाम *असम राज्य,* (1961) 1 एस.सी.आर. 809 (*860*); *आटोमोबाइल ट्रांसपोर्ट* बनाम *राजस्थान राज्य,* ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 1406 (*1416*); *कादर* बनाम *केरल राज्य,* ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 2272 ।
10. तुलना कीजिए *पश्चिमी बंगाल राज्य* बनाम *भारत संघ,* ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1241 [देखिए डी.डी. बसु की *कंपेरेटिव फेडरलिज्म* (1987), पृष्ठ 167] ।
11. यदि संविधान के ऐकिक तत्वों का संघ की शक्ति के संबंध में देश में एकता और अखंडता स्थापित करने के लिए प्रयोग न हुआ होता तो एक दिन में यह शक्ति अर्जित करना असंभव था । अतएव लेखक इस बात से सहमत नहीं है कि पिछले दस वर्षों में भारत की राजनीति में सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि प्रारूपिक विधिक संबंधों को यथावत् रखते हुए संघ और राज्यों के बीच कृत्य, शक्ति और वित्त के वितरण को इतना परिवर्तित कर दिया गया है जो संविधान सभा की कल्पना के बाहर था । (संथानम, *यूनियन-स्टेट रिलेशन्स,* 1960, vii) ।
12. बांग्लादेश ने अपने आपको इस्लामी गणराज्य घोषित करके और विश्व के इस्लामी राज्यों से मिलकर भारत के लिए एक अप्रत्याशित समस्या खड़ी कर दी है । अब वह पाकिस्तान के साथ एक महापरिसंघ बनाना चाहता है ।
13. *स्टेट्समैन,* 11-5-1983, 21-6-1983, पृष्ठ 8 ।
14. इस विषय के विस्तृत निर्वचन के लिए देखिए डी.डी. बसु की *कांस्टिटयूशनल आसपैक्टस आफ सिख सैप्रेटिज्म* (प्रैंटिस हाल, 1985) [पश्चात्वर्ती पाद-टिप्पणों में इसी पुस्तक के पृष्ठों के प्रति निर्देश है] ।
15. बहुत से विरोधी दलों ने अकालियों के साथ मिलकर विपक्षी सम्मेलन किया (पृष्ठ 6, वही) ।
16. 16 अक्तूबर, 1973 को अकालियों ने आनंदपुर गुरुद्वारा में एक संकल्प पारित किया जिसे लुधियाना में अक्तूबर, 1978 में अखिल भारतीय अकाली सम्मेलन में अनुसमर्थित किया गया (देखिए पृष्ठ 2 और आगे) वही ।
17. प्रारम्भ में एक लाख लोगों की स्वयंसेवी सेना बनाने और एक बलिदानी जत्था बनाने के लिए (*स्टेट्समैन,* 14-3-1983) [पृष्ठ 15-16, वही] ।
18. यह कहना सही नहीं है कि खालिस्तान आंदोलन कुछ आतंकवादी समूहों का काम है । यह अनदेखा नहीं किया जा सकता कि किस प्रकार यह अकाली संगठनों ने धीरे-धीरे आगे बढ़ाया है । मुख्य खालसा दीवान ने 54वें अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में यह जोर देकर कहा है कि सिख पृथक्

राष्ट्र है और उन्हें संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनाया जाना चाहिए (18-3-1981) । इसे शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने दोहराया [*टाइम्स आफ इंडिया*, 30-8-1981, अकाली दल (तलवंडी) ने विश्व सिख सम्मेलन में आनंदपुर साहिब संकल्प (अप्रैल, 1981) जोड़ा और इस बात पर बल दिया कि सिख पृथक् राष्ट्र है और विश्व की प्रमुख शक्तियों ने उन्हें सिख राष्ट्र के रूप में मान्यता दी है । अकाली नेता भिंडरावाले ने लंदन में खालिस्तानी नेता जगजीत सिंह को पत्र लिखा (*स्टेट्समैन*, 6-1-1983), संत लोंगोवाल का यह सिद्धांत कि सिख पृथक् मूलवंश हैं (*स्टेट्समैन*, 16-6-1983), अतिवादी नेताओं और अपराधियों को प्रश्रय देना [*स्टेट्समैन*, 20-6-1983, पृष्ठ 7; वही, पृष्ठ 1, 15–18] ।

19. *आनंद बाजार पत्रिका*, 18-5-1985 ।
20. *स्टेट्समैन*, 26-7-1985 ।
21. तुलना कीजिए, *स्टेट्समैन* 15-4-1987 [मुख्य मंत्री यह सोचता है कि यदि भारत सरकार सेना के भगोड़ों को और विद्रोहियों को जो जोधपुर जेल में बंद हैं छोड़ देगी तो स्थिति शांत हो जाएगी । अखिल भारतीय विद्यार्थी फेडरेशन ने इसकी मांग की थी (*स्टेट्समैन*, 14-3-1987) कोई भी सरकार विद्रोहियों को इस प्रकार से माफी नहीं दे सकती । यदि ऐसा किया गया तो देश की रक्षा जिन्हें सौंपी गई है उनमें अनुशासन के स्थान पर विद्रोह भड़केगा । इस मांग को भागतः पूरा करने के लिए भारत सरकार ने यह घोषित किया कि बंदियों के मामलों में अलग-अलग पुनर्विलोकन किया जाएगा किंतु अभी तक किसी ने इस बात का आश्वासन नहीं दिया है कि जो विद्रोही या भगोड़े छोड़े जाएंगे वे आतंकवादियों से नहीं मिलेंगे] ।
22. *स्टेट्समैन*, 4-2-1987, 9-4-1987 ।
23. वर्तमान आंदोलन कोई नया आंदोलन नहीं है यह "बंगाल खेदाओ" आंदोलन का परिणाम है जो 20 वर्ष पूर्व भाषाई आंदोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ था । भारत के अन्य भाग के लोगों की आंखें यह जानकारी खोलेंगी कि आंदोलनकर्ताओं का एक समूह मंगोलियन मूलवंश के असमी लोगों के लिए पृथक् ध्वज के साथ पृथक् देश बनाने के लिए आंदोलन को स्वतंत्रता का 18वां युद्ध कहता है (*टाइम*, 7-3-1983) ।
24. आंदोलनकारियों में सद्भावना आई है और उन्होंने इसे अनुभव किया है (*स्टेट्समैन*, 23-3-1983, पृष्ठ 1) । इस प्रयोजन के लिए स्थापित अधिकरणों ने मई, 1987 तक पर्याप्त काम किया था किंतु सिद्धांतों के बारे में विवाद के कारण अधिकरण के विनिश्चयों को अंतिम रूप देने में गतिरोध उत्पन्न हो गया है (*स्टेट्समैन*, 7-6-1983) ।
25. *स्टेट्समैन*, 18-7-1986 ।
26. गोरखालैंड आंदोलन में अलगाववाद की प्रवृत्ति अभी ढकी हुई और धुंधली है । वह इतनी स्पष्ट नहीं है जैसी खालिस्तान के मामले में है । इसी कारण प्रारम्भ में भारत सरकार ने यह उपधारणा कर ली थी कि गोरखालैंड आंदोलन राष्ट्र विरोधी नहीं है । बाद में पश्चिमी बंगाल की सरकार ने एक श्वेत-पत्र निकाला जिसमें दी गई लिखित साक्ष्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरखा नेशनल लिबरेशन फ्रंट और उसके अध्यक्ष घीसिंग क्या चाहते हैं ।

    गोरखालैंड आंदोलन पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग जिले के संबंध में है जहां पर बहुत से नेपाली उत्प्रवासी के रूप में निवास करते हैं । यह उस मैत्री संधि के अधीन है जो नेपाल और भारत के बीच 1950 में हुई थी । गोरखा फ्रंट का यह दावा है कि दार्जिलिंग नेपाल का भाग था और नेपाल द्वारा अध्यर्पण करके ब्रिटिश सरकार को प्राप्त हुआ । यह सही नहीं है क्योंकि दार्जिलिंग का राज्यक्षेत्र सिक्किम और भूटान का था और ब्रिटिश सरकार ने यह राज्यक्षेत्र अनुदान, करार या राज्य में विलय द्वारा अर्जित किया । 19वीं शताब्दी में इसके पक्षकार सिक्किम या भूटान थे नेपाल नहीं । नेपाल ने 1950 में भारत से करार इसलिए किया कि दार्जिलिंग के उत्प्रवासी नेपाली उद्भव के लोग थे (गोरखा) । इसी प्रकार बहुत से भारतीय नेपाल में निवास कर रहे थे। इस स्थिति में भारत और नेपाल दोनों के ही हित में यह पारस्परिक अधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त करना था ।

    गोरखा फ्रंट के नेता ने नेपाल के महाराजा को 23-12-1983 को ज्ञापन देकर गोरखालैंड के आंदोलन को ठोस रूप दिया । इसमें स्पष्ट रूप से यह मांग की गई थी कि दार्जिलिंग के राज्यक्षेत्र में गोरखाओं के लिए पृथक् राज्य बनाया जाए । ज्ञापन में यह दावा किया गया कि यह राज्यक्षेत्र नेपाल द्वारा अध्यर्पित था । नेपाल के महाराजा से यह अपील की गई कि वह उन सभी संधियों

और करारों को प्रतिसंहृत कर ले जो भारत के गोरखालैंड को विलग करने के मार्ग में बाधा पहुंचाती हैं । इसमें गोरखाओं के स्वनिर्धारण के अधिकार की बात कही गई और इस ज्ञापन की प्रतियां विदेशी राज्यों के प्रमुखों को भेजी गई । इन प्रमुखों में अमरीका, फ्रांस, पाकिस्तान, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य तथा भारत थे । इस बारे में एक शब्द भी नहीं कहा गया कि गोरखालैंड भारत संघ के भीतर एक पृथक् राज्य होगा । इस प्रकार गोरखालैंड आंदोलन का जन्म भारत से विलग होने के लिए था यह बात स्पष्ट है ।

श्वेतपत्र के अनुलग्नक ख (भाग 1) से यह प्रकट होता है कि 2-6-1985 को गोरखा फ्रंट के नेता ने एक भाषण दिया जिसमें उसने यह स्वीकार किया कि नेपाल सरकार या संयुक्त राष्ट्र ने उनके पृथक् प्रभुतासंपन्न राज्य के दावे का कोई उत्तर नहीं दिया है । यह भाषण वस्तुतः तब दिया गया जब भारत सरकार ने अपनी गलती अनुभव करने के बाद गोरखा फ्रंट नेता को यह कहा था कि उससे तब तक कोई बात नहीं की जाएगी जब तक कि वह भारत के बाहर प्रभुतासंपन्न राज्य के अपने दावे को न छोड़ दे । इस भाषण के पैरा 2 में उस नेता ने यह कहा कि हम भारत से अलग नहीं होना चाहते . . . किंतु हमारी मांग भारत संघ के भीतर पृथक् राज्य की मांग है । यह विचित्र सा है कि इसके बाद के पैराओं में उसने फिर यही कहा कि दार्जिलिंग अंग्रेजों को नेपाल से अध्यर्पण के द्वारा प्राप्त हुआ था और अंतिम पैरा में उसने स्पष्ट रूप से यह कहा कि हम एक पृथक् प्रभुतासंपन्न राज्य चाहते हैं ठीक उसी प्रकार जैसे अन्य छोटे राज्यों को संयुक्त राष्ट्र ने पृथक् राज्य के रूप में मान्यता दी है ।

लेखक ने इस पुस्तक के 12वें संस्करण में यह कहा था कि यदि सरकार पृथक् राज्य नहीं बनाना चाहती तो भारत संघ को पश्चिमी बंगाल और गोरखा नेताओं से वार्ता करके क्षेत्रीय स्वायत्तता प्रदान करना होगा । यह भविष्यवाणी सही निकली । जुलाई, 1988 में गोरखा परिषद् बनाने के लिए करार किया गया । अब निर्वाचन भी हो चुके हैं और परिषद् कार्य कर रही है ।

अब समय आ गया है कि भारत सरकार उन सभी पृथक्तावादी आंदोलनों पर पर्याप्त ध्यान दे जो अबी प्रस्फुटित हो रहे हैं जैसे पश्चिमी बंगाल, बिहार और उससे जुड़े हुए क्षेत्रों में झारखंड आंदोलन, पूर्वोत्तर प्रदेश के जनजातियों की उदयांचल की मांग, ईसाइयों के लिए नागालैंड की मांग (*स्टेट्समैन*, 12-6-1983) या विशाल मिजोरम की मांग (*स्टेट्समैन*, 23-8-1986) ।

27. देखिए मद्रास के केन्द्र-राज्य संबंध जांच समिति (1971) के प्रतिवेदन में की गई सिफारिशें (पृष्ठ 216-217) । तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और पाण्डिचेरी के मुख्य मंत्रियों की दक्षिण परिषद् की रचना को रोकने के लिए केन्द्रीय सरकार ने केंद्र-राज्य संबंधों के पुनर्विलोकन के लिए केन्द्रीय सरकार ने केंद्र-राज्य संबंधों के पुनर्विलोकन के लिए केन्द्रीय सरकार ने सरकारिया आयोग की स्थापना की थी (*स्टेट्समैन*, 24, 25-3-1983) । सभी राष्ट्रवादी यह चाहते हैं कि संघ की शक्ति को क्षीण किए बिना इस समस्या का सौहार्द्रपूर्ण हल निकाल लिया जाए ।
28. देखिए *सागर सीमा-शुल्क अधिनियम का मामला*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 1760 (पैरा 62); डी.डी. बसु की *कंपेरिटिव फेडरलिज्म* (1986), पृष्ठ 628 ।
29. तुलना कीजिए, अनुच्छेद 143 के अधीन निर्देश, ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 745 ।
30. लेखक अपनी उस उक्ति को दोहराना चाहता है जो एक दशक पहले कही गई थी "भारत में जहां लोकमत इतनी तीव्र गति से परिवर्तित हो रहा है वहां इन छोटे-छोटे परिवर्तनों से उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती । वस्तुतः भौतिक और सामाजिक विकास के साथ-साथ मानसिक विस्तार भी बढ़ता जाता है और इसके साथ ही लोगों की मांगें भी व्यापक हो रही हैं । यदि क्रांति के रास्ते पर न चलकर इन मांगों को पूरा किया जाना है तो इस पर समग्र विचार किया जाना आवश्यक है . . ." (डी.डी. बसु की *लिमिटेड गवर्नमेंट एंड जुडिशियल रिव्यू* विषय पर टैगोर व्याख्यान माला, पृष्ठ 13-14) ।
31. दलवई, *मुस्लिम पालिटिक्स इन सेक्यूलर इंडिया* (1972), जिसे डी.डी. बसु ने *कमेंट्री आफ दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया*, 6ठा संस्करण, जिल्द डी, पृष्ठ 220-21 पर उद्धरित किया है । इन सभी विघटनकारी शक्तियों का कार्य करने का तरीका यह है कि वे एक-एक कदम आगे बढ़ाते हैं । पहले वे कोई बात यूं ही कह देते हैं और जब वह बात परिचालित हो जाती है और प्रारम्भिक धमाका शांत हो जाता है तब कुछ थोड़ी सी मांगें रखी जाती हैं जिन्हें धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है इस बात का लाभ उठाते हुए कि गैर मुस्लिम राजनीतिक दल उनकी मांगों को पूर्णतया या भागतः मानने में एक-दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि वे मुसलमानों के मत प्राप्त

करना चाहते हैं । इसी प्रकार पाकिस्तान बना । वही इतिहास दोहराया जा रहा है । मूलतः सरकारी सेवाओं में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग थी किंतु भारतीय मुस्लिम लीग ने 1979 में पब्लिक सैक्टर के उपक्रमों में, तकनीकी स्थापनों में, सेना में और पुलिस में ऐसे प्रतिनिधित्व की मांग की है । इसी प्रकार उर्दू के प्रोन्नयन में सहायता की मांग अब उन राज्यों में भी की जा रही है जहां उर्दू भाषी लोग जनसंख्या में पर्याप्त अनुपात में नहीं हैं । जैसे पश्चिमी बंगाल में उर्दू को राजभाषा के रूप में मान्यता देने की मांग की जा रही है । विडम्बना यह है कि बांग्लादेश में मुसलमान स्वयं बंगाली भाषा के प्रचार के लिए लड़ रहे हैं (उर्दू के स्थान पर जिसे पाकिस्तान के सैन्य शासन ने बंगाली भाषी जनता पर थोपा था) । पश्चिमी बंगाल के मुसलमान जिनकी मातृभाषा बंगाली है लोक वाहनों में, बाजारों में और इस प्रकार के अन्य सभी स्थानों में उर्दू बोलने का प्रयत्न कर रहे हैं । जनगणना के समय वे उर्दू को अपनी मातृभाषा बताते हैं । इसके बाद का अगला कदम होगा कि पश्चिमी बंगाल के सरकारी कार्यालयों में उर्दू के टाइपराइटर और टाइपिस्ट हों चाहे उर्दू में टाइप करने के लिए कोई सरकारी कागज न हो । मार्च, 1985 के बाद में हम आश्चर्य से अपनी आंखें मलते हैं जब हमें यह दिखाई पड़ता है कि उर्दू पृथक्तावाद से यह मांग उत्पन्न हुई है कि पश्चिमी बंगाल के गैर बंगाली औद्योगिक क्षेत्र को जिसमें कुछ उर्दू भाषी हैं, उर्दूस्तान घोषित किया जाए । [*आनंद बाजार पत्रिका*, 28-8-1985, *जुगांतर*, 29-3-1985, 6-4-1985] ।

जिन लोगों ने भारत के विभाजन से कोई सबक नहीं सीखा है वे केरल की घटनाओं से भी आंखें नहीं मूंद सकते । संयुक्त फ्रंट मंत्रिमंडल के दौरान (1967-69), मुस्लिम बहुमत का एक जिला माल्लापुरम बनाया गया । 1983 में संयुक्त लोकतांत्रिक मोर्चे की सरकार ने कांग्रेस (आई) के नेतृत्व में कासरगोड में एक दूसरा मुस्लिम बहुमत जिला बनाने की मांग स्वीकार कर ली (*स्टेट्समैन*, 27-2-1983) । इसी प्रकार यह भी एक भयावह बात है कि सरकार के उत्तरदायी उच्च अधिकारी ने यह कहा है कि पश्चिमी बंगाल में आसनसोल, मुर्शिदाबाद जैसे कुछ स्थान हैं जहां उर्दू भाषी मुसनमान बहुसंख्या में हैं । सांविधानिक विधि का विद्यार्थी केवल यह बता सकता है कि उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अल्पसंख्यकों का प्रश्न समस्त राज्य की जनसंख्या के आधार पर ही अवधारित किया जा सकता है [*केरल शिक्षा विधेयक का मामला*, ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 956 (पैरा 2)] । यह कहना कि किसी विशेष क्षेत्र में मुसलमान लोग बहुमत में हैं उस क्षेत्र में उन्हें बहुसंख्यक बनाना है जब कि वे पश्चिमी बंगाल राज्य के प्रत्येक मुस्लिम को अल्पसंख्यकों के रक्षोपाय और फायदे मिलते रहते हैं । इस भयावह प्रवृत्ति को निर्बल मानकर उसकी उपेक्षा करने से केरल, पश्चिमी बंगाल और अन्य राज्यों में मुस्लिम बहुमत वाले इलाकों में एक दूसरा पाकिस्तान के बनाने की मांग सामने आ जाएगी ।

जो कोई यह समझता है कि धार्मिक अल्पसंख्यकों की निरंतर बढ़ती हुई मांगों को स्वीकार करना पंथ निरपेक्षता है, उसे इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि एक धर्म के विरुद्ध दूसरे धर्म का समर्थन करना सबसे उच्च कोटि की साम्प्रदायिकता है ।

32. नागपुर उच्च न्यायालय के एक सेवानिवृत्त मुख्य न्यायमूर्ति श्री नियोगी की अध्यक्षता में स्थापित नियोगी आयोग ने यह सम्प्रेक्षण किया था : "इन सब गतिविधियों के पीछे उनकी यह मंशा है कि वे अपनी संख्या के बल पर अपने लिए एक पृथक् ऐसे राज्य की स्थापना करें ।" इसे डी.डी. बसु ने "ट्रूथ" में अपने लेख में उद्धरित किया है [जिल्द 47, सं. 8, 8-6-1979, पृष्ठ 115 (पैरा 4)], देखिए त्रिपुरा के मुख्य मंत्री का कथन, *आनंद बाजार पत्रिका*, 6-8-1984 ।
33. अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन, लखनऊ (*स्टेट्समैन*, 29-12-1978, 11-12-1979), देखिए केरल में मुस्लिम लीग की मांग (*स्टेट्समैन*, 27-2-1983) ।
34. *नैनसुख* बनाम *उत्तर प्रदेश राज्य*, ए.आई.आर. 1953 एस.सी. 384 (*385*); *मद्रास राज्य* बनाम *चंपकम*, (1951) एस.सी.आर. 525 (*530, 533*); *बालाजी* बनाम *मैसूर राज्य*, ए.आई.आर. 1963 एस.सी. 649 (*663*) एस.सी.; *आंध्र प्रदेश राज्य* बनाम *सागर*, ए.आई.आर. 1968 एस.सी. 1379; *त्रिलोकी* बनाम *जम्मू-कश्मीर राज्य*, ए.आई.आर. 1969 एस.सी. 1 ।
35. *स्टेट्समैन*, 30-11-1979 (जाकिर हुसैन स्मारक भाषण) ।
36. यह ध्यान देने योग्य है कि भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करने का उपबन्ध पहले से विद्यमान है, अनुच्छेद 350ख (देखिए पृष्ठ 367) ।
37. जमायत-उलउलेमाए-हिंद यहां तक कहती है कि अनुच्छेद 44 को निकाल दिया जाना चाहिए

(*स्टेट्समैन*, 2-10-1979, पृष्ठ 3) या मुसलमानों को उसके प्रवर्तन से छूट दी जानी चाहिए (*स्टेट्समैन*, 8-4-1985) ।

38. इस मत का बहुत से मुसलमान न्यायाधीशों ने और ऐसे विद्वानों ने समर्थन किया है जिन्हें शरियत का विशेष ज्ञान है (देखिए डी.डी. बसु की *कमेंट्री आन दि कांसटिट्यूशन आफ इंडिया*, 6ठा संस्करण, जिल्द डी, पृष्ठ 222-23) ।

39. यदि सरकार अभी मुसलमानों की मांगों के आगे समर्पण कर देती है तो क्या वह ईसाइयों की और अकाली नेताओं की इस मांग को अस्वीकार कर सकती है कि उनकी व्यक्तिगत विधि के लिए पृथक् संहिता होनी चाहिए (*स्टेट्समैन*, 16-6-1983) । ईसाई संपरिवर्तियों की इसी प्रकार की मांग उच्चतम न्यायालय ने अस्वीकार कर दी थी, देखिए *सूसाई* बनाम *भारत संघ*, ए.आई.आर. 1986 एस.सी. 733 (पैरा 8) ।

40. *आनंद बाजार पत्रिका*, 5-2-1982 ।

41. एक तलाकशुदा मुस्लिम स्त्री ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के अधीन भरण पोषण का आवेदन किया जो स्वीकार करके न्यायालय ने डिक्री कर दी । पति ने उच्चतम न्यायालय में इस आधार पर अपील की कि धारा 125 मुसलमानों को लागू नहीं होती है क्योंकि यह मुस्लिम वैयक्तिक विधि के विरुद्ध है । उच्चतम न्यायालय ने इस निर्वचन को स्वीकार नहीं किया । न्यायालय ने कहा कि यह सभी "व्यक्तियों" को लागू होता है चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी हों । अपील खारिज कर दी गई ।

    निर्णय में [*अहमद* बनाम *शाहबानों*, ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 945 (पैरा 32)] उच्चतम न्यायालय ने यह संप्रेक्षण किया कि संविधान के अनुच्छेद 44 में राज्य को स्पष्ट निदेश दिया गया था कि वह समान सिविल संहिता बनाए चाहे इसमें मुसलमान पहल करें या नहीं किंतु फिर भी इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाए गए ।

    "ऐसा आभास होता है कि *इस प्रकार का मत उत्पन्न किया गया कि* व्यक्तिगत विधि के सुधार के बारे में पहल मुस्लिम समाज करेगा । समान सिविल संहिता से राष्ट्रीय एकता को बल मिलेगा और ऐसी विधियां समाप्त हो जाएंगी जिनके आदर्श परस्पर विरोधी हैं । . . . देश के नागरिकों के लिए समान सिविल संहिता बनाने का *कर्तव्य राज्य को सौंपा गया है* . . . ।

    उच्चतम न्यायालय ने *जार्डन* बनाम *चोपड़ा*, ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 935 (पैरा 1) में अनुच्छेद 44 के बारे में अपने मत को दुहराया ।

    मुंबई विश्वविद्यालय के एक विद्वान आचार्य सिद्दिकी ने कहा कि यदि राज्य पहल करेगा तो अंततोगत्वा मुस्लिम समाज उसे स्वीकार कर लेगा क्योंकि यह आधुनिक सभ्य समाज के आदर्शों के अनुरूप है ।

    "इस विवाद्यक का निर्णय इस आधार पर नहीं होना चाहिए कि वह कुरान की आयतों के अनुसार है या नहीं बल्कि इस आधार पर होना चाहिए कि आधुनिक सभ्य समाज क्या चाहता है । और कुरान के विरुद्ध है तो भी सरकार को कानून बनाना चाहिए । अंततोगत्वा समाज उसे स्वीकार कर लेगा" [*संडे आब्जर्वर*, 6-5-1984] ।

    उच्चतम न्यायालय के स्पष्ट संप्रेक्षणों की अवहेलना करके और मुस्लिम समाज के एक बहुत बड़े अनुभाग की, जिसमें विद्वान लोग भी थे, उपेक्षा करके कांग्रेस (आई) सरकार ने मुस्लिम स्त्री (विवाह विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 अधिनियमित करके यह उपबंध किया कि इस अधिनियम के उपबंध विवाह विच्छिन्न मुस्लिम स्त्री के भरण पोषण के अधिकार को लागू होंगे । यदि ऐसी स्त्री और उसका पूर्व पति यह चाहते हैं कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 लागू हो तभी वह धारा लागू होगी ।

42. *अहमद* बनाम *शाहबानो*, ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 945 ।

43. *युगान्तर*, तारीख 22-12-1989 ।

44. 1980 के निर्वाचन के दौरान बौद्ध संपरिवर्तियों के जो दावे फिर से उभर कर आए वे उच्चतम न्यायालय के सर्वसम्मति से किए गए निर्णय के विरुद्ध हैं । यह निर्णय है *पंजाब राव* बनाम *मेशराम*, ए.आई.आर. 1965 एस.सी. 1179 । *रामलिंगम* बनाम *अब्राहम*, (1969) 1 एस.सी.सी. 24; *सूसई* बनाम *भारत*, ए.आई.आर. 1986 एस.सी. 733 (पैरा 8) । देश के सर्वोच्च अधिकरण के इन विनिश्चयों और पृष्ठ 378-382 पर दिए गए तर्कशुद्ध आधार के होते हुए भी राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने संविधान (अनुसूचित जाति) आदेश (संशोधन) अधिनियम, 1990 (1990 का 15) बनाकर हिंदू

से बौद्ध बने लोगों को अनुसूचित जनजाति के विशेषाधिकार दे दिए हैं । यह भी कहा जा रहा है कि ईसाइयों को भी इसी प्रकार की रियायत दी जाएगी । हो सकता है कि यह मामला फिर उच्चतम न्यायालय के समक्ष आए ।

45. अल्पसंख्यकों के प्रति विभेद का निवारण और उनके संरक्षण पर संयुक्त राष्ट्र के उपआयोग का संकल्प (1950) ।
46. बाबरी मस्जिद अभियान में इमाम बुखारी (*स्टेट्समैन*, 30-1-1987) ।
47. दलवई, *मुस्लिम पालिटिक्स इन सैक्यूलर इंडिया* (1972), पृष्ठ 48, 50-52, 72, 76, 96 ।
48. देखिए, 47 ट्रूथ (11-1-1980), पृष्ठ 569 ।
49. अब इसके आगे का कदम होगा भारत के संविधान की ही निंदा करना और यह कहना कि वह जलाने योग्य है क्योंकि उसमें साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व नहीं है और मुसलमानों के पक्ष में आरक्षण नहीं है । इससे राष्ट्रीय गौरव अपमान निवारण अधिनियम, 1971 का उल्लंघन होगा (देखिए *स्टेट्समैन* में बरेली से प्राप्त रिपोर्ट, 8-11-1982, पृष्ठ 9, स्तंभ 4) ।
50. इस प्रारम्भिक पुस्तक में मेरे लिए यह संभव नहीं है कि भारत में अल्पसंख्यकों की समस्या पर विस्तार से विचार व्यक्त करूं । जो इस विषय का गहराई से अध्ययन करना चाहते हैं वे देखें लेखक की *कमेंट्री आन दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया*, 6ठा संस्करण, जिल्द डी, पृष्ठ 206-09, 217-28, 232-37, 248-53 ।
51. यह ठीक है कि आगे के चरणों में मातृभूमि का वर्णन इस प्रकार है कि उसके हाथ हैं और वाणी है किंतु मातृभूमि के पुत्रों के हाथों और वाणियों को चित्रित करने का यह काव्यमय ढंग है । कवि ने मातृभूमि के पुत्रों से ही स्वतंत्रता के लिए एक होकर लड़ने का आह्वान किया था । अन्य देशों के देश भक्ति के गीतों में जो बात होती है वही इस गीत में है ।

सारणियां

सारणी 1
आरंभिक तथ्य

(आंकड़े 1991 की जनगणना पर आधारित हैं और पूर्णांकित किए गए हैं)

भारत का क्षेत्रफल 32,87,782 वर्ग किलोमीटर है जिसमें से 10,861 वर्ग किलोमीटर संघ राज्यक्षेत्रों में है और शेष राज्यों में । यह विश्व के क्षेत्रफल का 2.4% है ।

भारत में 6,05,224 ग्राम हैं और 3,949 नगर । 80% जनसंख्या ग्रामों में रहती है ।

भारत की जनसंख्या (1991 में) 84 करोड़ से अधिक थी (विश्व की जनसंख्या का 16 प्रतिशत) – इसमें हिंदू 83 प्रतिशत हैं, मुस्लिम 11 प्रतिशत और अन्य धर्मावलंबी 6 प्रतिशत हैं । यहां के लोग 1,652 भाषाएं बोलते हैं । इनमें से 18 भाषाओं को संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया है।

भारत की प्रति व्यक्ति आय 2,142 रु. है (1980-81 के मूल्य स्तर पर) ।

भारत में 52 प्रतिशत जनसंख्या साक्षर है (1951 में केवल 18 प्रतिशत थे) ।

18 वर्ष और उससे अधिक आयु का प्रत्येक स्त्री-पुरुष लोक सभा और अपनी विधान सभा के लिए निर्वाचक है । 1971 में पांचवें साधारण निर्वाचन में निर्वाचक नामावली में 29 करोड़ मतदाता थे । यह संयुक्त राज्य अमेरिका या रूस की जनसंख्या से अधिक है । निर्वाचक नामावली का पुनरीक्षण होने पर 1986 के अंत में यह संख्या 41 करोड़ थी । 1989 में मतदाता की आयु 21 से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई । फलस्वरूप यह संख्या 49 करोड़ हो गई । 1991 के साधारण निर्वाचन के समय अर्थात् मई-जून 1991 में यह संख्या 52 करोड़ थी ।

साधारण निर्वाचन 1951, 1957, 1962, 1967, 1971, 1977, 1980, दिसंबर 1984, नवंबर 1989 और मई-जून 1991 में हुए हैं (देखिए सारणी 13) ।

भारत का 1992-93 के बजट में अनुमानित व्यय 1,19,087 करोड़ रुपए है जिसमें से 17,500 करोड़ रुपए प्रतिरक्षा व्यय है और 32,000 करोड़ रुपए ब्याज का संदाय है ।

संविधान सभा की पहली बैठक 9-12-1946 को हुई ।

संविधान सभा की प्रारूपण समिति ने जो भारत के संविधान का प्रारूप तैयार किया था और 21-2-1948 को संविधान सभा के सभापति को प्रस्तुत किया था उसमें 315 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां थीं ।

26-11-1949 को अंगीकृत भारत के संविधान में 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां थीं । पश्चात्वर्ती संशोधनों के बाद 1-11-1992 को यथाविद्यमान संविधान में 409 अनुच्छेद और 10 अनुसूचियां हैं ।

1 नवंबर, 1992 तक संविधान का 71 बार संशोधन हो चुका है (सारणी 4) ।

सारणी 2
भारत की संविधान सभा की राज्यवार सदस्य संख्या
(31 दिसंबर, 1947 को यथाविद्यमान)

प्रांत — 229

	सदस्यों की संख्या		सदस्यों की संख्या
1. मद्रास	49	7. मध्य प्रांत और बरार	17
2. मुंबई	21	8. असम	8
3. पश्चिम बंगाल	19	9. उड़ीसा	9
4. संयुक्त प्रांत	55	10. दिल्ली	1
5. पूर्वी पंजाब	12	11. अजमेर-मेरवाड़ा	1
6. बिहार	36	12. कोड़गू	1

देशी रियासतें — 70

1. अलवर	1	17. उदयपुर	2
2. बड़ौदा	3	18. सिक्किम और कूच बिहार समूह	1
3. भोपाल	1	19. त्रिपुरा, मणिपुर और खासी राज्य समूह	1
4. बीकानेर	1		
5. कोचीन	1	20. संयुक्त प्रांत राज्य समूह	1
6. ग्वालियर	4	21. पूर्वी राजपूताना राज्य समूह	3
7. इंदौर	1	22. मध्य भारत राज्य समूह (बुंदेलखंड और मालवा को मिलाकर)	3
8. जयपुर	3		
9. जोधपुर	2	23. पश्चिमी भारत राज्य समूह	4
10. कोल्हापुर	1	24. गुजरात राज्य समूह	2
11. कोटा	1	25. दक्षिण और मद्रास राज्य समूह	2
12. मयूरभंज	1	26. पंजाब राज्य समूह	3
13. मैसूर	7	27. पूर्वी राज्य समूह I	4
14. पटियाला	2	28. पूर्वी राज्य समूह II	3
15. रीवा	2	29. अवशिष्ट राज्य समूह	4
16. त्रावणकोर	6		
			299

सारणी 3
भारत का राज्यक्षेत्र

(अ) मूल संविधान में (1949 में)

संघ

भाग क राज्य	*भाग ख राज्य*	*भाग ग राज्य*	*भाग घ राज्यक्षेत्र*
1. असम	1. हैदराबाद	1. अजमेर	1. अंदमान और निकोबार द्वीप
2. बिहार	2. जम्मू-कश्मीर	2. भोपाल	2. अर्जित राज्यक्षेत्र (यदि कोई हों)
3. मुंबई	3. मध्य भारत	3. बिलासपुर	
4. मध्य प्रदेश	4. मैसूर	4. कूच-बिहार	
5. मद्रास	5. पटियाला और पूर्वी पंजाब	5. कोड़गू	
6. उड़ीसा			
7. पंजाब			
8. संयुक्त प्रांत			
9. पश्चिमी बंगाल			

(आ) सातवें संशोधन, 1956 के पश्चात् मई, 1992 तक

संघ

राज्य[1]	*संघ राज्यक्षेत्र*[1, 15]	*अन्य राज्यक्षेत्र जो अर्जित किए जाएं*
1. आंध्र प्रदेश	1. दिल्ली	
2. असम	2. अंदमान और निकोबार द्वीप	
3. बिहार	3. लक्षद्वीप[10]	
4. गुजरात[2]	4. दादरा और नागर हवेली[11]	
5. केरल	5. दमण और दीव[12]	
6. मध्य प्रदेश	6. पांडिचेरी[13]	
7. तमिलनाडु[3]	7. चंडीगढ़[14]	
8. महाराष्ट्र[2]		
9. कर्नाटक[4]		
10. उड़ीसा		
11. पंजाब		
12. राजस्थान		
13. उत्तर प्रदेश		
14. पश्चिम बंगाल		
15. जम्मू-कश्मीर		
16. नागालैंड[5]		
17. हरियाणा[6]		
18. हिमाचल प्रदेश[7]		
19. मणिपुर[8]		
20. त्रिपुरा[8]		

सारणी 3 (*गत पृष्ठ से आगे*)

21. मेघालय[8]
22. सिक्किम[9]
23. मिजोरम[15]
24. अरुणाचल प्रदेश[15]
25. गोवा[16]

---

1. राजधानियां : आंध्र प्रदेश — हैदराबाद; असम — दिसपुर; बिहार — पटना; गुजरात — गांधीनगर; हरियाणा — चंडीगढ़; हिमाचल प्रदेश — शिमला; जम्मू-कश्मीर — श्रीनगर; कर्नाटक — बंगलौर; केरल — त्रिवेंद्रम; मध्य प्रदेश — भोपाल; महाराष्ट्र — मुंबई; मणिपुर — इंफाल; मेघालय — शिलांग; नागालैंड — कोहिमा; उड़ीसा — भुवनेश्वर; पंजाब — चंडीगढ़; राजस्थान — जयपुर; सिक्किम — गंगटोक; तमिलनाडु — मद्रास; त्रिपुरा — अगरतला; उत्तर प्रदेश — लखनऊ; पश्चिमी बंगाल — कलकत्ता; दादरा और नागर हवेली — सिलवासा; गोवा — पणजी; दमण और दीव — दमण; दिल्ली — दिल्ली; अंदमान और निकोबार द्वीप — पोर्ट ब्लेयर; अरुणाचल प्रदेश — ईटानगर; चंडीगढ़ — चंडीगढ़; लक्षद्वीप — कवारती; मिजोरम — एजाल; पांडिचेरी — पांडिचेरी ।
2. मुंबई पुनर्गठन अधिनियम (1960 का 11) द्वारा मुंबई के स्थान पर प्रतिस्थापित ।
3. मद्रास राज्य (नाम परिवर्तन) अधिनियम, 1968 द्वारा मद्रास का नाम परिवर्तित होकर तमिलनाडु हो गया है ।
4. मैसूर राज्य (नाम परिवर्तन) अधिनियम, 1973 के अधीन मैसूर का नाम परिवर्तित होकर कर्नाटक हो गया है ।
5. नागालैंड अधिनियम, 1962 द्वारा अंतःस्थापित ।
6. पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 द्वारा अंतःस्थापित ।
7. हिमाचल प्रदेश अधिनियम, 1970 द्वारा अंतःस्थापित ।
8. मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय इसमें पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 द्वारा जोड़े गए ।
9. संविधान (36वां संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा सिक्किम जोड़ा गया ।
10. लक्कादीव, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीपसमूह का नाम, लक्कादीव, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीपसमूह (नाम परिवर्तन) अधिनियम, 1973 द्वारा "लक्षद्वीप" कर दिया गया है ।
11. संविधान (10वां संशोधन) अधिनियम, 1961 द्वारा अंतःस्थापित ।
12. संविधान (12वां संशोधन) अधिनियम, 1962 द्वारा अंतःस्थापित ।
13. संविधान (14वां संशोधन) अधिनियम, 1963 द्वारा अंतःस्थापित ।
14. संविधान (12वां संशोधन) अधिनियम, 1961 द्वारा 20-12-1961 से अंतःस्थापित ।
15. मिजोरम अधिनियम, 1986 द्वारा 14-8-1986 से मिजोरम को राज्य का दर्जा दिया गया; इसी प्रकार अरुणाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा अरुणाचल प्रदेश को संघ राज्यक्षेत्र की प्रास्थिति से उठाकर राज्य का दर्जा दिया गया ।
16. गोवा, दमण और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 से गोवा को राज्य बनाया गया ।

सारणी 4
संविधान संशोधन अधिनियम

अनु-क्रमांक	अधिनियम	राष्ट्रपति की अनुमति की तारीख	प्रारंभ की तारीख	क्या अनुच्छेद 368 द्वारा यथा-अपेक्षित आधे से अधिक राज्य विधान मंडलों द्वारा अनुसमर्थित हैं	संशोधन किए गए
1	2	3	4	5	6
1.	संविधान (पहला संशोधन) अधिनियम, 1951	18-6-1951	18-6-1951 (भागतः भूतलक्षी)		संशोधित अनुच्छेद — 15, 19, 85, 87, 174, 176, 341, 342, 376 । अंतःस्थापित अनुच्छेद — 31क, 31ख । जोड़ी गई अनुसूची — नवीं ।
2.	संविधान (दूसरा संशोधन) अधिनियम, 1952	1-5-1953	1-5-1953	इस संशोधन विधेयक से संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व में परिवर्तन किया जा रहा था, इसलिए इसे भाग क और ख राज्यों के विधान मंडलों को अनुसमर्थन के लिए निर्दिष्ट किया गया । तदनुसार यह विधेयक संसद् द्वारा 19-12-1952 को पारित किया गया, और तब राज्यों को निर्दिष्ट किया गया । आधे से अधिक राज्य विधान मंडलों का अनुसमर्थन प्राप्त होने पर राष्ट्रपति ने 1-5-1953 को अपनी अनुमति दी ।	संशोधित अनुच्छेद — 81 ।
3.	संविधान (तीसरा संशोधन) अधिनियम, 1954	22-2-1955	22-2-1955	यह विधेयक संसद् ने 28-9-1954 को पारित किया । इस विधेयक द्वारा सातवीं अनुसूची की एक सूची को संशोधित किया जा रहा था, इसलिए पहली अनुसूची के भाग क और ख में विनिर्दिष्ट राज्यों से आधे से अधिक के विधान मंडलों के अनुसमर्थन की अपेक्षा थी । अनुसमर्थन होने पर राष्ट्रपति ने 22-2-1955 को अपनी अनुमति दी ।	संशोधित अनुसूची — सातवीं अनुसूची — सूची 3, प्रविष्टि 33 ।

सारणी 4 *(गत पृष्ठ से आगे)*

1	2	3	4	5	6
4.	संविधान (चौथा संशोधन) अधिनियम, 1955	27-4-1955	27-4-1955	. . .	संशोधित अनुच्छेद — 31, 31क, 305 । संशोधित अनुसूची — नवीं ।
5.	संविधान (पांचवा संशोधन) अधिनियम, 1955	24-12-1955	24-12-1955	. . .	संशोधित अनुच्छेद — 3 ।
6.	संविधान (छठा संशोधन) अधिनियम, 1956	11-9-1956	11-9-1956	यह विधेयक संसद् ने 31-5-1956 को पारित किया । विधायी सूचियों का इसके द्वारा संशोधन किया जा रहा था, इसलिए राज्य विधान मंडलों के आधे से अधिक द्वारा अनुसमर्थन की अपेक्षा थी । अनुसमर्थन हो जाने के पश्चात् राष्ट्रपति ने 11-9-1956 को अनुमति दी ।	संशोधित अनुच्छेद — 269, 286 । संशोधित अनुसूची — सातवीं अनुसूची — सूची 2, प्रविष्टि 54; सूची 1, प्रविष्टि 92क अंतःस्थापित ।
7.	संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956	19-10-1956	1-11-1956	इस विधेयक में अनुसमर्थन की अपेक्षा थी, इसलिए संसद् द्वारा 11-9-1956 को पारित किए जाने के पश्चात् इसे राज्य विधान मंडलों को निर्दिष्ट किया गया । अपेक्षित अनुसमर्थन प्राप्त होने पर राष्ट्रपति ने अनुमति दी ।	संशोधित अनुच्छेद — 49, 80, 81, 82, 131, 153, 158, 168, 170, 171, 216, 217, 220, 222, 224, 230, 231, 232, 239, 240, 298, 371 । अंतःस्थापित अनुच्छेद — 258, 290क, 350क, 350ख, 372क, 378क । संशोधित अनुसूचियां — पहली, दूसरी, चौथी, सातवीं — सूची 1, प्रविष्टि 42, 67; सूची 2, प्रविष्टि 12, 24; सूची 3, प्रविष्टि 40 । लोप किए गए अनुच्छेद — 238, 242, 243, 259, 278, 306, 379-391 । लोप की गई अनुसूची — दूसरी, भाग ख । अनेक उपबंधों में परिणामिक संशोधन ।
8.	संविधान (आठवां संशोधन) अधिनियम, 1959	5-1-1960	5-1-1960	. . .	अनुच्छेद 334 का संशोधन — "10 वर्ष" के स्थान पर "20 वर्ष" प्रतिस्थापित ।

सारणी 4 *(गत पृष्ठ से आगे)*

अनु-क्रमांक	अधिनियम	राष्ट्रपति की अनुमति की तारीख	प्रारंभ की तारीख	क्या अनुच्छेद 368 द्वारा यथा-अपेक्षित आधे से अधिक राज्य विधान मंडलों द्वारा अनुसमर्थित हैं	संशोधन किए गए
1	2	3	4	5	6
9.	संविधान (नवां संशोधन) अधिनियम, 1960	28-12-1960	17-1-1961	अनुच्छेद 3 के अधीन पश्चिमी बंगाल राज्य के विधान मंडल के विचार प्राप्त किए गए । इसमें अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि अनुच्छेद 368 के परतुंक में राज्यक्षेत्रीय परिवर्तन विनिर्दिष्ट नहीं था ।	प्रथम अनुसूची संशोधित — विभिन्न तारीखों को हुए भारत-पाक करारों के क्रियान्वयन के लिए असम, पंजाब, पश्चिमी बंगाल और त्रिपुरा के संघ राज्यक्षेत्र से पाकिस्तान को कुछ राज्यक्षेत्र अंतरित करने के लिए ।
10.	संविधान (दसवां संशोधन) अधिनियम, 1961	16-8-1961	11-8-1961 (भूतलक्षी प्रभाव से)	. . .	अनुच्छेद 240 और पहली अनुसूची संशोधित — दादरा और नागर हवेली को संघ राज्यक्षेत्र के रूप में समाविष्ट करने के लिए ।
11.	संविधान (ग्यारवां संशोधन) अधिनियम, 1961	19-12-1961	19-12-1961	. . .	अनुच्छेद 66(1) और 71(3) — राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन की विधिमान्यता पर आक्षेप करने के अधिकारों को संकुचित बनाने के लिए ।
12.	संविधान (बारहवां संशोधन) अधिनियम, 1962	27-3-1962	20-12-1961) (भूतलक्षी)	. . .	अनुच्छेद 240 और पहली अनुसूची संशोधित — गोवा, दमण और दीव को संघ राज्यक्षेत्र के रूप में समाविष्ट करने के लिए ।
13.	संविधान (तेरहवां संशोधन) अधिनियम, 1962	28-12-1962	1-12-1963	हां	अनुच्छेद 371क अंतःस्थापित — नागालैंड राज्य के प्रशासन के लिए विशेष उपबंध करने के लिए ।
14.	संविधान (चौदहवां संशोधन) अधिनियम, 1962	28-12-1962	28-12-1962 धारा 3 और 5(क)	हां	यह उपबंध किया गया कि पांडिचेरी, कराइकल, माहे और यनम के भूतपूर्व फ्रांसीसी राज्यक्षेत्र संविधान में पांडिचेरी संघ राज्यक्षेत्र के रूप में विनिर्दिष्ट किए जाएंगे ।

सारणी 4 (*गत पृष्ठ से आगे*)

1	2	3	4	5	6
			16-8-1962 से भूतलक्षी प्रभाव से प्रवृत्त हुई ।		इसके द्वारा हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, गोवा दमण और दीव तथा पांडिचेरी के संघ राज्यक्षेत्रों को उसी प्रकार विधान मंडल और मंत्रिपरिषद् बनाने के लिए समर्थ किया गया जिस प्रकार राज्य पुनर्गठन के पहले कुछ भाग ग राज्यों में था । इस अधिनियम में यह भी उपबंध किया गया कि संघ राज्यक्षेत्र का लोक सभा में अधिकतम प्रतिनिधित्व 20 से बढ़ाकर 25 कर दिया जाएगा जिससे पांडिचेरी संघ राज्यक्षेत्र का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो सके ।
15.	संविधान (पंद्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1963	5-10-1963	5-10-1963	हां	इसके द्वारा अनुच्छेद 124, 128, 217, 222, 224, 224क, 226, 297, 311, 316, और पहली अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 78 का संशोधन किया गया । इनमें से अधिक महत्व वाले परिवर्तन ये हैं — उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु को 60 से बढ़ाकर 62 किया गया; उच्च न्यायालय की अनुच्छेद 226 के अधीन रिट निकालने की अधिकारिता का विस्तार किया गया जिससे वह न्यायालय उसके राज्यक्षेत्र की अधिकारिता के बाहर स्थित सरकार या प्राधिकारी के विरुद्ध रिट निकाल सकती है यदि वाद हेतुक उसकी अधिकारिता के भीतर उद्भूत हुआ है; अनुच्छेद 311 द्वारा राष्ट्रपति या राज्यपाल के प्रसाद के अनुसार सिविल सेवा से पदच्युत करने की प्रक्रिया में उपांतरण किया गया ।

सारणी 4 *(गत पृष्ठ से आगे)*

अनु-क्रमांक	अधिनियम	राष्ट्रपति की अनुमति की तारीख	प्रारंभ की तारीख	क्या अनुच्छेद 368 द्वारा यथा-अपेक्षित आधे से अधिक राज्य विधान मंडलों द्वारा अनुसमर्थित हैं	संशोधन किए गए
1	2	3	4	5	6
					किसी अधिनियम में यह घोषणा है कि वह अनुच्छेद 39 के खंड (ख) और (ग) के निदेशक तत्वों को प्रभाव देने के लिए है तो उसे इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि उससे मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है ।
26.	संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971	28-12-1971	28-12-1971	. . .	अनुच्छेद 291, 362 का लोप किया गया; अनुच्छेद 363क अंतःस्थापित किया गया; अनुच्छेद 366(22) का संशोधन किया गया । इस अधिनियम से देशी रियासतों के शासकों की मान्यता समाप्त करके उनकी निजी थैली भी समाप्त कर दी गई ।
27.	संविधान (सताइसवां संशोधन) अधिनियम, 1971	30-12-1971	धारा 3 30-12-1971 से, शेष 15-2-1971 से	. . .	अनुच्छेद 239क का संशोधन किया गया; अनुच्छेद 239ख अंतःस्थापित किया गया; अनुच्छेद 240 का संशोधन किया गया; अनुच्छेद 371ग अंतःस्थापित किया गया; इससे 2 नए संघ राज्यक्षेत्र मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश बनाए गए ।
28.	संविधान (अट्ठाइसवां संशोधन) अधिनियम, 1972	27-8-1972	29-8-1972	. . .	अनुच्छेद 312क अंतःस्थापित किया गया; अनुच्छेद 314 का लोप किया गया । भूतपूर्व भारतीय सिविल सेवा (आई.सी.एस.) के अधिकारियों की सेवा की शर्तें और विशेषाधिकार समाप्त किए गए ।

सारणी 4 *(गत पृष्ठ से आगे)*

1	2	3	4	5	6
29.	संविधान (उनतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1972	9-6-1972	9-6-1972	. . .	नवीं अनुसूची में मद 65 और 66 जोड़ी गईं। केरल में भूमि सुधार से संबंधित दो अधिनियमों को नवीं अनुसूची में रखा गया।
30.	संविधान (तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1972	22-2-1973	27-2-1973	हां	अनुच्छेद 133(1) का संशोधन किया गया। उच्चतम न्यायालय में होने वाली अपीलों को सीमित कर दिया गया। अब केवल ऐसी ही अपीलें हो सकेंगी जिनमें विधि का सारवान् प्रश्न अंतर्वलित है।
31.	संविधान (इकतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1973	17-10-1973	17-10-1973	. . .	अनुच्छेद 81, 330, 332 का संशोधन किया गया। लोक सभा में निर्वाचित स्थानों की संख्या 525 से 545 कर दी गई।
32.	संविधान (बत्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1973	3-5-1974	1-7-1974	. . .	अनुच्छेद 371(1) का संशोधन किया गया और अनुच्छेद 371घ से 371ङ अंतःस्थापित किए गए; सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 63 का संशोधन किया गया। इसका उद्देश्य आंध्र प्रदेश से संबंधित छह बातों को लागू करना था।
33.	संविधान (तैंतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1974	19-5-1974	19-5-1974	. . .	अनुच्छेद 101, 190 का संशोधन किया गया। यह उपबंध किया गया कि यदि राज्य के विधान मंडल और संसद् के सदस्यों से कोई त्यागपत्र प्राप्त होता है तो अध्यक्ष अपना यह समाधान करेगा कि त्यागपत्र स्वैच्छिक और असली है।
34.	संविधान (चौंतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1974	7-9-1974	7-9-1974	हां	नवीं अनुसूची में मद 67 से 86 तक जोड़ी गईं।

सारणी 4 *(गत पृष्ठ से आगे)*

अनु-क्रमांक	अधिनियम	राष्ट्रपति की अनुमति की तारीख	प्रारंभ की तारीख	क्या अनुच्छेद 368 द्वारा यथा-अपेक्षित आधे से अधिक राज्य विधान मंडलों द्वारा अनुसमर्थित हैं	संशोधन किए गए
1	2	3	4	5	6
35.	संविधान (पैंतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1974	22-2-1975	1-3-1975	हां	अनुच्छेद 2क अंतस्थापित किया गया और अनुच्छेद 80 से 81 का संशोधन किया गया; दसवीं अनुसूची जोड़ी गई । सिक्किम को सहयुक्त राज्य बनाया गया ।
36.	संविधान (छत्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975	16-5-1975	26-4-1975	हां	अनुच्छेद 2क और अनुसूची 10 का लोप किया गया; अनुसूची 1 में मद 22 जोड़ी गई; अनुच्छेद 371च अंतःस्थापित किया गया; अनुसूची 4 में प्रविष्टि 22 जोड़ी गई । सिक्किम को पूर्ण राज्य बनाया गया ।
37.	संविधान (सैंतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975	3-5-1975	3-5-1975	. . .	अनुच्छेद 239क से 240 का संशोधन किया गया; दसवीं अनुसूची का निरसन किया गया । अरुणाचल प्रदेश संघ राज्यक्षेत्र में विधान सभा और मंत्रिपरिषद् का उपबंध किया गया ।
38.	संविधान (अड़तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975	1-8-1975	1-8-1975	हां	अनुच्छेद 123, 213, 239ख, 352, 356, 359, 360 का संशोधन किया गया । राष्ट्रपति द्वारा आपात की उद्घोषणा और राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा अध्यादेश के प्रख्यापन को न्यायपालिका के पुनर्विलोकन के अधिकार से बाहर कर दिया गया ।
39.	संविधान (उनतालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975	10-8-1975	10-8-1975	हां	अनुच्छेद 71 का संशोधन किया गया; अनुच्छेद 329क अंतःस्थापित किया गया । राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मंत्री और लोक

सारणी 4 (*गत पृष्ठ से आगे*)

1	2	3	4	5	6
					सभा के अध्यक्ष के निर्वाचन को न्यायिक संवीक्षा की परिधि के बाहर कर दिया गया ।
40.	संविधान (चालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976	27-5-1975	27-5-1975	. . .	अनुच्छेद 297 प्रतिस्थापित किया गया; नवीं अनुसूची में प्रविष्टियां 125 से 188 जोड़ी गईं । भारत के राज्यक्षेत्रीय सागर खंड या महाद्वीपीय मग्न तट भूमि या अनन्य आर्थिक क्षेत्र में समुद्र के नीचे की सभी भूमि, खनिज आदि निहित होंगी यह उपबंध किया गया । राज्यक्षेत्रीय सागर खंड, महाद्वीपीय मग्न तट भूमि आदि नियत करने का अधिकार संसद् को दिया गया ।
41.	संविधान (इकतालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976	7-9-1976	7-9-1976	. . .	अनुच्छेद 316 का संशोधन किया गया । राज्य के संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों की आयु को 60 से बढ़ाकर 62 किया गया ।
42.	संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976	18-12-1976	भारत सरकार के 3-1-1977 की अधिसूचना के अनुसार 3-1-1977 से प्रारम्भ होने वाली विभिन्न तारीखें ।	हां	उद्देशिका, अनुच्छेद 31ग, 39, 55, 74, 77, 81, 82, 83, 100, 102, 105, 118, 145, 166, 170, 172, 189, 191, 194, 208, 217, 225, 227, 228, 311, 312, 330, 352, 353, 356, 357, 358, 359, 366, 368, 371च, सातवीं अनुसूची; अनुच्छेद 103, 150, 192, 226 प्रतिस्थापित किए गए; अनुच्छेद 31घ, 32क, 39क, 43क, 48क, 51क, 131क, 139क, 144क, 226क, 228क, 257क, 323क, 323ख अंतःस्थापित किए गए । इस संविधान संशोधन में एक प्रकार से संपूर्ण

सारणी 4 *(गत पृष्ठ से आगे)*

अनु-क्रमांक	अधिनियम	राष्ट्रपति की अनुमति की तारीख	प्रारंभ की तारीख	क्या अनुच्छेद 368 द्वारा यथा-अपेक्षित आधे से अधिक राज्य विधान मंडलों द्वारा अनुसमर्थित हैं	संशोधन किए गए
1	2	3	4	5	6
					संविधान का पुनरीक्षण किया गया और बहुत से तात्विक परिवर्तन किए गए । यह संशोधन आपात के समय पारित किया गया था । 1977 के निर्वाचन के बाद जो सरकार आई उसने इनमें से अधिकांश संशोधनों को निरस्त कर दिया ।
43.	संविधान (तैंतालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1977	13-4-1978	13-4-1978	हां	अनुच्छेद 31घ, 32क, 131क, 144क का लोप किया गया; अनुच्छेद 145 का संशोधन किया गया । इससे 42वें संशोधन में जोड़े गए बहुत से अनुच्छेदों का लोप किया गया और कुछ में परिवर्तन किया गया ।
44.	संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978	30-4-1979	केंद्रीय सरकार द्वारा अधिसूचित विभिन्न उपबंधों के लिए विभिन्न तारीखें; 19-6-1979; अनुच्छेद 19, 30, 31, 31क, 31ग,	हां	अनुच्छेद 19(1)(च), 31, 77(4), 123(4), 166(4), 213(4), 239ख(4), 257क, 329क का लोप किया गया । अनुच्छेद 30(1क), 134क, 300क, 361क अंतःस्थापित किए गए । 42वें संशोधन द्वारा किए गए परिवर्तनों को निरसित करते हुए संविधान को फिर से अपने मूल रूप में लाया गया । किंतु इसके द्वारा संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों के अध्याय से निकालकर एक नए अनुच्छेद 300क में रखा गया ।

सारणी 4 (गत पृष्ठ से आगे)

1	2	3	4	5	6
			74, 77, 83, 103, 105, 123, 150, 166, 194, 213, 217, 225, 227, 257क, 300क, 352, 356, 358, 359, 360, 361क		अनुच्छेद 19(1), 22, 31क, 31ग, 38, 71, 74, 83, 103, 105, 123, 132 से 134, 139क, 172, 192, 194, 217, 225, 226, 227, 329, 352, 356, 358, 359, 360, 361, 371च संशोधित और प्रतिस्थापित किए गए । बयालीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 100, 102, 105, 118, 191, 194, 208 में किए गए संशोधनों क़ो रद्द करने के लिए । (विधेयक के 6 खंडों को राज्य सभा ने अस्वीकार कर दिया था) ।
45.	संविधान (पैंतालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1980	14-4-1980	25-1-1980	हां	अनुच्छेद 334 के अधीन आरक्षण की अवधि को 30 वर्ष से बढ़ाकर 40 वर्ष किया गया ।
46.	संविधान (छियालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1982	2-2-1983	2-2-1983	. . .	विक्रय-कर से संबंधित अनुच्छेद 269, 286, 366 का संशोधन किया गया और अनुसूची 7 की सूची 1 में प्रविष्टि 92ख को अंतःस्थापित किया गया ।
47.	संविधान (सैंतालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1984	26-8-1984	26-8-1984	. . .	नवीं अनुसूची में 189 से 202 तक की प्रविष्टियां जोड़ी गईं ।
48.	संविधान (अड़तालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1984	26-8-1984	26-8-1984	. . .	अनुच्छेद 356 के खंड (5) में परंतुक अंतःस्थापित करके पंजाब में राष्ट्रपति शासन की अवधि बढ़ाई गई ।
49.	संविधान (उनचासवां संशोधन) अधिनियम, 1984	11-9-1984	1-4-1985	. . .	अनुच्छेद 244, पांचवीं और छठी अनुसूची में संशोधन किया गया । त्रिपुरा को छठी अनुसूची लागू की गई ।

सारणी 4 (*गत पृष्ठ से आगे*)

अनु-क्रमांक	अधिनियम	राष्ट्रपति की अनुमति की तारीख	प्रारंभ की तारीख	क्या अनुच्छेद 368 द्वारा यथा-अपेक्षित आधे से अधिक राज्य विधान मंडलों द्वारा अनुसमर्थित हैं	संशोधन किए गए
1	2	3	4	5	6
50.	संविधान (पचासवां संशोधन) अधिनियम, 1984	11-9-1984	11-9-1984	. . .	अनुच्छेद 33 प्रतिस्थापित किया गया । इसके प्रविषय का विस्तार करके इसे अन्य बलों को भी लागू किया गया ।
51.	संविधान (इक्यावनवां संशोधन) अधिनियम, 1984	. . .	16-6-1986	हां	अनुच्छेद 330, 332 का संशोधन किया गया ।
52.	संविधान (बावनवां संशोधन) अधिनियम, 1985	15-2-1985	1-3-1985	. . .	अनुच्छेद 101, 102, 190, 191 का संशोधन किया गया; दसवीं अनुसूची जोड़ी गई (दल परिवर्तन रोधी) । इसे दल परिवर्तन रोकने वाला संशोधन कहते हैं । दल परिवर्तन करने वाले सदस्य को निरर्हित घोषित करने का उपबंध किया गया ।
53.	संविधान (तिरपनवां संशोधन) अधिनियम, 1986	14-8-1986	14-8-1986	. . .	अनुच्छेद 371छ जोड़कर मिजोरम को राज्य बनाया गया ।
54.	संविधान (चौवनवां संशोधन) अधिनियम, 1986	. . .	1-4-1986	. . .	अनुच्छेद 125, 221, दूसरी अनुसूची का संशोधन किया गया । उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन में वृद्धि करने के लिए समुचित उपबंध किए गए ।
55.	संविधान (पचपनवां संशोधन) अधिनियम, 1986	23-12-1986	20-2-1987	. . .	अनुच्छेद 371ज अंतःस्थापित किया गया । अरुणाचल प्रदेश को राज्य बनाया गया ।
56.	संविधान (छप्पनवां संशोधन) अधिनियम, 1987	23-5-1987	30-5-1987	. . .	अनुच्छेद 371ग अंतःस्थापित किया गया । गोवा, दमण और दीव संघ राज्यक्षेत्र का विभाजन करके गावा को पूर्ण राज्य बनाकर वहां विधान

सारणी 4 *(गत पृष्ठ से आगे)*

1	2	3	4	5	6
					सभा की व्यवस्था की गई । दमण और दीव को संघ राज्यक्षेत्र बनाया गया ।
57.	संविधान (सत्तावनवां संशोधन) अधिनियम, 1987	15-9-1987	21-9-1987	. . .	अनुच्छेद 332 में खंड (3क) अंतःस्थापित किया गया । नागालैंड, मेघालय, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश में अनुसूचित जनजातियों के लिए लोक सभा में आरक्षण करने के लिए और नागालैंड तथा मेघालय की विधान सभाओं में अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थानों का आरक्षण करने के लिए अनुच्छेद 330 और 332 में संशोधन किए गए ।
58.	संविधान (अठावनवां संशोधन) अधिनियम, 1987	9-12-1987	9-12-1987	. . .	अनुच्छेद 394क अंतःस्थापित किया गया । संविधान के हिंदी में प्राधिकृत पाठ के प्रकाशन की मांग बहुत दिनों से चली आ रही थी । इस संशोधन द्वारा संविधान के हिंदी में प्राधिकृत पाठ को प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई ।
59.	संविधान (उनसठवां संशोधन) अधिनियम, 1988	30-3-1988	30-3-1988	. . .	अनुच्छेद 356 के खंड (5) का परन्तुक प्रतिस्थापित किया गया और अनुच्छेद 359क अंतःस्थापित किया गया । अनुच्छेद 356 का संशोधन करके यह उपबंध किया गया कि आपात की उद्घोषणा आवश्यकतानुसार 3 वर्ष तक प्रवृत्त रह सके । अनुच्छेद 352 का संशोधन करके यह उपबंध किया गया है कि पंजाब राज्य में जो आपात की उद्घोषणा की गई है वह केवल उस राज्य में प्रवृत्त रहेगी ।

सारणी 4 *(गत पृष्ठ से आगे)*

अनु-क्रमांक	अधिनियम	राष्ट्रपति की अनुमति की तारीख	प्रारंभ की तारीख	क्या अनुच्छेद 368 द्वारा यथा-अपेक्षित आधे से अधिक राज्य विधान मंडलों द्वारा अनुसमर्थित हैं	संशोधन किए गए
1	2	3	4	5	6
60.	संविधान (साठवां संशोधन) अधिनियम, 1988	20-12-1988	20-12-1988	. . .	अनुच्छेद 276 में संशोधन करके वृत्ति-कर की अधिकतम सीमा 250 रु. से बढ़ाकर 2.500 रु. की गई ।
61.	संविधान (इकसठवां संशोधन) अधिनियम, 1989	28-3-1989	28-3-1989	हां	अनुच्छेद 326 में संशोधन किया गया । मतदान की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई ।
62.	संविधान (बासठवां संशोधन) अधिनियम, 1989	25-1-1990	20-12-1989	हां	अनुच्छेद 334 का संशोधन किया गया । इस संशोधन द्वारा अनुसूचित जातियों और जनजातियों के आरक्षण की व्यवस्था को 10 वर्ष के लिए अर्थात् सन् 2000 तक बढ़ा दिया गया ।
63.	संविधान (तिरसठवां संशोधन) अधिनियम, 1989	6-1-1990	. . .	. . .	अनुच्छेद 356 का संशोधन [खंड (5) के परंतुक का लोप], अनुच्छेद 359क का लोप । अनुच्छेद 356 के खंड (5) में पंजाब के संबंध में एक उपबंध लगाया गया था । इसी प्रकार एक नया अनुच्छेद 359क भी लगाया गया था । इन दोनों का लोप कर दिया गया । सरकार यह चाहती थी कि पंजाब में आपात की उद्घोषणा समाप्त कर दी जाए, इसके लिए यह तैयारी की गई ।
64.	संविधान (चौसठवां संशोधन) अधिनियम, 1990	6-4-1990	. . .	. . .	अनुच्छेद 356 का संशोधन । पंजाब में स्थिति सामान्य न होने के कारण आपात की उद्घोषणा को बनाए रखना आवश्यक

सारणी 4 *(गत पृष्ठ से आगे)*

1	2	3	4	5	6
					था । इसके लिए आवश्यक उपबंध अनुच्छेद 356 में किए गए ।
65.	संविधान (पैंसठवां संशोधन) अधिनियम, 1990	7-6-1990	12-3-1992	. . .	अनुच्छेद 338 का संशोधन किया गया । अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना के लिए यह संशोधन किया गया । इस आयोग को अपने कार्य के संबंध में व्यापक अधिकार दिए गए । अनुच्छेद 338 का संशोधन करके यह किया गया ।
66.	संविधान (छियासठवां संशोधन) अधिनियम, 1990	7-6-1990	. . .	. . .	नवीं अनुसूची में 203 से 257 तक की प्रविष्टियां अंतःस्थापित की गईं ।
67.	संविधान (सड़सठवां संशोधन) अधिनियम, 1990	4-10-1990	. . .	. . .	अनुच्छेद 356 का संशोधन किया गया । पंजाब में स्थिति सामान्य न होने के कारण वहां आपात की उद्घोषणा की अवधि में वृद्धि की गई । अधिकतम अवधि 4 वर्ष कर दी गई ।
68.	संविधान (अड़सठवां संशोधन) अधिनियम, 1991	12-3-1991	. . .	. . .	अनुच्छेद 356 का संशोधन करके यह उपबंध किया गया कि पंजाब में आपात की उद्घोषणा की अवधि पांच वर्ष तक हो सकेगी ।
69.	संविधान (उनहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1991	21-12-1991	1-2-1992	. . .	दिल्ली संघ राज्यक्षेत्र के लिए विधान सभा और मंत्रिपरिषद् का उपबंध करने के लिए अनुच्छेद 239कक और 239कख अंतःस्थापित किए गए ।
70.	संविधान (सत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992	12-8-1992	धारा 3 भूतलक्षी	. . .	अनुच्छेद 54 और 368 का संशोधन करके दिल्ली और पांडिचेरी संघ राज्यक्षेत्रों की विधान सभाओं

सारणा 4 (गत पृष्ठ से आगे)

अनु-क्रमांक	अधिनियम	राष्ट्रपति की अनुमति की तारीख	प्रारंभ की तारीख	क्या अनुच्छेद 368 द्वारा यथा-अपेक्षित आधे से अधिक राज्य विधान मंडलों द्वारा अनुसमर्थित हैं	संशोधन किए गए
1	2	3	4	5	6
			प्रभाव से 21-12-1991 से । धारा 2 12-8-1992 से ।		के सदस्यों को राष्ट्रपति के लिए निर्वाचक मंडल में सम्मिलित किया गया ।
71.	संविधान. (इकहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992	31-8-1992	31-8-1992	. . .	अनुसूची 8 में कोंकणी, मणिपुरी और नेपाली भाषा को सम्मिलित किया गया ।

सारणी 5
मूल अधिकार

समता का अधिकार	विशिष्ट स्वतंत्रता का अधिकार	शोषण के विरुद्ध अधिकार	धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार	अल्पसंख्यकों के संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार	संपत्ति का अधिकार[1]	सांविधानिक उपचारों का अधिकार
1. विधि के समक्ष समता और विधि का समान संरक्षण [अनुच्छेद 14] । 2. धर्म आदि के आधार पर विभेद का प्रतिषेध [अनुच्छेद 15] । 3. लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता [अनुच्छेद 16] । 4. अस्पृश्यता का अंत [अनुच्छेद 17] । 5. उपाधियों का अंत [अनुच्छेद 18] ।	1. वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य; सम्मेलन का, संगम का, संचरण का, निवास करने और बस जाने का और वृत्ति का स्वातंत्र्य [अनुच्छेद 19] । 2. अपराधों के लिए दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण [अनुच्छेद 20] । 3. प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण [अनुच्छेद 21] । 4. कुछ दशाओं में गिरफ्तारी और निरोध से संरक्षण [अनुच्छेद 22] ।	1. मानव के दुर्व्यापार और बलात्श्रम का प्रतिषेध [अनुच्छेद 23] । 2. परिसंकटमय नियोजन में बालकों के नियोजन का प्रतिषेध [अनुच्छेद 24] ।	1. अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने की स्वतंत्रता [अनुच्छेद 25] । 2. धार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता [अनुच्छेद 26] । 3. किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करों के संदाय के बारे में स्वतंत्रता [अनुच्छेद 27] । 4. कुछ शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के बारे में स्वतंत्रता [अनुच्छेद 28] ।	1. अल्पसंख्यकों की भाषा, लिपि और संस्कृति का संरक्षण [अनुच्छेद 29] । 2. शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन और प्रशासन करने का अल्प-संख्यक-वर्गों का अधिकार [अनुच्छेद 30] ।		इस भाग द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए उपचार — बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार-पृच्छा [अनुच्छेद 32] ।

1. संपत्ति के अधिकार का संविधान के भाग 3 से, संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा लोप किया गया ।

सारणी 6
राज्य की नीति के निदेशक तत्व

राज्य के आदर्श के रूप में निदेश	*राज्य की नीति के निर्माण के निदेश*	*नागरिकों के ऐसे अधिकार जो न्यायनिर्णेय नहीं हैं*
1. राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय अनुप्राणित होता हो, अभिवृद्धि का प्रयास करेगा [अनुच्छेद 38(1)]; व्यष्टियों और समूहों के बीच आय की, प्रतिष्ठा की, सुविधाओं की और अवसरों की असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा [अनुच्छेद 38(2)] ।[1] 2. राज्य काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाएं, निर्वाह मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त करने का प्रयास करेगा [अनुच्छेद 42, 43] । 3. राज्य पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊंचा करने और लोक स्वास्थ्य का सुधार करने का प्रयास करेगा [अनुच्छेद 47] । 4. राज्य अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो जिससे हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो, और आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी संकेन्द्रण न हो [अनुच्छेद 39(ख)(ग)] । 5. राज्य अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की वृद्धि करने का प्रयास करेगा [अनुच्छेद 51] ।	1. कुछ आर्थिक अधिकार सुनिश्चित करके आर्थिक लोकतंत्र और न्याय की स्थापना करना (तीसरे स्तंभ में प्रगणित) । 2. भारत के नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त करना [अनुच्छेद 44] । 3. बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबंध करना [अनुच्छेद 45] । 4. मद्य और मादक पेयों के औषधीय प्रयोजनों से भिन्न उपयोग का प्रतिषेध करना [अनुच्छेद .47] । 5. कुटीर उद्योगों का विकास करना [अनुच्छेद 43] । 6. कृषि और पशुपालन को आधुनिक प्रणाली से संगठित करना [अनुच्छेद 48] । 7. उपयोगी पशुओं के वध का प्रतिषेध करना, जैसे गायों, बछड़ों और अन्य दुधारू और वाहक पशुओं का [अनु. 48] । 8. स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में ग्राम पंचायतों का गठन [अनुच्छेद 40] । 9. दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की अभिवृद्धि करना और उनकी सामाजिक अन्याय से सुरक्षा [अनुच्छेद 46] । 10. पर्यावरण का संरक्षण तथा वन्य जीवों की रक्षा [अनुच्छेद 48क][2] । 11. राष्ट्रीय या कलात्मक महत्व के स्थानों का संरक्षण और परिरक्षण [अनुच्छेद 49] । 12. कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण [अनुच्छेद 50] ।	1. जीविका के पर्याप्त साधन का अधिकार [अनुच्छेद 39(क)] । 2. पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन का अधिकार [अनुच्छेद 39(घ)] । 3. आर्थिक शोषण के विरुद्ध अधिकार [अनुच्छेद 39(ङ)-(छ)] । 4. बालकों और अल्पव्यय व्यक्तियों की शोषण से रक्षा पाने का और स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर पाने का अधिकार [अनुच्छेद 39(च)] ।[2] 5. समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता का अधिकार [अनुच्छेद 39क] ।[2] 6. काम पाने का अधिकार [अनुच्छेद 41] । 7. बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में लोक सहायता पाने का अधिकार [अनु. 41] । 8. काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशा का तथा प्रसूति सहायता का अधिकार [अनुच्छेद 42] । 9. निर्वाह मजदूरी का और कर्मकार के लिए शिष्ट जीवनस्तर सुनिश्चित करने के लिए काम की दशाओं का अधिकार [अनुच्छेद 43] । 10. उद्योगों के प्रबंध में कर्मकारों के भाग लेने का अधिकार [अनुच्छेद 43क][2] । 11. बालकों का निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा पाने का अधिकार [अनुच्छेद 45] ।

1. 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा जोड़ा गया ।
2. 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया ।

सारणी 7
नागरिकों के मूल कर्तव्य[1]

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्र गान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणि मात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

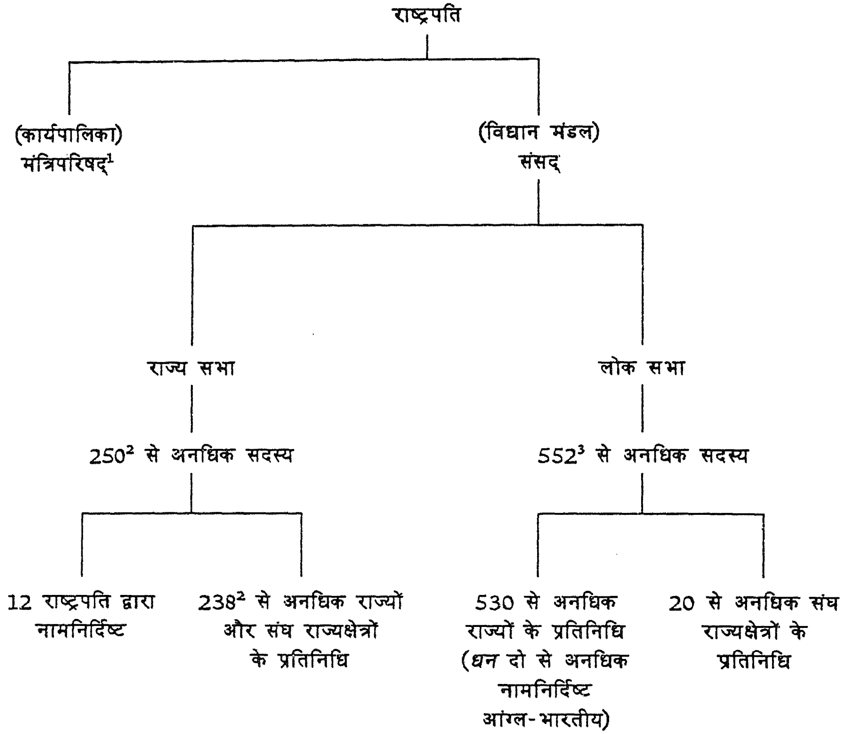
(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए, प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू ले ।

---

1. संविधान (42वें संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया ।

सारणी 8
संघ का शासन



1. जुलाई, 1990 में मंत्रिपरिषद् में निम्नलिखित थे –
   (क) 18 मंत्रिमंडल स्तर के मंत्री, प्रधान मंत्री सहित ।
   (ख) 17 राज्य मंत्री ।
   (ग) 5 उप मंत्री ।
2. जुलाई, 1989 में राज्य सभा के सदस्यों की वास्तविक संख्या 245 थी जिनमें से 233 राज्य और संघ राज्यक्षेत्रों के प्रतिनिधि थे और 12 राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्दिष्ट थे (देखिए सारणी 11) ।
3. जनवरी, 1991 में लोक सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 543 थी, जिनमें से –
   530 राज्यों के प्रतिनिधि थे (जम्मू-कश्मीर राज्य से 6 सहित);
   13 दिल्ली, पांडिचेरी, चंडीगढ़, अंदमान और निकोबार द्वीपसमूह, लक्षद्वीप, दादरा और नागर हवेली दमण और दीव, संघ राज्यक्षेत्रों के प्रतिनिधि थे;
   2 नामनिर्दिष्ट आंग्ल-भारतीय थे (जिनकी जनसंख्या 1,40,000 है) (देखिए सारणी 12) ।

सारणी 9
राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों की तुलना

राष्ट्रपति	*उपराष्ट्रपति*
निर्वाचन : निर्वाचकगण द्वारा निर्वाचित होता है जो (क) संसद् के दोनों सदनों; और (ख) राज्य की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बनता है ।	संसद् के दोनों सदनों के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचकगण द्वारा निर्वाचित होता है ।
दोनों निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल अंतरणीय मत द्वारा होते हैं ।	
निर्वाचन के लिए अर्हताएं : (क) भारत का नागरिक होना चाहिए; (ख) 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका होना चाहिए; और	
(ग) लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित होना चाहिए ।	(ङ) राज्य सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित होना चाहिए ।
(घ) भारत सरकार के या किसी राज्य सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं होना चाहिए । किंतु इसके अपवाद हैं — राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, किसी राज्य के राज्यपाल या संघ या राज्य के मंत्री का पद ।	
पदावधि : पद ग्रहण करने की तारीख से 5 वर्ष	
(क) उपराष्ट्रपति को संबोधित लेख द्वारा इसके पहले अपना पद त्याग कर सकता है । (ख) महाभियोग की प्रक्रिया से हटाया जा सकता है ।	(क) राष्ट्रपति को संबोधित लेख द्वारा इसके पहले अपना पद त्याग कर सकता है । (ख) राज्य सभा के सदस्यों के बहुमत के ऐसे संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा जिससे लोक सभा सहमत है ।
दोनों चाहे जितनी बार पुनः निर्वाचित हो सकते हैं ।	
वेतन : 20,000 रु. प्रति मास ।	7,500 रु. प्रति मास *धन* 1,000 रु. प्रति मास सत्कार भत्ता (राज्य सभा के सभापति के रूप में); किंतु जब वह राष्ट्रपति के रूप में काम करता है तब उसे राष्ट्रपति की परिलब्धियां दी जाएंगी, अर्थात् 20,000 रुपए ।
कृत्य : संघ की कार्यपालिका शक्ति उसमें निहित है और वह उसका उपयोग संघ की मंत्रिपरिषद् की सलाह से करता है ।	उपराष्ट्रपति के रूप में उसका कोई कृत्य नहीं है । जब राष्ट्रपति के पद में रिक्ति होती है तब वह नए राष्ट्रपति के निर्वाचन तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है और पद धारण करता है । जब राष्ट्रपति का पद रिक्त होता है उस अवधि को छोड़कर उपराष्ट्रपति राज्य सभा के पदेन सभापति के रूप में कार्य करता है ।

सारणी 10
अ — भारत के राष्ट्रपति

1.	डा. राजेन्द्र प्रसाद (1884-1963)	12-5-1952 — 12-5-1957
2.	डा. राजेन्द्र प्रसाद (पुनर्निर्वाचित)	13-5-1957 — 13-5-1962
3.	डा. राधाकृष्णन (1888-1975)	13-5-1962 — 13-5-1967
4.	डा. जाकिर हुसैन (1897-1969)	13-5-1967 — 3-5-1969 (मृत्यु)
5.	वी.वी. गिरि (1894-1980)	3-5-1969 — 20-7-1969 (कार्यकारी)
6.	एम. हिदायतुल्ला (1905-1992)	20-7-1969 — 24-8-1969 (कार्यकारी)
7.	वी.वी. गिरि (1894-1980)	24-8-1969 — 24-8-1974
8.	फखरुद्दीन अली अहमद (1905-1977)	24-8-1974 — 11-2-1977 (मृत्यु)
9.	बी.डी. जत्ती (1913-	11-2-1977 — 25-7-1977 (कार्यकारी)
10.	नीलम संजीव रेड्डी (1913-	25-7-1977 — 25-7-1982
11.	ज्ञानी जैल सिंह (1916-	25-7-1982 — 25-7-1987
12.	एम. हिदायतुल्ला	6-10-1982 — 31-10-1982 (राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह की अनुपस्थिति में राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन किया)।
13.	रामस्वामी वेंकटरामन (1910-	25-7-1987 — 25-7-1992
14.	डा. शंकर दयाल शर्मा (1918-	25-7-1992 —

आ — भारत के उपराष्ट्रपति

1.	डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888-1975)	1952-1962
2.	डा. जाकिर हुसैन (1897-1969)	1962-1967
3.	वी.वी. गिरि (1894-1980)	1967-1969
4.	गोपाल स्वरूप पाठक (1896-1982)	1969-1974
5.	बी.डी. जत्ती (1913-	1974-1979
6.	एम. हिदायतुल्ला (1905-1992)	1979-1984
7.	रामस्वामी वेंकटरामन (1910-	1984-1987
8.	डा. शंकर दयाल शर्मा (1918-	1987-1992
9.	के.आर. नारायणन (1921-	1992-

इ — भारत के प्रधान मंत्री

1.	पंडित जवाहरलाल नेहरू (1889-1964)	26-2-1950 — 27-5-1964 (मृत्यु)
2.	गुलजारीलाल नंदा (1898-	27-5-1964 — 9-6-1964 (कार्यकारी)
3.	लाल बहादुर शास्त्री (1904-1966)	9-6-1964 — 11-1-1966 (मृत्यु)
4.	गुलजारीलाल नंदा	11-1-1966 — 24-1-1966 (कार्यकारी)
5.	श्रीमती इंदिरा गांधी (1917-1984)	24-1-1966 — 24-3-1977
6.	मोरारजी देसाई (1896-	24-3-1977 — 28-7-1979
7.	चौधरी चरण सिंह (1902-1987)	28-7-1979 — 14-1-1980
8.	श्रीमती इंदिरा गांधी	14-1-1980 — 31-10-1984 (मृत्यु)
9.	राजीव गांधी (1944-1991)	31-10-1984 — 1-12-1989
10.	विश्वनाथ प्रताप सिंह (1931-	2-12-1989 — 10-11-1990
11.	चंद्रशेखर (1927-	10-11-1990 — 21-6-1990
12.	पी.वी. नरसिंहराव (1920-	21-6-1991 —

सारणी 11
राज्यों और संघ राज्यक्षेत्रों का राज्य सभा में प्रतिनिधित्व
(1 नवंबर, 1992 को यथाविद्यमान)

1.	आन्ध्र प्रदेश	18
2.	असम	7
3.	बिहार	22
4.	गोवा	1
5.	गुजरात	11
6.	हरियाणा	5
7.	केरल	9
8.	मध्य प्रदेश	16
9.	तमिलनाडु	18
10.	महाराष्ट्र	19
11.	कर्नाटक	12
12.	उड़ीसा	10
13.	पंजाब	7
14.	राजस्थान	10
15.	उत्तर प्रदेश	34
16.	पश्चिमी बंगाल	16
17.	जम्मू-कश्मीर	4
18.	नागालैंड	1
19.	हिमाचल प्रदेश	3
20.	मणिपुर	1
21.	त्रिपुरा	1
22.	मेघालय	1
23.	सिक्किम	1
24.	मिजोरम	1
25.	अरुणाचल प्रदेश	1
26.	दिल्ली	3
27.	पांडिचेरी	1
		233[1]

1. इसके अतिरिक्त 12 व्यक्ति राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्दिष्ट ।

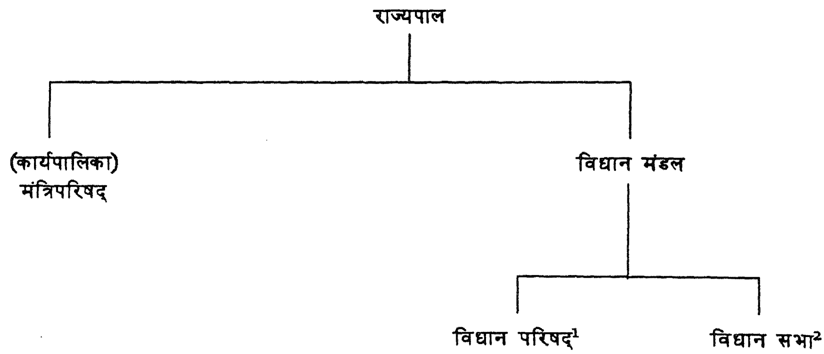
सारणी 12
लोकसभा में स्थानों का आबंटन

राज्य/संघ राज्यक्षेत्र का नाम	कुल	अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित	अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित
राज्य			
आन्ध्र प्रदेश	42	6	2
अरुणाचल प्रदेश	2	—	—
असम	14	1	2
बिहार	54	8	5
गोवा	2	—	—
गुजरात	26	2	4
हरियाणा	10	2	—
हिमाचल प्रदेश	4	1	—
जम्मू-कश्मीर	6	—	—
कर्नाटक	28	4	—
केरल	20	2	—
मध्य प्रदेश	40	6	9
महाराष्ट्र	48	3	4
मणिपुर	2	—	1
मेघालय	2	—	—
मिजोरम	1	—	1
नागालैंड	1	—	—
उड़ीसा	21	3	5
पंजाब	13	3	—
राजस्थान	25	4	3
सिक्किम	1	—	—
तमिलनाडु	39	7	—
त्रिपुरा	2	—	1
उत्तर प्रदेश	85	18	—
पश्चिमी बंगाल	42	8	2
संघ राज्यक्षेत्र			
अंदमान और निकोबार	1	—	—
चंडीगढ़	1	—	1
दादरा और नागर हवेली	1	—	—
दिल्ली	7	1	—
दमण और दीव	1	—	—
लक्षद्वीप	1	—	1
पाण्डिचेरी	1	—	—
कुल :	543	79	40

सारणी 13
लोक सभा और उसके अध्यक्ष

लोक सभा			अध्यक्ष		
	गठन के पश्चात् पहले अधिवेशन की तारीख	विघटन की तारीख	नाम	से	तक
पहली लोक सभा	13 मई, 1952	4 अप्रैल, 1957	गणेश वासुदेव मावलंकर	15 मई, 1952	27 फरवरी, 1956
			एम. अनन्तशयनम्, अयंगर	8 मार्च, 1956	10 मई, 1957
दूसरी लोक सभा	10 मई, 1957	31 मार्च, 1962	एम. अनन्तशयनम् अयंगर	11 मई, 1957	16 अप्रैल, 1962
तीसरी लोक सभा	16 अप्रैल, 1962	3 मार्च, 1967	हुकम सिंह	17 अप्रैल, 1962	16 मार्च, 1967
चौथी लोक सभा	16 मार्च, 1967	27 दिसंबर, 1970	नीलम संजीव रेड्डी	17 मार्च, 1967	19 जुलाई, 1969
			डा. गुरदयाल सिंह ढिल्लों	8 अगस्त, 1969	19 मार्च, 1971
पांचवीं लोक सभा	19 मार्च, 1971	18 जनवरी, 1977	डा. गुरदयाल सिंह ढिल्लों	22 मार्च, 1971	1 दिसंबर, 1975
			बलीराम भगत	5 जनवरी, 1976	25 मार्च, 1977
छठी लोक सभा	25 मार्च, 1977	22 अगस्त, 1979	नीलम संजीव रेड्डी	26 मार्च, 1977	13 जुलाई, 1977
			के.डी. हेगडे	21 जुलाई, 1977	21 जनवरी, 1980
सातवीं लोक सभा	21 जनवरी, 1980	31 दिसंबर, 1984	डा. बलराम जाखड़	22 जनवरी, 1980	15 जनवरी, 1985
आठवीं लोक सभा	15 जनवरी, 1985	27 नवंबर, 1989	डा. बलराम जाखड़	16 जनवरी, 1985	18 दिसंबर, 1989
नवीं लोक सभा	18 दिसंबर, 1989	13 मार्च, 1991	रबि राय	19 दिसंबर, 1989	10 जुलाई, 1991
दसवीं लोक सभा	9 जुलाई, 1991	—	शिवराज वी. पाटिल	10 जुलाई, 1991	आज तक

सारणी 14
राज्यों का शासन



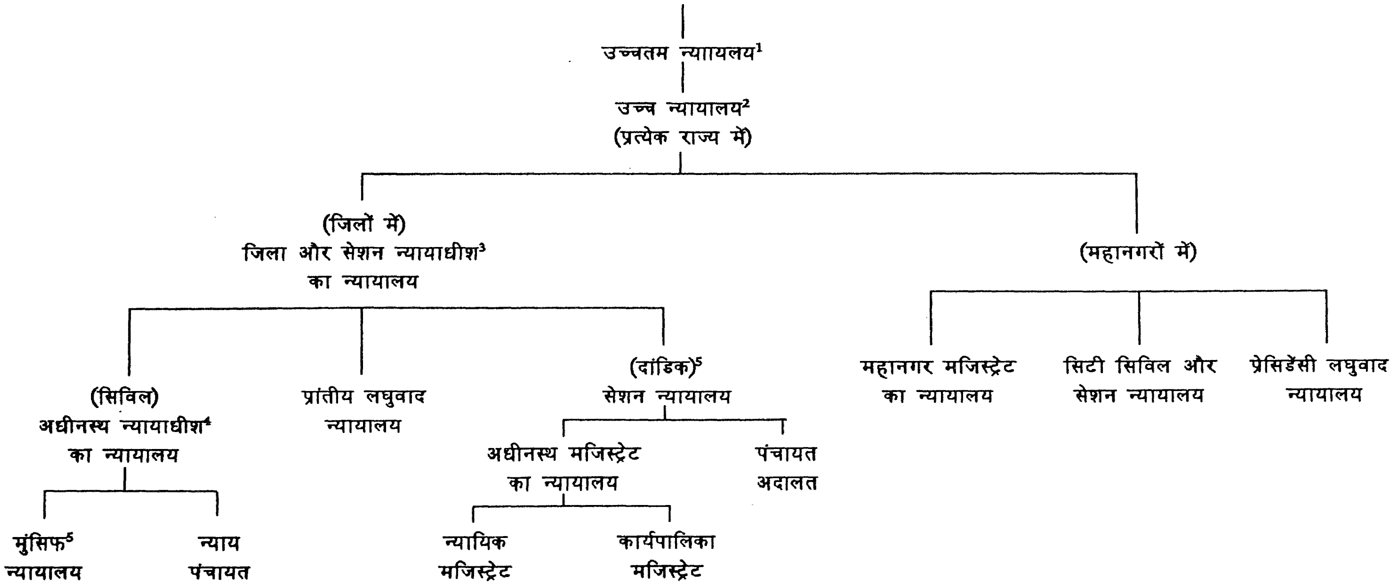
1. नवंबर, 1992 में उन राज्यों में (जम्मू-कश्मीर सहित) जिनमें विधान परिषद् थी, स्थानों की कुल संख्या 393 थी ।
2. नवंबर, 1992 में राज्यों और संघ राज्यक्षेत्रों की विधान सभाओं में स्थानों की कुल संख्या 3,991 थी (अगली सारणी देखें) । इसमें दिल्ली राजधानी क्षेत्र परिषद् के सदस्य सम्मिलित नहीं हैं ।

सारणी 15

विधान सभा और विधान परिषद् की सदस्य संख्या
(नवंबर, 1992 में)

1. *राज्य*		*विधान सभा*	*विधान परिषद्*
1.	आन्ध्र प्रदेश	294	—
2.	अरुणाचल प्रदेश	40	—
3.	असम	126	—
4.	बिहार	324	96
5.	गोवा	40	—
6.	गुजरात	182	—
7.	हरियाणा	90	—
8.	हिमाचल प्रदेश	68	—
9.	जम्मू-कश्मीर	76	36
10.	कर्नाटक	224	75
11.	केरल	140	—
12.	मध्य प्रदेश	320	—
13.	महाराष्ट्र	288	78
14.	मणिपुर	60	—
15.	मेघालय	60	—
16.	मिजोरम	40	—
17.	नागालैंड	60	—
18.	उड़ीसा	147	—
19.	पंजाब	117	—
20.	राजस्थान	200	—
21.	सिक्किम	32	—
22.	तमिलनाडु	234	—
23.	त्रिपुरा	60	—
24.	उत्तर प्रदेश	425	108
25.	पश्चिमी बंगाल	294	—
2. *संघ राज्यक्षेत्र*			
1.	पांडिचेरी	30	—
		3,991	393

सारणी 16
न्यायपालिका



---

1. मुख्य न्यायमूर्ति और 25 अन्य न्यायाधीश ।
2. 1991 के अंत तक 18 उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के 511 पद स्वीकृत थे ।
3. 1981 के अंत में लगभग 2149 जिला और अधीनस्थ न्यायधीश थे ।
4. 1981 के अंत में लगभग 4307 मुंसिफ थे ।
5. 1981 के अंत में लगभग 2100 सिविल और 4200 से अधिक दांडिक न्यायालय थे ।

सारणी 17
उच्च न्यायालय — अधिकारिता और अवस्थान

	नाम	स्थापना की तारीख	राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता	अवस्थान
1.	इलाहाबाद	1866	उत्तर प्रदेश	इलाहाबाद (लखनऊ में न्यायपीठ)
2.	आंध्र प्रदेश	1954	आंध्र प्रदेश	हैदराबाद
3.	मुंबई	1862	महाराष्ट्र, दादर और नागर हवेली और गोवा, दमण और दीव	मुंबई (नागपुर, पणजी और औरंगाबाद में न्यायपीठ)
4.	कलकत्ता	1862	पश्चिमी बंगाल तथा अंदमान और निकोबार द्वीप	कलकत्ता (पोर्ट ब्लेयर में चलपीठ)
5.	दिल्ली	1966	दिल्ली	दिल्ली
6.	गुवाहाटी	1948	असम, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश	गुवाहाटी (कोहिमा में न्यायपीठ, और इम्फाल, अगरतला और शिलांग में सर्किट न्यायपीठ)
7.	गुजरात	1960	गुजरात	अहमदाबाद
8.	हिमाचल प्रदेश	1971	हिमाचल प्रदेश	शिमला
9.	जम्मू-कश्मीर	1928	जम्मू-कश्मीर	श्रीनगर और जम्मू
10.	कर्नाटक	1884	कर्नाटक	बंगलौर
11.	केरल	1958	केरल और लक्षद्वीप	एर्नाकुलम
12.	मध्य प्रदेश	1956	मध्य प्रदेश	जबलपुर (ग्वालियर और इंदौर में न्यायपीठ)
13.	मद्रास	1862	तमिलनाडु और पांडिचेरी	मद्रास
14.	उड़ीसा	1948	उड़ीसा	कटक
15.	पटना	1916	बिहार	पटना (रांची में न्यायपीठ)
16.	पंजाब और हरियाणा	1975	पंजाब, हरियाणा और चंडीगढ़	चंडीगढ़
17.	राजस्थान	1949	राजस्थान	जोधपुर (जयपुर में न्यायपीठ)
18.	सिक्किम	1975	सिक्किम	गंगटोक

सारणी 18

केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की न्यायपीठों की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता

	न्यायपीठ	अधिकारिता
1.	प्रधान न्यायपीठ (नई दिल्ली)	दिल्ली
2.	अहमदाबाद	गुजरात
3.	इलाहाबाद	उत्तर प्रदेश
4.	बंगलौर	कर्नाटक
5.	कलकत्ता	सिक्किम, पश्चिमी बंगाल और अंदमान और निकोबार द्वीप
6.	चंडीगढ़	जम्मू-कश्मीर, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, पंजाब और चंड़ीगढ़
7.	कटक	उड़ीसा
8.	एर्नाकुलम	केरल और लक्षद्वीप
9.	गुवाहाटी	असम, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम
10.	हैदराबाद	आंध्र प्रदेश
11.	जबलपुर	मध्य प्रदेश
12.	जोधपुर	राजस्थान
13.	मद्रास	तमिलनाडु और पांडिचेरी
14.	नया मुंबई	महाराष्ट्र, गोवा, दादरा और नागर हवेली और दमण और दीव
15.	पटना	बिहार

सारणी 19
विधायी शक्तियों का वितरण
सातवीं अनुसूची

सूची 1 — संघ सूची

1. भारत की और उसके प्रत्येक भाग की रक्षा, जिसके अंतर्गत रक्षा के लिए तैयारी और ऐसे सभी कार्य हैं, जो युद्ध के समय युद्ध के संचालन और उसकी समाप्ति के पश्चात् प्रभावी सैन्यवियोजन में सहायक हों ।

2. नौसेना, सेना और वायुसेना; संघ के अन्य सशस्त्र बल ।

[1][2क. संघ के किसी सशस्त्र बल या संघ के नियंत्रण के अधीन किसी अन्य बल का या उसकी किसी टुकड़ी या यूनिट का किसी राज्य में सिविल शक्ति की सहायता में अभिनियोजन; ऐसे अभिनियोजन के समय ऐसे बलों के सदस्यों की शक्तियां, अधिकारिता, विशेषाधिकार और दायित्व ।]

3. छावनी क्षेत्रों का परिसीमन, ऐसे क्षेत्रों में स्थानीय स्वाशासन, ऐसे क्षेत्रों के भीतर छावनी प्राधिकारियों का गठन और शक्तियां तथा ऐसे क्षेत्रों में गृह वास-सुविधा का विनियमन (जिसके अंतर्गत भाटक का नियंत्रण है) ।

4. नौसेना, सेना और वायुसेना संकर्म ।

5. आयुध, अग्नयायुध, गोलाबारूद और विस्फोटक ।

6. परमाणु ऊर्जा और उसके उत्पादन के लिए आवश्यक खनिज संपत्ति स्रोत ।

---

1. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) अंतःस्थापित ।

सूची 2 — राज्य सूची

1. लोक व्यवस्था (किंतु इसके अंतर्गत सिविल शक्ति की सहायता के लिए [1][नौसेना, सेना या वायु सेना या संघ के किसी अन्य सशस्त्र बल का या संघ के नियंत्रण के अधीन किसी अन्य बल का या उसकी किसी टुकड़ी या यूनिट का प्रयोग] नहीं हैं) ।

[2][2. सूची 1 की प्रविष्टि 2क के उपबंधों के अधीन रहते हुए पुलिस (जिसके अंतर्गत रेल और ग्राम पुलिस है) ।]

3. [3]*** उच्च न्यायालय के अधिकारी और सेवक; भाटक और राजस्व न्यायालयों की प्रक्रिया; उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों में ली जाने वाली फीस ।

4. कारागार, सुधारालय, बोर्स्टल संस्थाएं और उसी प्रकार की अन्य संस्थाएं और उनमें निरुद्ध व्यक्ति;

---

1. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) कुछ शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।
2. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) प्रविष्टि 2 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।
3. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) कुछ शब्दों का लोप किया गया ।

सूची 3 — समवर्ती सूची

1. दंड विधि जिसके अंतर्गत ऐसे सभी विषय हैं जो इस संविधान के प्रारंभ पर भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत आते हैं, किंतु इसके अंतर्गत सूची 1 या सूची 2 में विनिर्दिष्ट विषयों में से किसी विषय से संबंधित विधियों के विरुद्ध अपराध और सिविल शक्ति की सहायता के लिए नौसेना, सेना या वायुसेना अथवा संघ के किसी अन्य सशस्त्र बल का प्रयोग नहीं है ।

2. दंड प्रक्रिया जिसके अंतर्गत ऐसे सभी विषय हैं जो इस संविधान के प्रारंभ पर दंड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत हैं ।

3. किसी राज्य की सुरक्षा, लोक व्यवस्था बनाए रखने या समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों और सेवाओं को बनाए रखने संबंधी कारणों से निवारक निरोध; इस प्रकार निरोध में रखे गए व्यक्ति ।

4. बंदियों, अभियुक्त व्यक्तियों और इस सूची की प्रविष्टि 3 में विनिर्दिष्ट कारणों से निवारक निरोध में रखे गए व्यक्तियों का एक राज्य से दूसरे राज्य को हटाया जाना ।

5. विवाह और विवाह-विच्छेद; शिशु और अवयस्क; दत्तक ग्रहण; विल, निर्वसीयतता और उत्तराधिकार; अविभक्त कुटुंब और विभाजन; वे सभी विषय जिनके संबंध में न्यायिक कार्यवाहियों में पक्षकार इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले अपनी स्वीय विधि के अधीन थे ।

सारणी 19 (*गत पृष्ठ से आगे*)

सूची 1 — संघ सूची

7. संसद् द्वारा विधि द्वारा रक्षा के प्रयोजन के लिए या युद्ध के संचालन के लिए आवश्यक घोषित किए गए उद्योग ।

8. केंद्रीय आसूचना और अन्वेषण ब्यूरो ।

9. रक्षा, विदेश कार्य या भारत की सुरक्षा संबंधी कारणों से निवारक निरोध; इस प्रकार निरोध में रखे गए व्यक्ति ।

10. विदेश कार्य, सभी विषय जिनके द्वारा संघ का किसी विदेश से संबंध होता है ।

11. राजनयिक, कौंसलीय और व्यापारिक प्रतिनिधित्व ।

12. संयुक्त राष्ट्र संघ ।

13. अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों, संगमों और अन्य निकायों में भाग लेना और उनमें किए गए विनिश्चयों का कार्यान्वयन ।

14. विदेशों से संधि और करार करना और विदेशों से की गई संधियों, करारों और अभिसमयों का कार्यान्वयन ।

15. युद्ध और शांति ।

16. वैदेशिक अधिकारिता ।

17. नागरिकता, देशीयकरण और अन्यदेशीय ।

18. प्रत्यर्पण ।

19. भारत में प्रवेश और उसमें से उत्प्रवास और निष्कासन; पासपोर्ट और वीजा ।

20. भारत से बाहर के स्थानों की तीर्थयात्राएं ।

21. खुले समुद्र या आकाश में की गई दस्युता और

सूची 2 — राज्य सूची

कारागारों और अन्य संस्थाओं के उपयोग के लिए अन्य राज्यों से ठहराव ।

5. स्थानीय शासन, अर्थात् नगर निगमों, सुधार न्यासों, जिला बोर्डों, खनन-बस्ती प्राधिकारियों और स्थानीय स्वशासन या ग्राम प्रशासन के प्रयोजनों के लिए अन्य स्थानीय प्राधिकारियों का गठन और शक्तियां ।

6. लोक स्वास्थ्य और स्वच्छता; अस्पताल और औषधालय ।

7. भारत से बाहर के स्थानों की तीर्थयात्राओं से भिन्न तीर्थयात्राएं ।

8. मादक लिकर, अर्थात् मादक लिकर का उत्पादन, विनिर्माण, कब्जा, परिवहन, क्रय और विक्रय ।

9. निःशक्त और नियोजन के लिए अयोग्य व्यक्तियों की सहायता ।

10. शव गाड़ना और कब्रिस्तान; शव-दाह और श्मशान ।

11. [4]* * * * *

12. राज्य द्वारा नियंत्रित या वित्तपोषित पुस्तकालय, संग्रहालय या वैसी ही अन्य संस्थाएं; [5][संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन] राष्ट्रीय महत्व के [5][घोषित

---

4. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) प्रविष्टि 11, 19 और 20 का लोप किया गया ।
5. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 27 द्वारा "संसद् द्वारा विधि द्वारा घोषित" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

सूची 3 — समवर्ती सूची

6. कृषि भूमि से भिन्न संपत्ति का अंतरण; विलेखों और दस्तावेजों का रजिस्ट्रीकरण ।

7. संविदाएं जिनके अंतर्गत भागीदारी, अभिकरण, वहन की संविदाएं और अन्य विशेष प्रकार की संविदाएं हैं, किंतु कृषि भूमि संबंधी संविदाएं नहीं हैं ।

8. अनुयोज्य दोष ।

9. शोधन अक्षमता और दिवाला ।

10. न्यास और न्यासी ।

11. महाप्रशासक और शासकीय न्यासी ।

[1][11क. न्याय प्रशासन; उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों से भिन्न सभी न्यायालयों का गठन और संगठन ।]

12. साक्ष्य और शपथ; विधियों, लोक कार्यों और अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों को मान्यता ।

13. सिविल प्रक्रिया जिसके अंतर्गत ऐसे सभी विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर सिविल प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत आते हैं, परिसीमा और माध्यस्थम् ।

14. न्यायालय का अवमान, किंतु इसके अंतर्गत उच्चतम न्यायालय का अवमान नहीं है ।

15. आहिंडन; यायावरी और प्रव्राजी जनजातियां ।

16. पागलपन और मनोवैकल्य, जिसके अंतर्गत पागलों और मनोविकल व्यक्तियों को ग्रहण करने या उनका उपचार करने के स्थान हैं ।

17. पशुओं के प्रति क्रूरता का निवारण ।

---

1. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) अंतःस्थापित ।

सारणी 19 (गत पृष्ठ से आगे)

सूची 1 — संघ सूची

अपराध; स्थल या खुले समुद्र या आकाश में राष्ट्रों की विधि के विरुद्ध किए गए अपराध ।

22. रेल ।

23. ऐसे राजमार्ग जिन्हें संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन राष्ट्रीय राजमार्ग घोषित किया गया है ।

24. यंत्र नोदित जलयानों के संबंध में ऐसे अंतरदेशीय जलमार्गों पर पोतपरिवहन और नौपरिवहन जो संसद् द्वारा विधि द्वारा राष्ट्रीय जलमार्ग घोषित किए गए हैं; ऐसे जलमार्गों पर मार्ग का नियम ।

25. समुद्री पोतपरिवहन और नौपरिवहन, जिसके अंतर्गत ज्वारीय जल में पोतपरिवहन और नौपरिवहन है; वाणिज्यिक समुद्री बेड़े के लिए शिक्षा और प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी जाने वाली ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन ।

26. प्रकाशस्तंभ, जिनके अंतर्गत प्रकाशपोत, बीकन तथा पोतपरिवहन और वायुयानों की सुरक्षा के लिए अन्य व्यवस्था है ।

27. ऐसे पत्तन जिन्हें संसद् द्वारा बनाई गई विधि या विद्यमान विधि द्वारा या उसके अधीन महापत्तन घोषित किया जाता है, जिसके अंतर्गत उनका परिसीमन और उनमें पत्तन प्राधिकारियों का गठन है और उनकी शक्तियां हैं ।

28. पत्तन करंतीन, जिसके अंतर्गत उससे संबद्ध अस्पताल हैं, नाविक और समुद्रीय अस्पताल ।

सूची 2 — राज्य सूची

किए गए] प्राचीन और ऐतिहासिक संस्मारकों और अभिलेखों से भिन्न प्राचीन और ऐतिहासिक संस्मारक और अभिलेख ।

13. संचार, अर्थात् सड़कें, पुल, फेरी और अन्य संचार साधन जो सूची 1 में विनिर्दिष्ट नहीं हैं; नगरपालिक ट्राम; रज्जुमार्ग; अंतरदेशीय जलमार्गों के संबंध में सूची 1 और सूची 3 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, अंतरदेशीय जलमार्ग और उन पर यातायात; यंत्र नोदित यानों के भिन्न यान ।

14. कृषि जिसके अंतर्गत कृषि शिक्षा और अनुसंधान, नाशक जीवों से संरक्षण और पादप रोगों का निवारण है ।

15. पशुधन का परिरक्षण, संरक्षण और सुधार तथा जीवजंतुओं के रोगों का निवारण; पशुचिकित्सा प्रशिक्षण और व्यवसाय ।

16. कांजी हाउस और पशु अतिचार का निवारण ।

17. सूची 1 की प्रविष्टि 56 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, जल, अर्थात् जल प्रदाय, सिंचाई और नहरें, जल निकास और तटबंध, जल भंडारकरण और जल शक्ति ।

18. भूमि, अर्थात् भूमि में या उस पर अधिकार, भूधृति जिसके अंतर्गत भूस्वामी और अभिधारी का संबंध है और भाटक का संग्रहण; कृषि भूमि का अंतरण और अन्यसंक्रामण; भूमि विकास और कृषि उधार; उपनिवेशन ।

[4]***

21. मात्स्यिकी ।

22. सूची 1 की प्रविष्टि 34 के उपबंधों के अधीन

सूची 3 — समवर्ती सूची

[1][17क. वन ।

17ख. वन्य जीवजंतुओं और पक्षियों का संरक्षण ।]

18. खाद्य पदार्थों और अन्य माल का अपमिश्रण ।

19. अफीम के संबंध में सूची 1 की प्रविष्टि 59 के उपबंधों के अधीन रहते हुए मादक द्रव्य और विष ।

20. आर्थिक और सामाजिक योजना ।

[1][20क. जनसंख्या नियंत्रण और परिवार नियोजन ।]

21. वाणिज्यिक और औद्योगिक एकाधिकार, गुट और न्यास ।

22. व्यापार संघ; औद्योगिक और श्रम विवाद ।

23. सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा; नियोजन और बेकारी ।

24. श्रमिकों का कल्याण जिसके अंतर्गत कार्य की दशाएं, भविष्य निधि, नियोजक का दायित्व, कर्मकार प्रतिकर, अशक्तता और वार्धक्य पेंशन तथा प्रसुति सुविधाएं हैं ।

[2][25. सूची 1 की प्रविष्टि 63, 64, 65 और 66 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, शिक्षा जिसके अंतर्गत तकनीकी शिक्षा, आयुर्विज्ञान शिक्षा और विश्वविद्यालय हैं; श्रमिकों का व्यावसायिक और तकनीकी प्रशिक्षण ।]

---

1. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) अंतःस्थापित ।
2. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) प्रविष्टि 25 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

सारणी 19 (गत पृष्ठ से आगे)

सूची 1 — संघ सूची

29. वायुमार्ग, वायुयान और विमान चालन; विमानक्षेत्र की व्यवस्था; विमान यातायात और विमान क्षेत्रों का विनियमन और संगठन; वैमानिक शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी जाने वाली ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन।

30. रेल, समुद्र या वायु मार्ग द्वारा अथवा यंत्र नोदित जलयानों में राष्ट्रीय जलमार्गों द्वारा यात्रियों और माल का वहन ।

31. डाक-तार; टेलीफोन, बेतार, प्रसारण और वैसे ही अन्य संचार साधन ।

32. संघ की संपत्ति और उससे राजस्व, किंतु किसी [2]*** राज्य में स्थित संपत्ति के संबंध में, वहां तक के सिवाय जहां तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबंध करे, उस राज्य के विधान के अधीन रहते हुए ।

[3]33. * * * * *

34. देशी राज्यों के शासकों की संपदा के लिए प्रतिपाल्य अधिकरण ।

35. संघ का लोक ऋण ।

सूची 2 — राज्य सूची

रहते हुए, प्रतिपाल्य-अधिकरण; विल्लंगमित और कुर्क की गई संपदा ।

23. संघ के नियंत्रण के अधीन विनियमन और विकास के संबंध में सूची 1 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, खानों का विनियमन और खनिज विकास ।

24. सूची 1 की [6][प्रविष्टि 7 और प्रविष्टि 52] के उपबंधों के अधीन रहते हुए, उद्योग ।

25. गैस और गैस संकर्म ।

26. सूची 3 की प्रविष्टि 33 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, राज्य के भीतर व्यापार और वाणिज्य ।

27. सूची 3 की प्रविष्टि 33 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, माल का उत्पादन, प्रदाय और वितरण ।

28. बाजार और मेले ।

[7]29. * * * * *

30. साहूकारी और साहूकार; कृषि ऋणिता से मुक्ति ।

31. पांथशाला और पांथशालापाल ।

32. ऐसे निगमों का जो सूची 1 में विनिर्दिष्ट निगमों से भिन्न हैं और विश्वविद्यालयों का निगमन,

सूची 3 — समवर्ती सूची

26. विधि वृत्ति, चिकित्सा वृत्ति और अन्य वृत्तियां ।

27. भारत और पाकिस्तान डोमिनियनों के स्थापित होने के कारण अपने मूल निवास-स्थान से विस्थापित व्यक्तियों की सहायता और पुनर्वास ।

28. पूर्त कार्य और पूर्त संस्थाएं, पूर्त और धार्मिक विन्यास और धार्मिक संस्थाएं ।

29. मानवों, जीवजंतुओं या पौधों पर प्रभाव डालने वाले संक्रामक या सांसर्गिक रोगों अथवा नाशक जीवों के एक राज्य से दूसरे राज्य में फैलने का निवारण ।

30. जन्म-मरण सांख्यिकी, जिसके अंतर्गत जन्म और मृत्यु रजिस्ट्रीकरण है ।

31. संसद् द्वारा बनाई गई विधि या विद्यमान विधि द्वारा या उसके अधीन महापत्तन घोषित पत्तनों से भिन्न पत्तन ।

32. राष्ट्रीय जलमार्गों के संबंध में सूची 1 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, अंतरदेशीय जलमार्गों पर यंत्र नोदित जलयानों के संबंध में पोतपरिवहन और नौपरिवहन तथा ऐसे जलमार्गों पर मार्ग का नियम और अंतरदेशीय जलमार्गों द्वारा यात्रियों और माल का वहन ।

[3][33. (क) जहां संसद् द्वारा विधि द्वारा किसी उद्योग का संघ द्वारा नियंत्रण लोकहित में समीचीन घोषित किया जाता है वहां उस उद्योग के उत्पादों का और उसी प्रकार के आयात किए गए माल का ऐसे उत्पादों के रूप में,

---

2. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 29 और अनुसूची द्वारा "पहली अनुसूची के भाग क या भाग ख में विनिर्दिष्ट" शब्दों और अक्षरों का लोप किया गया ।
3. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 26 द्वारा प्रविष्टि 33 का लोप किया गया ।

6. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 28 द्वारा "प्रविष्टि 52" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।
7. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) प्रविष्टि 29 का लोप किया गया ।

3. संविधान (तीसरा संशोधन) अधिनियम, 1954 की धारा 2 द्वारा प्रविष्टि 33 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

सारणी 19 (गत पृष्ठ से आगे)

सूची 1 — संघ सूची

36. करेंसी, सिक्का निर्माण और वैध निविदा, विदेशी मुद्रा ।

37. विदेशी ऋण ।

38. भारतीय रिजर्व बैंक ।

39. डाकघर बचत बैंक ।

40. भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार द्वारा संचालित लाटरी ।

41. विदेशों के साथ व्यापार और वाणिज्य; सीमाशुल्क सीमांतों के आर-पार आयात और निर्यात; सीमाशुल्क सीमांतों का परिनिश्चय ।

42. अंतरराज्यिक व्यापार और वाणिज्य ।

43. व्यापार निगमों का, जिनके अंतर्गत बैंककारी, बीमा और वित्तीय निगम हैं किंतु सहकारी सोसाइटी नहीं हैं, निगमन, विनियमन और परिसमापन ।

44. विश्वविद्यालयों को छोड़कर ऐसे निगमों का, चाहे वे व्यापार निगम हों या नहीं, जिनके उद्देश्य एक राज्य तक सीमित नहीं हैं, निगमन, विनियमन और परिसमापन ।

45. बैंककारी ।

46. विनिमय-पत्र, चेक, वचनपत्र और वैसी ही अन्य लिखतें ।

47. बीमा ।

48. स्टाक एक्सचेंज और वायदा बाजार ।

49. पेटेंट, आविष्कार और डिजाइन; प्रतिलिप्यधिकार; व्यापार चिह्न और पण्य वस्तु चिह्न ।

50. बाटों और मापों के मानक नियत करना ।

सूची 2 — राज्य सूची

विनियमन और परिसमापन; अनिगमित व्यापारिक; साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक और अन्य सोसाइटियां और संगम; सहकारी सोसाइटियां ।

33. नाट्यशाला और नाट्य प्रदर्शन; सूची 1 की प्रविष्टि 60 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सिनेमा; खेलकूद, मनोरंजन और आमोद ।

34. दांव और द्यूत ।

35. राज्य में निहित या उसके कब्जे के संकर्म, भूमि और भवन ।

[8] * * * * * *

37. संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए, राज्य के विधान मंडल के लिए निर्वाचन ।

38. राज्य के विधान मंडल के सदस्यों के, विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के और, यदि विधान परिषद् है तो, उसके सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते ।

39. विधान सभा की और उसके सदस्यों और समितियों की तथा, यदि विधान परिषद् है तो, उस विधान परिषद् की और उसके सदस्यों और समितियों की शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां; राज्य के विधान मंडल की समितियों के समक्ष साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिए व्यक्तियों को हाजिर कराना ।

40. राज्य के मंत्रियों के वेतन और भत्ते ।

---

8. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 26 द्वारा प्रविष्टि 36 का लोप किया गया ।

सूची 3 — समवर्ती सूची

(ख) खाद्य पदार्थों का जिनके अंतर्गत खाद्य तिलहन और तेल हैं,

(ग) पशुओं के चारे का जिसके अंतर्गत खली और अन्य सारकृत चारे हैं,

(घ) कच्ची कपास का, चाहे वह ओटी हो या बिना ओटी हो, और बिनौले का, और

(ङ) कच्चे जूट का,

व्यापार और वाणिज्य तथा उनका उत्पादन, प्रदाय और वितरण ।]

[4][33क. बाट और माप, जिनके अंतर्गत मानकों का नियत किया जाना नहीं है ।]

34. कीमत नियंत्रण ।

35. यंत्र नोदित यान जिसके अंतर्गत वे सिद्धांत हैं जिनके अनुसार ऐसे यानों पर कर उद्गृहीत किया जाना है ।

36. कारखाने ।

37. बायलर ।

38. विद्युत ।

39. समाचारपत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय ।

40 [5][संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके

---

4. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) अंतःस्थापित ।
5. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 27 द्वारा "संसद् द्वारा विधि द्वारा घोषित" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

सारणी 19 (गत पृष्ठ से आगे)

सूची 1 — संघ सूची

51. भारत से बाहर निर्यात किए जाने वाले या एक राज्य से दूसरे राज्य को परिवहन किए जाने वाले माल की क्वालिटी के मानक नियत करना ।

52. वे उद्योग जिनके संबंध में संसद् ने विधि द्वारा घोषणा की है कि उन पर संघ का नियंत्रण लोकहित में समीचीन है ।

53. तेलक्षेत्रों और खनिज तेल संपत्ति स्रोतों का विनियमन और विकास; पेट्रोलियम और पेट्रोलियम उत्पाद; अन्य द्रव और पदार्थ जिनके विषय में संसद् ने विधि द्वारा घोषणा की है कि वे खतरनाक रूप से ज्वलनशील हैं ।

54. उस सीमा तक खानों का विनियमन और खनिजों का विकास जिस तक संघ के नियंत्रण के अधीन ऐसे विनियमन और विकास को संसद्, विधि द्वारा, लोकहित में समीचीन घोषित करे ।

55. खानों और तेलक्षेत्रों में श्रम और सुरक्षा का विनियमन ।

56. उस सीमा तक अंतरराज्यिक नदियों और नदी दूनों का विनियमन और विकास जिस तक संघ के नियंत्रण के अधीन ऐसे विनियमन और विकास को संसद्, विधि द्वारा, लोकहित में समीचीन घोषित करे ।

57. राज्यक्षेत्रीय सागरखंड से परे मछली पकड़ना और मीन क्षेत्र ।

58. संघ के अभिकरणों द्वारा नमक का विनिर्माण, प्रदाय और वितरण; अन्य अभिकरणों द्वारा किए गए नमक के विनिर्माण, प्रदाय और वितरण का विनियमन और नियंत्रण ।

सूची 2 — राज्य सूची

41. राज्य लोक सेवाएं; राज्य लोक सेवा आयोग ।

42. राज्य के पेंशनें, अर्थात् राज्य द्वारा या राज्य की संचित निधि में से संदेय पेंशन ।

43. राज्य का लोक ऋण ।

44. निखात निधि ।

45. भू-राजस्व जिसके अंतर्गत राजस्व का निर्धारण और संग्रहण, भू-अभिलेख रखना, राजस्व के प्रयोजनों के लिए और अधिकारों के अभिलेखों के लिए सर्वेक्षण और राजस्व का अन्यसंक्रामण है ।

46. कृषि-आय पर कर ।

47. कृषि भूमि के उत्तराधिकार के संबंध में शुल्क ।

48. कृषि भूमि के संबंध में संपदा-शुल्क ।

49. भूमि और भवनों पर कर ।

50. संसद् द्वारा, विधि द्वारा, खनिज विकास के संबंध में अधिरोपित निर्बन्धनों के अधीन रहते हुए, खनिज संबंधी अधिकारों पर कर ।

51. राज्य में विनिर्मित या उत्पादित निम्नलिखित माल पर उत्पाद-शुल्क और भारत में अन्यत्र विनिर्मित या उत्पादित वैसे ही माल पर उसी दर या निम्नतर दर से प्रतिशुल्क —

(क) मानवीय उपभोग के लिए ऐल्कोहाली लिकर;

(ख) अफीम, इंडियन हेंप और अन्य स्वापक औषधियां तथा स्वापक पदार्थ,

किंतु जिसके अंतर्गत ऐसी औषधियां और प्रसाधन निर्मितियां नहीं हैं जिनमें ऐल्कोहाल या इस प्रविष्टि के उपपैरा (ख) का कोई पदार्थ अंतर्विष्ट है ।

सूची 3 — समवर्ती सूची

अधीन] राष्ट्रीय महत्व के [5][घोषित] पुरातत्वीय स्थलों और अवशेषों से भिन्न पुरातत्वीय स्थल और अवशेष ।

41. ऐसी संपत्ति की (जिसके अंतर्गत कृषि भूमि है) अभिरक्षा, प्रबंध और व्ययन जो विधि द्वारा निष्क्रांत संपत्ति घोषित की जाए ।

[6][42. संपत्ति का अर्जन और अधिग्रहण ।]

43. किसी राज्य में, उस राज्य से बाहर उद्भूत कर से संबंधित दावों और अन्य लोक मांगों की वसूली जिनके अंतर्गत भू-राजस्व की बकाया और ऐसी बकाया के रूप में वसूल की जा सकने वाली राशियां हैं ।

44. न्यायिक स्टांपों के द्वारा संगृहीत शुल्कों या फीसों से भिन्न स्टांप-शुल्क, किंतु इसके अंतर्गत स्टांप-शुल्क की दरें नहीं हैं ।

45. सूची 2 या सूची 3 में विनिर्दिष्ट विषयों में से किसी विषय के प्रयोजनों के लिए जांच और आंकड़ें ।

46. उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों की इस सूची के विषयों में से किसी विषय के संबंध में अधिकारिता और शक्तियां ।

47. इस सूची के विषयों में से किसी विषय के संबंध में फीस, किंतु इसके अंतर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस नहीं है ।

---

6. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 26 द्वारा प्रविष्टि 42 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

सारणी 19 (गत पृष्ठ से आगे)

सूची 1 — संघ सूची	सूची 2 — राज्य सूची	सूची 3 — समवर्ती सूची
59. अफीम की खेती, उसका विनिर्माण और निर्यात के लिए विक्रय । 60. प्रदर्शन के लिए चलचित्र फिल्मों की मंजूरी । 61. संघ के कर्मचारियों से संबंधित औद्योगिक विवाद । 62. इस संविधान के प्रारंभ पर राष्ट्रीय पुस्तकालय, भारतीय संग्रहालय, इंपीरियल युद्ध संग्रहालय, विक्टोरिया स्मारक और भारतीय युद्ध स्मारक नामों से ज्ञात संस्थाएं और भारत सरकार द्वारा पूर्णतः या भागतः वित्तपोषित और संसद् द्वारा, विधि द्वारा, राष्ट्रीय महत्व की घोषित वैसी ही कोई अन्य संस्था । 63. इस संविधान के प्रारम्भ पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और [4][दिल्ली विश्वविद्यालय] नामों से ज्ञात संस्थाएं; [4][अनुच्छेद 371ङ के अनुसरण में स्थापित विश्वविद्यालय] संसद् द्वारा, विधि द्वारा, राष्ट्रीय महत्व की घोषित कोई अन्य संस्था । 64. भारत सरकार द्वारा पूर्णतः या भागतः वित्तपोषित और संसद् द्वारा, विधि द्वारा, राष्ट्रीय महत्व की घोषित वैज्ञानिक या तकनीकी शिक्षा संस्थाएं । 65. संघ के अभिकरण और संस्थाएं जो — (क) वृत्तिक, व्यावसायिक या तकनीकी प्रशिक्षण	52. किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिए माल के प्रवेश पर कर । 53. विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर । [9][54. सूची 1 की प्रविष्टि 92क के उपबंधों के अधीन रहते हुए, समाचारपत्रों से भिन्न माल के क्रय या विक्रय पर कर ।] 55. समाचारपत्रों में प्रकाशित [10][और रेडियो या दूरदर्शन द्वारा प्रसारित विज्ञापनों] से भिन्न विज्ञापनों पर कर । 56. सड़कों या अंतरदेशीय जलमार्गों द्वारा ले जाए जाने वाले माल और यात्रियों पर कर । 57. सूची 3 की प्रविष्टि 35 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सड़कों पर उपयोग के योग्य यानों पर कर, चाहे वे यंत्र नोदित हों या नहीं, जिनके अंतर्गत ट्रामकार हैं । 58. जीवजंतुओं और नौकाओं पर कर । 59. पथकर । 60. वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नियोजन पर कर । 61. प्रतिव्यक्ति कर ।	

4. संविधान (बत्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1973 की धारा 4 द्वारा (1-7-1974 से) "दिल्ली विश्वविद्यालय और" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

9. संविधान (छठा संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 2 द्वारा प्रविष्टि 54 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।
10. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 57 द्वारा (3-1-1977 से) अंतःस्थापित ।

सारणी 19 (*गत पृष्ठ से आगे*)

सूची 1 — संघ सूची	*सूची 2 — राज्य सूची*	*सूची 3 — समवर्ती सूची*
के लिए हैं जिसके अंतर्गत पुलिस अधिकारियों का प्रशिक्षण है; या (ख) विशेष अध्ययन या अनुसंधान की अभिवृद्धि के लिए हैं, या (ग) अपराध के अन्वेषण या पता चलाने में वैज्ञानिक या तकनीकी सहायता के लिए हैं । 66. उच्चतर शिक्षा या अनुसंधान संस्थाओं में तथा वैज्ञानिक और तकनीकी संस्थाओं में मानकों का समन्वय और अवधारण । 67. [5][संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन] राष्ट्रीय महत्व के [5][घोषित] प्राचीन और ऐतिहासिक संस्मारक और अभिलेख तथा पुरातत्वीय स्थल और अवशेष । 68. भारतीय सर्वेक्षण, भारतीय भूवैज्ञानिक, वनस्पति विज्ञान, प्राणी विज्ञान और मानव शास्त्र सर्वेक्षण; मौसम विज्ञान संगठन । 69. जनगणना । 70. संघ लोक सेवाएं; अखिल भारतीय सेवाएं; संघ लोक सेवा आयोग । 71. संघ की पेंशनें, अर्थात् भारत सरकार द्वारा या भारत की संचित निधि में से संदेय पेंशनें ।. 72. संसद् के लिए, राज्यों के विधान मंडलों के	62. विलास वस्तुओं पर कर, जिनके अंतर्गत मनोरंजन, आमोद, दांव और द्यूत पर कर हैं । 63. स्टांप-शुल्क की दरों के संबंध में सूची 1 के उपबंधों में विनिर्दिष्ट दस्तावेजों से भिन्न दस्तावेजों के संबंध में स्टांप-शुल्क की दर । 64. इस सूची के विषयों में से किसी विषय से संबंधित विधियों के विरुद्ध अपराध । 65. उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों को इस सूची के विषयों में से किसी विषय के संबंध में अधिकारिता और शक्तियां । 66. इस सूची के विषयों में से किसी विषय के संबंध में फीस, किंतु इसके अंतर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस नहीं है ।	

5. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 27 द्वारा "संसद् द्वारा विधि द्वारा घोषित" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

सारणी 19 (गत पृष्ठ से आगे)

सूची 1 — संघ सूची	सूची 2 — राज्य सूची	सूची 3 — समवर्ती सूची
लिए तथा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के लिए निर्वाचन; निर्वाचन आयोग । 73. संसद् सदस्यों के, राज्य सभा के सभापति और उपसभापति के तथा लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते । 74. संसद् के प्रत्येक सदन की और प्रत्येक सदन के सदस्यों और समितियों की शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां; संसद् की समितियों या संसद् द्वारा नियुक्त आयोगों के समक्ष साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिए व्यक्तियों को हाजिर कराना । 75. राष्ट्रपति और राज्यपालों की उपलब्धियां, भत्ते, विशेषाधिकार और अनुपस्थिति छुट्टी के संबंध में अधिकार; संघ के मंत्रियों के वेतन और भत्ते; नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के वेतन, भत्ते और अनुपस्थिति छुट्टी के संबंध में अधिकार और सेवा की अन्य शर्तें । 76. संघ के और राज्यों के लेखाओं की संपरीक्षा । 77. उच्चतम न्यायालय का गठन, संगठन, अधिकारिता और शक्तियां (जिनके अंतर्गत उस न्यायालय का अवमान है) और उसमें ली जाने वाली फीस; उच्चतम न्यायालय के समक्ष विधि-व्यवसाय करने के हकदार व्यक्ति । 78. उच्च न्यायालयों के अधिकारियों और सेवकों के बारे में उपबंधों को छोड़कर उच्च न्यायालयों का गठन और संगठन [6][(जिसके अंतर्गत दीर्घावकाश है)]; उच्च		

6. संविधान (पंद्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1963 की धारा 12 द्वारा (भूतलक्षी प्रभाव से) अंतःस्थापित ।

सारणी 19 *(गत पृष्ठ से आगे)*

सूची 1 — संघ सूची	सूची 2 — राज्य सूची	सूची 3 — समवर्ती सूची
न्यायालयों के समक्ष विधि-व्यवसाय करने के हकदार व्यक्ति । [7][79. किसी उच्च न्यायालय की अधिकारिता का किसी संघ राज्यक्षेत्र पर विस्तारण और उससे अपवर्जन ।] 80. किसी राज्य के पुलिस बल के सदस्यों की शक्तियों और अधिकारिता का उस राज्य से बाहर किसी क्षेत्र पर विस्तारण, किंतु इस प्रकार नहीं कि एक राज्य की पुलिस उस राज्य से बाहर किसी क्षेत्र में उस राज्य की सरकार की सहमति के बिना जिसमें ऐसा क्षेत्र स्थित है, शक्तियों और अधिकारिता का प्रयोग करने में समर्थ हो सके; किसी राज्य के पुलिस बल के सदस्यों की शक्तियों और अधिकारिता का उस राज्य से बाहर रेल क्षेत्रों पर विस्तारण । 81. अंतरराज्यिक प्रव्रजन; अंतरराज्यिक करंतीन । 82. कृषि-आय से भिन्न आय पर कर । 83. सीमाशुल्क जिसके अंतर्गत निर्यात शुल्क है । 84. भारत में विनिर्मित या उत्पादित तम्बाकू और अन्य माल पर उत्पाद-शुल्क जिसके अंतर्गत — (क) मानवीय उपभोग के लिए ऐल्कोहाली लिकर, (ख) अफीम, इंडियन हेंप और अन्य स्वापक औषधियां तथा स्वापक पदार्थ, नहीं हैं; किंतु ऐसी औषधीय और प्रसाधन निर्मितियां हैं		

7. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 29 और अनुसूची द्वारा प्रविष्टि 79 के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

सारणी 19 (गत पृष्ठ से आगे)

सूची 1 — संघ सूची	सूची 2 — राज्य सूची	सूची 3 — समवर्ती सूची
जिसमें ऐल्कोहाल या इस प्रविष्टि के उपपैरा (ख) का कोई पदार्थ अंतर्विष्ट है । 85. निगम कर । 86. व्यष्टियों और कंपनियों की आस्तियों के, जिनके अंतर्गत कृषि भूमि नहीं है, पूंजी मूल्य पर कर; कंपनियों की पूंजी पर कर । 87. कृषि भूमि से भिन्न संपत्ति के संबंध में संपदा शुल्क । 88. कृषि भूमि से भिन्न संपत्ति के उत्तराधिकार के संबंध में शुल्क । 89. रेल, समुद्र या वायुमार्ग द्वारा ले जाए जाने वाले माल या यात्रियों पर सीमा कर; रेल भाड़ों और माल भाड़ों पर कर । 90. स्टाक एक्सचेंजों और वायदा बाजारों के संव्यवहारों पर स्टांप-शुल्क से भिन्न कर । 91. विनिमयपत्रों, चेकों, वचनपत्रों, वहनपत्रों, प्रत्ययपत्रों, बीमा पालिसियों, शेयरों के अंतरण, डिबेंचरों, परोक्षियों और प्राप्तियों के संबंध में स्टांप-शुल्क की दर । 92. समाचारपत्रों के क्रय या विक्रय और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर । [8][92क. समाचारपत्रों से भिन्न माल के क्रय या विक्रय पर उस दशा में कर जिसमें ऐसा क्रय या विक्रय अंतरराज्यिक व्यापार या वाणिज्य के दौरान होता है ।]		

8. संविधान (छठा संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 2 द्वारा अंतःस्थापित ।

सारणी 19 *(गत पृष्ठ से आगे)*

सूची 1 — संघ सूची	*सूची 2 — राज्य सूची*	*सूची 3 — समवर्ती सूची*
[9][92ख. माल के परेषण पर (चाहे परेषण उसके करने वाले व्यक्ति को या किसी अन्य व्यक्ति को किया गया है), उस दशा में कर जिसमें ऐसा परेषण अंतरराज्यिक व्यापार या वाणिज्य के दौरान होता है ।]		
93. इस सूची के विषयों में से किसी विषय से संबंधित विधियों के विरुद्ध अपराध ।		
94. इस सूची के विषयों में से किसी विषय के प्रयोजनों के लिए जांच, सर्वेक्षण और आंकड़े ।		
95. उच्चतम न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों की इस सूची के विषयों में से किसी विषय के संबंध में अधिकारिता और शक्तियां; नावधिकरण विषयक अधिकारिता ।		
96. इस सूची के विषयों में से किसी विषय के संबंध में फीस, किंतु इसके अंतर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीस नहीं है ।		
97. कोई अन्य विषय जो सूची 2 या सूची 3 में प्रगणित नहीं है और जिसके अंतर्गत कोई ऐसा कर है जो उन सूचियों में से किसी सूची में उल्लिखित नहीं है ।		

9. संविधान (छियालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1982 की धारा 5 द्वारा (2-2-1983 से) अंतःस्थापित ।

सारणी 20
भाषाएं

[अनुच्छेद 344(1), 351, आठवीं अनुसूची]

1. असमिया
2. बंगला
3. गुजराती
4. हिंदी
5. कन्नड़
6. कश्मीरी
7. कोंकणी[1]
8. मलयालम
9. मणिपुरी[1]
10. मराठी
11. नेपाली[1]
12. उड़िया
13. पंजाबी
14. संस्कृत
15. सिंधी[2]
16. तमिल
17. तेलुगु
18. उर्दू

---

1. संविधान (इकहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992 द्वारा (31-8-1992 से) अंतःस्थापित ।
2. संविधान (इक्कीसवां संशोधन) अधिनियम, 1967 द्वारा जोड़ी गई ।

सारणी 21
राज्यों और संघ राज्यक्षेत्रों में राष्ट्रपति शासन

क्रमांक	राज्य/संघ राज्य-क्षेत्र	कितनी बार राष्ट्रपति शासन हुआ	राष्ट्रपति शासन की अवधि	
			से	तक
1	2	3	4	5
1.	आंध्र प्रदेश	2	15-11-1954	28-3-1955
			18-1-1973	10-12-1973
2.	असम	4	12-12-1979	6-12-1980
			30-6-1981	13-1-1982
			19-3-1982	27-2-1983
			27-11-1990	30-6-1991
3.	बिहार	5	29-6-1968	26-2-1969
			4-7-1969	16-2-1970
			9-1-1972	19-3-1972
			30-4-1977	24-6-1977
			17-2-1980	8-6-1980
4.	गुजरात	4	13-5-1971	17-3-1972
			9-2-1974	18-6-1975
			12-3-1976	24-12-1976
			17-2-1980	7-6-1980
5.	हरियाणा	3	21-11-1967	21-5-1968
			30-4-1977	21-6-1977
			6-4-1991	23-6-1991
6.	हिमाचल प्रदेश	2	30-4-1977	22-6-1977
			15-12-1992	—
7.	जम्मू-कश्मीर	2	7-9-1986	6-11-1986
			19-7-1990	—
8.	कर्नाटक	4	27-3-1971	20-3-1972
			31-12-1977	27-2-1978
			21-4-1989	20-11-1989
			10-10-1990	17-10-1990
9.	केरल	9	23-3-1956	1-11-1956
			1-11-1956	5-4-1957
			31-7-1959	22-2-1960
			10-9-1964	24-3-1965
			24-3-1965	6-3-1967

1	2	3	4	5
			4-8-1970	3-10-1970
			5-12-1979	25-1-1980
			21-10-1981	28-12-1981
			17-3-1982	24-5-1982
10.	मध्य प्रदेश	3	30-4-1977	23-6-1977
			17-2-1980	9-6-1980
			15-12-1992	—
11.	महाराष्ट्र	1	17-2-1980	9-6-1980
12.	मणिपुर	6	21-1-1972	20-3-1972
			28-3-1973	4-3-1974
			16-5-1977	29-6-1977
			14-11-1979	13-1-1980
			28-2-1981	19-6-1981
			7-1-1992	8-4-1992
13.	मिजोरम	1	7-9-1988	24-1-1989
14.	नागालैंड	3	22-3-1975	25-11-1977
			7-8-1988	25-1-1989
			2-4-1992	—
15.	उड़ीसा	6	25-2-1961	23-6-1961
			11-1-1971	3-4-1971
			3-3-1973	6-3-1974
			16-12-1976	29-12-1976
			30-4-1977	6-6-1977
			17-2-1980	9-6-1980
16.	पटियाला और पूर्वी पंजाब राज्य संघ (पेप्सू)	1	4-3-1953	7-3-1954
17.	पंजाब	8	20-6-1951	17-4-1952
			5-7-1966	1-11-1966
			23-8-1968	17-2-1969
			15-6-1971	17-3-1972
			30-4-1977	20-6-1977
			17-2-1980	7-6-1980
			6-10-1983	29-9-1985
			11-5-1987	25-2-1992
18.	राजस्थान	4	13-3-1967	26-4-1967
			30-4-1977	22-6-1977
			17-2-1980	6-6-1980
			15-12-1992	—

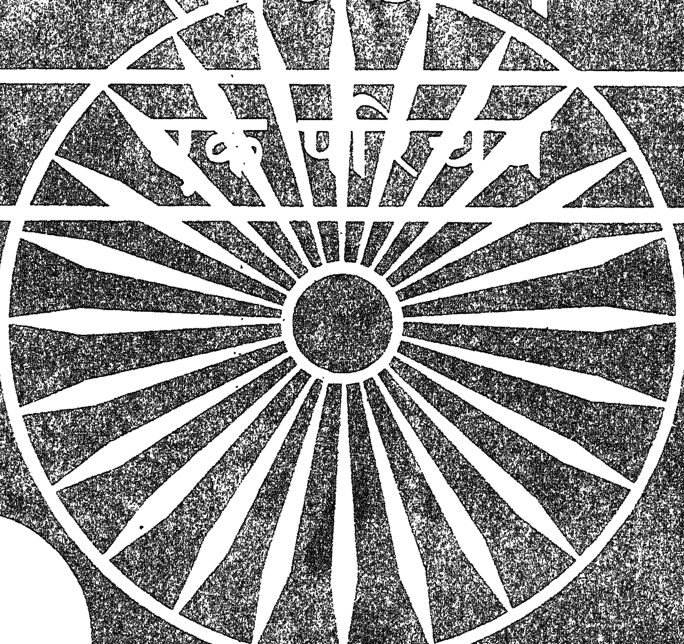
1	2	3	4	5
19.	सिक्किम	2	18-8-1979 25-5-1984	17-10-1979 8-3-1985
20.	तमिलनाडु	4	31-1-1976 17-2-1980 30-1-1988 30-1-1991	30-6-1977 9-6-1980 27-1-1989 24-6-1992
21.	त्रिपुरा	2	21-1-1972 5-11-1977	20-3-1972 4-1-1978
22.	उत्तर प्रदेश	7	25-2-1968 1-10-1970 13-6-1973 30-11-1975 30-4-1977 17-2-1980 6-12-1992	26-2-1969 18-10-1970 8-11-1973 21-1-1976 23-6-1977 9-6-1980 —
23.	पश्चिमी बंगाल	4	20-2-1968 19-3-1970 29-6-1971 30-4-1977	25-2-1969 2-4-1971 20-3-1972 21-6-1977
24.	अरुणाचल प्रदेश	1	3-11-1979	18-1-1980
25.	गोवा	3	3-12-1966 28-4-1979 14-12-1990	5-4-1967 16-1-1980 25-1-1991
26.	मेघालय	1	11-10-1991	5-2-1992
27.	मिजोरम	2	11-5-1977 11-11-1978	2-6-1978 8-5-1979
28.	पांडिचेरी	6	18-9-1968 3-1-1974 28-3-1974 12-11-1978 24-6-1983 21-1-1991	17-3-1969 6-3-1974 2-7-1977 16-1-1980 16-3-1985 4-7-1991
		100		

अनुक्रमणिका

Eastern Economy Edition

दुर्गा दास बसु

भारत का संविधान एक परिचय



तीसरा संस्करण

PHI